अध्याय पृष्ठ

अध्याय

जल-मण्डल

परिशिष्ट

1

प्राकृतिक भूगोल का स्वरूप

[FORMS OF PHYSICAL GEOGRAPHY]

प्राकृतिक भूगोल का ज्ञान तभी से उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हो गया जबसे मानव ने अपने जीवन के लिए संघर्ष छेड़ दिया। आदिमानव प्रकृति के इतने निकट साहचर्य में था कि उसको जीवित रहने के लिए प्रकृति से समझौता करना ही पड़ा। आदिमानव को यह जानने की आवश्यकता एवं उत्सुकता हुई कि हथियार के लिए उपयुक्त पत्थर कहाँ मिलता है, कौनसे पौधे भोजन-सामग्री के लिए उपयोगी हैं, मछली तथा शिकार किन परिस्थितियों में प्राप्त हो सकते हैं, आदि। इस प्रकार मनुष्य को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए पृथ्वी की सम्पत्ति तथा उसके विशेष लक्षणों पर निर्भर रहना पड़ा है। पृथ्वी के ये विशेष लक्षण ही प्राकृतिक परिस्थितियाँ (Physical Environments) हैं जो प्राकृतिक भूगोल की अध्ययन-सामग्री हैं। इसी कारण आज यह धारणा प्रबल हो गयी है कि भूगोल विषय के अन्तर्गत मानव पर प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव, मानव द्वारा प्रकृति का उपयोग और प्रकृति एवं मानव की पारस्परिक क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। इस प्रकार भूगोल पृथ्वी का मानव के घर के रूप में अध्ययन करता है। इस प्रकार पृथ्वी एवं मनुष्य भूगोल के दो प्रगतिशील तत्त्व हैं। फलतः **प्राकृतिक भूगोल ही भूगोल का मूल अंग है।**

इतना निर्विवाद है कि मानव प्रकृति से प्रभावित है; किन्तु यह कहना कि वह प्रकृति का दास होता है, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा असत्य होगा। मानव भी प्रकृति को अपने हित में प्रभावित करता है। वह दलदल को सुखाता है, मरुभूमि को सिंचित करता है, पर्वतों में सुरंगें बनाता है तथा अन्य प्रकार के कार्य करता है और प्रकृति पर नियन्त्रण करता है। जब मनुष्य भौतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है तभी आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति कर पाता है। किन्तु प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना भी मनुष्य के लिए कठिन है। उसे भौतिक परिस्थितियों के सहयोग से ही अपना विकास सुनियोजित करना पड़ता है। अतः प्राकृतिक भूगोल का ज्ञान प्रत्येक मानव के सुखद जीवन के लिए अनिवार्य प्रतीत होता है।

प्राकृतिक भूगोल के तत्त्व

प्राकृतिक भूगोल के तत्त्व जलमण्डल, वायुमण्डल, भूमण्डल तथा प्राणि-जगत् हैं। पृथ्वी के धरातल पर इनका असमान वितरण है; किन्तु प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत ये गतिमान एवं परिवर्तनशील हैं। पानी का एक स्थान से दूसरे स्थान पर विभाजित होना, भूमण्डल पर वायु का नियमित रूप से चलना, आन्तरिक तथा बाह्य प्रभाव से धरातल का परिवर्तित होना और विभिन्न प्राणियों एवं वनस्पतियों का काल-विशेष में उत्पन्न होना एवं नष्ट हो जाना प्रकृति की गति एवं प्रगतिशीलता के अकाट्य प्रमाण हैं। शृंगार तथा पुनर्निर्माण पृथ्वी को सर्वदा प्रगतिशील बनाये हुए हैं। पृथ्वी के रंगमंच पर मानव का नाटक सजीव है। उसका यह रंगमंच साधारण व्यक्ति को निर्जीव-सा लगता है, क्योंकि प्रकृति में परिवर्तन अत्यन्त मन्द गति से होते हैं। पर्वत अपरदन कारकों के थपेड़ों से दीर्घकाल में समतल हो जाते हैं। झीलें तथा समुद्र पट जाते हैं। ये तथ्य प्रकृति की गतिशीलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इधर मानव भी निर्जीव निवासी नहीं है। वह अपनी संकल्प-शक्ति एवं बुद्धि के सहारे प्राकृतिक असुविधाओं को अपने उपयुक्त बनाता है और चूँकि मानव भी प्रगतिशील होता है अतः वह परिवर्तित प्रकृति की गोद में अपने को उसके उपयुक्त बना लेता है। आज के प्रगतिशील युग में मानव की समुचित आर्थिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए भौतिक परिस्थितियों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का ज्ञान आवश्यक है और यह ज्ञान केवल प्राकृतिक भूगोल के अध्ययन से सम्भव है।

प्राकृतिक भूगोल की महत्ता

प्राकृतिक भूगोल की महत्ता को व्यक्त करने के लिए कतिपय दृष्टान्त पर्याप्त होंगे। यदि मनुष्य को तूफानों, आँधियों तथा भूकम्पों का ज्ञान हो तो उसका जीवन सुखद बन सकता है और जीवन में घटित होने वाली दुर्घटनाओं से वह अपनी रक्षा कर सकता है। जापानी अपना घर लकड़ी का बनाते हैं और भूकम्पों के प्रभाव से अपने को सुरक्षित रखते हैं। न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप से जाने वाले जलयानों को लेब्रेडोर की समुद्री धारा के साथ प्रवाहित होने वाली प्लावी हिम-शैल (iceberg) का ज्ञान लाभदायक होता है अन्यथा आये दिन जलयान जल-समाधि ले जाते। किसी देश के उद्योग तथा वहाँ की अन्य मानवीय क्रियाएँ भी प्रकृति से ही प्रभावित रहती हैं। जहाँ लोहे एवं कोयले का भण्डार न होगा वहाँ इस्पात के कारखाने स्थापित नहीं हो सकते हैं। उष्ण प्रदेशों में उत्पन्न होने वाली फसल गन्ना पर आधारित चीनी मिलें शीत प्रदेशों में नहीं चल सकती हैं। इस प्रकार मानव के सभी कार्य, रहन-सहन, विचार आपसी विवाद आदि सभी प्राकृतिक परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित होते हैं और ये उत्तेजनाएँ धरातल पर सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के मूल में हैं।

प्राकृतिक भूगोल के अध्ययन से ही भूगोल का वास्तविक ज्ञान उपलब्ध होता है, अतः भूमण्डल पर भौतिक परिस्थितियों के वितरण का अध्ययन अत्यावश्यक है इस अध्ययन में पाँच भौतिक विज्ञानों तथा पाँच सामाजिक विज्ञानों का आश्रय लेना

पड़ता है। वास्तव में इन विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वयात्मक अध्ययन प्राकृतिक भूगोल में ही सम्भव हो पाता है। वैसे तो भूगोल का क्षेत्र बड़ा व्यापक है जिसका प्रमुख अंग प्राकृतिक भूगोल है। वास्तव में भूगोल विज्ञान एवं दर्शन का पावन संगम है जिसके पुनीत निष्कर्ष विचार-क्षेत्र के शक्तिशाली केन्द्र हैं। गत दिनों भू-पृष्ठ की रचना का अध्ययन एवं उसका विवरण ही प्राकृतिक भूगोल की सामग्री थी, किन्तु आज भू-पृष्ठ की रचना की व्याख्या भी इसके कार्य-क्षेत्र में आ गई है। प्रलयवाद (Catastrophism) तथा एकरूपतावाद (Uniformitarianism) की विचार-धाराओं से अधिक प्रभावित होकर भूगोलविदों ने प्राकृतिक भूगोल के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण को प्रश्रय प्रदान किया है। प्राकृतिक भूगोल कई भू-विज्ञानों का समन्वय एवं अध्ययन है जो मानव के वातावरण का परिज्ञान प्रदान करता है। यह भू-विज्ञानों के मूल सिद्धान्तों का स्वरूप है। इसका गहरा सम्बन्ध भूगणित (geodesy), खगोल विज्ञान (astronomy), मानचित्र कला (cartography), मौसम विज्ञान, जलवायु विज्ञान, मृदा विज्ञान (pedology), वनस्पति विज्ञान, भू-आकृति विज्ञान (geomorphology), भू-विज्ञान (geology) आदि विज्ञानों से है। इस प्रकार भूगोलज्ञ को विभिन्न विज्ञानों से ज्ञान की मणियों को एकत्र करना तथा उनका विश्लेषण प्रदान करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में **प्राकृतिक भूगोल का स्वरूप मानव इतिहास का स्वरूप कहा जा सकता है**। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर **"प्राकृतिक भूगोल का स्वरूप"** की रचना की गयी है। पुस्तक की पाठ्य-सामग्री से ही प्राकृतिक भूगोल की सीमा का पता लग जायेगा, अतएव प्राकृतिक भूगोल के तत्त्वों का उल्लेख इस स्थान पर आवश्यक प्रतीत नहीं हो रहा है।

प्रश्न

1. What is the scope of Physical Geography ? Discuss its importance to man.

   प्राकृतिक भूगोल के क्या क्षेत्र हैं ? मानव के लिए इसकी उपयोगिता की व्याख्या कीजिए।

2

अन्तरिक्ष की बातें—सौर-मण्डल

[FACTS ABOUT HEAVEN—SOLAR SYSTEM]

प्रत्येक व्यक्ति आकाश की आश्चर्यजनक वस्तुओं की जानकारी के लिए उत्सुक रहता है। छोटे-छोटे बालक तक आकाश में दहकते हुए सूर्य, मुस्कारते हुए चाँद और जगमगाते हुए तारों को देखकर आकर्षित हो जाते हैं। रुदन करते हुए बालकों के लिए आकाश के ये पिण्ड मन-बहलाव के साधन बन जाते हैं। युवकों एवं प्रौढ़ बुद्धि के लोगों के लिए भी सूर्योदय, सूर्यास्त, उल्कापात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण एवं ऋतु-परिवर्तन आदि रहस्यमय ज्ञात होते हैं। इन्हीं आकाशीय पिण्डों एवं खगोलीय घटनाओं के ज्ञान को '**खगोल विज्ञान**' (astronomy) कहा जाता है। इस विषय का ज्ञान मानव-जीवन के लिए सुखद, आवश्यक एवं अनिवार्य होता है।

पुराकाल में संहिता तथा सिद्धान्तों के आधार पर चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण की भविष्यवाणी सम्भव हो पाती थी, किन्तु दूरबीन (telescope) तथा प्रिज्म (prism) आदि आधुनिक आविष्कारों द्वारा गत 50 वर्षों से तारों की संख्या, उनकी परस्पर दूरी एवं तौल आदि की व्याख्या के प्रयत्न हो रहे हैं। इसका श्रेय **हरशैल**, **केपलर**, **गैलीलियो** तथा **न्यूटन** आदि महान विदेशी वैज्ञानिकों को है। आधुनिक युग में अमरीका द्वारा प्रतिपादित अपोलो द्वारा चन्द्रमा पर पहुँचने का भी प्रयास सफल हो गया है। अमरीका ने सर्वप्रथम अपोलो 11 द्वारा 21 जुलाई 1969 को तीन यात्रियों को चन्द्रमा पर भेजकर लौट आने में सफलता प्राप्त कर ली है।

विश्व या ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

विज्ञान के विकास के साथ-साथ ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति सम्बन्धी मानवीय धारणाएँ भी प्रबल होती जा रही हैं। उपनिषद् (तैत्तिरीय-ब्राह्मण) में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित अद्भुत वर्णन मिलता है :

"पूर्व-सृष्टि का प्रलय होकर उत्तर-सृष्टि उत्पन्न होने के पहले सत्, असत् नहीं था। आकाश, मृत्यु एवं अमृत भी नहीं था, रात-दिन को प्रकाशित करने वाले सूर्य-चन्द्र नहीं थे। केवल ब्रह्म था। उनके मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। तदनन्तर समस्त जगत की उत्पत्ति हुई।"

अन्तरिक्ष की बातें—सौर-मण्डल

बाद में ऋग्वेद के एक महर्षि ने कह डाला कि "सृष्टि-उत्पत्ति के कारण को जानना असम्भव है।" फिर भी वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न व्याख्याएँ प्रदान की हैं।

1927 ई० में बेल्जियम के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता ऐबे लेमेत्रे महोदय ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति सम्बन्धी एक परिकल्पना प्रस्तुत की कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एक विशाल आद्य परमाणु (Primodial Atom) से हुई है। इस महा अणु के विस्फोट से इसके भीतर के सारे पदार्थ तितर-बितर हो गये और ब्रह्माण्ड को वह रूप प्राप्त हुआ जो आज हम देखते हैं। यदि विश्व की उत्पत्ति केवल इसी एक विशाल परमाणु से हुई तो इसका प्रारम्भिक घनत्व भी बहुत अधिक—कम से कम एक अरब मीट्रिक टन प्रति वर्ग सेण्टीमीटर—रहा होगा। इस प्रारम्भिक अवस्था में दिशा एवं काल का भी कोई अस्तित्व नहीं था।

कोलोरेडो विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्री **प्रोफेसर जार्ज गैमो** ने अपनी पुस्तक **'ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति'** में लिखा है कि किस प्रकार आदि-अवस्था में ब्रह्माण्ड के सघन एवं प्रज्वलित केन्द्र में समस्त पदार्थ-राशि स्थिर रही होगी। उनका मत है कि आरम्भ में ब्रह्माण्ड का केन्द्रस्थल कल्पनातीत तापमान में उबलता था और वहाँ समानजातीय एवं मौलिक वाष्प-भण्डार था। उस तापमान में अणु नहीं बल्कि न्यूट्रॉन थे। जब ब्रह्माण्डीय राशि फैलने लगी तो 'तापमान गिरने लगा और जब इसमें 5·5 अरब डिग्री सेण्टीग्रेड की कमी हो गयी तो न्यूट्रॉन जमकर ठोस रूप धारण करने लगे। फिर विद्युत-अणु प्रकट हुए और तत्पश्चात् अणु। इस प्रकार परमाणुओं की उत्पत्ति में एक घण्टे से भी कम समय लगा, किन्तु तारों तथा ग्रहों की रचना में कुछ करोड़ वर्ष लगे। सबसे अद्भुत बात तो यह है कि मानव की रचना में तीस अरब वर्ष का महाकाल लग गया।

अमरीकी वैज्ञानिक **टोलमैन** के मतानुसार ब्रह्माण्डीय विस्तार एक अस्थायी अवस्था है और ब्रह्माण्ड के पदार्थ का परिवर्तन प्रलय की दिशा में हो रहा है। प्रकृति के सभी तत्त्व यह व्यक्त कर रहे हैं कि ब्रह्माण्ड का सार-तत्त्व और शक्ति अथाह शून्य में छितराई जा रही है। सूर्य का तापमान निश्चित रूप से धीरे-धीरे घटता जा रहा है, तारे बुझने वाले अंगारों के समान बनते जा रहे हैं, पदार्थ प्रकाश किरणों में बदल रहे हैं और शक्ति शून्य में मिटती जा रही है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड 'तापान्त अवस्था' की ओर अग्रसर हो रहा है। एक दिन आयेगा जब ब्रह्माण्ड की कार्यविधियाँ अवरुद्ध हो जायेंगी। प्रकाश, जीवन तथा उष्णता का अस्तित्व मिट जायेगा। केवल अखण्ड स्थिरता रह जायेगी।

कतिपय ब्रह्माण्ड-विज्ञानवेत्ताओं का मत है कि ब्रह्माण्ड अपना पुनर्निर्माण कर रहा है। प्रयोगों से यह सिद्ध हो रहा है कि उच्च शक्ति के विकिरण वाले प्रोटोन कतिपय अवस्थाओं में पदार्थ के साथ मिलकर पारस्परिक प्रक्रिया द्वारा विद्युत-अणुओं तथा योगकणों या पाजिट्रॉन (Positrons) को जन्म दे रहे हैं। हार्वर्ड विश्वविद्यालय

के डॉ० ह्विप्ले की राय है कि ब्रह्माण्ड के अन्तःनक्षत्रीय दिक् में विचरण कर रहे ब्रह्माण्डीय रजकण (dust particles) 15 अरब वर्षों में तारों का रूप धारण कर लेंगे।

वृहद् ब्रह्माण्ड की व्यापकता एवं अनन्तता की कल्पना भी हम आसानी से नहीं कर सकते। किसी स्वच्छ रात्रि में हम देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अन्तरिक्ष में अगणित तारे बिखरे पड़े हैं। साधारणतः चक्षुओं के द्वारा कुछ ही वृहद् तारे हम देख सकते हैं किन्तु दूरबीन से करोड़ों तारे दृष्टिगोचर होने लगते हैं। हमारी पृथ्वी पर जितने बालू के कण हैं, शायद उनसे भी अधिक ब्रह्माण्ड में तारे हैं। एडिंग्टन नामक विद्वान का मत है कि ब्रह्माण्ड में कम से कम 11 महापद्म सूर्य होंगे। ब्रह्माण्ड भी एक नहीं, अनेक हैं। हमारा सौर-मण्डल **आकाश गंगा** (Milky Way) नामक ब्रह्माण्ड में स्थित है। आकाश गंगा तारों का समूह है जो आकाश में लम्बाकार पथ के रूप में दिखाई पड़ता है। आकाश गंगा अनेक हैं जिनसे ब्रह्माण्ड (Universe) का निर्माण होता है। आकाश गंगा की आकृति चौरस बिम्बाकार होती है। बिम्ब के केन्द्र में एक गांठ होती है जिसको आकाश गंगा की नाभि (nucleus) कहते हैं। एक आकाश गंगा में लगभग 100 अरब तारे विद्यमान हैं। इनमें बहुतों को हम देख नहीं सकते हैं क्योंकि वे दिन में निकलते हैं और सूर्य के प्रकाश के कारण हम उनको नहीं देख पाते हैं। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि हमारा विश्व कितना महान् है और सौर-जगत इस महाविश्व का केवल एक लघुतम अंशमात्र है। इसीलिए विश्व को अनादि एवं अनन्त कहा जाता है। फिर भी ब्रह्माण्ड रिक्त ही रिक्त रहता है। ब्रह्माण्ड में अनेक तारा-मण्डल बिखरे हुए हैं। एक तारा-मण्डल में 10 करोड़ से 1 अरब तक तारे हैं। हमारा सौर-मण्डल उनमें से एक तारा-मण्डल है जो विशाल ब्रह्माण्ड का अल्पांश मात्र ही है।

उपर्युक्त धारणा **आइन्स्टीन** के पहले के वैज्ञानिकों की है। किन्तु आइन्स्टीन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड अनन्त नहीं है। आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के आधार पर ब्रिटिश भौतिक विज्ञानवेत्ता **सर जेम्स जीन्स** ने ब्रह्माण्ड की उपमा साबुन के बुलबुले के सतह वाले भाग से दी है। अन्तर केवल यही है कि बुलबुले के तीन विस्तार होते हैं किन्तु ब्रह्माण्ड के चार विस्तार हैं—तीन दिक् के और एक काल का। माउण्ट विलसन वेधशाला के वैज्ञानिक **एडविन हार्बल** का कहना है कि ब्रह्माण्ड का अर्द्धव्यास 350 अरब प्रकाश-वर्ष अथवा 33,600,000,000,000,000,000,000 किलोमीटर है।

आइन्स्टीन का ब्रह्माण्ड यद्यपि अपरिमित नहीं है किन्तु इतना विशाल है जिसमें अरबों ज्योतिर्मालाएँ आत्मसात हैं।

ब्रह्माण्ड में असंख्य पिण्ड दिखायी पड़ते हैं। उनमें से कुछ स्वतः प्रकाशित रहते हैं। उन्हें **तारे** (stars) कहते हैं। हमारा सूर्य एक तारा है। कुछ आकाशीय पिण्ड अन्य तारों से प्रकाशित होते हैं। उन्हें **ग्रह** (planet) कहते हैं। हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। कुछ तारे पृथ्वी से बहुत बड़े हैं। **ज्येष्ठा** तारा अरबों पृथ्वियों से भी बड़ा

है। कुछ तारे हल्के हैं और कुछ ठोस हैं। कुछ इतने ठोस हैं कि यदि अँगूठी के नग के बदले उनका टुकड़ा जड़ दिया जाय तो अँगूठी तौल में बहुत भारी हो जायेगी।

रात्रि में तारे केवल प्रकाश-बिन्दु की तरह दिखायी पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि वे हमसे बहुत दूर हैं। वे इतने दूर हैं कि उनकी दूरी किलोमीटरों में नहीं बतायी जा सकती। वैज्ञानिकों ने इस दूरी को बताने के लिए प्रकाश की सहायता ली है। प्रकाश की गति एक सेकण्ड में 2,96,460 किलोमीटर होती है, इसलिए यह दूरी 1 प्रकाश-सेकण्ड कही जाती है। इस प्रकार चन्द्रमा हमसे $1\frac{1}{4}$ प्रकाश-सेकण्ड और सूर्य $8\frac{1}{2}$ प्रकाश-मिनट दूर है, क्योंकि चन्द्रमा से पृथ्वी तक प्रकाश आने में $1\frac{1}{4}$ सेकेण्ड और सूर्य से $8\frac{1}{2}$ मिनट लगते हैं। ध्रुवतारे से प्रकाश को पृथ्वी तक आने में 466 वर्ष लगते हैं, अतः वह हमसे 466 प्रकाश-वर्ष दूर है। प्रकाश को लगभग 94·7 खरब किलोमीटर दूरी तय करने में एक वर्ष लगता है। इस दूरी को एक **प्रकाश-वर्ष** कहते हैं। अनेक तारों के प्रकाश को पृथ्वी तक आने में लाखों वर्ष लग जाते हैं।

चित्र 1—ज्येष्ठा

(सूर्य और ज्येष्ठा का तुलनात्मक अध्ययन)

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आकाश के नीले तथा लाल तारे बहुत बड़े हैं। लाल तारे नीले तारों से भी बड़े हैं। सूर्य जो हमें सबसे बड़ा दिखायी देता है, अनेक तारों की अपेक्षा बहुत छोटा है। **ऐल्फा बूट्स** नामक तारा सूर्य से सौ गुना और **ऐल्फा ओरियोनिस स्कोर्पिओ** बारह सौ गुना बड़ा है। **ऐल्फा स्कोर्पिओ** का व्यास सूर्य के व्यास से साढ़े चार सौ गुना अधिक है और उसका प्रकाश सूर्य के प्रकाश से चार सौ गुना अधिक है।

सौर-मण्डल के सिद्धान्त

प्राचीन यूनान के श्रेष्ठ खगोलज्ञ **हिपार्कस** महोदय ने ईसा से 140 वर्ष पूर्व सौर-मण्डल की भू-केन्द्रीय मण्डल की कल्पना प्रस्तुत की थी जिसमें ग्रहों, चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य तारों की गति की व्याख्या थी। इस परिकल्पना को विकसित करके ईसा से 130 से 150 वर्ष पश्चात् मिस्री वैज्ञानिक **टोलमी** ने घोषणा की थी कि

सौर-मण्डल का केन्द्र पृथ्वी है, और सभी अन्य ग्रह तथा सूर्य इसकी परिक्रमा करते हैं। इस सिद्धान्त की मान्यता 15 वीं शताब्दी तक रही। इसको **टोलमी सिद्धान्त** (Ptolemaic Theory) की संज्ञा दी जाती है। इसमें ग्रहों की कक्षाएँ एक क्रम में थीं। इस परिकल्पना की त्रुटि ग्रहों का आवर्ती परिक्रमण (periodic retrogression) था। इनका दृष्ट पथ (apparent path) निष्कोण वक्र (smooth curve) नहीं था बल्कि अधिचक्र (epicycle) था। 16वीं शताब्दी में यूनानी खगोलविद् **कोपरनिकस** ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सौर-जगत का केन्द्र सूर्य है जिसके चारों ओर सभी ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि परिक्रमा करते हैं। टोलेमी-प्रणाली को **भू-केन्द्रीय परिकल्पना** (Geo-centric Hypothesis) और कोपरनिकस-प्रणाली को **सूर्य-केन्द्रीय परिकल्पना** (Helio-centric Hypothesis) की संज्ञा प्रदान की गयी। बाद में इटली का खगोलविद् **गैलीलियो** तथा जर्मन गणितज्ञ **केपलर** के प्रयोगों द्वारा भी कोपरनिकस-प्रणाली की पुष्टि हुई। इस सिद्धान्त में ग्रहों के दृष्ट वक्री गति (apparent retrograde motion) की व्याख्या विभिन्न कोणीय वेग से घूमने वाले ग्रहों एवं पृथ्वी की पारस्परिक गति से प्राप्त होती है। किन्तु इसकी दो त्रुटियाँ हैं—तारे सूर्य की परिक्रमा नहीं करते हैं तथा ग्रहों का वृत्ताकार कक्ष नहीं है। गैलीलियो ने 1630 ई० में दूरबीन द्वारा सिद्ध कर दिया कि सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं और सूर्य स्थिर है। उसको अपने अनुसंधान पर इतना अटल विश्वास था कि जब पादरियों ने उसे बन्दी बना कर फाँसी पर लटकाने का दण्ड दिया तो उस समय भी उसने यही कहा कि ''Epursi Mouve' (and still the earth moves)। गैलीलियो इस समय लगभग अन्धा हो गया था।

पादरी लोग गैलीलियो पर बहुत अप्रसन्न थे क्योंकि ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने पहले स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और उसके पश्चात्, सूर्य, ग्रहों तथा उपग्रहों की रचना की। इस मत के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और सभी ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं।

भारतीय ज्योतिषाचार्य **श्री भास्कराचार्य** ने 12वीं शताब्दी में सिद्ध किया था कि आकर्षण शक्ति के कारण ही सभी ग्रह निरन्तर घूमा करते हैं। किन्तु इस तथ्य को सन् 1687 में न्यूटन के प्रसिद्ध **गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धान्त** के प्रतिपादन के पश्चात् ही मान्यता मिल सकी कि समस्त तारे, ग्रह, अवान्तर ग्रह आदि आकर्षण शक्ति द्वारा एक-दूसरे को खींचे हुए हैं। यह शक्ति निम्न तीन सिद्धान्तों पर अवलम्बित है :

(1) **गुरुत्व-बल या अभिकेन्द्र-बल** (Force of Gravity or Centripetal Force)—सूर्य की इस शक्ति के द्वारा सभी ग्रह सूर्य की ओर आकर्षित रहते हैं। इस शक्ति के अभाव में वे लुढ़ककर ब्रह्माण्ड में अनिश्चित स्थान पर जा सकते हैं।

(2) **जड़त्वीय बल** (Force of Inertia)—इस शक्ति के द्वारा प्रत्येक ग्रह अपनी सीध में गतिमान होता है और एक समान गति कायम रखता है।

(3) **अपकेन्द्र-बल** (Centrifugal Force)—यह शक्ति गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विपरीत है। इस शक्ति के द्वारा प्रत्येक ग्रह परिभ्रमण करता हुआ बाहर की ओर

जाना चाहता है परन्तु गुरुत्वाकर्षण शक्ति इसका प्रतिरोध करके प्रत्येक ग्रह की स्थिति को स्थायी रखती है।

इन शक्तियों के द्वारा अनन्तकाल से सौर-मण्डल का क्रम अविरल गति से जारी है। इसी प्रकार ग्रहों के उपग्रह भी अपने जन्मदाता ग्रह की परिक्रमा करते हुए शून्य में स्थित हैं। उपग्रहों का केन्द्र सम्बन्धित ग्रह होता है जो शक्ति-स्रोत का कार्य करता है

ग्रह जिस भाँति सूर्य की परिक्रमा करते हैं उनमें बहुत-सी समानताएँ हैं :

(1) सभी ग्रह लगभग वृत्ताकर मार्ग में सूर्य का चक्कर लगाते हैं।

(2) ग्रहों का परिक्रमा-तल एक-दूसरे से थोड़े ही अंश पर झुका हुआ है। अतः पूर्ण सौर-मण्डल एक तश्तरी के आकार का दिखायी पड़ता है।

(3) सभी ग्रह बिना किसी अपवाद के एक ही दिशा में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। ग्रह भी स्वयं अपने अक्ष पर इसी दिशा में परिभ्रमण करते हैं। इतना ही नहीं, अधिकांश उपग्रह भी इसी दिशा में अपने ग्रहों की परिक्रमा करते हैं।

उपर्युक्त समानताओं से इस बात का निर्देश होता है कि सौर-मण्डल के सभी ग्रहों की उत्पत्ति एक ही समय और एक ही कारण से हुई। ग्रहों की रचना तथा गति का कारण उनकी उत्पत्ति में निहित है। अतः ग्रहों की उत्पत्ति के कारणों को समझने के लिए उनकी गति तथा रचना में एक सामंजस्य स्थापित करना होगा, समानताएँ एवं विषमताएँ समझनी होंगी। ग्रहों की उत्पत्ति सम्बन्धी इन परिकल्पनाओं का उल्लेख अगले अध्याय में किया गया है।

सौर-मण्डल

खगोल-शास्त्रवेत्ता बताते हैं कि तारे अकेले नहीं हैं। ये झुण्ड बनाकर रहते हैं। एक तारे के साथ कई ग्रह, उपग्रह, अवान्तर ग्रह, पुच्छल तारे आदि होते हैं। हमारे सूर्य के साथ भी नवग्रह हैं। इन ग्रहों के उपग्रह हैं। अन्य आकाशीय पिण्ड भी हैं। ये सभी पिण्ड हमारे सूर्य का परिवार हैं और आपस में इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य तथा उसका यह परिवार 'सौर-मण्डल' कहलाता है। बुध, शुक्र, पृथ्वी एवं मंगल पार्थिव ग्रह (terrestrial planets) तथा शेष ग्रह मुख्य ग्रह (major planets) कहलाते हैं।
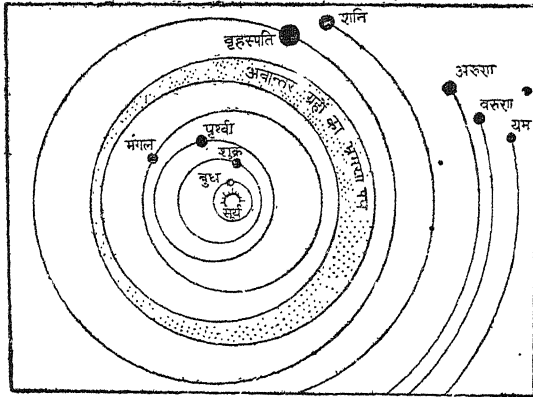
चित्र 2—सौर-मण्डल की ग्रह-कक्षाएँ

प्रस्तुत तालिका से सौर-परिवार के सदस्यों का आपेक्षिक विवरण स्पष्ट हो जाता है।

सौर-परिवार के सदस्यों का आपेक्षिक विवरण

ग्रहों के नाम	सूर्य से औसत दूरी (दस लाख किलोमीटर में)	व्यास की लम्बाई (हजार किलो-मीटर)	सूर्य की परिक्रमा का समय	परिभ्रमण-काल	परिभ्रमण की गति (प्रति सेकण्ड किलोमीटर)	उपग्रहों की संख्या	द्रव्यमान (पृथ्वी की मात्रा इकाई मानकर)	कक्षा का क्रांतिवृत्त के साथ झुकाव	औसत घनत्व (जल का घनत्व इकाई मानकर)	अधिकतम तापमान (सेग्रे में)
(1) बुध	58·3	4·8	88 दिन	88 दिन	48	0	0·05	7°	5·46	350°
(2) शुक्र	107·6	12·2	225 दिन	30 दिन	35·2	0	0·81	3·4°	5·06	100°
(3) पृथ्वी	149·5	{12·6 12·7	365¼ दिन	23 घं० 56 मि०	29·6	1	1	0°	5·52	60°
(4) मंगल	224·2	6·8	687 दिन	24 घं० 37 मि० 22 से०	24	2	0·11	1·85°	4·12	29·5°
(5) बृहस्पति	777·4	{133·4 142·9	11·86 वर्ष	9 घं० 50 मि०	12·8	12	318	1·3°	1·35	—14°
(6) शनि	1420·2	{108·1 120·1	29·46 वर्ष	10 घं० 2 मि०	10·4	9	95·2	2·5°	0·71	—150°
(7) अरुण	2870·4	49·7	84·03 वर्ष	10 घं० 8 मि०	6·4	4	14·6	·8°	1·56	—185°
(8) वरुण	4500·0	49·6	164·8 वर्ष	15 घं० 48 मि०	5·6	5	171·3	1·8°	2·47	—200°
(9) यम	5905·5	5·87	247·7 वर्ष	61 दिन 10 घं०	4·8	0	0·01	17·1°	2	—222°

नीहारिकाएँ

नीहारिकाएँ (nebulae) आकाश में हल्के मेघ की तरह दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रिटिश ज्योतिषी हर्शल तथा हगिन्स के मतानुसार नीहारिकाएँ चमकीली गैस राशियाँ हैं। इसकी नाभि उष्ण गैसीय है। इस नाभि के चतुर्दिक परिक्रमण के कारण इनकी आकृति सर्पिल (spiral) होती है। कोरी आँखों से इनको देखना अत्यन्त कठिन होता है। कुछ नीहारिकाएँ काली होती हैं और कुछ श्वेत। काली नीहारिकाएँ आकाश में छिद्र की तरह प्रतीत होती हैं और इनमें चमक नहीं होती है। श्वेत नीहारिकाओं में चमक होती है और ये निकट के तारों के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं। ब्रह्माण्ड में हजारों नीहारिकाएँ हैं और एक नीहारिका का आधार इतना बड़ा होता है कि 32 करोड़ किलोमीटर व्यास के 10 लाख लोगों की लम्बाई-चौड़ाई भी इस नीहारिका के अपरिमेय आकार के सामने तुच्छ है। निकट से निकट की नीहारिका भी हमसे इतनी दूर है कि उसके प्रकाश को पृथ्वी तक आने में एक लाख प्रकाश-वर्ष तक लग जाते हैं। एण्ड्रोमीडा नामक नीहारिका हमसे नौ लाख प्रकाश-वर्ष दूर है। सन् 1925 में हबल महोदय ने एण्ड्रोमीडा के अध्ययन के पश्चात् बताया कि नीहारिका की सर्पिल भुजाओं में सीफीड चर (cepheid variable) है। ये सिकुड़ने पर फैलते हैं। इस अवस्था में इनका प्रकाश घटता एवं बढ़ता रहता है। इसको स्पन्दनावस्था (pulsation) कहते हैं। अन्य महत्त्वपूर्ण नीहारिकाएँ ओरियन, केनीस वेनाटिसी तथा लाइरा आदि हैं।
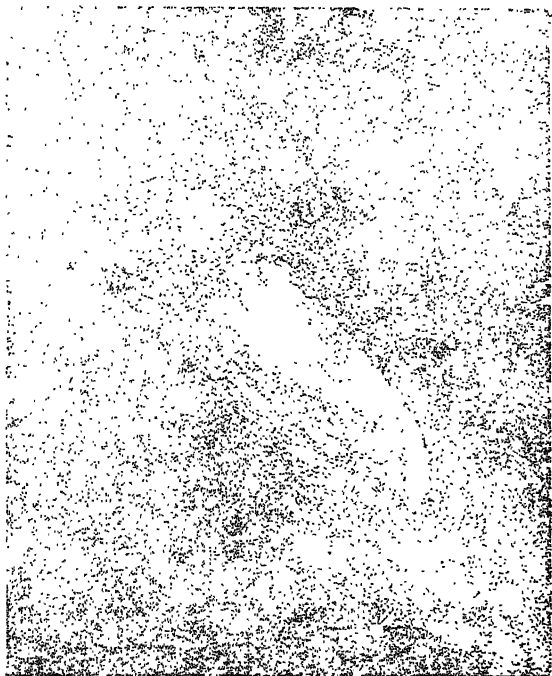
चित्र 3—नीहारिकाएँ

सूर्य

आकाश के तारों में एक सूर्य भी है। यह उष्ण एवं दबी हुई गैसों का धधकता पिण्ड है। यह सौर-मण्डल के ग्रहों में सबसे अधिक शक्तिशाली, उपयोगी एवं

आकर्षक है। यह सौर-मण्डल में प्रकाश एवं उष्णता का एकमात्र स्रोत है। सूर्य के आकर्षण के द्वारा ही सभी ग्रह अपनी स्थिति पर टिके हुए हैं, अन्यथा टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो गये होते। इसकी आकर्षण शक्ति से प्रभावित होकर सभी ग्रह इसके चतुर्दिक परिक्रमण करते हैं। सभी ग्रह अपनी अक्ष पर घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करते हैं। हमारा सूर्य भी अपनी अक्ष पर 24 दिन 16 घण्टे (लगभग 24·7 दिन) में एक परिक्रमण पूरा करता है। इसका अनुमान उस पर दिखायी देने वाले कलंकों से लगाया गया है। ये काले कलंक एक किनारे से दिखायी देना प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे दूसरे किनारे पर 13 दिन में पहुँचकर आँखों से ओझल हो जाते हैं। 13 दिन अदृश्य रहकर ये पुनः दिखायी देना प्रारम्भ करते हैं और अगले 13 दिन तक
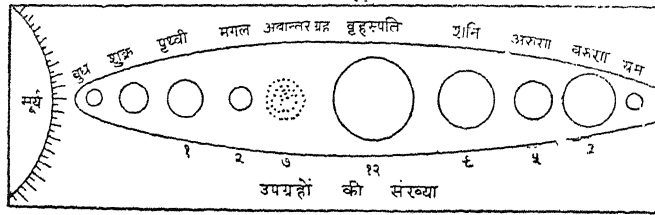
चित्र 4—सूर्य एवं उसके ग्रह

दिखायी देते रहते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सूर्य किसी अज्ञात आकाशीय पिण्ड का परिक्रमण करता है। इस परिक्रमण को पूरा करने में सूर्य को लगभग 25 करोड़ वर्ष लगते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि सूर्य उस आकाशीय पिण्ड का परिक्रमण कई बार कर चुका है और यह परिक्रमण सूर्य 320 किलोमीटर प्रति घण्टे की चाल से करता है; किन्तु यह प्रश्न अभी विवादास्पद है।

सूर्य का व्यास 13,93,000 किलोमीटर है। यह हमारी पृथ्वी से 14,95,04,000 किलोमीटर दूर है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास का 109·1 गुना है। इसका आयतन हमारी पृथ्वी के आयतन का 13,07,000 गुना और इसका द्रव्यमान पृथ्वी का 3·32 लाख गुना है।

सूर्य तो ताप एवं प्रकाश का अक्षय भण्डार है। इसी कारण यह **आकाश-देव** की संज्ञा से विभूषित है। इसका तापमान कल्पनातीत है। इसके धरातल का तापमान 5,500° से 6,000° (केल्विन) तक रहता है। इसके केन्द्र का तापमान कितना प्रचण्ड होगा, यह केवल कल्पना की बात है। कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार इसका भीतरी तापमान दो करोड़ डिग्री केल्विन है। सूर्य में अपरिमेय शक्ति भी है। सूर्य के धरातल के प्रति वर्ग सेण्टीमीटर से लगभग 9 अश्व-बल की शक्ति निकलती है। हमारी पृथ्वी को इसका केवल दो अरबवाँ भाग प्राप्त हो पाता है।

0° सेग्रे = 273° केल्विन

खगोलीय एकक (astronomical unit) = 14,95,04,000 किलोमीटर जो सूर्य से पृथ्वी तक की औसत दूरी है।

सूर्य का जो भाग हमें दिखायी देता है उसको **प्रकाश-मण्डल** (Photosphere) कहते हैं। ग्रीक भाषा में phos का अर्थ प्रकाश होता है। सूर्य के इस प्रकाश-मण्डल पर भी चन्द्रमा के कलंकों की तरह **रवि-कलंक** (Sun-spots) दिखायी देते हैं। किन्तु ये कलंक स्थायी नहीं हैं। ये मिटते तथा उत्पन्न होते रहते हैं। ये कलंक प्रकाश-मण्डल की दरारें हैं जो साधारणतया 800 किलोमीटर से 80,000 किलोमीटर तक लम्बी होती हैं। सबसे बड़ी दरार 2,30,400 किलोमीटर लम्बी है। ये रवि-कलंक तूफानी होते हैं और इनके दिखायी देने पर पृथ्वी का तापमान बढ़ जाता है।

चित्र 5—सूर्य के वर्ण-मण्डल

सूर्य के ऊपर एक-दूसरा वायुमण्डल होता है जिसे सौर-वायुमण्डल (solar-atmosphere) कहते हैं। इसमें हाइड्रोजन, हीलियम तथा जलते हुए कैलशियम के वाष्प-कण होते हैं। इसका रंग गहरा लाल होता है। यह शून्य में कई हजार किलोमीटर तक फैला हुआ है।

सौर-वायुमण्डल के तीन क्षेत्र हैं—उत्क्रमण-मण्डल (The Reversing Layer), वर्ण-मण्डल (The Chromosphere) तथा किरीट (The Corona)। प्रथम शीतल गैसों का स्तर है जो सूर्य-प्रकाश के तरंग-दैर्घ्यों (wavelengths) का अवशोषण करता है। इस तरंग-दैर्घ्य को **फ्रौन्होफर रेखा** (Fraunhofer line) भी कहते हैं। वर्ण-मण्डल उष्ण हाइड्रोजन द्वारा निर्मित होता है जो लाल प्रकाश का उत्सर्जन करता है जो सूर्य ग्रहण के समय देखा जा सकता है। किरीट उष्ण गैसों का एक आवरण है जो सूर्य से लाखों किलोमीटर तक विस्तृत है और जिसको सूर्य ग्रहण के समय देखा जा सकता है। वर्ण-मण्डल तथा किरीट से विकिरण का प्रभाव केवल पृथ्वी के वायुमण्डल के ऊपरी स्तर में पाया जाता है। किरीट का तापमान 10 लाख डिग्री केल्विन है।
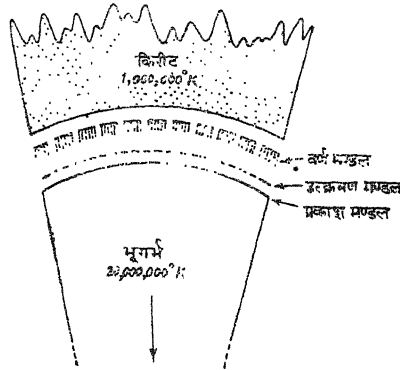
चित्र 6—सूर्य की संरचना

सूर्य के प्रकाश-मण्डल में 40 तत्त्व पाये जाते हैं जिनमें टिन, सीसा, सोडियम,

पोटैशियम तथा चाँदी आदि मुख्य हैं। इस पर इलेक्ट्रॉन (electron) तथा प्रोटॉन (proton) के मिश्रण से ऊष्मा उत्पन्न होती है।

सूर्य के परिमाण-मण्डल का घनत्व पृथ्वी के परिमाण-मण्डल के घनत्व का एक-चौथाई है। अतः सूर्य पृथ्वी की अपेक्षा हल्के पदार्थों से बना ज्ञात होता है। किन्तु सूर्य में आकर्षण-शक्ति अधिक है। जो वस्तु पृथ्वी पर एक किलो भारी है वह सूर्य पर 27 किलो भारी होगी।

बुध

यह एक चमकीला ग्रह है। यह केवल सन्ध्या समय या प्रातःकाल दिखायी पड़ता है। यह सौर-परिवार का सबसे छोटा सदस्य है। यह बृहस्पति तथा शनि के उपग्रहों से भी छोटा है। यह सूर्य से 583 लाख किलोमीटर दूर है। इसका व्यास 4,830 किलोमीटर है। सूर्य की परिक्रमा करने में इसको 88 दिन लगते हैं। इस प्रकार इसका एक दिन पृथ्वी के 88 दिन के बराबर होता है। इसका धरातल पृथ्वी के धरातल का $\frac{1}{2}$ और इसका आयतन पृथ्वी के आयतन का $\frac{1}{17}$ है।

चित्र 7—बुध में चन्द्रमा की तरह की कलाएँ

बुध अपनी कक्षा पर 7° झुका हुआ है और यह सूर्य के साथ 28° का कोण बनाता है। पृथ्वी इस ग्रह की कक्षा से बाहर है। इसीलिए बुध उस दिशा में नहीं जा सकता है जो सूर्य के विपरीत पड़ती है। बुध सूर्य के समीप ही रहता है क्योंकि इसकी कक्षा छोटी है। इसका परिणाम यह होता है कि यह या तो पश्चिम की दिशा में सूर्यास्त के दो घण्टे बाद तक अथवा पूरब में सूर्योदय के दो घण्टे पहले तक देखा जा सकता है। इसकी चमक सुनहली तथा बड़ी तीव्र होती है।

बुध में कलाएँ होती हैं। साधारणतया सूर्यास्त के बाद बुध शीघ्र ही डूब जाता

है और सूर्योदय के कुछ ही पूर्व उदय होता है। सूर्यास्त के कुछ समय बाद तक पश्चिमी आकाश और सूर्योदय के कुछ समय पहले से पूरबी आकाश लाल रहता है, अत: बुध को कम लोग देख पाते हैं। नगरवासियों में बहुत कम लोगों ने इसे देखा होगा, क्योंकि नगर का वायुमण्डल साफ नहीं होता। बुध पर रेखाएँ और धब्बे देखे गये हैं। बुध का एक ही भाग सर्वदा सूर्य की ओर रहता है।

बुध की कक्षा दीर्घवृत्ताकार है। सूर्य केन्द्र में न रहकर एक ओर है, इसलिए यह सूर्य के निकटतम रहता है। यह अन्तर अधिक नहीं है तो भी महत्तम गरमी लघुतम की दुगुनी होती होगी। बुध पर वायुमण्डल नहीं है और छोटा होने से इसमें आकर्षण शक्ति भी कम है।

यदि वैज्ञानिक **शायापरेली** की यह कल्पना ठीक है कि बुध ग्रह का एक ही आधा भाग सर्वदा सूर्य की ओर रहता है और आधे भाग को कभी भी सूर्य का दर्शन नहीं होता है, तो सूर्य के समक्ष वाले भाग पर भयानक गरमी (350° सेण्टीग्रेड) पड़ती होगी और विमुख भाग पर तापमान —200° सेण्टीग्रेड रहता होगा। एक तो बुध सूर्य के बहुत समीप है, दूसरे वहाँ पर वायुमण्डल या बादल नहीं है, जिससे धूप से कोई रक्षा हो। इस भाग पर कभी रात भी नहीं होती है। इस प्रकार इस भाग का तापमान सीसा धातु को पिघलाने वाला होगा।

बुध पर पहाड़, पठार आदि अवश्य होंगे क्योंकि प्रारम्भ में यह तरल रहा होगा। वायुमण्डल तथा वर्षा के अभाव में वहाँ पर पर्वत, टीले तथा दरारें आज भी वैसी ही करकराती धार वाली होंगी जैसी पहले रही होंगी। झुलसाने वाली भीषण धूप, एकदम काली परछाइयाँ, निर्मल एवं नीला आकाश, चन्द्रमा की तरह जीव-रहित तथा शब्द-रहित संसार वहाँ उपलब्ध होगा। दूसरे आधे भाग में भी ऐसा ही दृश्य होगा; किन्तु वहाँ प्रकाश केवल तारों से मिलता होगा और सरदी भी बहुत ज्यादा पड़ती होगी।

शुक्र

बुध की भाँति शुक्र भी सौर-मण्डल का एक लघु सदस्य है। इसका व्यास 12,195 किलोमीटर है। यह सूर्य से 1,076 लाख किलोमीटर दूर है। यह 225 दिन में सूर्य की परिक्रमा पूरी करता है। इसकी कक्षा बुध से बड़ी है। इसलिए सूर्योदय के चार घण्टे पहले से और सूर्यास्त के चार घण्टे बाद तक यह हमें दिखायी पड़ता है।

यह अत्यन्त सुन्दर तथा चमकीला होता है। यह इतना चमकीला है कि अँधेरी रात में इसकी ज्योति से स्पष्ट परछाइयाँ पड़ती हैं। इसका प्रकाश घटा-बढ़ा करता है। इसके दो कारण हैं—एक तो शुक्र में चन्द्रमा की तरह कलाएँ होती हैं; दूसरे, सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करने के कारण पृथ्वी से शुक्र की दूरी घटती-बढ़ती रहती है जिससे भी प्रकाश बहुत घटा-बढ़ा करता है। जब शुक्र हमारे पास रहता है

तो प्रायः अदृश्य हो जाता है; किन्तु जब वह हमसे महत्तम दूरी पर रहता है तो उसका पूरा बिम्ब दिखायी देता है। शुक्र प्रायः दिन में भी कोरी आँखों से देखा जा सकता है।

शुक्र की असली सतह सर्वदा बादलों के भीतर छिपी रहती है। हम केवल बादल ही देख पाते हैं। शुक्र पर वायुमण्डल है जिसमें 1 प्रतिशत ओषजन तथा वाष्प है। उचित मात्रा में कार्बन डाइऑक्साइड भी है। इसके सूर्य द्वारा प्रकाशित धरातल का तापमान 100° सेण्टीग्रेड के लगभग है और विपरीत भाग का तापमान —23° सेण्टीग्रेड होता है।
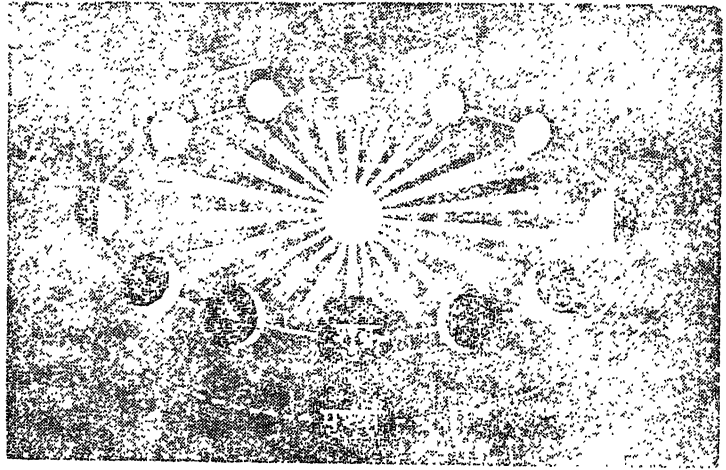
चित्र 8—शुक्र की कलाएँ

यह अपने अक्ष पर भ्रमण करता है। जर्मन ज्योतिषी **डॉ० श्रेटर** का विश्वास था कि वह अपने अक्ष पर 23 घण्टे 21 मिनट में एक बार घूमता है। अन्य ज्योतिषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। इस पर प्राणी या वनस्पति हैं या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। ऐसा अनुमान है कि शुक्र पर घना वायु-मण्डल होगा, इसी कारण दूरबीन द्वारा भी हम उसकी सतह को नहीं देख पाते हैं। हम केवल कल्पना करते हैं कि वहाँ आकाश में घनघोर बादल छाये रहते होंगे जिनमें से सूर्य कभी-कभी झाँकता रहता होगा। इसी आधार पर अनुमान किया जाता है कि शुक्र पर जल होगा और सम्भवतः वहाँ वनस्पति तथा प्राणी भी होंगे।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात हो रहा है कि शुक्र ग्रह पर ओषजन तथा वाष्प की मात्रा बहुत कम है; किन्तु कार्बन डाइऑक्साइड प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। कार्बन डाइऑक्साइड घातक गैस है। अनुमान है कि पृथ्वी की अपेक्षा शुक्र पर 10 हजार गुनी कार्बन डाइऑक्साइड है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए यह निर्विवाद कहा

जा सकता है कि शुक्र पर प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। शुक्र पर प्राप्त विकराल गर्मी में किसी भी प्राणी के रहने की सम्भावना नहीं हो सकती है।

जहाँ तक शुक्र के धरातल का प्रश्न है वह निश्चित रूप से ऊबड़-खाबड़ होना चाहिए। सागरों तथा जलाशयों का अभाव शुक्र की अपनी विशेषता है। अपने इस रौद्र रूप का स्वयं साक्षी यह शुक्र ग्रह किसी प्रकार भी जीवन धारण करने में समर्थ नहीं है। रूसी राकेट, जो 7·2 किलोमीटर प्रति सेकण्ड की द्रुतगति से शुक्र की ओर गया था, ने सारे रहस्यों के उद्घाटन का श्री श्रीगणेश किया है। रूसी उपग्रह वेनस तथा सोमूस से शुक्र की वास्तविक जानकारी प्राप्त होगी।

पृथ्वी

पृथ्वी, जिस पर हम निवास करते हैं और जो धरती माता के नाम से सम्बोधित होती है, एक ग्रह है। यह भी अन्य ग्रहों की भाँति सूर्य की परिक्रमा करती है। यह पूर्ण गोलक नहीं है अपितु ध्रुवों पर तनिक चपटी है। इसका विषुवत्‌रेखीय व्यास 12,762 किलोमीटर और ध्रुवीय व्यास 12,719 किलोमीटर है। अपनी कीली पर घूमने के कारण पृथ्वी विषुवत्‌ रेखा पर उभरी हुई है। इसकी विषुवत्‌रेखीय परिधि 40,092 किलोमीटर और ध्रुवीय परिधि 39,025 किलोमीटर है। कीली पर पृथ्वी के भ्रमण करने की गति अत्यन्त तीव्र है। विषुवत्‌ रेखा पर इसकी गति 1,671 किलोमीटर प्रति घण्टा है, जबकि संसार का सबसे तीव्रगामी वायुयान केवल 966 किलोमीटर प्रति घण्टा चलता है। पृथ्वी 23 घण्टे 56 मिनट 4·09 सेकण्ड में अपनी कीली पर सूर्य का एक चक्कर लगाती है तो भी इसके संचरण का अनुभव हम नहीं करते हैं। इस अवधि को नक्षत्र दिन (sidereal day) कहते हैं। अगले अध्यायों में पृथ्वी का विशेष विवरण मिलेगा।

चन्द्रमा

जब से मानव ने होश सँभाला है तभी से वह चन्द्रमा के सौन्दर्य एवं शीतल प्रकाश पर मुग्ध है। कवियों तथा ज्योतिषियों के लिए यह सर्वदा से पहेली बना हुआ है। किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में हम चन्द्रमा के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें स्पष्ट एवं निश्चित रूप से जान गये हैं। रूस द्वारा प्रस्तुत राकेट बम तथा स्पुतनिक एवं अमेरिका द्वारा छोड़े गये अपोलो-11 ने चन्द्रमा को हमारे निकट ला दिया है।

समस्त आकाशीय पिण्डों में चन्द्रमा ही हमारे सबसे निकट है। इसकी दूरी पृथ्वी से अपभ (Apogee) की अवस्था में 4,06,000 किलोमीटर तथा उपभ (Perigee) में 3,56,000 किलोमीटर है। इसका व्यास 3,478 किलोमीटर है। 49 चन्द्रमा मिलकर पृथ्वी के बराबर होंगे। इसका द्रव्यमान (mass) पृथ्वी का $\frac{1}{85}$ वाँ और आयतन $\frac{1}{50}$ वाँ भाग है। पृथ्वी की शैलों की अपेक्षा चन्द्रमा की शैलें हल्की हैं।

Apogee—ग्रीक शब्द Ap =दूर, ge=पृथ्वी

Perigee—ग्रीक शब्द Peri=निकट, ge=पृथ्वी

चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। यह इस प्रकार पृथ्वी की परिक्रमा करता है कि इसका एक ही भाग सर्वदा हमारी ओर रहता है। यह पृथ्वी के चारों ओर 27 दिन 7 घण्टे 43 मिनट और 11·5 सेकण्ड में परिक्रमा करता है। इस समय को नाक्षत्र मास (sidereal month) कहते हैं। किन्तु वास्तव में चन्द्रमा की यह परिक्रमा 29 दिन 16 घण्टे में पूरी होती है, क्योंकि इसी समय पृथ्वी अपनी कक्षा पर घूमने के कारण आगे बढ़ जाती है। इस बढ़े हुए भाग को तय करने में चन्द्रमा को $2\frac{1}{2}$ दिन और लग जाते हैं, अतः चन्द्रमा पृथ्वी का परिक्रमण $29\frac{2}{3}$ दिन में करता है। ज्योतिषियों का अनुमान है कि चन्द्रमा प्रत्येक सौ वर्ष में पृथ्वी से 2 मीटर दूर खिसकता जाता है।

चन्द्रमा वायुमण्डल-रहित है अतः दिन में वहाँ अधिक तापमान 108° सेण्टीग्रेड और रात्रि में तापमान —150° सेण्टीग्रेड हो जाता है। इसकी सतह पर अनेक शान्त ज्वालामुखी हैं जिनके मुखों का व्यास 0·4 किलोमीटर से 240 किलोमीटर तक है। चन्द्रमा में आकर्षण-शक्ति कम है अतः वहाँ प्रत्येक वस्तु का भार भी बहुत कम रहता है।

यह एक प्रकाशहीन उपग्रह है। यह स्वयं नहीं चमकता है। इसके जिस भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है वही हमें दिखायी पड़ता है। यही कारण है कि चन्द्रमा में हमें कलाएँ दिखायी देती हैं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के केवल आधे भाग को ही प्रकाशित कर सकता है। जब हम पूर्ण प्रकाशित भाग को देखते हैं तब पूर्णिमा होती है। इन्हीं प्रकाशित तथा अप्रकाशित भागों के न्यूनाधिक मात्रा में दिखायी पड़ने पर द्वितीया, तृतीया आदि कलाएँ होती हैं।

चन्द्रमा पृथ्वी का पुत्र माना जाता है। जब पृथ्वी तरल अवस्था में तीव्र गति से घूम रही थी तो चन्द्रमा पृथ्वी-पिण्ड से टूटकर अलग हो गया। प्रोफेसर स्टोक्स के अनुसार चन्द्रमा के निकल जाने से पृथ्वी-तल पर जो वृहद् गड्ढा उत्पन्न हो गया वही कालान्तर में भारी वर्षा-जल से भरकर आदि महासागर प्रशान्त बन गया।

पृथ्वी तथा चन्द्रमा के आकार में जो सम्बन्ध है वह किसी अन्य ग्रह तथा उपग्रह के आकार में नहीं है। अतः कई विद्वानों के मतानुसार चन्द्रमा प्रारम्भ से ही पृथ्वी से पृथक एक पिण्ड रहा है। दक्षिणी अफ्रीका के विद्वान प्रोफेसर श्वार्ज के विचार में चन्द्रमा तथा बुध युग्म तारक समूह के अंग थे और कालान्तर में चन्द्रमा पृथ्वी के आकर्षण के फलस्वरूप उसका उपग्रह बन गया। इस विचार की पुष्टि निम्न तथ्यों से होती है :

(1) पृथ्वी तथा चन्द्रमा की ऊपरी तहों की संरचना में भिन्नता है।
(2) दोनों के सतह के तापमान में अन्तर है।
(3) दोनों के घनत्व में अन्तर है।
(4) चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति की तुलना में कम है।
(5) चन्द्रमा का एक दिन पृथ्वी के चौदह दिनों के बराबर होता है।

(6) चन्द्रमा की शैलें पृथ्वी की शैलों से प्राचीन हैं। अपोलो की यात्राओं में प्राप्त शैल खण्डों के विश्लेषण उपरोक्त तथ्य ज्ञात हुए। इसके फलस्वरूप **जार्ज** के विचार को समर्थन मिल रहा है। चन्द्रमा का पृथ्वी का टुकड़ा होना अब असत्य सिद्ध है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में नोबेल पुरस्कार विजेता **डॉ० सी० यूरी** ने एक नई परिकल्पना का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति की अवधारणा अमान्य है। उनका विचार है कि पृथ्वी की उत्पत्ति के बहुत पहले से ही सौर-मण्डल में चन्द्रमा का अस्तित्व था। यूरी महोदय का कहना है कि सौर-मण्डल की रचना चन्द्रमाओं से मिलकर हुई थी। अन्य चन्द्रमा तो नष्ट हो गये किन्तु पृथ्वी के निकट का चन्द्रमा किसी तरह बचा रहा।

चन्द्रमा पर जीवन नहीं है। इस पर विशाल पर्वत और पर्वतों पर विशाल गडढे हैं, जिससे ये ज्वालामुखी सदृश लगते हैं। चन्द्रमा पर न तो जल है और न प्राणी।

चन्द्रपृष्ठ की जानकारी के प्रयास हो रहे हैं। अमरीकी रेंजर-7 को 28 जुलाई, 1964 को छोड़ा गया था जिससे ज्ञात हुआ है कि चन्द्रमा का पृष्ठ सामान्य समतल है। इस पर कुछ पहाड़ियाँ तथा दरारें हैं। यहाँ गड्ढे उल्काओं के प्रहार से निर्मित हैं। चन्द्रमा के सागरों के पृष्ठ पर कोई घाटियाँ नहीं हैं।

चन्द्रमा की छानबीन हेतु अमरीकी यान सर्वेयर तथा रूसी लूना चन्द्र तल पर उतरे हैं। इनके द्वारा भेजे गये फोटो चित्रों से अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो रहा है।

16 जुलाई 1969 को संयुक्त राष्ट अमरीका ने भीमकाय अपोलो-11 यान को अन्तरिक्ष में भेजा, जो भू-गुरुत्वाकर्षण को पार कर, चन्द्रमा पर पहुँचा। यह यान, अपने यात्रियों सहित पुन: पृथ्वी पर लौट आया जो वैज्ञानिकों की प्रकृति पर एक अभूतपूर्व विजय है एवं इससे चन्द्रमा के विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्यों का रहस्योद्‌घाटन हुआ है। पता लग रहा है कि चन्द्र-धूलि पृथ्वी से एक अरब वर्ष अधिक प्राचीन है और चन्द्रमा की संरचना पृथ्वी से बिल्कुल भिन्न है। अपोलो 13 तथा 14 तथा 15 का प्रयोग हो गया है। प्रयोग का क्रम जारी है।

"रूसी लूना-17 ने चन्द्रमा पर पहुँचकर 'लूनोखोड-1' नामक आठ पहियों की गाड़ी चलायी है जो संसार की सबसे अभूतपूर्व घटना है।"

मंगल

बुध, शुक्र और पृथ्वी के पश्चात् सौर-परिवार में चौथा स्थान मंगल ग्रह का है। अंगारे के समान चमकने वाला लाल काल-ग्रह मंगल हमारे लिए विशेष चित्ताकर्षक है क्योंकि वैज्ञानिकों के विचार से इस पर विकास की उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए जीवधारी विद्यमान हैं। प्रत्येक पन्द्रहवें वर्ष हमारा ध्यान सहज ही इस ग्रह की ओर आकर्षित हो जाता है क्योंकि उस समय यह ग्रह हमारे अति निकट आ जाता है और बहुत चमकीला दिखायी देता है। उस समय दूरबीन के द्वारा यह बहुत बड़ा दिखायी देता है।

हमारी कोरी आँखों को यह लाल एवं चमकीला दिखायी देता है। इसकी दूरी पृथ्वी से घटती-बढ़ती रहती है, अतः इसकी चमक भी घटा-बढ़ा करती है। लघुतम कान्ति के समय यह ध्रुवतारा से ड्योढ़ा चमकीला रहता है, जबकि महत्तम् कान्ति के समय यह ध्रुवतारे से पचपन गुना अधिक चमकीला हो जाता है। उस समय शुक्र को छोड़कर यह अन्य सभी ग्रहों एवं तारों से अधिक चमकीला जान पड़ता है।

मंगल का व्यास 6,800 किलोमीटर है। यह पृथ्वी की तरह अपनी कक्षा पर भ्रमण करता है। फलतः ये दोनों सूर्य के साथ कभी न कभी एक सीध में आ जाते हैं। ऐसा लगभग 2 वर्ष 1 माह 19 दिन पर होता है। इस समय पृथ्वी तथा मंगल के मध्य की दूरी अल्पतम हो जाती है। यदि पृथ्वी तथा मंगल ठीक गोले पर चलते, तो बार-बार पृथ्वी तथा मंगल की निकटतम दूरी एकसी ही होती। किन्तु पृथ्वी तथा मंगल दीर्घ वृत्त पर भ्रमण करते हैं, अतः 15 वर्ष पर मंगल हमारे निकटतम आता है। इन दिनों भी मंगल हम से लगभग 7·5 करोड़ किलोमीटर दूर रहता है।
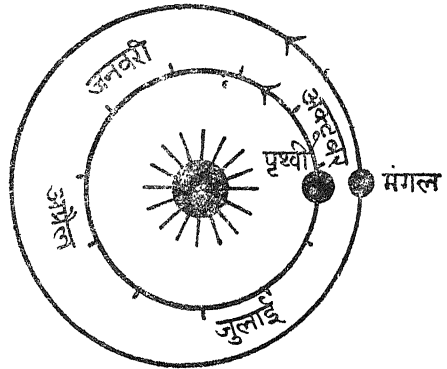
चित्र 9—मंगल और पृथ्वी की भ्रमण-कक्षाएँ

वैज्ञानिकों की धारणा है कि छोटा होने के कारण मंगल पृथ्वी से बहुत अधिक पहले ठण्डा हो गया होगा जिसके कारण जीवधारियों के लिए अच्छा निवास-स्थान बन गया होगा। फलतः पृथ्वी से पूर्व ही वहाँ जीवन का विकास हो गया होगा। कुछ ज्योतिषियों को मंगल पर नहरें दिखायी पड़ी हैं। इसीलिए वैज्ञानिक समझते हैं कि मंगल पर प्राणी हैं। किन्तु यह विवादास्पद है। 1877 ई० में इटली के ज्योतिषी मिलान वेधशाला के अधीक्षक **शायापरेली** ने घोषित किया था कि मंगल पर नाले दिखायी पड़े हैं। इटैलियन भाषा में नाले को 'कैनाली' कहते हैं जो अंग्रेजी शब्द 'कैनाल' से मिलता-जुलता है। अमरीकी वैज्ञानिक **डॉ० लॉवेल** को दृढ़ विश्वास था कि मंगल पर नहरें हैं और ध्रुवीय प्रदेशों में मरुस्थल तक नहरें बनी हैं जो 5 से 6 हजार किलोमीटर तक लम्बी तथा 9 किलोमीटर तक चौड़ी हैं। इस तथ्य के पक्ष तथा विपक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किये गये हैं जिससे यह प्रश्न अभी तक अनिश्चित एवं अनिर्णीत रह गया है।

इस ग्रह की छानबीन अभी जारी है। यह बात निश्चित हो चुकी है कि वहाँ ऊँचे-ऊँचे पर्वत नहीं हैं। वहाँ समुद्र भी नहीं है। वहाँ वायुमण्डल अवश्य है, किन्तु वह हमारे वायुमण्डल की तरह घना नहीं है। बादल कभी-कभी देखे जाते हैं। वहाँ 24 घण्टे 37 मिनट 22 सेकण्ड का रात-दिन होता है। वहाँ की ऋतुएँ हमारी

ऋतुओं से दूनी बड़ी होती हैं, क्योंकि मंगल सूर्य की परिक्रमा 687 दिन या 1·88 वर्ष में करता है। वहाँ वर्षा ऋतु नहीं होती है। उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर हिम जमा रहती है, क्योंकि वहाँ इतना पानी ही नहीं कि अधिक वाष्प उठे, बादल बनें और पानी बरसे।

तौल में मंगल पृथ्वी के दसवें भाग से कुछ ही अधिक होगा। इसके पृष्ठ पर आकर्षण शक्ति पृथ्वी की अपेक्षा एक-तिहाई होगी। ऐसी आशा है कि राकेट द्वारा मनुष्य मंगल पर पहुँच सकेंगे। अमरीका के प्रो० गॉडर्ड इस ओर काफी प्रयत्नशील हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि मंगल ग्रह पर पानी उड़ेलने से इतना धीरे गिरेगा जैसे रुई। वहाँ बैठने के लिए स्पष्ट रूप से बल लगाना पड़ेगा। मंगल पर चावल गलने की भी सम्भावना प्रतीत नहीं होती है। यहाँ पृथ्वी की अपेक्षा अधिक शीत पड़ती है, क्योंकि सूर्य से पृथ्वी की अपेक्षा यह सुदूर है।
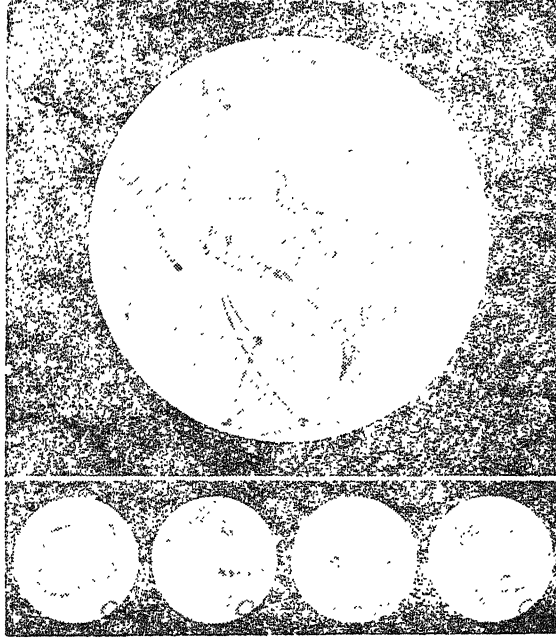
चित्र 10—मंगल ग्रह और उसकी नहरें

मंगल के धरातल का तापमान 60° सेण्टीग्रेड तक है। यह आधी रात से प्रातःकाल तक दिखायी देता है। सन्धि-प्रकाश के समय इसे पश्चिमी आकाश में तथा उषाकाल के पूर्व पूर्वी आकाश में देखा जा सकता है। सूर्य से इसकी दूरी जाड़ों में 24,72,00,000 किलोमीटर और ग्रीष्म में 22,64,00,000 किलोमीटर है। इसका अक्ष 1·85° झुका है।

इस ग्रह के दो उपग्रह हैं। इनके नाम **फोबोस** तथा **डाइमोस** हैं। इनका व्यास क्रमशः 16 तथा 57 किलोमीटर है। ये दोनों उपग्रह मंगल की परिक्रमा करते हैं। फोबोस को मंगल की परिक्रमा करने में 7 घण्टे 39 मिनट तथा डाइमोस को 30 घण्टे 12 मिनट लगते हैं।

अवान्तर ग्रह या क्षुद्र ग्रह

मंगल और वृहस्पति ग्रहों के मध्य सैकड़ों नन्हे-नन्हे पिण्ड हैं जो या तो सौर-

मण्डल की उत्पत्ति के समय बँधकर एक नहीं हो पाये या बाद में बड़े ग्रहों के टूटने पर अलग हो गये। ये **अवान्तर ग्रह** (Asteroids or Planetoids) कहलाते हैं। इनमें बड़े तथा छोटे दोनों प्रकार के ग्रह हैं। इनकी खोज में इटली के प्रसिद्ध खगोल-विद् **पियाजी** तथा जर्मन वैज्ञानिक **केपलर** ने प्रशंसनीय कार्य किये हैं। अनुमान है कि अवान्तर ग्रहों की संख्या पौने दो हजार से कहीं अधिक है।

अवान्तर ग्रहों के आविष्कार के सम्बन्ध में प्रसिद्ध वैज्ञानिक **केपलर** की भविष्य वाणी थी कि मंगल और वृहस्पति के मध्य असाधारण खाली जगह का अर्थ यह है कि वहाँ एक ग्रह अवश्य होगा जो छोटा होने के कारण हमको दिखायी नहीं पड़ता है। इसका मजाक उड़ाते हुए एक मसखरे ज्योतिषी ने कहा कि यहाँ अवश्य ग्रह रहा होगा किन्तु किसी दीर्घकाय पुच्छल तारे ने उसे अपनी पूँछ में समेट लिया होगा। सन् 1772 में विटनबर्ग-निवासी जर्मन वैज्ञानिक **प्रोफेसर टिटियस** ने ग्रहों की दूरियों के सम्बन्ध में एक नियम का पता लगाया। उन्होंने बताया कि यदि हम 0, 3, 6, 12, 24 इत्यादि संख्याएँ लें और इनमें से प्रत्येक में 4 जोड़ दें तो हमें ग्रहों की सापेक्षिक दूरी प्राप्त हो जायेगी। इस नियम से प्राप्त दूरी वास्तविक दूरी के लगभग ही निकलती है।

ग्रहों के नाम	**टिटियस के नियमानुसार दूरी** (करोड़ किलोमीटर में)	**वास्तविक दूरी** (करोड़ किलोमीटर में)
बुध	6·4	6·24
शुक्र	11·2	11·52
पृथ्वी	16	16·00
मंगल	25·6	24·32
अवान्तर ग्रह	44·8	41·6
वृहस्पति	83·2	83·2
शनि	160	152·64
अरुण	313·6	307·04
वरुण	620·8	481·12

जिस समय टिटियस ने इस नियम का आविष्कार किया उस समय अवान्तर ग्रह, अरुण, वरुण तथा यम किसी का पता नहीं था। **बोडे** नामक प्रसिद्ध जर्मन खगोलविद् ने इस नियम को स्वीकार कर लिया। इस नियम का पता अधिकांश लोगों को बोडे से लगा, अतः आज भी यह नियम **'बोडे का नियम'** कहलाता है। जब अरुण का आविष्कार हुआ तो उसकी दूरी नियम के अनुकूल मिली। फलतः जर्मन ज्योतिषियों ने मंगल और वृहस्पति के मध्य के अज्ञात ग्रह का पता लगाने का संकल्प कर लिया।

इटली के प्रसिद्ध ज्योतिषी **पियाजी** ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दिवस की शाम को एक अवान्तर ग्रह का पता लगाया। सूचना मिलने पर बोडे ने भी शोध करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु यह निश्चित करना असम्भव हो गया कि यह किधर

और किस गति से जायेगा। इसी बीच 24 वर्षीय जर्मन ज्योतिषी गाउस ने कक्षा-गणना की एक नवीन रीति निकाली और वह ठीक-ठीक बता सका कि ग्रह किस मार्ग में चल रहा है। वर्ष के अन्तिम दिन गाउस की गणना सत्य सिद्ध हुई और पियाजी की इच्छा के अनुसार इस ग्रह का नाम सिसली की ग्राम-देवी के नाम पर सीरिस रखा गया। यह सबसे बड़ा अवान्तर ग्रह है जिसका व्यास 695 किलोमीटर है। कुल पन्द्रह-सोलह अवान्तर ग्रह ही 160 किलोमीटर से अधिक व्यास के होंगे। एलिडा नामक अवान्तर ग्रह तो केवल 5 किलोमीटर व्यास का ही है।

सबसे बड़े अवान्तर ग्रह पर भी आकर्षण-शक्ति इतनी कम होती है कि बन्दूक से गोली दागने पर वह लौटकर ग्रह पर नहीं गिरेगी। छोटे-छोटे अवान्तर ग्रहों पर तो हाथ से ढेला फेंकने पर वह सदा के लिए ग्रह से सुदूर चला जायेगा। इनकी चमक भी घटती-बढ़ती है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे ग्रह गोल नहीं हैं। वे अनियमित आकार के हैं। जब उनका चपटा पार्श्व हमारी ओर रहता है तो वे हमें अधिक चमकीले दिखायी देते हैं।

अवान्तर ग्रह एक समूह में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। इनकी कक्षाएँ ऐसी नहीं हैं कि वे एक के बाद एक ग्रह की दूरी के अनुसार क्रम से गिनायी जा सकें। वे एक-दूसरे से ऐसी उलझी हुई हैं कि यदि वे छड़ की बनी होतीं तो एक के उठाने से सब उठ आतीं और उनके साथ मंगल और वृहस्पति की कक्षाएँ भी फँस जातीं।

एरोस नामक प्रसिद्ध अवान्तर ग्रह बड़ा विचित्र है। इसकी चमक घटती-बढ़ती है। इसके कारण के सम्बन्ध में चार धारणाएँ हैं। कुछ इस पर धब्बा मानते हैं जिससे इसका प्रकाश बदलता रहता है। कुछ इसको अण्डाकार या अनियमित आकार का मानते हैं। अन्य की धारणा है कि ये दो पिण्ड हैं जो कभी-कभी साथ और कभी-कभी एक-दूसरे की आड़ में आ जाते हैं जिससे प्रकाश घट-बढ़ जाता है। अन्य प्रमुख अवान्तर ग्रह पालस, जूनो तथा वेस्टा आदि हैं।

वृहस्पति

सूर्य को छोड़कर सौर-परिवार का सबसे बड़ा ग्रह वृहस्पति है। इसकी कक्षा मंगल की कक्षा से बाहर पड़ती है। सब ग्रहों से बड़ा होते हुए भी अधिक दूरी के कारण यह कम चमकीला दिखायी देता है। फिर भी एक बार देख लेने पर इसकी पहचान सरलता से की जा सकती है; क्योंकि यह तारों से अधिक चमकीला होता है। शुक्र तथा इस ग्रह में अन्तर यह है कि शुक्र क्षितिज से केवल थोड़ी-सी ऊँचाई पर और सन्ध्या समय पश्चिम में और सवेरे पूरब में दिखायी पड़ता है, किन्तु वृहस्पति क्षितिज से किसी भी ऊँचाई पर रह सकता है और अर्द्धरात्रि में भी क्षितिज के ऊपर दिखायी पड़ सकता है।

वृहस्पति की चमक शुक्र से बहुत कम होती है, किन्तु यह सर्वदा एक समान रहती है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी और सूर्य के मध्य की दूरी वृहस्पति और सूर्य के मध्य की दूरी की अपेक्षा बहुत कम है। इसका परिणाम यह होता है कि

वृहस्पति का केवल वही गोलार्द्ध हमें दिखायी देता है जिस पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। साथ ही पृथ्वी से वृहस्पति की दूरी भी बहुत कम घटती-बढ़ती है। इन दोनों कारणों से वृहस्पति की चमक में उतना घटाव-बढ़ाव नहीं होता जितना मंगल तथा शुक्र की चमक में होता है।

वृहस्पति का व्यास 1,39,200 किलोमीटर है। सूर्य से इसकी दूरी 7,774 लाख किलोमीटर है। सूर्य का धरातल पृथ्वी के धरातल का 130 गुना अधिक है। इसका आयतन पृथ्वी के कुल आयतन से 1,312 गुना है।

यह सूर्य की परिक्रमा 11 वर्ष 10 माह 14 दिन में करता है। यही इसके एक वर्ष की अवधि है। इसका अक्ष 1·3° झुका हुआ है। अक्ष पर यह 9 घण्टे 50 मिनट में एक परिभ्रमण करता है। अपनी द्रुतगति के कारण यह चपटा हो गया है। इसके ध्रुवों के बीच की दूरी 1,32,624 किलोमीटर तथा भूमध्यरेखीय व्यास 1,42,080 किलोमीटर है। यह चारों ओर बादलों से घिरा रहता है। इसकी सतह का तापमान —14° सेग्रे आंका जा रहा है। कुछ विद्वानों के मतानुसार वृहस्पति में अपनी गरमी के कारण अब भी कुछ अपना प्रकाश है। यह मत उचित भी है, क्योंकि इसका आकार बड़ा होने के फलस्वरूप इसके ठण्डा होने के लिए अभी अधिक समय चाहिए।

वृहस्पति के उपग्रहों की संख्या के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। अधिकांश विद्वानों की राय में इसके 12 उपग्रह हैं जिनमें चार बड़े और आठ छोटे हैं। इनमें 7 ग्रह घड़ी की विपरीत दिशा में चक्कर लगाते हैं और दो अनुकूल दिशा में। इसके तीन उपग्रहों की गति के कारण बड़े विवाद उत्पन्न हो गये हैं कि वास्तव में ये तीन उपग्रह हैं या अवान्तर ग्रह। जो भी हो, वृहस्पति का सबसे बड़ा उपग्रह **गैनीमीड** है जिसका व्यास 5,680 किलोमीटर है। वृहस्पति पर ऋतु-परिवर्तन नहीं होता है।

शनि

सौर-मण्डल में वृहस्पति के पश्चात् आकार में शनि का स्थान है। यह क्रूर ग्रह माना जाता है। इसका औसत व्यास 1,16,800 किलोमीटर है। इसका भूमध्यरेखीय व्यास 1,20,160 किलोमीटर और ध्रुवीय व्यास 1,07,520 किलोमीटर है। सूर्य से इसकी दूरी 14,202 लाख किलोमीटर है। यह दूरी पृथ्वी तथा सूर्य के मध्य की दूरी की 9 गुनी है।

चित्र 11—शनि ग्रह, जिसके इर्द-गिर्द कुण्डली है

यह ग्रह सूर्य की परिक्रमा 29 वर्ष तथा 167 दिन में करता है। इसका अक्ष 2½° झुका हुआ है। परिभ्रमण में इसको 10 घण्टे 2 मिनट का समय लगता है। इसके 9 उपग्रह

हैं जो इसकी परिक्रमा करते हैं। इनमें सबसे बड़ा उपग्रह **टाइटन** है जो आकार में बुध के समान है। सबसे छोटा उपग्रह **थीमल** है जिसकी खोज सन् 1905 में हुई है।

शनि के चतुर्दिक एक वलय या कुण्डली (ring) दिखायी पड़ती है जिसकी मोटाई 65 किलोमीटर से 80 किलोमीटर तक है। इस वलय का व्यास लगभग 2,74,800 किलोमीटर है। यह शनि के चारों ओर उससे 12,800 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

इसका धरातल समतल है और इस पर वायुमण्डल की उपस्थिति का भी अनुमान है। यहाँ सर्दी काफी अधिक है। इसका तापमान —150° सेग्रे के लगभग है।

अरुण

इस ग्रह की खोज सन् 1781 में हुई। ब्रिटिश वैज्ञानिक **विलियम हर्शेल** ने इसकी खोज की, अतः इसको 'हर्शेल ग्रह' की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। जर्मन देवता 'यूरेनस' के नाम पर इस ग्रह का नाम **यूरेनस** रखा गया। सूर्य से इसकी दूरी 2,85,26,00,000 किलोमीटर है। इसका व्यास 49,700 किलोमीटर है। यह पृथ्वी से बड़ा किन्तु शनि से छोटा है।

इसकी कक्षा 0·8° झुकी हुई है। यह 10 घण्टे 8 मिनट में एक परिभ्रमण करता है। अतः इसके दिन की अवधि 10 घण्टे 8 मिनट है। सूर्य की एक परिक्रमा करने में इसे 84 वर्ष तथा 6 दिन का समय लगता है। यही इसके एक वर्ष की अवधि है।

इसका आकार पृथ्वी के आकार से 59 गुना अधिक है। इसमें 4 उपग्रह हैं जिनमें से दो की खोज हर्शेल ने की है। इसका रंग हरा-सा लगता है। इसका प्रकाश अन्य ग्रहों की अपेक्षा काफी कम है। इस पर सामान्य वायु के लक्षण मिलते हैं तथा तापमान —185° सेण्टीग्रेड पाया जाता है।

चित्र 12—सूर्य तथा ग्रहों का तुलनात्मक आकार

वरुण

इस ग्रह का आविष्कार सन् 1845 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के मेधावी छात्र **एडम्स** ने किया। साथ ही फ्रांसीसी वैज्ञानिक **लेवेजियर** ने भी इसकी स्वतन्त्र खोज की। यह सूर्य से 4,49,67,00,000 किलोमीटर दूर है। सूर्य की परिक्रमा में इसको 164 वर्ष 24 दिन लग जाते हैं। इसका व्यास 49,600 किलोमीटर है। इसकी कक्षा का झुकाव 1·8° है। यह अपने अक्ष पर 15 घण्टे 48 मिनट में एक

बार घूमता है । इस प्रकार इसका दिन 15 घण्टे 48 मिनट का और वर्ष 164 वर्ष 14 दिन का होता है । इसका आकार पृथ्वी से 17 गुना अधिक है । यह हरे रंग का है । पृथ्वी से दूर होने के कारण यह अस्पष्ट तथा छोटा दिखायी देता है । यह अन्य ग्रहों की अपेक्षा अधिक ठण्डा है ।

इस ग्रह पर वायु है और यहाँ तापमान —200° सेण्टीग्रेड अनुमान किया जाता है । इसके पाँच उपग्रह ज्ञात हैं ।

यम

यह सौर-मण्डल का सबसे दूरस्थ ग्रह है । इसकी जानकारी सन् 1930 के मार्च में वैज्ञानिक **पर्सिवल लॉवेल** को हुई । इसका नाम ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की 11 वर्षीया **मिस वेनेसिया बर्ने** द्वारा आविष्कारक के दोनों नामों के प्रथम अक्षरों को जोड़कर प्लूटो रखा गया ।

यह सूर्य से 5,90,055 लाख किलोमीटर दूर है और इसका व्यास 5,870 किलोमीटर है । बुध के अलावा यह सभी ग्रहों से छोटा है; यहाँ तक कि पृथ्वी के उपग्रह चन्द्रमा से भी छोटा है ।

इसका कक्ष कभी-कभी वरुण के कक्ष के समीप पहुँच जाता है जिससे कुछ ज्योतिषी इसे उससे भिन्न ग्रह मानने में आपत्ति करते हैं । इसकी कक्षा 17·1° झुकी हुई है । यह ग्रह सूर्य की परिक्रमा 248 वर्ष में करता है ।

सूर्य से अधिक दूरी पर रहने के कारण इस ग्रह पर सूर्य का उतना ही प्रकाश पहुँच पाता है जितना पृथ्वी से चन्द्रमा प्रकाशित होता है । ताप भी पृथ्वी पर उपलब्ध सूर्याभिताप का $\frac{1}{1500}$वाँ भाग ही पहुँचता है ।

जैसा ऊपर लिखा गया है, इस ग्रह का अस्तित्व अभी भी शंकामय है । एरिजोना (संयुक्त राज्य अमरीका) की लावेल वेधशाला के प्रसिद्ध वैज्ञानिक **डॉ० जेराल्सी क्विपर** का विचार है कि यह ग्रह नहीं है बल्कि एक पथभ्रष्ट उपग्रह है । इसके प्रमाण में उन्होंने चार निम्न तथ्य भी प्रस्तुत किये हैं :

(1) यम का भ्रमण-पथ (कक्ष) वरुण के भ्रमण-पथ को काटता है और कुछ अंश में उसके भीतर प्रवेश कर जाता है । सौर-मण्डल में यह घटना अप्रत्याशित है ।

(2) यम की कक्षा 17·1° झुकी हुई है जो सर्वदा अकेन्द्रीय है ।

(3) यम का परिभ्रमण-काल अन्य ग्रहों से अधिक है । पृथ्वी लगभग 24 घण्टे में, वरुण लगभग 15 घण्टे में, किन्तु यम लगभग $6\frac{1}{2}$ दिन में एक परिभ्रमण करता है ।

(4) इसका विस्तार बहुत छोटा है । पृथ्वी की अपेक्षा इसका भार उसका $\frac{1}{80}$वाँ भाग है ।

डॉ० क्विपर ने मत प्रकट किया है कि वरुण को उत्पन्न करने वाली नीहारिका से तीन उपग्रह टूटकर अलग हुए । इनमें से दो तो वरुण की ओर आकर्षित होकर उसके उपग्रह बन गये और तीसरा यम आकाश-मण्डल में एक स्वतन्त्र पथ पर भ्रमण करता रहा । इस मत के कुछ अंश विवादास्पद हैं । अतः इसको सर्वमान्यता उपलब्ध नहीं हो सकी है ।

आकाश-गंगा

यह एक आकाश-मेखला है जो पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। यह ब्रह्माण्ड की अनेक नीहारिकाओं में से केवल एक है। सौर-मण्डल के साथ अन्य तारे जिनको हम देख सकते हैं आकाश-गंगा है। इसका व्यास लगभग 1,00,000 प्रकाश वर्ष है और इसके मध्य की मोटाई 5,000 से 10,000 प्रकाश-वर्ष तक है।
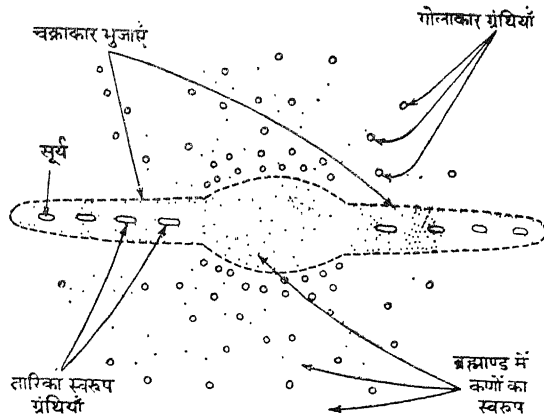
चित्र 13—आकाश-गंगा

आकाश-गंगा (Milky Way) में लगभग 100 अरब तारे हैं, जिनमें हमारा सूर्य भी एक है। ये तारे स्थिर नहीं हैं। ये भी आकाश-गंगा की नाभि (Nucleus) की परिक्रमा करते हैं। आकाश-गंगा की नाभि की जानकारी बहुत अल्प है क्योंकि उस नाभि तथा हमारे बीच एक 'काला बादल' है। वैज्ञानिकों का मत है कि आकाश-गंगा की यह नाभि **सेगिटेरियस नक्षत्र-समूह** की ओर है और हमारा सूर्य इस नक्षत्र की परिक्रमा 25 करोड़ प्रकाश-वर्ष में पूरी करता है और आकाश-गंगा की नाभि से सूर्य की दूरी 30 हजार प्रकाश-वर्ष है। आकाश-गंगा के कुल तारों की गति समान नहीं है। केन्द्र के निकट के तारे सिरे के तारों की अपेक्षा मन्द गति से परिक्रमा लगाते हैं।

चित्र 14—राशियाँ

तारा-मण्डल

आकाश में अनेक तारा-मण्डल (Constellations) हैं जिनकी आकृति विभिन्न प्रकार की है। लगभग 1,800 वर्ष पूर्व एक यूनानी विद्वान **टोलेमी** ने 48 नक्षत्र-समूहों को पहचाना। इन तारा-मण्डलों को भारतीय ज्योतिषी 'राशि-चक्रीय' तारा-मण्डल कहकर पुकारते हैं। इन राशियों में हमारे लिए बड़े महत्त्व की बारह हैं। इनका सम्बन्ध हमारे बारह महीनों से है। मुख्य बारह राशियाँ, मेष (Aries), वृष (Taurus), मिथुन (Gemini), कर्क (Cancer), सिंह (Leo), कन्या (Virgo),
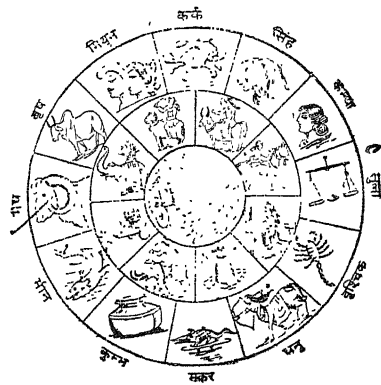
तुला (Libra), वृश्चिक (Scorpio), धनु (Sagittarius), मकर (Capricornus), कुम्भ (Aquarius) तथा मीन (Pisces) हैं।

सप्तर्षि-मण्डल (Great Bear) भी एक तारा-मण्डल है। इसके पास ही ध्रुव-तारा है जो अधिक चमकीला है। सप्तर्षि के दो सूचक तारों की सहायता से ध्रुव-तारा पहचाना जाता है। यह तारा-मण्डल ध्रुवतारे के आस-पास चक्कर लगाया करता है। इसी की तरह अन्य कई तारा-मण्डल हैं। ये तारा-मण्डल आकाश में एक साथ नहीं दिखायी देते हैं। ये वर्ष के विभिन्न भागों में अलग-अलग उदय होते हैं और पुनः लुप्त हो जाते हैं।

कैसोपिया—सप्तर्षि-मण्डल की तरह कैसोपिया तारा-मण्डल भी उत्तर दिशा में दिखायी देता है। इसकी आकृति अंग्रेजी अक्षर डब्ल्यू (W) जैसी होती है। ध्रुवतारे के एक ओर सप्तर्षि-मण्डल और दूसरी ओर कैसोपिया है। इसकी भी दूरी ध्रुव-तारे से लगभग उतनी ही होती है जितनी सप्तर्षि-मण्डल की होती है। इसका अर्थ कुर्सी की महिला (Lady in the Chair) है।

चित्र 15—सप्तर्षि

पुच्छल तारा

सूर्य तथा चन्द्रमा की तरह पुच्छल तारे (Comets) भी मनुष्य के लिए आकर्षक होते हैं। इसका कारण यह है कि ये आकाश में बहुत कम दृष्टिगोचर होते हैं और इनका आकार भी अद्भुत होता है। ये बड़े अनिष्टकारी माने जाते हैं। ऐसा अन्धविश्वास है कि पुच्छल तारा दिखायी देने पर संसार का कुछ अनिष्ट होता है।

पुच्छल तारों का आकार, बनावट तथा नाप और उनके दृष्टिगोचर होने का समय आदि मनोरंजक है। इनके शरीर के तीन मुख्य अंग हैं। पहला भाग शीर्ष होता है जो हजारों किलोमीटर व्यास का होता है। हैली के शीर्ष का व्यास 3·7 लाख किलोमीटर है। मध्य भाग मुख्य शरीर होता है जो चमकीले नन्हे-नन्हे पिण्डों का समूह होता है। यह एक नन्हे तारे से लेकर कभी-कभी चन्द्रमा के बराबर तक देखा गया है। कोई साधारण चमकीला तो कोई बहुत चमकीला होता है। तीसरा भाग पूँछ का होता है जो झाड़ू जैसी होती है। यह पूँछ विषैली होती है और सदा सूर्य के प्रतिकूल दिशा में रहती है और बहुधा टेढ़ी होती है। इसकी लम्बाई 90 करोड़ किलोमीटर तक होती है।
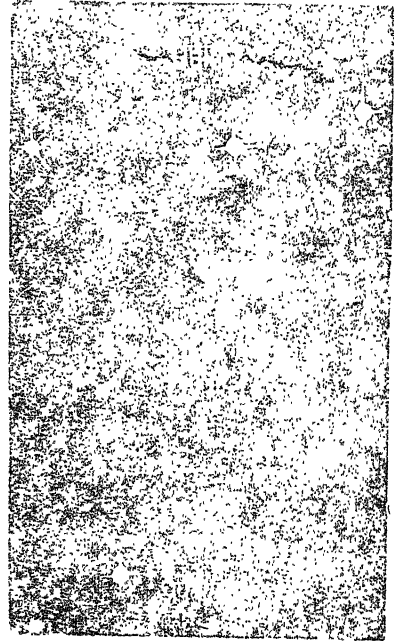
पुच्छल तारे की पूँछ सूर्य के पास आने पर ही निकलती है। ये तारे साधारणतः पारदर्शी होते हैं और यदि इनके पीछे की ओर एक चमकीला तारा आ जाय तो वह इनके मध्य से चमकता दिखायी देगा। ज्योतिषियों के अनुसार, सौर-मण्डल में एक लाख बीस हज़ार पुच्छल तारे होंगे; किन्तु इनमें से अधिकांश इतने छोटे हैं कि बिना दूरबीन के अदृश्य रहते हैं। कुछ पुच्छल तारे बहुत बड़े होते हैं। सबसे बड़े पुच्छल तारे के शरीर का व्यास पृथ्वी के व्यास का लगभग 20 गुना होगा।

पुच्छल तारे बहुत हल्के होते हैं। बड़े से बड़े पुच्छल तारे का भार भी पृथ्वी के लाखवें भाग से कम होगा। स्पष्ट है कि पुच्छल तारों का घनत्व कम होता है। पूँछ के भाग का घनत्व तो शून्य के समान होता है। इनकी चमक सूर्य की परावर्तित किरणों के कारण नहीं है बल्कि वे किरणें इनके द्रव्य में सोख जाती है और बाद में इसी कारण ये चमकते हैं। वास्तव में पुच्छल तारे का ठोस मध्य पिण्ड सूर्य के निकट आने से जलकर गैसों को उत्पन्न करता है जिनसे पूँछ बन जाती है।

चित्र 16—हैली पुच्छल तारा

पुच्छल तारों के अनुसन्धान का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक है। सबसे पहले सन् 1337 से सन् 1698 के मध्य न्यूटन के एक मित्र आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के खगोल के प्राध्यापक हैली द्वारा देखे गये पुच्छल तारों के इतिहास से यह निष्कर्ष निकला कि पुच्छल तारा सौर-मण्डल का सदस्य है और 75 वर्ष के अन्तर पर दिखाई देता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया था कि वह पुच्छल तारा सन् 1758 ई० में पुनः दिखाई देगा। सचमुच ऐसा ही हुआ। इसके बाद वह 1835 ई० तथा 1910 ई० में दिखाई पड़ा। इसका नाम हैली का पुच्छल तारा रखा गया है। तब से कई पुच्छल तारे देखे गये जिनमें ब्रुक का पुच्छल तारा प्रसिद्ध है। हैली का पुच्छल तारा 75 वर्ष में अपनी परिक्रमा करता है। सन् 1950 में हैली का पुच्छल तारा पृथ्वी के इतने समीप आ गया था कि इसकी पूँछ पृथ्वी के व्यास से भी बहुत बड़ी दीख पड़ी।
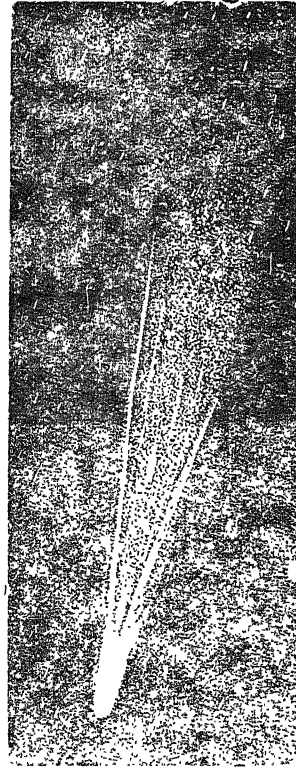
पुच्छल तारों का सूर्य की परिक्रमा का मार्ग इतना लम्बा है कि इन्हें परिक्रमा करने में कई लाख प्रकाश-वर्ष लग जाते हैं। कुछ पुच्छल तारे एक बार के पश्चात् पुनः नहीं देखे गये। लौटकर पुनः दिखायी देने वाले पुच्छल तारों में हैली, डानेटिस तथा अल्बर्ट पुच्छल तारे प्रसिद्ध हैं।

उल्काएँ

चित्र 17—उल्का का मार्ग

रात्रि को हम अनेक पिण्डों को टूटकर आकाश से गिरते हुए देखते हैं। इसको उल्कापात कहते हैं। हमारे देश में ऐसी कहावत है कि किसी महापुरुष की मृत्यु पर उल्कापात होता है। वास्तव में उल्कापात का तारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अनेक अवलोकनों से स्पष्ट हो गया है कि सौर-मण्डलों में ग्रहों एवं उपग्रहों की भाँति अनेक बहुत छोटी-छोटी आकृतियाँ भी हैं जो ग्रहों की भाँति आकर्षण-पथों का अनुसरण करती हैं और चक्कर लगाती रहती हैं। ये नन्हीं आकृतियाँ तेजी से घूमती रहती हैं और जब पृथ्वी के वायुमण्डल में पहुँचती हैं तो वायु-मण्डल से रगड़ खाकर गरम हो जाती हैं और चमकने लगती हैं। कभी-कभी इनका तापमान 3,870° सेण्टीग्रेड तक हो जाता है। ये बहुधा छोटे-छोटे कणों में टूट जाती हैं और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण पृथ्वी पर आ गिरती हैं और भूमि में धँस जाती हैं। अनेक उल्काएँ
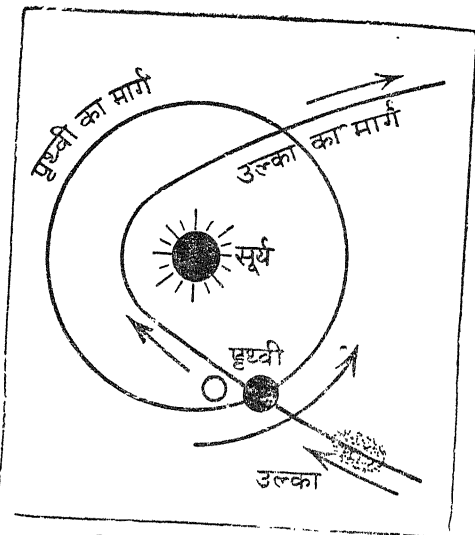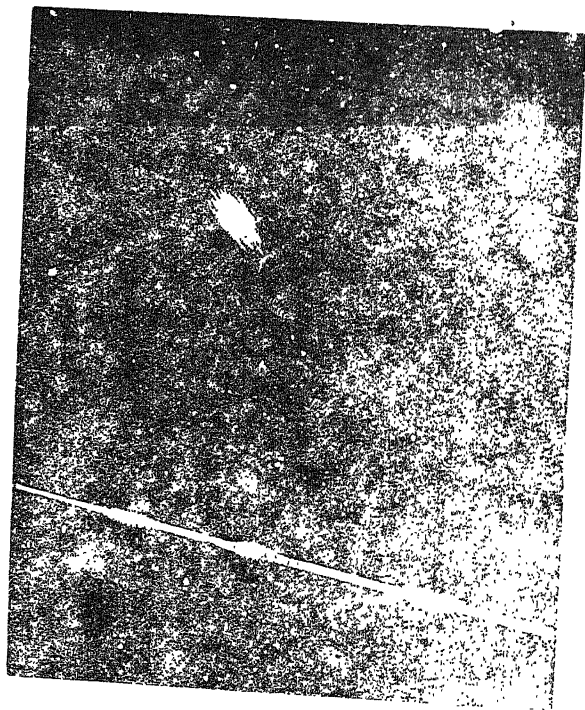
चित्र 18—उल्कापात

(Shooting Stars) पृथ्वी से 48 किलोमीटर से 80 किलोमीटर की ऊँचाई पर पहुँचकर जल जाती हैं और जलकर राख हो जाती हैं। ये आकृतियाँ अधिकांशतः पुच्छल तारों की नाभि से निकलती हैं। इस प्रकार पुच्छल तारों की नाभि उस वस्तु की बनी होती है जो उल्काओं में मिलती है।

ये उल्काएँ भिन्न-भिन्न आकार की होती हैं। सन् 1928 में जालौन जिले में लुआ नामक स्थान पर लगभग 22 सेण्टीमीटर चौड़ी और 1,860 किलोग्राम भारी उल्का गिरी थी। सन् 1908 में साइबेरिया के कांस्क नामक स्थान पर बहुत उल्काएँ गिरी थीं, जिससे भूमि में बहुत से छिद्र हो गये थे। संयुक्त राज्य अमरीका के अरिजोना प्रदेश में 1,220 मीटर व्यास का गड्ढा है जो लगभग 180 मीटर गहरा है। यह उल्कापात का ही फल है।
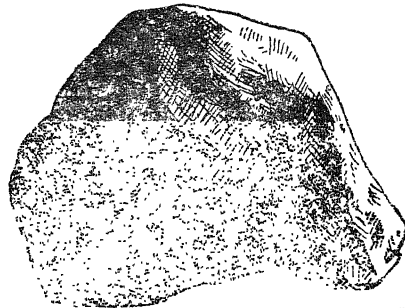
चित्र 19—भारत में लुआ नामक स्थान पर गिरी लगभग 22 सेण्टीमीटर चौड़ी उल्का
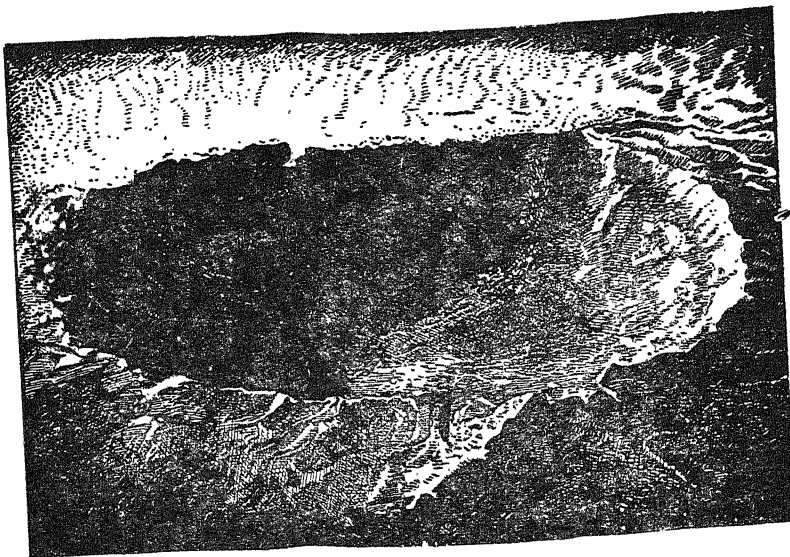
चित्र 20—उल्कापात से निर्मित गड्ढा

अजायबघरों में कुछ उल्का-पिण्ड सुरक्षित रखे हुए हैं। ये इस्पात से भी कड़े हैं। इनका भार कई सौ मीटरी टन तक होता है और कुछ बहुत छोटे भी होते हैं।

न्यूयार्क के अजायबघर में एक 26 मीटरी टन का उल्का-प्रस्तर है। पटना के अजायबघर में भी उल्का का एक सुन्दर नमूना है।

वास्तव में उल्काएँ सौर-मण्डल का अंग बन गयी हैं क्योंकि ये सौर-मण्डल की सीमा के भीतर से होकर गुजरती हैं। 10 अगस्त से 23 नवम्बर के मध्य ये अधिक संख्या में दृष्टिगत होती हैं, क्योंकि इस काल में पृथ्वी इनके पथ के निकट होकर गुजरती है।

कृत्रिम आकाशीय पिण्ड

आज का वैज्ञानिक सौर-मण्डल के ग्रहों की जानकारी के लिए आकाश में कृत्रिम ग्रह छोड़ रहा है। 4 अक्टूबर सन् 1957 को 83 किलोग्राम भार का प्रथम स्पुतनिक रूस द्वारा छोड़ा गया। यह 29,000 किलोमीटर प्रति घण्टे की चाल से 95 मिनट में पृथ्वी का एक चक्कर पूरा करता था। 3 नवम्बर सन् 1957 को रूस ने लायका नामक कुतिया को बिठाकर दूसरा स्पुतनिक छोड़ा। कुछ समय पश्चात् यह कुतिया मर गयी। रूस ने तीसरा स्पुतनिक भी 15 मई सन् 1958 को छोड़ दिया। यह 1,868 किलोमीटर की ऊँचाई तक पहुँचा है। अमरीका में रेंजर तथा सर्वेयर द्वारा ग्रहों की जानकारी प्राप्त की जा रही है। अमरीकी अपोलो तथा रूसी वेनस चन्द्रमा की यात्रा कर चुके हैं।

प्रश्न

1. What is Solar system ? Give a brief account of its members. (*Udaipur 1965*)

   सौर-मण्डल से क्या तात्पर्य है ? इसके सदस्यों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

2. Discuss the constitution of Solar system. (*Magadh 1966*)

   सौर-मण्डल की रचना की व्याख्या कीजिए।

3

पृथ्वी की उत्पत्ति

[ORIGIN OF THE EARTH]

पृथ्वी की उत्पत्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इस विषय में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है, पृथ्वी की उत्पत्ति का रहस्य प्रकाश में आ रहा है। हिन्दू एवं ईसाई धर्मों के अनुसार, पृथ्वी की उत्पत्ति के विचार वैज्ञानिक खोजों के बिल्कुल प्रतिकूल हैं। गणित-शास्त्र के विद्वानों ने पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में अपना विशिष्ट मत प्रकट किया है। खगोल विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी सौर-मण्डल का एक ग्रह है और इसकी उत्पत्ति सौर-मण्डल के अन्य ग्रहों की ही भाँति हुई है। अतः हमें पहले यह समझना है कि सौर-मण्डल की उत्पत्ति कैसे हुई। इस विषय में विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने निरीक्षण, तर्क और कल्पना के आधार पर अपने विकल्प प्रस्तुत किये हैं। सौर-मण्डल की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतवैषम्य रहा है। इन विभिन्न विचारधाराओं को दो वर्गों में विभक्त कर उनकी व्याख्या की जा सकती है :

(1) **एकतारक या अद्वैतवादी परिकल्पना** (Monistic Hypothesis);

(2) **युग्मतारक या द्वैतवादी परिकल्पना** (Dualistic Hypothesis)।

एकतारक परिकल्पना के अनुसार सौर-मण्डल की उत्पत्ति एक तारे से हुई मानी जाती है तथा युग्मतारक परिकल्पना के अनुसार सौर-मण्डल की उत्पत्ति दो तारों से कल्पित है।

एकतारक परिकल्पना
(Monistic Hypothesis)

सौर-मण्डल की उत्पत्ति एक तारे से किस प्रकार हुई, इसको विभिन्न वैज्ञानिकों ने अपने-अपने विचार के अनुसार विभिन्न रूपों में हमारे समक्ष रखा है। सबसे पहला प्रयास फ्रांसीसी वैज्ञानिक **कास्ते द बफून** ने सन् 1749 में किया था। उसके

अनुसार, एक उल्का तारा अन्तरिक्ष में घूमता हुआ सूर्य के निकट आ गया और परिणामस्वरूप सूर्य की पदार्थ-राशि से बहुत-से टुकड़े अलग हो गये। कालान्तर में ये टुकड़े ही पृथ्वी तथा अन्य ग्रह बने। पदार्थों के घनीभूत बड़े भागों से ग्रह और छोटे भागों से उपग्रहों की रचना हुई। शेष पदार्थ आकाश में विलीन हो गया। बाद में **इमैनुअल कान्त** नामक जर्मन दार्शनिक ने अपना मत प्रकट किया। इसके पश्चात उसकी त्रुटियों पर ध्यान रखते हुए **लाप्लास** नामक फ्रांसीसी विज्ञानवेत्ता ने अपना मत प्रकट किया। **लॉकियर** नामक वैज्ञानिक ने भी इस विषय में अपना विचार व्यक्त किया है।

आपत्तियाँ

इस परिकल्पना के सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं जिनके आधार पर इस परिकल्पना में विद्वानों की आस्था समाप्त हो गयी है :

(1) ब्रह्माण्ड के विभिन्न अंगों की निश्चित कक्षाएँ हैं। ऐसी अवस्था में किन्हीं दो अंगों में पारस्परिक टक्कर की सम्भावना नहीं है। अतः सूर्य एवं पुच्छल तारे की टक्कर की कल्पना आधारहीन है।

(2) सूर्य की गति एवं संवेग अन्य ग्रहों एवं उपग्रहों की तुलना में कम है। इससे स्पष्ट है कि सूर्य से निष्कासित पदार्थों से इन ग्रहों एवं उपग्रहों का निर्माण नहीं हुआ है।

(3) **बफून** महोदय ने सौर-परिवार के ग्रहों की स्थिति एवं आकार की व्याख्या नहीं प्रदान की है।

(4) पुच्छल तारा का द्रव्यमान (Mass) बहुत कम होता है, अतः यह सूर्य को क्षति नहीं पहुँचा सकता है क्योंकि वैज्ञानिक **रसेल** ने पुच्छल तारा को 'हवाई न' की संज्ञा प्रदान की है। सौर-परिवार के कुल क्षुद्र ग्रहों (planetoids) तथा पुच्छल तारों का सम्मिलित द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान से कम है और पृथ्वी का द्रव्यमान सूर्य के द्रव्यमान का 1/33,340 है।

कान्त की गैसीय परिकल्पना
(Gaseous Hypothesis of Kant)

जर्मन प्रोफेसर **कान्त** ने सर्वप्रथम सन् 1755 में अपनी उक्त परिकल्पना प्रस्तुत की जिसमें **न्यूटन** के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के नियमों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव मिलता है। उसने यह मान लिया कि शून्य में शक्ति विशेष के द्वारा बने हुए पौराणिक पदार्थ के गतिहीन कड़े एवं ठण्डे टुकड़ों के परस्पर टकराने से उनमें उष्णता तथा परिभ्रमण शक्ति उत्पन्न हो गयी। इस प्रकार कालान्तर में प्रारम्भिक ठण्डे तथा गतिहीन पदार्थों का समूह एक बहुत बड़ी नीहारिका के रूप में परिवर्तित हो गया। पौराणिक या आद्य पदार्थों के आपस में टकराने का कारण उनका पारस्परिक आकर्षण बताया

गया है। उपर्युक्त गरम नीहारिका इतनी तीव्र गति से नाचने लगी कि अपकेन्द्र-बल (centrifugal force) के कारण उसके विषुवत्‌रेखीय भाग से पदार्थों का वलय (ring of matters) टूटने लगा। इसी नीहारिका का अवशिष्ट केन्द्रीय भाग सूर्य बना और प्रत्येक वलय ठण्डे होकर ग्रह बने। ग्रहों के उसी भाँति परिभ्रमण के फलस्वरूप उपग्रह बने और इस प्रकार सौर-मण्डल की रचना हुई। कान्त ने तो यहाँ तक घोषणा की थी कि "मुझे पर्याप्त राशि दीजिए, मैं विश्व का निर्माण करके दिखा दूँगा।"

आपत्तियाँ

कान्त की परिकल्पना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उसके विरुद्ध निम्न आपत्तियाँ हैं :

(1) जिस आकर्षण-शक्ति के कारण पौराणिक या आद्य पदार्थ आपस में टकराये वह आकर्षण-शक्ति पहले कहाँ थी ?

(2) यह विचार कि नीहारिका में परिभ्रमण शक्ति पदार्थों के परस्पर टकराने के कारण उत्पन्न हुई, कोणीय संवेग की रक्षा के सिद्धान्त (Principle of the Conservation of Angular Momentum) के विपरीत है। इस सिद्धान्त के अनुसार, किसी वस्तु के विभिन्न अंगों की पारस्परिक क्रिया उनके परिभ्रमण में परिवर्तन नहीं ला सकती। परिभ्रमण हमेशा एक समान रहता है। **ओटोस्मिड** ने बताया है कि इस सिद्धान्त के अनुसार परिभ्रमण का कुल योग किसी संवृत प्रणाली में स्थायी रहता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु को परिभ्रमण स्थानान्तरित हो सकता है किन्तु परिभ्रमण का योग घटता-बढ़ता नहीं है। इस प्रकार ठण्डा एवं गतिहीन आद्य पदार्थ टकराकर घूर्णन नहीं प्रारम्भ कर सकता है। इसी प्रकार सभी वलयों को ठोस एवं गोल आकार में बदल जाना भी सम्भव नहीं है। इस परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण बात यही है कि यह लाप्लास के सुप्रसिद्ध साध्य की अधिष्ठात्री है।

लाप्लास की नीहारिका परिकल्पना
(Nebular Hypothesis of Laplace)

यह परिकल्पना सन् 1798 में फ्रांस के खगोलज्ञ एवं गणितज्ञ **लाप्लास** द्वारा प्रस्तुत की गयी थी। लाप्लास ने कान्त की भाँति ठण्डे एवं कठोर आद्य पदार्थों को सौर-मण्डल की उत्पत्ति का कारण नहीं बताया। इसके अनुसार शून्य में गैस का एक गरम एवं परिभ्रमणशील महापिण्ड था जिसको **नीहारिका** कहते हैं। यह अत्यधिक गैस वाला पदार्थ था और ब्रह्माण्ड के अधिकतम भाग को घेरे हुए था। यह तीव्र गति से घूम रहा था जिसके फलस्वरूप विकिरण से इसका बाहरी भाग ठण्डा होना प्रारम्भ हो गया। यह ज्यों-ज्यों ठण्डा होता गया, उसमें उतनी ही अधिक सिकुड़न होती गयी जिससे उसके परिभ्रमण की गति बढ़ती गयी तथा कोणीय गति में कमी आ गयी। परिभ्रण के अधिक होने से अपकेन्द्र-बल के कारण इस शक्ति में

विषुवत रेखा पर आकर्षण-शक्ति से सन्तुलन स्थापित हो गया, जिसने भूमध्य रेखा के समीपवर्ती पदार्थों को भारहीन कर दिया। फलस्वरूप यह नीहारिका भूमध्य रेखीय भारहीन पदार्थों से अलग चक्र फेंकने लगी। ऊपरी भाग ठण्डा होते-होते काफी घना हो गया, किन्तु आन्तरिक वाष्पीय पदार्थ गरमी से धधकता रहा। ऊपरी घना भाग अब भीतरी भाग के साथ दौड़ न लगा सका। मध्य की नीहारिका के सिकुड़ने एवं घूमने के कारण भारहीन पदार्थों का वलय बाहर निकल गया और नीहारिका का चक्कर लगाने लगा। यह विशाल वलय कई चक्रों में विभाजित हो गया और उनके मध्य का अन्तर बढ़ता गया। ये विभिन्न चक्र घनीभूत होकर ग्रह बन गये। पृथ्वी भी उन्हीं में से एक ग्रह है। इन चक्रों ने भी उसी नियम का अनुसरण किया। इनके विषुवत रेखीय भागों के भारहीन होने से उपग्रह बने। मुख्य नीहारिका के मध्य के अवशेष भाग से सूर्य बना। यह परिकल्पना कुछ तथ्य-पूर्ण जान पड़ती है क्योंकि सौर-मण्डल के अधिकांश भागों में दैनिक गति और वार्षिक गति होती है। सभी ग्रहों एवं उपग्रहों के परिभ्रमण का पथ भी एक दिशा में होता है।

चित्र 21—लाप्लास की नीहारिका परिकल्पना

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांसीसी विद्वान गणितज्ञ **रोशे** ने लाप्लास की परिकल्पना में एक संशोधन प्रस्तुत किया। लाप्लास के अनुसार, विशाल नीहारिका से एक वलय बाहर निकल कर अलग हो गया और वह कई टुकड़ों में विभाजित हो गया जो कालान्तर में ग्रह बन गये। किन्तु रोशे का कथन है कि महाराशि नीहारिका से क्रमशः कई वलय समय-समय पर अलग होते गये और जो वलय टूट गया उसके टुकड़े केन्द्र के आकर्षण के फलस्वरूप एकत्रित हो गये तथा घनीभूत होकर ग्रह बन गये। यह क्रम जारी रहा और समस्त ग्रहों की रचना हुई।

पक्ष में प्रमाण

(1) इस परिकल्पना से इस बात की पुष्टि होती है कि सौर-परिवार के सभी ग्रह एक ही धरातल पर तथा एक ही दिशा में परिभ्रमित होते हैं। वे सभी पश्चिम से पूरब को चक्कर लगाते हैं। समस्त उपग्रह भी ग्रहों के चारों ओर उसी ढंग से घूमते हैं और उनका भ्रमण-पथ तनिक दीर्घवृत्ताकार है।
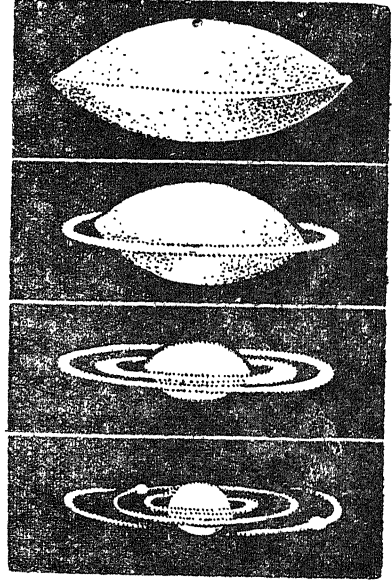
(2) गैसीय अवस्था के बाद शीतल होने से वे तरल हुए और ठोस ५ में बनी। भू-भौतिकी की नवीनतम अवधारणा में भी पृथ्वी की तरल अव॰ समर्थन किया गया है।

(3) नीहारिका का ज्योतिषीय अध्ययन भी इसी सिद्धान्त के पक्ष में है।

(4) सौर-परिवार का आधुनिकतम अध्ययन इस परिकल्पना के अनुकूल है।

आपत्तियाँ

(1) इस परिकल्पना के अनुसार गैसीय नीहारिका लाखों वर्षों तक प्रज्वलित रही। ब्रिटिश भौतिक वैज्ञानिक **लार्ड केल्विन** को आपत्ति है कि गैस की नीहारिका आकाश में इतने दीर्घकाल तक धधकती नहीं रह सकती।

(2) यदि नीहारिका के बाह्य भाग में इतना अधिक कोणीय संवेग था तो सौर-मण्डल का निर्माण सम्भव नहीं था क्योंकि इस परिस्थिति में संघनन सम्भव नहीं था। इसलिए ब्रिटिश विद्वान **स्पेन्सर जोन्स** के शब्दों में, सौर-मण्डल की उत्पत्ति को बाह्य शक्तियों की अचानक दुर्घटना में खोजना चाहिए।

(3) **लाप्लास** की परिकल्पना के अनुसार आदि सूर्य का कोणीय संवेग कुल सौर-परिवार के कोणीय संवेग के बराबर होना चाहिए क्योंकि संवेग की मात्रा द्रव्यमान तथा गति पर निर्भर करती है।

(4) इस परिकल्पना में एक त्रुटि यह है कि कोणीय संवेग का 98 प्रतिशत केवल चार बड़े ग्रहों में वितरित है, यद्यपि सम्पूर्ण पदार्थ का केवल $1\frac{1}{2}$ प्रतिशत इन ग्रहों में मिलता है। यह कोणीय संवेग के सुरक्षा सम्बन्धी नियम (Principle of conservation of angular momentum) के विपरीत है।

(5) परिभ्रमण के बढ़ जाने से कोणीय संवेग में इतना परिवर्तन नहीं आ सकता जिससे नीहारिकाएँ विदीर्ण हो जायँ और गोलाकार पट्टी अलग हो जाय।

(6) चक्रों के घनीभूत होने से तो ऐसे गोले नहीं बन सकते जैसे ग्रह। ऐसी दशा में अपेक्षाकृत छोटे-छोटे एवं अलग-अलग ग्रह बनेंगे। गैस पदार्थ घना होकर चक्र के चारों तरफ बहुत-से छोटे-छोटे अणुओं में परिवर्तित हो जायगा, जैसा शनि के चक्र में दिखायी देता है।

(7) परिभ्रमण की अस्थिरता के कारण बाहर फेंका गया पदार्थ टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। छोटे-छोटे अणुओं का घूमना इतना तीव्र तथा अनियमित होगा कि उनका ग्रह के रूप में एकत्र होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। अमरीकी विद्वान् **मोल्टन** का कथन है कि गोलाकार पट्टी के सिकुड़ जाने से ऐसे गोले नहीं बन सकते जैसे कि ग्रह हैं। यदि गैस के अन्दर कुछ भी घना पदार्थ है और वह एकसा नहीं है तो घूमने के फलस्वरूप चक्कर लगाते हुए वलय को बाहर फेंकेगा। विश्लेषण करने पर चक्रों का इस प्रकार बाहर फेंकना असम्भव पाया गया है।

(8) नीहारिका के कणों में पारस्परिक संलग्नता की मात्रा बहुत कम होगी। ऐसी दशा में चक्रों का निर्माण लगातार होगा, रुक-रुककर नही होगा, जैसा **लाप्लास**

विषुवत ल्पना से ग्रहीत है। आज भी वलय की रचना, होनी चाहिए किन्तु अन्य निर्माण के लिए उभार की अवस्था अप्राप्य है।

(9) इस परिकल्पना के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सौर-मण्डल की रचना गरम गैस के पिण्ड से हुई। चूँकि पृथ्वी सौर-मण्डल का एक अंग है, इसलिए इसके अनुसार यह मानना पड़ता है कि पृथ्वी की उत्पत्ति गरम गैस के पिण्ड से हुई जो धीरे-धीरे ठण्डा होकर द्रव बना और बहुत ठण्डा होने पर ठोस बन गया। इस कल्पना की सत्यता पृथ्वी के ऊपरी भाग के ठोस तथा भीतरी भाग के गरम और तरल होने से सिद्ध होती है, अन्यथा ज्वालामुखी से गरम लावा बाहर नहीं निकलता। कुछ विद्वानों ने पृथ्वी के भीतरी भाग को ठोस सिद्ध किया है और पृथ्वी को आरम्भ से ठोस मानकर अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की है। परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक पृथ्वी का प्रारम्भिक रूप गरम एवं द्रव मानकर ही अपने विचार प्रकट करते हैं।

(10) नीहारिका से अलग होने पर वलय द्रव-अवस्था में किसी भी प्रकार एक साथ परिक्रमा नहीं कर सकते थे क्योंकि द्रव के विभिन्न स्तरों की गति समान नहीं होती है और उनमें आपस में रगड़ होती रहती है जिससे परिभ्रमण में अवरोध उत्पन्न होता है। केवल ठोस पिण्ड ही समान गति से घूम सकता है। साथ ही गैस के अणु गति सिद्धान्त (Kinetic theory of gases) के आधार पर गैसीय वलयों का घनीभूत होकर ग्रह बनना संभव नहीं है। वलयों को अन्तरिक्ष में लोप हो जाना चाहिए था।

(11) वृहस्पति तथा शनि के उपग्रह अपने जन्मदाता ग्रहों की विपरीत दिशा में परिभ्रमण करते हैं। किन्तु यह बात लाप्लास के विचार के विपरीत है।

(12) सूर्य मन्द गति से अपने अक्ष पर चक्कर लगाता है और उसकी गति ग्रहों की अपेक्षा धीमी है। सूर्य की आयु 500 करोड़ वर्ष है। इतने समय में विकिरण के फलस्वरूप सूर्य का द्रव्यमान इतना कम नहीं होना चाहिए। वर्तमान द्रव्यमान को मान लेने पर भी वलयों की रचना तथा उनसे निर्मित ग्रहों का इतनी दूरी पर चला जाना सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

(13) नीहारिका के मोटे वलयों के साथ पतले वलय क्यों नहीं निकले?

(14) इस परिकल्पना का महत्त्व अब कम रह गया है क्योंकि लाप्लास तथा उसके अनुसरणकर्ताओं ने ही इसको कम महत्त्व दिया। साथ ही, इसके विरोध में कई प्रश्न अन्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। जैसे एक छोटी-सी नीहारिका से इतने बड़े-बड़े ग्रह कैसे बने? अधिक परिभ्रमण के कारण विभिन्न चक्रों का निर्माण कैसे हुआ? वृहस्पति, शनि एवं वरुण के उपग्रह विपरीत गति के क्यों हैं? इन प्रश्नों का समाधान इस परिकल्पना से प्राप्त नहीं होता है।

लॉकियर की उल्कापिण्ड परिकल्पना
(Meteorite Hypothesis of Lockyer)

इस साध्य को **लॉकियर** नामक इंगलिश खगोलज्ञ ने सन् 1919 में प्रस्तुत किया था। इसने प्रारम्भ में नीहारिका को उल्काओं का झुण्ड माना। इस परिकल्पना के अनुसार, सुदूर अतीत में दो महाकाय तारे परस्पर टकराये जिसके परिणामस्वरूप तारे तो टूट-फूट गये और शून्य में इनके प्रबल घर्षण के फलस्वरूप ताप, प्रकाश एवं वात की उत्पत्ति हुई। ताप की अधिकता से बहुत-से टुकड़ों ने पिघलकर **द्रव** का रूप धारण कर लिया और कुछ द्रव बनकर बादल की तरह छा गये। किन्तु ये सब आकर्षण-शक्ति के कारण अलग न हो सके। पारस्परिक आकर्षण के कारण उल्का-समूह का मध्यवर्ती भाग एक केन्द्रीय महापिण्ड बन गया। टक्कर के कारण महापिण्ड चक्कर करने लगा और शनै: शनै: **सर्पिल नीहारिका** (spiral nebula) के रूप में बदल गया। ऐसी नीहारिकाएँ आज भी आकाश में दिखायी पड़ती हैं। कालान्तर में हमारी नीहारिका का ऊपरी भाग ठण्डा होकर सिकुड़ने लगा और केन्द्रीय भाग से अलग हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे नव-भाग अलग हुए। ये ही नव-भाग ग्रह हैं और केन्द्रीय भाग सूर्य बन गया। इस परिकल्पना के अनुसार अनन्त ब्रह्माण्ड के सभी नक्षत्र-मण्डल इसी तरह से बने हैं।

समीक्षा—इसके विरोध में कई आपत्तियाँ की जाती हैं। परस्पर टकराने से तारों का टूट जाना और बिखर जाना तो ठीक हो सकता है, किन्तु उनका फिर एकत्र होकर समूह बनाना असंगत प्रतीत होता है। तीव्र वेग से घूमते पिण्डों को निकट लाने में गुरुत्वाकर्षण नितान्त असमर्थ है। **चेम्बरलिन** का विचार है कि उल्का इतने पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकते जिनसे इतनी बड़ी नीहारिका की रचना हो सके।

युग्मतारक परिकल्पना
(Dualistic Hypothesis)

इस वर्ग के अन्तर्गत एकतारक परिकल्पना के विपरीत सौर-मण्डल की रचना एक तारे से नहीं बल्कि दो बड़े युग्म तारों के प्रभाव से कल्पित की गयी है। इस प्रकार की दो प्रमुख परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनमें से एक सन् 1904 में **चेम्बरलिन** और **मोल्टन** द्वारा प्रस्तुत **ग्रहाणु परिकल्पना** है और दूसरी **जेम्स जीन्स** और **जेफरी** द्वारा प्रस्तुत **ज्वार-भाटा परिकल्पना** है।

चेम्बरलिन तथा मोल्टन की ग्रहाणु परिकल्पना
(Planetesimal Hypothesis of Chamberlin and Moulton)

नीहारिका परिकल्पना के पश्चात् संयुक्त राज्य अमरीका के भूविज्ञानी **मोल्टन** ने सन् 1901 में और ज्योतिर्विज्ञानी **चेम्बरलिन** ने सन् 1904 में ग्रहाणु परिकल्पना को जन्म दिया। उनके विचार में सूर्य शून्य में परिभ्रमण कर रहा था कि एक

महानतम तारा सूर्य के निकट पहुँच गया। सूर्य के धरातल से गैस एवं वाष्प की सौर-ज्वालाएँ (prominences) निकलीं। उसने इन ज्वालाओं को आकर्षित कर लिया। फलतः महानतम तारे की आकर्षण-शक्ति से सूर्य के धरातल से छोटे-छोटे टुकड़े दूर फेंक दिये गये। मूल पिण्ड का अवशेष भाग वर्तमान सूर्य है और जो टुकड़े बिखर गये थे वे कालान्तर में घनीभूत हो गये और उनसे ग्रहों एवं उपग्रहों की रचना हुई। इन टुकड़ों को ग्रहाणु की संज्ञा प्रदान की गयी। इस परिकल्पना के जन्मदाताओं का विचार था कि ये ग्रह पूर्णतया ठोस थे और ग्रह-निर्माण के पूर्व सूर्य तप्त एवं गैसपूर्ण नहीं था, बल्कि ठोस कणों से निर्मित चक्राकार एवं ठण्डा था।
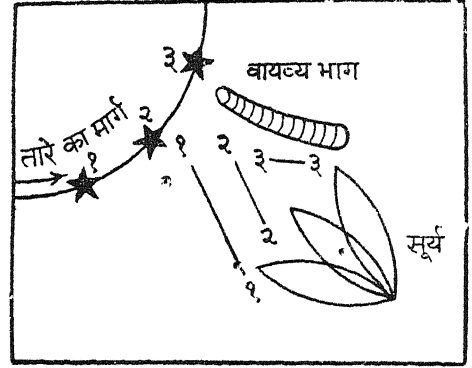
चित्र 22—पृथ्वी की उत्पत्ति
(चेम्बरलिन के मतानुसार)

आपत्तियाँ

(1) ग्रह सदैव ठोस रहे हैं किन्तु अन्य प्रमाणों से विदित होता है कि पृथ्वी किसी समय तरल अवस्था में अवश्य थी।

(2) परस्पर टकराने से ग्रहाणुओं का गैस या धूलि के रूप में बिखर जाना अधिक उचित लगता है, इकट्ठा हो जाना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

(3) यह परिकल्पना कोणीय संवेग के बारे में नहीं समझा पाती। नक्षत्रों के बनने तथा उसी चौरस स्थान पर चक्कर काटने के सम्बन्ध में तो यह परिकल्पना स्पष्ट है, किन्तु सूर्य और नक्षत्रों के बीच कोणीय संवेग के वितरण को समझाने में असमर्थ है।

(4) **लाप्लास** के अनुसार वातीय नीहारिका लाखों वर्ष उत्तापदीप्त रही, किन्तु वैज्ञानिक **कैल्विन** की आपत्ति है कि एक प्रसूतवाती इतने दीर्घकाल तक उत्ताप-दीप्त कैसे रही।

(5) अरुण एवं वरुण ग्रहों की प्रतिगामी गतियों पर विचार करने पर यह परिकल्पना अविश्वसनीय लगती है।

(6) पारस्परिक टक्कर द्वारा उत्पन्न ग्रहों का परिक्रमा-पथ लम्बा अण्डाकार होगा, वृत्ताकार नहीं। यह इस परिकल्पना की गम्भीर त्रुटि है।

व्याख्या—चेम्बरलिन के मतानुसार पृथ्वी के ग्रहाणुओं के गिरने तथा केन्द्रीय दाब और अणुओं के पुनर्संगठन के फलस्वरूप उष्णता बढ़ गयी जो कालान्तर में **ज्वालामुखी के उद्भेदन का कारण बनी।**

इस परिकल्पना के समर्थकों का विचार है कि जब वायुमण्डल में जलवाष्प संतृप्तता-बिन्दु पर पहुँच गयी तो झीलों के रूप में महासागरों की उत्पत्ति हुई। एक समय ऐसा आया कि ज्वालामुखी-क्रिया का प्रभुत्व हो गया और प्राथमिक आग्नेय शैलों का निर्माण हुआ। इस प्रकार चेम्बरलिन ने पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित तीन कालों की कल्पना की है :

(1) ग्रहाणुओं के एकत्रीकरण का काल,

(2) ज्वालामुखी-उद्भेदन का काल,

(3) भूतत्त्व का वर्तमान काल।

सूर्य से निष्कासित ग्रहाणुओं का कुल पदार्थ द्रव्यमान को देखते हुए कम होना चाहिए। इस परिकल्पना द्वारा भी यह सत्य प्रतीत होता है क्योंकि कुल ग्रहों का द्रव्यमान सौर-परिवार के द्रव्यमान का 1/700 है।

दो तारे एक-दूसरे के समीप क्यों आये ? मुख्य तारे की आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से सर्पिल नीहारिका के खण्डित पिण्ड पुनः मुख्य तारे से क्यों नहीं मिल गये। इस प्रकार के प्रश्न इस परिकल्पना की समीक्षा के लिए किये जाते हैं, जिनका उत्तर इसमें नहीं मिलता। ये ही इस परिकल्पना के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियाँ हैं।

नीहारिका तथा ग्रहाणु परिकल्पना की तुलना

नीहारिका परिकल्पना	ग्रहाणु परिकल्पना
(1) पृथ्वी की उत्पत्ति केवल एक ग्रह से हुई।	(1) दो ग्रहों के पारस्परिक आकर्षण से हुई।
(2) आदिम अवस्था में पृथ्वी गैस थी।	(2) पृथ्वी गैस थी।
(3) आरम्भ में पृथ्वी उष्ण थी।	(3) पृथ्वी शीतल थी।
(4) पृथ्वी का तापमान क्रमशः क्षीण होता गया।	(4) पृथ्वी का तापमान क्रमशः बढ़ता गया।
(5) पृथ्वी की आदिम अवस्था में वायुमण्डल वर्तमान था।	(5) पृथ्वी की आदिम अवस्था में वायुमण्डल वर्तमान नहीं था।

जेम्स जीन्स तथा जेफरी की ज्वार-भाटा परिकल्पना
(Tidal Hypothesis of James Jeans and Jeffrey)

ब्रिटिश गणितज्ञ **जीन्स** ने सन् 1919 में और **जेफरी** ने सन् 1926 में ज्वार-भाटा परिकल्पना को प्रस्तुत किया। यह अधिक मान्य भी है। इसमें वैज्ञानिकों ने सौर-मण्डल का निर्माण एक सूर्य और एक तारे से माना है। उन्होंने कल्पना की है कि सूर्य गैस का एक विशाल पिण्ड था और अतीत काल में ब्रह्माण्ड में एक बहुत बड़े तारे ने सूर्य के समीप जाते हुए अपनी आकर्षण-शक्ति से सूर्य में ज्वार उत्पन्न कर

दिया। ज्यों-ज्यों यह बड़ा तारा सूर्य के समीप आता गया, ज्वार की ऊँचाई तथा आकार बढ़ता गया। जब तारा सूर्य से कम से कम दूर आ गया तब उसके ठीक नीचे गैसीय सूर्य के गोले से करोड़ों किलोमीटर लम्बा सिगार के आकार का एक ज्वार उठ गया, जैसा कि दी हुई आकृति (चित्र 23) से ज्ञात होता है। जेफरी के अनुसार सूर्य और इसके समीप आने वाले विशाल तारों में टक्कर हो गयी जिसके परिणामस्वरूप सूर्य तथा उस विशाल तारे का कुछ भाग आकाश में बिखर गया। इन्हीं से ग्रहों का निर्माण हुआ। तारे के अपने रास्ते पर जाते हुए सूर्य से कम से कम दूरी पर आने के साथ सिगार की आकृति के ज्वार की तो रचना हुई किन्तु तारे की आकर्षण-

चित्र 23—ज्वार-भाटा परिकल्पना
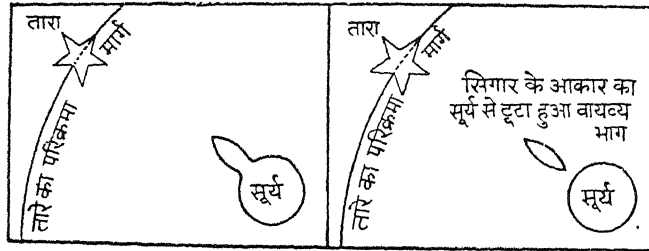
शक्ति के बढ़ जाने के कारण आकर्षित ज्वार टूटकर सूर्य से अलग हो गया और तारे के दूर निकल जाने से उसका आकर्षण कम होता गया। फलस्वरूप ज्वार में निकला हुआ पदार्थ तारे के साथ दूर तक नहीं जा सका और न सूर्य में ही वापस आ सका। इस प्रकार ज्वार में निकला हुआ पदार्थ एक लम्बे सिगार के रूप में हो गया, जो बीच में मोटा तथा दोनों किनारों की ओर पतला था। किनारों के पतला होने का कारण दोनों शक्तियों का आकर्षण था। साथ ही साथ यह सिगार रूपी पदार्थ सूर्य की परिक्रमा करने लगा। पुनः सिगार की आकृति के इस पदार्थ के ठण्डा होने तथा सिकुड़ने से उसकी आकृति विशृंखल हो गयी और ग्रहों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार विभिन्न ग्रहों के सूर्य के समीप आने के कारण तथा उनसे ज्वार निकलकर अलग होने से उपग्रहों का निर्माण हुआ। जेफरी के अनुसार, सूर्य के समीप आने वाले विशाल तारे से सूर्य की भिड़न्त हुई जिससे सूर्य तथा उस विशालकाय तारे के कुछ अंश आकाश में आकर्षण-शक्ति के कारण केन्द्रित होकर छिटक गये और इन्हीं के ग्रहों की रचना हुई। जेफरी ने अपने प्रयास से इस परिकल्पना की त्रुटियों को पूरा किया।

उपर्युक्त सभी विद्वानों द्वारा उपस्थित की गयी विभिन्न परिकल्पनाओं पर विचार करने के उपरान्त यह सहज में ही निश्चित हो जाता है कि यह परिकल्पना सर्वाधिक मान्य है।

जीन्स की परिकल्पना से यह सिद्ध हो जाता है कि ग्रह-निर्माण की घटना बहुत ही अद्भुत है, किन्तु तथ्य कुछ दूसरा ही है। जीन्स महोदय जिसे अद्भुत तथा

असम्भव घटना समझते हैं, वह वर्तमान युग में एक साधारण घटना है। हमारी आकाश-गंगा के भीतर ही कई ऐसे नक्षत्र हैं जिनके अपने ग्रह हैं। जीन्स महोदय की परिकल्पना धार्मिक व्यक्तियों के लिए रुचिकर है क्योंकि पृथ्वी पर सभी धर्मपुजारी निवास करते हैं। अतः इसकी उत्पत्ति एक अद्भुत घटना का परिणाम होना ही चाहिए था। किन्तु आज के वैज्ञानिक जीन्स की परिकल्पना को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं।

पक्ष में प्रमाण

(1) यदि सौर-मण्डल के कुल तारे एक सीध में रखे जायँ (जैसा कि चित्र नं० 4 में है), तो इनकी आकृति सिगार जैसी हो जायगी। मध्य में बड़े ग्रह और दोनों किनारों पर छोटे ग्रह पड़ते हैं; केवल मंगल ग्रह इस क्रम के विपरीत पड़ता है।

(2) विभिन्न ग्रहों के उपग्रहों की संख्या एवं आकार भी इसके अनुकूल ही हैं। छोटे ग्रहों के उपग्रह नहीं हैं। मध्यम वर्ग के ग्रहों के उपग्रह कम हैं, परन्तु बड़े ग्रहों के उपग्रह अधिक हैं।

(3) यम (प्लूटो) नामक ग्रह का पता ज्वार-भाटे की परिकल्पना के प्रस्तावित होने के बाद लगा और इस ग्रह का आकार इसकी पुष्टि में सहायक सिद्ध होता है।

(4) उपग्रहों का विस्तार भी सौर-मण्डल की आकृति में है क्योंकि जिन ग्रहों के कई उपग्रह हैं उनके बीच के उपग्रह बड़े तथा किनारे के उपग्रह छोटे हैं। इससे इस परिकल्पना की उपयोगिता और बढ़ जाती है।

(5) इस परिकल्पना के अनुसार बड़े ग्रह अधिक काल तक गैस रूप में रहे। अतः उनके उपग्रह अधिक संख्या में बने, किन्तु उनका आकार छोटा रहा। बड़े ग्रहों के समीपवर्ती ग्रहों के उपग्रह कम संख्या में बने, परन्तु आकार में बड़े बने। सिरे वाले ग्रह (बुध तथा यम) आकार में छोटे होने के कारण जल्दी ठण्डे हो गये, अतः उनके उपग्रह नहीं बने।

(6) सभी ग्रह सूर्य की आकर्षण-शक्ति के कारण अपनी कीली पर झुके हुए हैं और इसी झुकाव की दशा में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। सभी ग्रहों का झुकाव भिन्न है। बुध 7°, शुक्र $3\frac{1}{2}^\circ$, मंगल 2°, वृहस्पति 1°, शनि $2\frac{1}{2}^\circ$, अरुण 1°, वरुण 2° और यम 17° झुके हैं।

आपत्तियाँ

(1) इस क्रम में मंगल अनुपयुक्त हो जाता है जिसका समाधान इस परिकल्पना में उपलब्ध नहीं है।

(2) जो विशाल तारा ज्वार-उद्भेदन (tidal eruption) का अभिकर्ता था वह क्या हो गया? सूर्य के आकर्षण से इस विशाल तारे में क्यों नहीं चंचु (jets) उत्पन्न हो गये? सौर-मण्डल के निर्माण के पश्चात् क्या वह विशाल तारा मृत हो गया जिससे वह पुनः परिभ्रमण करते हुए सूर्य के निकट नहीं आ सका? यदि वह पुनः सूर्य के निकट आ सका तो उसका सूर्य पर क्या प्रभाव पड़ा? इन प्रश्नों का उत्तर इस परिकल्पना की व्याख्या से परे है।

(3) सूर्य के उद्रेक से निर्मित ग्रहों को सूर्य के निकट से ही परिक्रमा करनी चाहिए थी; किन्तु हम जानते हैं कि कई ग्रह सूर्य के व्यास की कई हजार गुनी दूरी पर चक्कर लगाते हैं। वृहस्पति ग्रह सूर्य के व्यास की 500 गुनी दूरी पर उसकी परिक्रमा करता है और वरुण सूर्य के व्यास की 3,200 गुनी दूरी पर। **पेरिस्की** ने गणितीय आधार पर यह सिद्ध किया है कि जीन्स का सिद्धान्त सूर्य और ग्रहों की मध्य की दूरी को समझाने में असमर्थ है। अमरीकी खगोलज्ञ **रसेल** ने भी सन् 1937 में आपत्ति प्रकट की है। कान्त और लाप्लास के सिद्धान्त सूर्य की न्यून कोणीय संवेग को नहीं समझा पाते, उसी प्रकार **जीन्स** की परिकल्पना ग्रहों की अधिक कोणीय संवेग को पूर्ण रूप से समझाने में असमर्थ है।

इन त्रुटियों के कारण अन्य वैज्ञानिक आज भी पृथ्वी की उत्पत्ति के रहस्य के उद्‌घाटन के निमित्त परिकरबद्ध हैं।

1. युग्मतारा परिकल्पना
(Binary-Star Hypothesis)

इस परिकल्पना के प्रवर्तक अमरीकी खगोलज्ञ **एच० एन० रसेल** हैं। रसेल ने सन् 1937 में इसको प्रस्तुत किया। इनके अनुसार, आदिकालीन सूर्य दो तारों के रूप में था। हमारे सूर्य के चतुर्दिक एक वैसा ही तारा चक्कर लगाता है। सुदूर अतीत में एक विशालकाय तारा इस युग्मतारक मण्डल के निकट आने लगा। यह विशालकाय तारा हमारे सूर्य के सहयोगी तारे से 48 से 64 लाख किलोमीटर दूर रहा होगा।

रसेल की धारणा है कि इस विशालकाय तारे का प्रभाव सूर्य के सहयोगी तारे पर पड़ा और गैसीय पदार्थ उससे अलग हो गये जो कालान्तर में ग्रह बन गये। ये ग्रह एक-दूसरे के समीप ही चक्कर लगाते रहे और उनमें जो ज्वार उठे उनसे उपग्रहों की रचना हुई। इस विशालकाय तारे का प्रभाव सूर्य पर नगण्य रहा क्योंकि हमारा सूर्य उस तारे से बहुत दूर था।
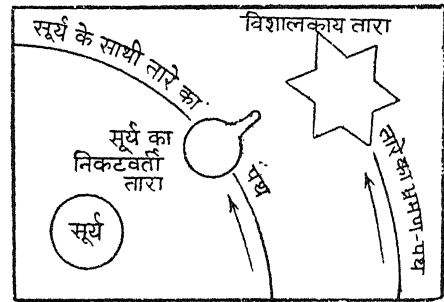
चित्र 24—युग्मतारक सिद्धान्त

इस परिकल्पना के समर्थन में यह तथ्य हैं कि आकाश में युग्मतारों की संख्या पर्याप्त है। **जी० क्विपर** महोदय के मतानुसार आकाश में 80 प्रतिशत तारे युग्म या दो से अधिक के समूहों में हैं। इस परिकल्पना द्वारा ग्रहों में कोणीय संवेग की अधिकता का कारण भी सहज ही सिद्ध हो जाता है। इतना निश्चित है कि सूर्य के साथी तारे का कोणीय संवेग अधिक रहा होगा।

इस परिकल्पना में निम्नलिखित त्रुटियाँ हैं :

(1) सूर्य के सहयोगी तारा का अवशेष भाग ग्रहों की रचना के पश्चात् अनन्त ब्रह्माण्ड में कैसे लुप्त हो गया, इसकी व्याख्या इस परिकल्पना में उपलब्ध नहीं है।

(2) सूर्य के सहयोगी तारे से निर्मित ग्रह तो विशालकाय तारे के सुदूर चले जाने पर हमारे सूर्य के आकर्षण-क्षेत्र में आ जाते हैं और सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते हैं; किन्तु सूर्य के सहयोगी तारे का अवशेष भाग हमारे सूर्य के प्रभाव में नहीं आता है, यद्यपि ग्रहों की अपेक्षा सहयोगी तारे का यह अवशेष भाग हमारे सूर्य के निकट पड़ता है।

(3) सूर्य से ग्रहों की दूरियों तथा ग्रहों के मध्य की दूरियों की व्याख्या इस परिकल्पना द्वारा नहीं हो पाती है। सूर्य द्वारा आकर्षित साथी तारे का ज्वारीय पदार्थ सूर्य से एक निश्चित दूरी पर रहा होगा। फिर संघनन के पश्चात् सूर्य से भिन्न-भिन्न दूरियों पर कैसे फैल गया ?

(4) अनन्त में बिखरे ग्रहों की स्थिति तथा परिक्रमा-पथ किस विधि से वर्तमान स्थिति में आ गया, यह तथ्य इस परिकल्पना में निहित नहीं है।

नवीन परिकल्पनाएँ

इस प्रकार सौर-मण्डल के विषय में विभिन्न वैज्ञानिकों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं, किन्तु कोई परिकल्पना पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है। प्रस्तुत नवीन परिकल्पनाओं में पुरानी परिकल्पनाओं की त्रुटियों का समाधान किया गया है। ज्वार-भाटा परिकल्पना सबसे नवीन है। इसमें जीन्स एवं जेफरी ने अनेक त्रुटियों को दूर किया है।

2. रॉसगन की आवर्तन एवं ज्वारीय परिकल्पना
(Rossgunn's Rotational and Tidal Hypothesis)

रॉसगन ने लाप्लास की नीहारिका परिकल्पना तथा जेम्स जीन्स की ज्वारीय परिकल्पना के प्रमुख तत्वों के समन्वय द्वारा इस नयी परिकल्पना को प्रतिपादित किया। रॉसगन के विचार से तीव्र गति से घूमने वाले सितारे ने एक समय विस्फोट अवस्था को प्राप्त कर लिया तथा अपने पदार्थ पर नियन्त्रण लगभग खो चुका था और दूसरे वृहत् तारे के निकट आते ही दोनों में उद्-भेदन हुए और इस क्रिया के पश्चात् दोनों तारे एक-दूसरे से अलग हो गये; किन्तु ज्वारीय भाग दोनों तारों से अलग छूट गया। यही छूटा हुआ ज्वारीय पदार्थ शनैः शनैः घना होता गया और ग्रहों की रचना होती गयी।
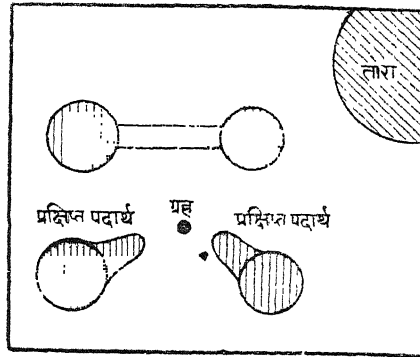
चित्र 25—रॉसगन की परिकल्पना

इस परिकल्पना का मूल दोष यह है कि प्रारम्भिक तारे में आवर्तन तथा उस पर आधारित गति की व्याख्या अस्पष्ट एवं अप्रमाणित है। यदि रॉसगन का यह विचार ठीक है कि आण्विक आवर्तन हुआ और यही तारे की गति का कारण है तो ऐसी दशा में दूसरे तारे के समीप आने की कल्पना सम्भव नहीं प्रतीत होती है। साथ ही गुरुत्वाकर्षण से तारे का विखण्डन (fission) सम्भव नहीं लगता है। प्रयाग विश्वविद्यालय के गणित-विभाग के भूतपूर्व अध्ययक्ष **डॉ० ए० सी० बनर्जी** का मत है कि गति की व्याख्या करने का रॉसगन द्वारा प्रतिपादित मार्ग बहुत ही दुरूह एवं अप्रत्यक्ष है।

3. बनर्जी की सीफीड परिकल्पना
(Banerjee's Cepheid Hypothesis)

भारत के प्रमुख गणितज्ञ **डॉ० ए० सी० बनर्जी** ने पता लगाया कि तारामण्डल में सीफीड नामक एक तारा है जिसमें संकुचन तथा प्रसार की प्रक्रिया निरन्तर होती रहती है। इस क्रिया के फलस्वरूप इस तारे में चमक की मात्रा परिवर्तित होती रहती है और अधिक तथा न्यून प्रकाश क्रम से आते रहते हैं।
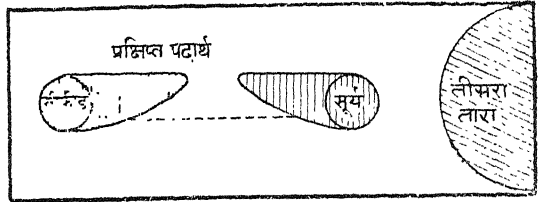
चित्र 26—सीफीड परिकल्पना

उपर्युक्त व्यवस्था के फलस्वरूप इस तारे में भारी हलचल पैदा होती है और तारा अस्थिर हो जाता है तथा इसके आकार में वृद्धि हो जाती है। पदार्थ पर नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। इस तारे से पदार्थ बाहर फेंक दिया जाता है।

प्रोफेसर बनर्जी के मतानुसार, इस अस्थिर एवं बुद्धिमान तारे के निकट एक बड़ा तारा आ गया जिसके कारण तारे से प्रक्षिप्त पदार्थ दूर फेंक दिया गया और अब यह पदार्थ घना होने लगा तो सूर्य तथा सीफीड एक-दूसरे से अलग हो गये तथा एक-दूसरे की विपरीत दिशाओं में खिसक गये। प्रोफेसर **बनर्जी** ने सन् 1942 में इस परिकल्पना का प्रतिपादन किया।

स्पन्दित सीफीड से पदार्थ अधिक गति से निष्कासित हुआ। सीफीड की नाभि सूर्य के रूप में रह गई और निष्कासित पदार्थ का कुछ भाग सूर्य ने भी आकर्षित कर लिया और शेष पदार्थ ग्रहों के रूप में सूर्य की परिक्रमा करने लगा। समीप आने वाला विशालकाय तारा अपने मार्ग पर चलता हुआ सौर-मण्डल से दूर हो गया। टक्कर की सम्भावना इस परिकल्पना में भी की गई है। इस प्रकार रसेल की युग्मतारा परिकल्पना की सभी त्रुटियाँ इसमें भी पाई जाती हैं।

सूर्य तथा सीफीड तारे की $\frac{2}{3}$ शक्ति अपहरण कर ली गयी। यह गणित द्वारा भी प्रमाणित होता है कि ग्रहों में सूर्य की अपेक्षाकृत $\frac{1}{20}$ भाग शक्ति है।

इस परिकल्पना के द्वारा ग्रह-व्यवस्था की ठीक व्याख्या सम्भव हो पाती है। साथ ही, वैज्ञानिक अनुसन्धानों से पता चल रहा है कि दो सूर्य-रहित तारा-मण्डल हैं।

सन् 1951 में, अमरीकी विद्वान् **यूरे प्रथम** (Urey I) ने आइसोटोप या सम-स्थानिक सिद्धान्त (Isotope Theory) को प्रस्तुत किया। इसके अनुसार, सौर-मण्डल के सदस्यों की उत्पत्ति का ठीक ज्ञान तभी सम्भव है जब सूर्य की उत्पत्ति की खोज पूर्ण हो जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार, नीहारिका में दृश्य गोलिका (globules) पर दबाव की वृद्धि के कारण ताप नाभिकीय अभिक्रिया (thermo-nuclear reaction) हुई। इस प्रतिक्रिया से ताप प्राप्त हुआ। इसी ताप ने नीहारिका के एक अंश को तप्त कर दिया जो सूर्य हुआ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि ग्रह ठोस तथा ठण्डे पदार्थों से निर्मित हैं। ये पदार्थ सूर्य की परिक्रमा के दौर में तप्त हो गये। ताप की वृद्धि के फलस्वरूप उस पदार्थ में से हल्के वाष्पशील पदार्थ निकल गये और केवल भारी अंश रह गया। यही अंश संघनन की क्रिया के कारण ग्रहों के विकास में सहायक हुआ। ग्रहाणुओं के सतत अपहरण द्वारा ग्रहों के द्रव्यमान में वृद्धि होती रही। यह अपरिपक्व परिकल्पना है।

4. नवतारा परिकल्पना
(The Nova Hypothesis)

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के गणितज्ञ **फ्रेड होयल** तथा **लिटलटन** के अनुसार, पृथ्वी की उत्पत्ति भिन्न प्रकार से मानी जाती है। उक्त विद्वानों ने अपनी पुस्तक '*Nature of the Universe*' में दो बातों को प्रधानता दी है—(1) सभी तारे हाइड्रोजन द्वारा निर्मित हैं, और (2) हाइड्रोजन गैस हीलियम गैस में परिवर्तित होकर तारों में शक्ति उत्पन्न करती है। इन विद्वानों के अनुसार, ब्रह्माण्ड में अधिकतर दो-दो के जोड़े में तारे अपने केन्द्र के चारों ओर घूमा करते हैं।

आकाश में हाइड्रोजन तथा हीलियम जैसे हल्के तत्वों की प्रधानता है। प्रारम्भ में हाइड्रोजन गैस के परमाणु अस्थिर अवस्था में थे और पारस्परिक आकर्षण से मेघ का निर्माण करते थे। कालान्तर में ये मेघ विस्तृत गैस के पिण्ड में परिवर्तित हो गये और परिभ्रमण करने लगे और अपबल-केन्द्र के फलस्वरूप इनका आकार तश्तरीनुमा हो गया। इसका व्यास 60 हजार प्रकाश-वर्ष तथा मोटाई 10 प्रकाश-वर्ष हो गई। किन्तु खगोल विज्ञान से यह ज्ञात है कि ग्रहों का निर्माण ऑक्सीजन, सिलिका, ऐलुमिनियम, लोहा आदि भारी तत्वों से हुआ है। इनकी मात्रा ग्रहों में 98 प्रतिशत है। हाइड्रोजन की मात्रा ग्रहों में एक प्रतिशत से भी कम है। इन भारी तत्वों की उत्पत्ति का स्रोत ज्ञात करना आवश्यक है।

प्रोफेसर **होयल** तथा **लिटलटन** ने बताया है कि हाइड्रोजन के जलने से भी भारी तत्वों की उत्पत्ति होती है किन्तु सूर्य एक साधारण तारा है जिसके हाइड्रोजन

से केवल हीलियम की उत्पत्ति होती है। अतः भारी तत्वों के निर्माण के लिए हाइड्रोजन के जलने की क्रिया ऊँचे तापमान पर होना चाहिए। जब किसी तारे का तापमान सूर्य से तीन सौ गुना से अधिक हो जाता है तो हीलियम में आण्विक प्रतिक्रिया होने लगती है जिससे भारी तत्व बन जाते हैं और तापमान सहसा कम हो जाता है। ऊँचा तापमान केवल उन तारों में पाया जाता है जो अधिनव तारा (super mova) की अवस्था में होते हैं।

एक तारा जलने योग्य हाइड्रोजन तत्व के न रहने पर ही अधिनव तारा बनता है। इस तारे के केन्द्र की दिव्य ज्योति भारी पदार्थों के फेंके जाने पर सूर्य की ज्योति से एक अरब गुनी हो जाती है। इस तारे का फैलाव तीव्र एवं सहसा होता है। नव तारा (Nova) वर्ष में पन्द्रह या बीस दृश्य होते हैं। अधिनव तारा दो या तीन शताब्दियों के पश्चात् दृश्य होते हैं। हाइड्रोजन ही ऊष्मा तथा ऊर्जा का स्रोत है। अतः हाइड्रोजन हीलियम में परिणत होकर ऊष्मा एवं ऊर्जा उत्पन्न करता है। किन्तु जब सम्पूर्ण हाइड्रोजन का परिवर्तन हीलियम में हो जायेगा तो अधिक शक्ति नहीं बन पायेगी। आन्तरिक तापमान की वृद्धि के लिए तारे को संकुचित होना पड़ता है। इस प्रकार संकुचन-क्रिया के फलस्वरूप तारे के केन्द्र की ऊष्मा अत्यधिक बढ़ जाती है और भारी तत्वों को जन्म देती है। साथ ही केन्द्र पर दबाव में वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप तारा अस्थिर हो जाता है। संकुचन के कारण घूर्णन गति भी बढ़ जाती है और अपकेन्द्र-बल अत्यधिक हो जाता है जिसके कारण तारे की बाह्य गैस शून्य में उड़ जाती है। इससे तारा उद्दीप्त हो उठता है। यही नवतारा है। प्रारम्भ में तारे का हल्का पदार्थ और तत्पश्चात् भारी तत्व बाहर फेंके जाते हैं। आकाश में भारी तत्वों की उपलब्धि उपरोक्त विधि से सम्भव है।

होयल के मतानुसार युग्म तारों में से एक सूर्य तथा दूसरा अधिनव तारे की अवस्था में था। दोनों तारों के मध्य की दूरी उतनी ही थी जितनी सूर्य एवं वर्तमान शनि के मध्य वर्तमान है। **होयल** के मतानुसार ग्रह भारी पदार्थ से निर्मित हैं और सूर्य हाइड्रोजन एवं हीलियम के हल्के पदार्थों से बना है। **होयल** की धारणा है कि विस्फोट की क्रिया से नवतारा विपरीत दिशा में सहसा चलने लगा। यह विस्फोट के धक्के का प्रतिफल होता है। यह धक्का लगभग 32 किलोमीटर प्रति सेकण्ड होता है। इस प्रकार नवतारा सूर्य से दूर चला जाता है और युग्म तारक व्यवस्था समाप्त हो जाती है।

लिटलटन के अनुसार अधिनव तारा से निष्कासित पदार्थ सभी दिशाओं में फेंका जाता है। इसका केवल सूक्ष्म भाग ही सूर्य द्वारा आकर्षित किया जाता है। फेंका गया पदार्थ अधिक उष्ण एवं गैसीय अवस्था में होगा जो सूर्य के चतुर्दिक बिम्बाकार में फैल जायेगा। इसके शेष पदार्थ से कुछ ग्रहों की रचना होती है। कुछ अन्य पदार्थों के प्राप्त हो जाने पर इन ग्रहों का आकार बढ़ता जाता है और इनकी घूर्णन गति भी बढ़ती जाती है। एक अवस्था ऐसी आती है कि ग्रह दो भागों में बट जाते हैं।

जब ग्रह के दो भाग एक-दूसरे से अलग होते हैं तो अपने आकर्षण के कारण उनके मध्य में छोटे टुकड़ों की एक लड़ी बन जाती है। इस लड़ी के सिरों पर मुख्य ग्रहों के समीप छोटे टुकड़े होते हैं जो उपग्रह बनते हैं और ग्रहों के चतुर्दिक परिक्रमा करने लगते हैं। मध्य का बड़ा भाग अलग होकर अपना स्वतन्त्र स्थान ग्रहण कर लेता है। **लिटलटन** ने वृहस्पति तथा शनि ग्रहों के दो विभाजित भाग की कल्पना की है। बुध, शुक्र, मंगल तथा पृथ्वी छोटे भाग हैं जिनका निर्माण बड़े ग्रहों के विभाजन की अवधि में हुआ।

प्रोफेसर होयल ने फटने वाले तारे को अधिनव तारा (Super Nova) की संज्ञा प्रदान की है। यह विस्फोट आण्विक प्रतिक्रिया द्वारा सम्पादित होता है जिसके फलस्वरूप इस विशिष्ट तारे से विशाल गैसीय राशि बाहर निकलती है। इसमें कई लाख गुना प्रकाश बढ़ जाता है। इस विस्फोट में गैसीय राशि का वितरण असमान होता है क्योंकि विस्फोट का केन्द्र मध्य में नहीं पड़ता है। इन तारों के विस्फोट से कर्कट नीहारिका (Crab-Nebula) की तरह की नीहारिका की रचना होती है। कर्कट नीहारिका में भी एक अधिनव तारा स्थित है जिसका व्यास पृथ्वी से दुगुना है। इसकी ज्योति सूर्य से 30 हजार गुनी है और सतह का तापमान 5 लाख अंश सेग्रे है। हमारे सूर्य ने अपने समीप के इस प्रकार फटे हुए पदार्थों को अपनी ओर खींच लिया तथा इन्हीं आकर्षित पदार्थों के घनीभूत होने से सूर्य के ग्रहों की रचना हुई और पृथ्वी बनी। अधिनव तारा के शेष नाभि विस्फोट के समय प्रतिक्षिप्त होकर अपना मार्ग त्याग देती है।
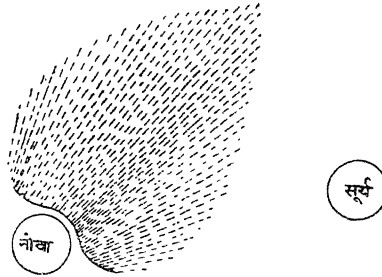
चित्र 27—नोवा का विस्फोट

यह परिकल्पना अपूर्ण है। इसमें कोणीय संवेग के तथ्य का युक्तिसंगत निदान मिलता है, किन्तु ग्रहों की दैनिक गति तथा उपग्रहों की रचना का स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता है।

5. अल्फवेन की अन्तरतारकीय मेघ परिकल्पना
(Alfven's Inter-Stellar Cloud Hypothesis)

अल्फवेन नामक विद्वान् ने ओटो स्मिड के समकक्ष इस परिकल्पना का प्रतिपादन सन् 1942 में किया है। यह विद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त (Electro-magnetic theory) है। उनके मतानुसार भी पृथ्वी आदि ग्रहों की उत्पत्ति तारा-मेघ के आवरण से हुई है। उक्त विचारक ने कल्पना की है कि सूर्य उक्त आवरण से गुजरा और उस आवरण से मेघ के परमाणु सूर्य द्वारा आकर्षित हुए और चुम्बकीय नियन्त्रण में

पकड़कर सूर्य की परिक्रमा करने लगे। इन आकर्षित परमाणुओं के पारस्परिक घर्षण से ताप उत्पन्न हुआ। साथ ही, रगड़ के कारण परमाणुओं के सूक्ष्म रूप अणु (ions) बन गये। प्रारम्भ में परमाणु आयनित नहीं थे। ये अनगिनत अणु सूर्य के आकर्षण से उसकी ओर निकट आते गये। चूँकि आकर्षण मध्य में सबसे शक्तिशाली होता है, अतः इन अणुओं का एकत्रीकरण सूर्य के मध्य भाग के समीप होता गया। जब ये अणु पुनः संगठित हो गये तो सूर्य द्वारा आकर्षित होकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे। अणुओं का यह वृहत् संगठन ग्रह बन गया और शनैः शनैः कालान्तर में सभी ग्रह बने और सूर्य का पूरा परिवार बन गया।

अल्फवेन महोदय ने पृथ्वी की तरह सूर्य के चतुर्दिक भी चुम्बकीय क्षेत्र (magnetic field) माना है जो वर्तमान की अपेक्षा कई हजार गुना शक्तिशाली रहा होगा। इसी प्रकार बड़े ग्रहों के चारों ओर भी चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो गया जिसके द्वारा शेष परमाणुओं के आकर्षण से उपग्रह बन गये।

इस परिकल्पना का विकास किया जा रहा है। सम्भव है, इससे ऐसे तथ्य प्रकाश में आयें जिनसे पृथ्वी की रहस्यमय जीवन-लीला का परिचय हमें मिल सके।

6. वान वीजसेकर की नीहारिका-मेघ परिकल्पना
(Von Weitzsacker Nebular-Cloud Hypothesis)

सन् 1943 में जर्मन भौतिक विज्ञानवेत्ता **डॉ० वान वीजसेकर** ने भौतिक विज्ञान के अनेक तथ्यों के आधार पर सौर-मण्डल की उत्पत्ति की एक नयी परिकल्पना प्रस्तुत की। यह लाप्लास महोदय के कुछ विचारों से मिलती है। भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० चन्द्रशेखर** ने इस परिकल्पना का समर्थन किया है और इसमें कुछ संशोधन भी किया है।

अतीत से यह विश्वास चला आ रहा था कि सूर्य, तारे, पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह एक ही प्रकार के रसायनों एवं खनिजों से निर्मित थे। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप यह सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष के एक प्रतिशत में पार्थिव-तत्व, जैसे ऑक्सीजन, सिलिका, लोहा तथा अन्य भारी पदार्थ हैं और 99 प्रतिशत भाग हाइड्रोजन तथा हीलियम के हल्के तत्वों द्वारा निर्मित है। हाइड्रोजन एवं हीलियम का अंश पृथ्वी की संरचना में अल्पमात्र ही है। सारा अन्तरिक्ष गैस एवं धूलि के बारीक कणों से परिपूर्ण है।

इस परिकल्पना के अनुसार, सूर्य जैसे नक्षत्रों का निर्माण हीलियम, हाइड्रोजन एवं ब्रह्माण्डीय धूलि से हुआ है। धीरे-धीरे इनमें संघनन होने के परिणामस्वरूप सूर्य के इर्द-गिर्द गैस एवं धूलि-कण परिक्रमा करते हुए एक-दूसरे से बड़े जोर से टकराने लगे और छोटे कण बड़े कणों में समाहित हो गये। इस प्रकार उस धूलि-पुंज का आयतन बढ़ने लगा और संघर्ष की ऊर्जा से वह पुंज तरल एवं गैसीय स्थिति में परिवर्तित होता गया। लगभग दस करोड़ वर्ष तक उपर्युक्त प्रक्रिया चलती रही। अन्त में इन धूलि-पुंजों ने ग्रह का रूप धारण कर लिया और वे धीरे-धीरे ठण्डे होते

गये। इस प्रकार सूर्य एवं ग्रहों की रचना आज से लगभग 2-3 अरब वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

वीजसेकर महोदय की अवधारणा थी कि कणों के संगठित होने का कार्य सूर्य से विभिन्न दूरियों पर हो रहा था। उन्होंने प्रत्येक संघनन को मोती के हार से तुलना की और प्रत्येक हार में भ्रमित मण्डलों (Vortice Zone) की कल्पना की। इन मण्डलों के कारण धूलि के कण को परिक्रमा के लिए सुरक्षित पथ मिल जाते हैं और इन मण्डलों की बाह्य सीमा पर कणों के संगठित होने का कार्य सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार ग्रहों के मध्य की विभिन्न दूरियों की व्याख्या सुलभ हो जाती है। इनके विचार से उपरोक्त व्यवस्था-क्रम में ही उपग्रहों की रचना हुई होगी।

इस परिकल्पना की कुछ विशिष्टताएँ हैं। प्रथमत: सूर्य के चारों और तीव्र गति से घूमते हुए पदार्थों की कल्पना है। दूसरे पदार्थ में ही छोटे एवं बड़े मण्डलों की भी कल्पना की गई है। इस कल्पना के अनुसार सूर्य के निकट छोटे भ्रमित मण्डलों तथा सूर्य से दूर बड़े भ्रमित मण्डलों की रचना हुई होगी। सबसे वड़ी विशेषता यह है कि ग्रहों के निर्माण में भारी तत्व कुल द्रव्यमान का एक प्रतिशत होगा।

वीजसेकर महोदय के भ्रमित मण्डलों की उचित संख्या में उपस्थिति की कल्पना पर आपत्ति की गई है।

ग्रहों की रचना गैस एवं धूलि के कणों से हुई है, इस विचार को लेकर अमरीकी खगोल वैज्ञानिक **जी० क्वीपर** तथा रूसी वैज्ञानिक **वी० जी० फेसेनकोव** एवं **ओटोस्मिड** ने परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं।

होयल के मतानुसार एक लाख वर्ष के पश्चात् सूर्य के अधिक ताप के कारण ग्रहों पर जीवन समाप्त हो जायेगा और पाँच लाख वर्ष के पश्चात् उसमें विलीन हो जायेगा। कालान्तर में सूर्य धीरे-धीरे ठंडा हो जायेगा। **होयल** के मतानुसार प्रत्येक विस्फोट से ग्रह का निर्माण होगा।

उपर्युक्त परिकल्पना नवीनतम है और इस पर अनुसन्धान का कार्य हो रहा है; किन्तु अभी इसमें जीन्स तथा चेम्बरलिन की परिकल्पनाओं की तरह कई दोष परिलक्षित हो रहे हैं।

7. ओटो स्मिड की अन्तरतारकीय धूलि परिकल्पना
(Otto Schmidt's Inter-Stellar Dust Hypothesis)

इस परिकल्पना के जन्मदाता महान रूसी वैज्ञानिक **ओटो स्मिथ** हैं। इनके द्वारा सन् 1943 में जेम्स जीन्स की प्रसिद्ध ज्वार-भाटा उपपत्ति का खण्डन किया गया है।

स्मिड महोदय की अवधारणा है कि सूर्य के चतुर्दिक गैस एवं धूलि-कणों से परिपूर्ण एक गैस-धूलि-मेघ-आवरण (gas dust cloud) चक्कर लगाता था जिसके विसरित पदार्थों की राशि (swarm of diffused matter) से पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की उत्पत्ति हुई। इस परिकल्पना के अनुसार यह गैस-धूलि-पुंज सूर्य के चारों

और परिक्रमा करते हुए घनीभूत होकर संगठित होता गया और उत्तरोत्तर शनैः शनैः चपटा हो गया। कालान्तर में धूलि-कणों तथा गैस की राशि इतनी ठोस हो गयी कि सूर्य की आकर्षण-शक्ति भी इनमें विघटन लाने में असमर्थ हो गयी। गैस एवं धूलि-कणों का संगठन कई केन्द्रों पर हुआ जिससे विभिन्न संगठित राशियों में पारस्परिक घर्षण उत्पन्न हो गया। इस घर्षण-क्रिया से उन धूलि-गैस-संगठित-पुंजों में ताप की उत्पत्ति हो गयी। सूर्य के चतुर्दिक परि-भ्रमण की गति भी घर्षण के अवरोध से मन्द पड़ती गयी। स्मरण रखना चाहिए कि गैस के कण प्रत्यास्थ (elastic) रूप से टकराते हैं, इसलिए उनकी गति मन्द नहीं होती है और उनका संघनन नहीं होता है। किन्तु धूलि के कण अप्रत्यास्थ रूप से टकराते हैं। अतः उनकी गति मन्द पड़ जाती है और वे संगठित हो जाते हैं। ये पुंज धीरे-धीरे ठोस बन गये।

चित्र 28—सौर-मण्डल की उत्पत्ति (ओटो स्मिड के अनुसार)

इस प्रकार कई ठोस पिण्ड बन गये जो क्षुद्र ग्रह (asteroid) बने और अपने समीपवर्ती धूलि-कणों को आत्मसात् करते गये और दीर्घकाल के पश्चात् वृहत् ग्रह बन गये। शेष गैस-धूलि-कणों का परिभ्रमण जारी रहा और इनका सम्बन्ध ग्रहों से हो गया। धूलि-कण-गैस की ये शेष राशियाँ भी ग्रहों के चतुर्दिक पूर्ववत् संगठित होती गयीं और कालान्तर में उपग्रहों में परिणत हो गयीं।

सूर्य के इर्द-गिर्द ये धूलि-मेघ एवं गैसीय पदार्थ कहाँ से आये? हम जानते हैं कि आकाश-गंगा में इस प्रकार के गैसीय पदार्थ एवं धूलि-मेघ पर्याप्त मात्रा में बिखरे हुए हैं। स्मिड महोदय का कथन है कि घूमते-घूमते ये रज-कण-मेघ जब सूर्य के निकट आये होंगे तो इनका बहुत-सा भाग सूर्य ने आकर्षित कर लिया होगा। इस आकर्षण का कारण कणों का अप्रत्यास्थ रूप में टकराना था। इसी से कालान्तर में सौर-मण्डल की उत्पत्ति हुई। इस परिकल्पना की विस्तृत विवेचना इनकी पुस्तक *'A Theory of Earth's Origin'* में मिलती है। यह पुस्तक रूस में सन् 1958 में प्रकाशित हुई।

अपनी परिकल्पना में स्मिड महोदय ने प्राकृतिक तथ्यों के कारण भी बताये हैं। स्मिड ने बताया है कि ग्रहों द्वारा परिक्रमा की कक्षा वृत्ताकार क्यों हो गई? स्मिड

के अनुसार विभिन्न कणों ने पारस्परिक टक्कर के फलस्वरूप अपनी गति का मध्यम परिणाम प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप ग्रहों की परिक्रमा-कक्षा वृत्ताकार हो गई। गति के मध्यम परिणाम के कारण सभी ग्रह एक कक्षा पर परिक्रमा करने लगे और उनका पथ एक ही दिशा में हो गया। सी महोदय ने ग्रहों की कक्षा के वृत्ताकार हो जाने का कारण ग्रहों की उत्पत्ति के बाद शेष गैस एवं धूलि-कणों द्वारा सूर्य के चतुर्दिक प्रतिरोधी माध्यम गति की क्रिया बतलाया है।

स्मिड ने शनि के वलय की व्याख्या में रोशे का सीमा सिद्धान्त (Theory of Roche's Limit) को प्रयुक्त किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी केन्द्रीय अंग से इसके अर्द्धव्यास से ढाई गुनी या इससे कम दूरी पर कणों का समूह आ जाता है और यदि दोनों का घनत्व सम होता है तो कण-समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसके छोटे-छोटे अंग केन्द्रीय अंग में आकर्षित हो जाते हैं। इसी प्रकार कोई उपग्रह शनि के निकट आ गया और छिन्न-भिन्न हो गया तथा आकर्षित होकर वलय का रूप धारण कर लिया।

स्मिड ने ग्रहों के मध्य की दूरियों की भी व्याख्या प्रदान की है। इनके मतानुसार समान द्रव्यमान एवं गति के सभी अंग सूर्य की परिक्रमा करते हुए निश्चित दूरियों पर ही संग्रहीत होंगे। अतः ग्रहों के विकास क्रम में ही ग्रहों के मध्य की दूरियाँ स्थापित हो गईं।

स्मिड के सिद्धान्त में सूर्य एवं ग्रहों के कोणीय संवेग में अन्तर का भी समाधान मिल जाता है। सूर्य और ग्रहों के जन्मदाता पदार्थ भिन्न-भिन्न थे। अतः इनके द्रव्यमान एवं संवेग में अन्तर मिलना अनिवार्य है। स्वयं ग्रहों में या कोणीय संवेग में अन्तर मिलता है। इसका कारण कणों के संघनन के समय उनके कोणीय संवेग के पुनः वितरण में अन्तर ही है क्योंकि कुछ ग्रह भारी और कुछ हल्के पदार्थों से निर्मित हैं।

ग्रह के दो वर्ग हैं, आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक ग्रह बुध, शुक्र, पृथ्वी तथा मंगल हैं जो ऐलुमिनियम, लोहा, सिलिका आदि भारी पदार्थों से निर्मित हैं। बाह्य ग्रह वृहस्पति, शनि आदि हैं जो हाइड्रोजन, हीलियम आदि हल्के पदार्थों से निर्मित हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्मिड ने कहा है कि जिस समय गैस-धूलि-कण घने हो गये थे और सूर्य की परिक्रमा लगा रहे थे तो सूर्य की किरणें धूलि-कणों के समूह के भीतर दूर तक नहीं जा सकती थीं जिसके फलस्वरूप सूर्य के निकट के धूलि-कण-समूह का तापमान अत्यधिक होगा जो दूर को क्रमशः कम होता जायगा। जैसा चित्र में प्रदर्शित है। इसलिए सूर्य के निकट केवल सिलिका प्रधान पदार्थ होंगे और दूर में वाष्पशील हल्के पदार्थ होंगे जो शीत के कारण जम गये होंगे। इस प्रकार ग्रह के दोनों वर्गों की रचना की व्याख्या प्राप्त हो जाती है।

विवेचना—स्वयं स्मिड महोदय के शिष्यों ने ही उनकी इस परिकल्पना का

अक्षरश: प्रतिपादन नहीं किया। रूसी वैज्ञानिक **विक्टर सेफ्रोनोव** के विचार में यह परिकल्पना केवल अंशत: सत्य थी।

इस परिकल्पना पर विचार करते हुए एक महान् वैज्ञानिक **ब्लादिमीर क्रेट** ने बताया है कि सूर्य ग्रहों के पहले वर्तमान नहीं था और सौर्य-मण्डल के सभी अंग एक ही साथ और एक ही प्रकार से बने। इनके निर्माण का प्रमुख कारण पुच्छल तारों के मध्य घर्षण-क्रिया है। इसके मतानुसार ग्रहों का निर्माण सौर्यिक कणों के संघटन से नहीं हुआ। यदि ऐसा हुआ होता तो ग्रहों पर नत्रजन गैस का अभाव रहता, किन्तु वास्तव में यह तथ्य नहीं है। अतएव **क्रेट** का मत है कि ग्रह पुच्छल तारों के शीर्ष द्वारा निर्मित हैं और इनकी आकृति घनीभूत गैसों तथा नत्रजन के टुकड़ों की आकृति के समान रही होगी। इसमें धूलि एवं बादल की उत्पत्ति की व्याख्या में यह उल्लेख नहीं है कि तारों के बनने से भी पूर्व क्या था।

नवीनतम परिकल्पना

रूसी भौतिकी गणितज्ञ **ए० नोविकोव** महोदय ने अपने तीन अन्य सहयोगी वैज्ञानिकों के साथ सौर-परिवार की उत्पत्ति पर एक नई परिकल्पना प्रस्तुत की है। इस परिकल्पना की व्याख्या में बताया गया है कि सौर-परिवार के ग्रहों की रचना काल में बाह्य अन्तरिक्ष विभिन्न आकार-प्रकार की अन्तरतारकीय तथा अन्तर्ग्रहीय सामग्री से अवरुद्ध था। करोड़ों वर्षों तक कोई भी उपग्रह अपने ग्रह के सन्निकट नहीं आया था। शनि ग्रह का वलय भी इस पूरी अवधि में पर्याप्त दूरी पर था। इस प्रकार अति संहत माध्यम से करोड़ों वर्षों तक अपने ग्रह की परिक्रमा करते हुए क्षुद्र ग्रह अपने वेग को खो रहे थे। बाद की अवधि में सौर-परिवार की रचना के दौरान क्षुद्र ग्रहों के आकार वाले सभी ब्रह्माण्ड-पिण्ड अपने ग्रहों पर गिरने लगे। इस सुदूर कल्प की अवरुद्ध प्रकृति के प्रमाण का कार्य चन्द्रमा सम्पन्न करता है। इसके धरातल से प्रमाणित होता है कि उस क्षुद्र ग्रहों के गिरने के चिह्न हैं।

इन वैज्ञानिकों की कल्पना है कि उस समय आकाश गंगाएँ एक-दूसरे के बहुत निकट थीं और ऐसी भीड़-भाड़ में अन्तरिक्ष अवरुद्ध ही हो सकता था। इन विद्वानों ने चन्द्रमा के उद्भव के सम्बन्ध में एक नई परिकल्पना को प्रस्तुत किया है। इन्होंने इस विचार को अस्वीकार किया है कि आद्यग्रह का मेघ सूर्य की सक्रियता के क्षेत्र में आया और उसी से सौर-परिवार की रचना हुई।

अपनी परिकल्पना की व्याख्या में इनका तर्क है कि पाँच अरब वर्ष पूर्व धूलि के छोटे-छोटे अनेक मेघों से एक महान आद्यग्रह के मेघ का निर्माण हुआ था। गैस की धूलि के अनेक मेघ आकाश-गंगा के केन्द्र की ओर गतिमान हुए थे। सूर्य के सक्रिय क्षेत्र के इर्द-गिर्द में जाने और दीर्घवृत्तीय कक्षाओं मे चक्कर लगाते हुए गैस की धूलि के कुछ मेघ एक-दूसरे की विपरीत दिशा में चलने लगे और आपस में टकरा गये और उनके वेग में कुछ कमी आ गयी। इन टक्करों का परिणाम यह हुआ कि मेघों के समूह सूर्य की दीर्घवृत्तीय कक्षाओं के लपेट में आ गये। ये मेघ आपस में

टकराते गये और एक समाकल गैस की धूलि के मेघ की रचना हुई और वह सूर्य के चतुर्दिक प्रत्यक्ष रूप से परिक्रमा करने लगा।

पहले गैस की धूलि की सामग्री मूल आद्यग्रह के आठ थक्कों में बँट गई और इन थक्कों के भीतर गैस भरी सामग्री से क्षुद्र ग्रहों के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। इस प्रकार यम ग्रह को वरुण ग्रह से पृथक उपग्रह मानने वाले खगोल शास्त्रियों की अवधारणा सही ज्ञात होती है। वास्तव में सभी वैज्ञानिक नव के स्थान पर आठ ग्रहों के सिद्धान्त को ही मानते हैं।

एक प्रश्न अवश्य उठता है कि शुक्र तथा अरुण को छोड़कर अन्य सभी ग्रह वामावर्त दिशा में घूमते हैं। इसकी व्याख्या प्रदान करने के लिए ये वैज्ञानिक एक लकड़ी की गोल गेंद को पानी में आधा डुबा लेते हैं। धक्का देने पर वह गेंद तैरता है। गेंद का ऊपरी आधा भाग वायु के दाब और निचला आधा भाग जल के दाब का अनुमान करता है चूँकि जल का दाब वायु के दाब की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए मोटरकार के पहिये की तरह गेंद प्रत्यक्ष घूर्णन गति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार गैस की धूलि के थक्के जो करोड़ों वर्षों से अवरुद्ध माध्यम से सूर्य के निकट की कक्षाओं में परिभ्रमण किया करते थे, गेंद की अवस्था में थे। सूर्य के क्रमशः निकट होने पर अवरुद्ध माध्यम अधिक घना होता गया। फलस्वरूप आद्य ग्रह के थक्कों ने प्रत्यक्ष अक्षीय पूर्ण गति प्राप्त कर ली। एक समय ऐसा आया जब अरुण किसी बाह्य शक्ति के प्रभाव में 98° पर पलट दिया गया था और वह अपने एक सिरे के आधार पर अवनमन करता रहा। इसके चारों उपग्रहों की कक्षायें ग्रह की मध्य रेखा के चतुर्दिक एक मिनट की शुद्धता के साथ स्थित हैं। इस तथ्य से विश्वास होता है कि अरुण को गैस की धूलि के मेघ या किसी आवेग ने पलट दिया था। लगभग पाँच अरब वर्ष पहले शुक्र ग्रह के साथ भी ऐसी ही घटना हुई थी।

इस नवीनतम परिकल्पना की पुष्टि के सफल प्रयास किये जा रहे हैं।

सौर-मण्डल की आयु

पृथ्वी पर हम लोग बसते हैं, किन्तु पृथ्वी की आयु का प्रामाणिक निर्धारण नहीं हो सका है। ऐसी दशा में सौर-मण्डल की उत्पत्ति का समय भी विवादास्पद ही है। भूगर्भशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने सौर-परिवार की आयु 5 अरब वर्ष आँकी है। सन् 1960 की जनवरी में केलिफोर्निया (संयुक्त राज्य अमरीका) के प्रसिद्ध प्रोफेसर डॉ० जॉन एच० रेनोल्ड ने 41 वर्ष पूर्व उत्तरी डकोटा राज्य के रिचार्डटन नामक स्थान पर गिरे उल्का के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर सौर-मण्डल की उम्र 4,95,00,00,000 वर्ष बतायी है। उसने उल्का में तेजोद्गर गैस (XF Neon 129) की मात्रा के आधार पर उक्त निर्णय किया है। उक्त वैज्ञानिक के अनुसार, यह अलब्ध गैस इस मात्रा में अन्य प्राकृतिक पदार्थों में जिनका अध्ययन आज तक हुआ है, नहीं प्राप्त हुई थी। यह गैस आयोडीन 129 के तेजोद्गर डिकेट से प्राप्त हुई है।

10 फरवरी सन् 1961 को कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों के एक दल के नेता 42 वर्षीय **मार्टिन रीले** ने उक्त विषय पर अपनी खोज के फल की घोषणा की और बताया कि विश्व का निश्चित आरम्भ हुआ है। इनका दावा है कि विश्व का विस्तार हो रहा है और विश्व का सारा द्रव तीव्र गति से दूर हटता जा रहा है। उनको ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे प्रतीत होता है कि विश्व का अन्त अवश्यम्भावी है। इस परिकल्पना के अनुसार उद्जन परमाणुओं से ब्रह्माण्ड में निरन्तर नये नक्षत्रों का निर्माण हो रहा है। आशा है, इस परिकल्पना के पूर्ण हो जाने पर क्रान्तिकारी तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

खगोलशास्त्री **जार्ज डार्विन** के मतानुसार चन्द्रमा प्रति वर्ष 13 सेमी पृथ्वी से दूर जा रहा है। चन्द्रमा की वर्तमान दूरी 3,86,000 किमी है। चन्द्रमा को इतनी दूर हटने में चार अरब वर्ष लगे होंगे।

अपोलो-11 के अन्तरिक्ष यात्रियों द्वारा पृथ्वी पर लाये गये शिलाखण्डों के वैज्ञानिक विश्लेषण से पता चल रहा है कि ये पत्थर प्रायः साढ़े तीन अरब वर्ष पुराने हैं।

प्रश्न

1. What is the origin of the Earth ? Describe the various hypotheses to justify your answer. Which of them is the best and why? *(Agra 1971; Gorakhpur 1968)*
   पृथ्वी की उत्पत्ति कैसे हुई ? अपने उत्तर की पुष्टि में विभिन्न परिकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए और बताइए कि इनमें से कौन सर्वश्रेष्ठ परिकल्पना है और क्यों ?
2. Trace the evolution of ideas concerning the origin of the earth. Discuss the latest theories in detail. *(Rajasthan 1971; Allahabad 1971)*
   पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों के विकास का उल्लेख कीजिए और सबसे नवीन परिकल्पना की व्याख्या कीजिए।
3. Discuss the principal theories regarding the origin of the earth. *(Bihar 1970; Nagpur 1971)*
   पृथ्वी की उत्पत्ति सम्बन्धी मुख्य परिकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए।

4

पृथ्वी के सौर-सम्बन्ध

[THE EARTH IN THE SOLAR SYSTEM]

पृथ्वी जिस पर हम अपनी जीवन-लीला सम्पन्न करते हैं, हमारी माता है। किन्तु इसके सम्बन्ध में हमें पूर्ण जानकारी नहीं है। यहाँ तक कि पृथ्वी स्थिर है अथवा घूमती है, यह भी केवल विश्वास की बात मानी जाती है। किन्तु वैज्ञानिक प्रगति के साथ पृथ्वी के घूमने की बात सत्य सिद्ध हो रही है। पृथ्वी के भ्रमण को प्रमाणित करने वाले कतिपय प्रयोग इस प्रकार हैं :

(1) **न्यूटन का प्रयोग**—प्रसिद्ध ग्रीक वैज्ञानिक **न्यूटन** ने एक मीनार के शीर्ष से एक पत्थर को सीधा नीचे गिराकर देखा कि वह पत्थर ठीक नीचे के बिन्दु पर न गिरकर कुछ पूरब की ओर हटकर गिरता है। न्यूटन ने इसके कारण की व्याख्या करते हुए बताया कि पृथ्वी के घूमने के कारण पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की कीली के एक बिन्दु के चारों ओर चौबीस घण्टों में एक चक्कर लगाती है। वह वस्तु ध्रुवों से जितनी ही दूर होगी, उतना ही बड़ा घेरा उसे बनाना पड़ता है, अर्थात् उसको निकट की वस्तुओं की अपेक्षा तीव्र गति से घूमना पड़ता है। इस प्रकार मीनार का शीर्ष उस बिन्दु की अपेक्षा अधिक तीव्रता से घूम रहा है, जिस पर पत्थर गिरने को है।
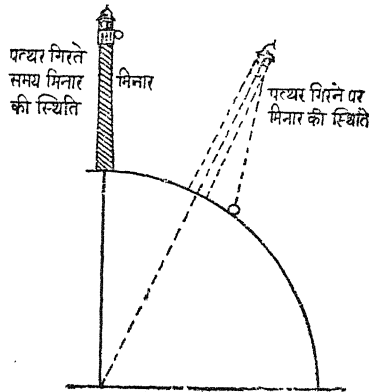
चित्र 29—न्यूटन का प्रयोग

न्यूटन का विचार है कि पत्थर की गति भी मीनार के शीर्ष की गति के बराबर होगी। अतः वह मीनार के तले के बिन्दु से अधिक गति के कारण अपने ठीक नीचे के बिन्दु से आगे निकल जायेगा। यह स्थान उस बिन्दु से पूरब की ओर हटकर होगा। इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वी पश्चिम से पूरब को घूमती है।

(2) **फोको का लट्टू प्रयोग**—फ्रांसीसी वैज्ञानिक **फोको** ने सन् 1851 में पेरिस के पैन्थिनन भवन के गुम्बज में लगभग 60 मीटर लम्बे तार में एक लट्टू बाँधकर लटका दिया। इस लट्टू में नीचे की ओर एक महीन सुई भी लगा दी गयी और लट्टू के नीचे एक मेज लगाकर उस पर बालू बिछा दी गयी। इसकी इस प्रकार व्यवस्था की गयी कि सुई बालू को स्पर्श करती रहे। लट्टू के हिलने पर बालू में ऐसी हल्की रेखाएँ बन गयीं जिनसे स्पष्ट हो गया कि मेज भी पश्चिम से पूरब को घूम रही है। प्रस्तुत चित्र में अ अ′, ब ब′, स स′ रेखाएँ मेज पर बने चिन्हों को प्रदर्शित करती हैं।

(3) **भूमध्य रेखा पर वस्तुओं के भार में कमी**—किसी वस्तु का भार आकर्षण पर निर्भर करता है। चूँकि पृथ्वी भूमध्य रेखा पर ध्रुवों की अपेक्षा तीव्र गति से घूमती है, अतः भूमध्य रेखा पर अपकेन्द्र बल का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। ध्रुवों पर पृथ्वी की गति न्यूनतम होने के कारण वहाँ अपकेन्द्र-बल अल्पमात्र होता है।

उपर्युक्त परिस्थिति के कारण भूमध्य रेखा पर आकर्षण-शक्ति का प्रभाव कमजोर हो जाता है और ध्रुवों पर आकर्षण-शक्ति का प्रभाव अधिक होता है। इसीलिए ध्रुवों की अपेक्षा भूमध्य रेखा पर एक ही वस्तु की तौल कम हो जाती है।

चित्र 30—फोको का लट्टू प्रयोग

प्रयोग से ज्ञात हुआ है कि ध्रुवों पर किसी वस्तु का जो भार होता है उसी वस्तु का भार भूमध्य रेखा पर $\frac{1}{289}$ वाँ भाग कम हो जाता है। यदि पृथ्वी और बड़ी होती तो आकर्षण अधिक होता और वस्तुओं का भार भी अधिक होता। वृहस्पति जैसे विशाल ग्रह पर हमारा भार बहुत अधिक होगा और यदि हम अधिक शक्तिशाली न हों तो वहाँ चलना भी कठिन हो जायगा। दूसरी ओर मंगल जैसे छोटे ग्रह पर हम घरों पर अति सुगमता से कूद सकेंगे।

(4) **भूमध्य रेखा पर घड़ियाँ मन्द**—घड़ियो के लोलक (पेण्डुलम) के हिलने पर आकर्षण शक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसी कारण ध्रुवों पर लोलक तीव्रता से हिलेगा और विषुवत् रेखा पर अपेक्षाकृत मन्द घूमेगा। यदि लोलक को ध्रुव तथा भूमध्य रेखा पर समान गति से घुमाना होता है तो लोलक को तनिक छोटा कर देना पड़ता है। फ्रांसीसी ज्योतिषी **रिचर** ने 17वीं शताब्दी में गयाना (भूमध्य रेखा के समीप) जाकर यह प्रयोग किया था।
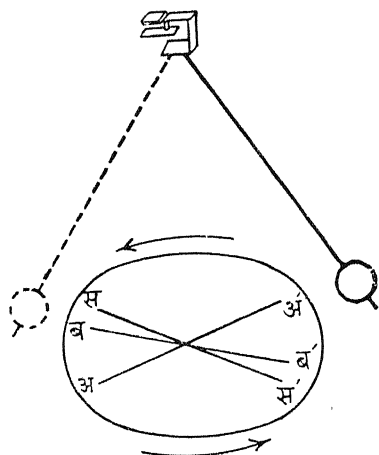
(5) **ज्वार-भाटा का प्रयोग**—चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर लगभग एक माह में एक चक्कर लगाता है। अतः यदि चन्द्रमा के कारण ज्वार उत्पन्न हो तो प्रत्येक स्थान पर एक पक्ष में एक ज्वार उठना चाहिए। किन्तु निरीक्षण से ज्ञात होता है कि प्रत्येक स्थान पर दिन में दो बार ज्वार उठते हैं। इसका केवल एक ही कारण है कि पृथ्वी घूम रही है और लगभग चौबीस घण्टों में प्रत्येक स्थान को दो बार चन्द्रमा के सामने ला देती है। इस प्रकार पृथ्वी के घूर्णन से प्रत्येक स्थान चन्द्रमा के सामने आ जाता है।

(6) **बन्दूक की गोली का प्रयोग**—यदि बन्दूक से किसी दूर की स्थिर वस्तु की ओर निशाना लगाया जाता है तो गोली उस वस्तु के कुछ पश्चिम या पूरब की ओर जाकर लगती है, क्योंकि जब तक वहाँ गोली पहुँचती है तब तक वह स्थान पृथ्वी की गति के कारण कुछ आगे या पीछे की ओर बढ़ जाता है।

पृथ्वी की गतियाँ
(Movements of the Earth)

पृथ्वी में दो प्रकार की गतियाँ होती हैं—(1) दैनिक गति या भू-घूर्णन (Rotation), और (2) वार्षिक गति या भू-परिक्रमण (Revolution)।

भू-घूर्णन
(Rotation of the Earth)

पृथ्वी अपने कल्पित अक्ष पर 23 घण्टे 56 मिनट 4·09 सेकण्ड में एक चक्कर लगाती है। पृथ्वी का यह अक्ष उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों को मिलाने वाली कल्पित
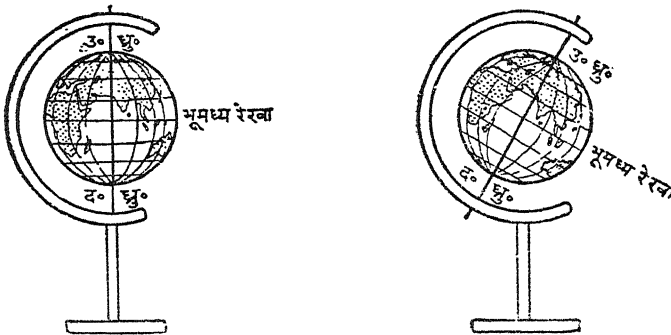
चित्र 31—पृथ्वी के अक्ष की दशा

रेखा होती है। पृथ्वी का अक्ष अपने कक्ष-तल (orbital plane) पर झुका हुआ है। यह झुकाव $23\frac{1}{2}^\circ$ का होता है जिसके फलस्वरूप पृथ्वी अपने कक्ष-तल पर अक्ष के साथ $66\frac{1}{2}^\circ$ का कोण बनाती है। इस प्रकार पृथ्वी अपने कक्ष-तल पर $66\frac{1}{2}^\circ$ का कोण बनाती हुई वार्षिक गति के साथ अपने अक्ष पर चक्कर लगाती है।

पृथ्वी के इस प्रकार के चक्कर को घूर्णन (rotation) कहते हैं। पृथ्वी 23 घण्टे 56 मिनट 4·09 सेकण्ड में अपने अक्ष पर पूरा एक चक्कर लगाती है। परन्तु अपनी सुविधा के लिए इसे व्यवहार में 24 घण्टे का माना जाता है। पृथ्वी का घूर्णन पश्चिम से पूरब की ओर लट्टू की भाँति होता है। पृथ्वी का $23\frac{1}{2}°$ का झुकाव अथवा कक्ष-तल पर $66\frac{1}{2}°$ का कोण उसकी प्रत्येक स्थिति में एक समान रहता है। फलस्वरूप, पृथ्वी की अक्ष-रेखा सदैव समान्तर रहती है। इस स्थिति को **अक्ष की समान्तरता** (parallelism of the axis) कहते हैं। पृथ्वी का अक्ष बायीं ओर झुका हुआ माना गया है, अतः पृथ्वी की दैनिक गति वह है जिसके अन्तर्गत यह अपने कक्ष-तल पर अक्ष के साथ $66\frac{1}{2}°$ का कोण बनाती हुई लट्टू की भाँति अपने स्थान पर पश्चिम से पूरब घूमते हुए चौबीस घण्टों में एक चक्कर लगाती है। इस प्रकार अपने अक्ष पर चक्कर लगाती हुई पृथ्वी अपने कक्ष पर आगे बढ़ती रहती है। पृथ्वी की दैनिक गति अथवा घूर्णन का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके परिणाम-स्वरूप पृथ्वी पर कई भौगोलिक प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका विवरण नीचे दिया जाता है।

पृथ्वी की दैनिक गति का जन्मदाता सूर्य माना जाता है। कहा जाता है कि सूर्य अपने स्थान पर बड़ी तेजी से घूर्णन करता है, जिसके फलस्वरूप उसके सभी ग्रहों ने उत्पत्ति के साथ ही घूर्णन प्रारम्भ कर दिया।

पृथ्वी की दैनिक गति के प्रभाव

(1) पृथ्वी के घूर्णन के कारण दिन और रात होते हैं। चूँकि पृथ्वी गोलाकार है, अतः गोल पृथ्वी पर घूर्णन के समय सूर्य का प्रकाश पृथ्वी के आधे भाग पर ही पड़ता है, जैसाकि आकृति से विदित होता है। पृथ्वी के जिस भाग में सूर्य का प्रकाश पड़ता है वहाँ दिन रहता है। परन्तु जिस समय पृथ्वी का आधा भाग सूर्य के सामने रहता है, ठीक उसी समय पृथ्वी का आधा भाग सूर्य से परे रहता है और वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है। फलस्वरूप इस भाग में अन्धकार रहता है और वहाँ रात होती है; किन्तु पृथ्वी के पश्चिम से पूरब दिशा में घूर्णन के कारण उसका प्रत्येक भाग बारी-बारी से सूर्य के सामने आता तथा सूर्य से परे जाता है। अतः पृथ्वी के प्रत्येक भाग में बारी-बारी से दिन-रात हुआ करते हैं।
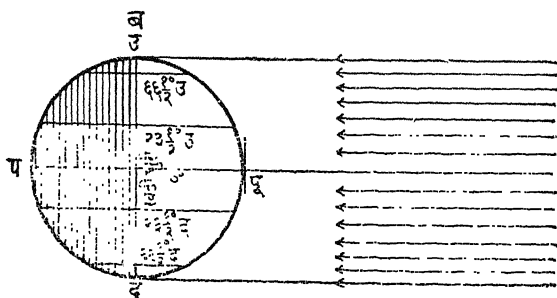
चित्र 32—दिन और रात का होना

(2) पृथ्वी के घूर्णन के फलस्वरूप दिन और रात की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। पृथ्वी के पश्चिम से पूरब की ओर घूर्णन करने के कारण इसके प्रत्येक भाग में बारी-बारी से सूर्योदय, मध्याह्न तथा सूर्यास्त होते हैं। पूरब के भाग में पश्चिम की अपेक्षा प ले सूर्योदय, मध्याह्न तथा सूर्यास्त होता है। अन्धकार के पश्चात् जब सर्वप्रथम सूर्य दिखायी देता है तब सूर्योदय, जब ठीक ऊपर दिखायी देता है तब मध्याह्न तथा जब सूर्योदय एवं मध्याह्न के पश्चात् सूर्य क्षितिज पर दिखायी पड़ता है तब सन्ध्या होती है।

(3) पृथ्वी की दैनिक गति के परिणामस्वरूप हमें किसी स्थान का समय भी ज्ञात हो जाता है। पृथ्वी पश्चिम से पूरब की ओर घूर्णन करती है। **अन्तरराष्ट्रीय तिथि-रेखा** (International Date-line) से पूरब की ओर स्थित स्थानों का समय पश्चिमी स्थानों के समय से आगे होता है। इस आधार पर किसी भी स्थान का समय किसी स्थान के ज्ञात समय से निश्चित किया जा सकता है। साथ ही, समय के आधार पर स्थान की स्थिति का भी पता लग सकता है।
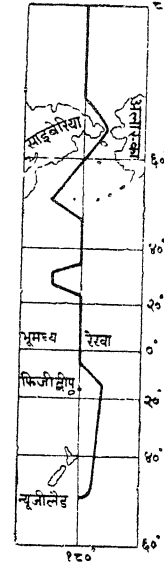
(4) पृथ्वी की आकृति नारंगी के समान गोल है। इस प्रकार की आकृति का कारण भी पृथ्वी का घूर्णन ही माना जाता है, क्योंकि घूर्णन के समय पृथ्वी का भूमध्यरेखीय भाग ध्रुवों की अपेक्षा तीव्र गति से घूर्णन करता है, अतः भूमध्य रेखा पर पृथ्वी का भाग बाहर की ओर निकला हुआ है और ध्रुवों की ओर पृथ्वी धँसी हुई है। इसी गति से दिशाओं का ज्ञान होता है। पृथ्वी के पश्चिम से पूरब की ओर घूमने के कारण सूर्य पूरब में उदय होता दिखायी देता है। क्षितिज में एक दिशा (पूरब दिशा) निश्चित हो जाने के पश्चात् क्षितिज को चार भागों में विभक्त कर दिया गया और इस तरह चार मुख्य दिशाएँ ज्ञात हुईं।
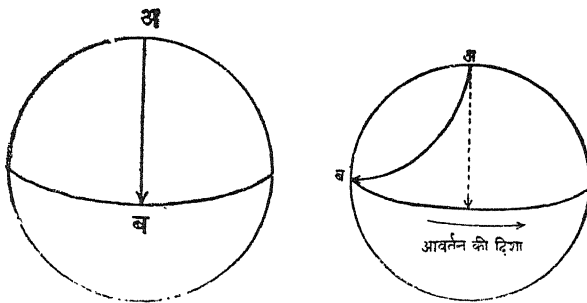
चित्र 33 अन्तरराष्ट्रीय तिथि रेखा

चित्र 34—पृथ्वी के आवर्तन की दिशा

(5) पृथ्वी के पश्चिम से पूरब की ओर घूर्णन के कारण धरातल की हवाओं एवं धाराओं के चलने या बहने की दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है। घूर्णन के फल-

स्वरूप हवाएँ तथा धाराएँ उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अपनी बायीं ओर विक्षेप करती हैं। इसको सर्वप्रथम **फेरल** नामक विद्वान् ने ज्ञात किया था। अतः इसे **फेरल का नियम** कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी के घूर्णन पर ही फेरल का नियम लागू होता है।

भू-परिक्रमण
(Revolution of the Earth)

सूर्य के चारों ओर एक वर्ष में अपने कक्ष पर पृथ्वी घूम आती है। इसको परिक्रमण (revolution) कहते हैं। पृथ्वी अपने अण्डाकार मार्ग पर, जिसे ग्रह-पथ कहते हैं, सूर्य के चारों ओर 365 दिन 5 घण्टे 48$\frac{3}{4}$ मिनट में एक बार परिक्रमण पूरा करती है। इस अवधि को, जिसमें पृथ्वी सूर्य का एक बार परिक्रमण करती है, एक वर्ष कहते हैं। सुविधा के लिए वर्ष 365 दिन का मान लिया गया है। परन्तु वर्ष के लगभग 6 घण्टे के अन्तर को दूर करने के लिए चार वर्ष के पश्चात वर्ष में एक दिन और जोड़ देते हैं और इस प्रकार चार वर्ष के पश्चात् 366 दिन का वर्ष हुआ करता
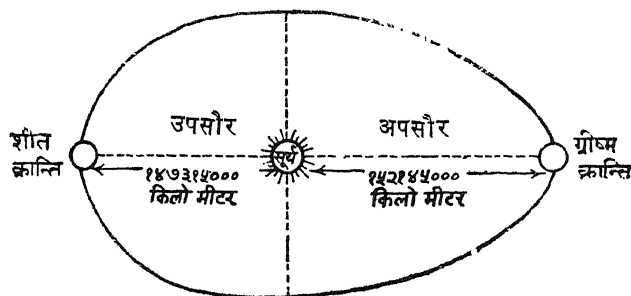
चित्र 35—पृथ्वी की अवस्थाएँ

है। 366 दिन के होने वाले वर्ष को **लीप-वर्ष** (Leap Year) कहते हैं। प्रत्येक लीप वर्ष की फरवरी 29 दिन की हुआ करती है, जबकि साधारण वर्ष की फरवरी 28 दिन की मानी गयी है। पृथ्वी अपने अण्डाकार मार्ग पर परिक्रमण करते समय कभी सूर्य के निकट आ जाती है और कभी उससे दूर हो जाती है। जब पृथ्वी सूर्य के निकट रहती है तो उस अवस्था को **उपसौर** (perihelion) कहते हैं और सूर्य से दूर रहने की अवस्था को **अपसौर** (aphelion) कहते हैं। प्रथम अवस्था में सूर्य से पृथ्वी की दूरी 14,73,15,000 किलोमीटर होती है, जबकि द्वितीय अवस्था में पृथ्वी की सूर्य से दूरी 15,21,45,000 किलोमीटय होती है। पृथ्वी की घूर्णन गति उपसौर अवस्था में अपसौर की अपेक्षा अधिक होती है।

Perihelion—ग्रीक शब्द Peri=निकट+helios=सूर्य
aphelion —ग्रीक शब्द ap=दूर+helios=सूर्य

सौर-परिवार का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण पृथ्वी के परिक्रमण से पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप समस्त ग्रह एवं उपग्रह अतीत से निश्चित मार्ग पर परिक्रमण करते चले आ रहे हैं।

पृथ्वी की वार्षिक गति के प्रभाव

(1) दिन और रात का छोटा-बड़ा होना पृथ्वी की गति पर निर्भर करता है, क्योंकि पृथ्वी अपने अक्ष पर झुकी हुई है और घूर्णन करते समय प्रत्येक स्थिति में एक ही दिशा में झुकी रहती है जिसके फलस्वरूप पृथ्वी का कभी उत्तरी ध्रुव सूर्य के सामने पड़ता है तो कभी दक्षिणी ध्रुव। जिस समय उत्तरी ध्रुव सूर्य के सामने रहता है उस समय उत्तरी गोलार्द्ध में दिन बड़ा तथा रात छोटी होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दिन छोटा और रात बड़ी होती है।

यदि पृथ्वी झुकी हुई रहती और सूर्य की परिक्रमा न करती, तो सूर्य के सामने वाले एक ही गोलार्द्ध में सदैव दिन बड़ा और रात छोटी होती तथा दूसरे गोलार्द्ध में
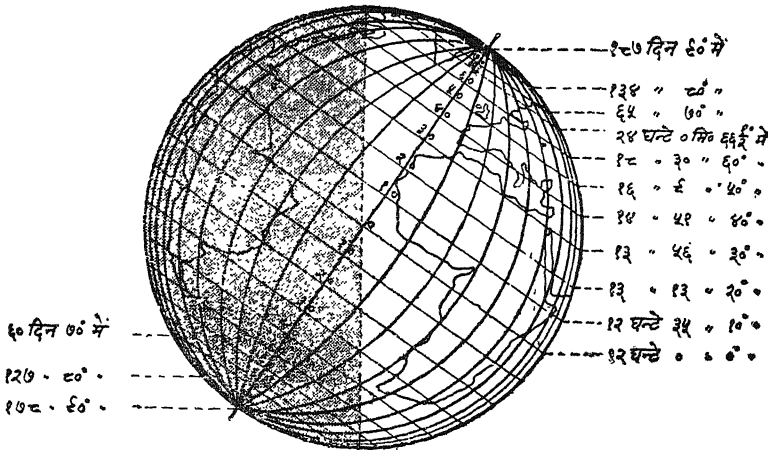
चित्र 36—अक्षांश तथा दिन की लम्बाई

ठीक इसके विपरीत दशा होती। यदि पृथ्वी झुकी न रहती और सूर्य की परिक्रमा करती, तो पृथ्वी के प्रत्येक भाग में दिन और रात बराबर हुआ करते। परन्तु ऐसा नहीं है। पृथ्वी $23\frac{1}{2}°$ नत-दशा में सूर्य की परिक्रमा करती है जो दिन-रात के छोटे-बड़े होने का कारण है। अत: यह सदा याद रखना चाहिए कि पृथ्वी की दैनिक गति के कारण तो दिन-रात होते हैं; परन्तु दिन-रात छोटे-बड़े पृथ्वी की वार्षिक गति के कारण से ही होते हैं।

(2) पृथ्वी के परिक्रमण के कारण कर्क और मकर रेखाओं की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ करता है। परन्तु इनकी स्थिति में परिवर्तन का कारण परिक्रमण के साथ पृथ्वी का झुकाव भी है। पृथ्वी के अक्ष के $23\frac{1}{2}°$ झुके रहने के कारण परिक्रमण

के साथ सूर्य की सीधी किरणें भूमध्य रेखा से उत्तर और दक्षिण $23\frac{1}{2}°$ अक्षांश तक वर्ष में दो बार लम्बवत् पड़ती हैं। परन्तु $23\frac{1}{2}°$ अक्षांश उत्तरी तथा दक्षिणी पर केवल एक ही बार सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं। पृथ्वी पर उत्तरी गोलार्द्ध में सूर्य की लम्बवत् किरणों की अन्तिम सीमा को **कर्क रेखा** तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में सूर्य की लम्बवत् किरणों की अन्तिम सीमा को **मकर रेखा** कहते हैं।

(3) पृथ्वी के धरातल पर तापान्तर का कारण भी पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर परिक्रमण ही है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पृथ्वी के परिक्रमण के फलस्वरूप दिन और रात छोटे-बड़े हुआ करते हैं और जिस भाग में दिन बड़ा और रात छोटी होगी वहाँ दिन छोटे तथा रात बड़ी होने वाले भागों की अपेक्षा सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं और लम्बवत् किरणें धरातल को अधिक तप्त करती हैं, अतः दिन बड़े और रातें छोटी होने वाले भागों में छोटे दिन तथा बड़ी रातें होने वाले भागों की अपेक्षा गरमी अधिक पड़ती है। इस प्रकार पृथ्वी के परिक्रमण के कारण पृथ्वी के धरातल पर विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न तापमान रहता है।
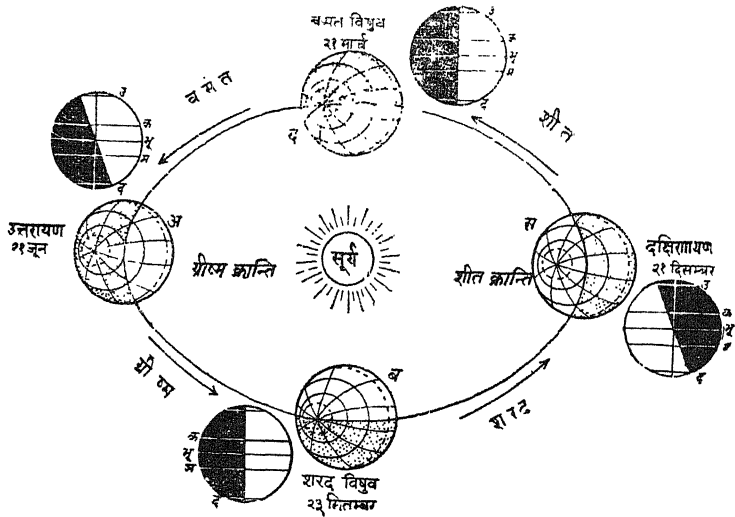
चित्र 37—पृथ्वी की वार्षिक गति और ऋतु-परिवर्तन

(4) पृथ्वी के परिक्रमण के फलस्वरूप पृथ्वी पर सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम ऋतु-परिवर्तन होता है। ऊपर बताया जा चुका है कि पृथ्वी के परिक्रमण के कारण दिन-रात छोटे-बड़े होते हैं, स्थानों की ऊष्मा में अन्तर आ जाता है तथा कर्क और मकर रेखाओं की स्थिति में परिवर्तन हो जाता है। इन तीनों परिणामों का सामूहिक प्रभाव ऋतु-परिवर्तन का कारण होता है। जब दिन बड़े तथा रातें छोटी होने लगती हैं तो धरातल पर गरमी अधिक पड़ती है। इस अवस्था को **ग्रीष्म ऋतु** कहते हैं।

उत्तरी गोलार्द्ध में 21 जून को सूर्य की लम्बवत् किरणें अन्तिम सीमा पार कर कर्क रेखा पर पड़ती हैं। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में दिन बड़ा, रात छोटी और ऊष्मा अधिक रहती है। अतः यहाँ ग्रीष्म ऋतु रहती है। इसे **ग्रीष्म-संक्रान्ति** (Summer Solstice) कहते हैं। इससे विपरीत जब दिन छोटे तथा रातें बड़ी होती हैं तो धरातल पर ऊष्मा कम होती है। इस अवस्था को **शीत ऋतु** कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में 21 जून के ठीक 6 माह बाद 23 दिसम्बर को जब सूर्य की लम्बवत् किरणें मकर रेखा पर पड़ने लगती हैं तो यह स्थिति आती है। इस स्थिति को **शीत-संक्रान्ति** (Winter Solstice) कहते हैं। 21 मार्च और 23 सितम्बर को सूर्य की लम्बवत् किरणें भूमध्य रेखा पर पड़ती हैं और ये किरणें दोनों ध्रुवों तक पहुँचती हैं। इस समय प्रत्येक अक्षांश का आधा भाग प्रकाश में रहता है जिससे समस्त
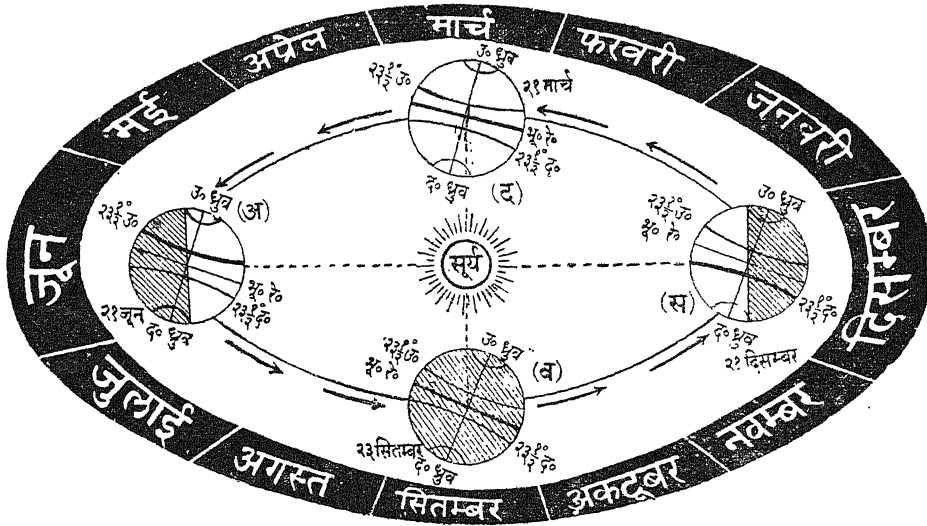
चित्र 33—पृथ्वी की मासिक स्थिति

भूमण्डल पर दिन-रात बराबर होते हैं। यह स्थिति **विषुव** (Equinox) कहलाती है। 23 सितम्बर को जब सूर्य की लम्बवत् किरणें कर्क रेखा से लौटकर भूमध्य रेखा पर आती हैं तो वह स्थिति **शरद-विषुव** (Autumn Equinox) कहलाती है। 21 मार्च को सूर्य की भूमध्य रेखा पर लम्बवत् स्थिति **बसन्त-विषुव** (Spring Equinox) कहलाती है। पृथ्वी के परिक्रमण तथा इसके अक्ष के झुकाव के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध

Solstice (लैटिन शब्द), Sol=सूर्य, Stone (Stand) स्थिति

Eouinox (लैटिन शब्द), Acquus=बराबर, nox=रात्रि

में स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है। जब 21 जून को उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म-संक्रान्ति होती है तो उसी समय दक्षिणी गोलार्द्ध में 23 दिसम्बर को शीत-संक्रान्ति रहती है।

(5) परिक्रमण तथा अक्ष के झुकाव के सामूहिक प्रभाव से ध्रुवों पर 6 माह के दिन तथा 6 माह की रातें होती हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि एक गोलार्द्ध में सूर्य की लम्बवत् किरणें 6 माह तक रहती हैं। इस अवधि में उस गोलार्द्ध का ध्रुव लगातार सूर्य के सामने पड़ता है, अतः उस ध्रुव पर प्रकाश लगातार 6 माह तक रहता है और वहाँ दिन होता है। इसके विपरीत, दूसरे गोलार्द्ध का ध्रुव उन दिनों लगातार सूर्य की रोशनी से परे रहता है और वहाँ रात्रि होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में 21 मार्च से 23 सितम्बर तक जब सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तब उत्तरी ध्रुव सूर्य के सामने रहता है। यह समय 6 माह का होता है और इसमें उत्तरी ध्रुव पर लगातार दिन रहता है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव प्रकाश से परे रहता है और वहाँ अन्धकार रहता है, अर्थात् वहाँ 6 माह की रात्रि होती है। इसके बाद 23 सितम्बर से 21 मार्च तक सूर्य की लम्बवत् किरणें दक्षिणी गोलार्द्ध में पड़ने लगती हैं और दक्षिणी ध्रुव सूर्य के सामने आ जाता है। अतः दक्षिणी ध्रुव पर 6 माह का दिन और उत्तरी ध्रुव पर 6 माह की लगातार रात्रि होती है। गोलार्द्ध के ग्रीष्म काल में उसके उन भागों में भी सूर्य दिखायी पड़ जाता है जो परिभ्रमण के कारण ही सूर्य के प्रकाश से परे रहते हैं, क्योंकि सूर्य क्षितिज से बहुत कम नीचे रहता है। ऐसे ध्रुवीय वृत्तों में स्थित स्थानों में दिखायी देते हुए सूर्य को **अर्द्ध-रात्रि का सूर्य** (Midnight Sun) कहते हैं।
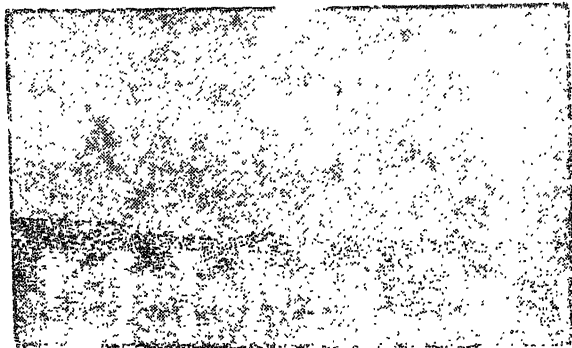
चित्र 39—नार्वे में अर्द्ध-रात्रि के सूर्य का दृश्य

पृथ्वी की गति और मानव-जीवन

ऋतुओं के अनुसार ही मानव-जीवन संयमित करना पड़ता है। मरुस्थल तथा घास के प्रदेश में ऋतुओं के अनुसार ही पानी तथा घास की उपलब्धि रहती है और उसके अनुसार ही वहाँ के निवासियों को अपने घूमने-फिरने तथा अन्य कार्यों को व्यवस्थित करना पड़ता है। रूस के लैप्स ग्रीष्म ऋतु में समुद्री तट के पास बर्फ पर डेरा डालते हैं और शीत ऋतु में वनों में छिपे रहते हैं। स्विटजरलैण्ड के चरवाहे शीत ऋतु का आगमन होते ही पर्वतों से नीचे उतर आते हैं और ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे हरे-

भरे ढालों पर चढ़ जाते हैं। यह प्रवास (migration) ऋतु-परिवर्तन पर आधारित होता है। अमरीकी भूगोलवेत्ता हटिंगटन के अनुसार, "मनुष्य की कोई भी आर्थिक क्रिया ऐसी नहीं जिस पर ऋतुओं का प्रभाव न पड़ता हो। यदि ऋतुएँ न होतीं तो मानव जाति कभी सभ्य न हो पाती।"

ऋतुओं पर ही जानवरों का विकास निर्भर करता है। समुद्र में ऋतु-परिवर्तन न होने के कारण यहाँ के जानवर निम्न-बुद्धिवर्ग के होते हैं और स्थलीय भागों के जीव-जन्तु ऋतु-परिवर्तन के कारण उच्च-बुद्धिवर्ग के होते हैं। इस प्रकार ऋतु-परिवर्तन का प्रभाव मानव की समस्त आर्थिक क्रियाओं पर पड़ता है।

प्रश्न

1. What are the two movements of the earth ? What effects do these movements have on the life of people on earth ?
   पृथ्वी की दो कौनसी गतियाँ हैं ? इन गतियों का मानव-जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
2. Account for the variation in the length of day and night in the course of a year.
   एक वर्ष की अवधि में दिन-रात के छोटा-बड़ा होने के कारणों का उल्लेख कीजिए।

पृथ्वी के भीतरी भाग का तापमान औसतन प्रति किलोमीटर 30° सेग्रे के हिसाब से बढ़ता जाता है जो पृथ्वी के भीतरी भाग के बहुत अधिक तापमान 1,77,000° सेण्टीग्रेड का सूचक है। इतने अधिक तापमान पर किसी भी ज्वालामुखी में खनिज ठोस रूप से नहीं टिक सकता है। द्रवित शैलों का उद्भेदन भी भीतरी भाग के अधिक तापमान को सिद्ध करता है जिससे यह भी ज्ञात होता है कि केन्द्रीय भाग द्रव-पदार्थ का बना है और उसके चारों ओर एक ठोस पदार्थ की पतली पपड़ी है। परन्तु दबाव के प्रभाव से यह दशा नहीं रहने पाती। ज्ञात हुआ है कि 1½ किलोमीटर की गहराई पर एक वर्ग मीटर पर 5,000 मीटरी टन का दाब होता है। इस प्रकार पृथ्वी का केन्द्रीय भाग प्रति वर्ग मीटर 222 लाख मीटरी टन भार प्राप्त करता है। उष्णता से किसी पदार्थ का आयतन बढ़ता है और भार घटता है। इस प्रकार दो विरोधी साधनों के कारण पृथ्वी के अन्दर के पदार्थ तरल न होकर लचीले होंगे, क्योंकि शैलों एवं धातुओं को पिघलाने वाले बहुत ऊँचे तापमान पर दबाव का प्रभाव गलनांक (melting point) को ऊँचा कर देता है और अधिक तापमान होने पर भी शैलों एवं धातुओं को ठोस के रूप में कायम रखता है। 19वीं शताब्दी के अन्त में यह माना गया कि दबाव के प्रभाव से पृथ्वी का केन्द्रीय भाग ठोस है, ऊपरी पपड़ा ठण्डा होकर ठोस है तथा उसके बीच में द्रव का भाग है जिससे द्रव-लावा ज्वालामुखी के उद्भेदन के साथ धरातल पर आता है। परन्तु अब प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि दबाव के प्रभाव में भी बढ़ते हुए तापमान पर कोई पदार्थ ठोस या द्रव की दशा में नहीं रह सकता है। अतः पृथ्वी का आन्तरिक भाग अवश्य ही गैस की दशा में होगा।

पृथ्वी के आभ्यन्तर के विषय में निम्न चार विचारधाराएँ हैं :

(1) ठोस आन्तरतम (Solid Core),
(2) तरल आन्तरतम (Liquid Core),
(3) गैसीय आन्तरतम (Gaseous Core),
(4) आन्तरिक भाग तथा पर्पटी ठोस, किन्तु मध्य भाग तरल।

ठोस आन्तरतम

जर्मन भूगर्भशास्त्री **सुइस** ने इस धारणा को प्रस्तुत किया कि दबाव बढ़ जाने से प्रत्येक पदार्थ का गलनांक बढ़ जाता है; किन्तु प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि यह एक सीमा तक ही सम्भव है। ऊँचे तापमान में कोई भी खनिज पदार्थ ठोस नहीं रह सकता है। ज्वालामुखी के विस्फोट, आग्नेय शैलें और गरम स्रोत इसका समर्थन करते हैं। ब्रिटिश विद्वान् **पिट** तथा जर्मन भूगोलवेत्ता **रिटर** ने इस विचार का प्रतिपादन किया। किन्तु इसके विपक्ष में कहा गया है कि ज्वार-भाटे के समय पृथ्वी का गोलाकार पिण्ड एक ठोस पिण्ड का कार्य करता है और भूकम्प तरंगें बहुत गहराई तक पहुँच जाती हैं, जो ठोस गोलाकार पिण्ड में ही सम्भव हो सकता

है। अन्य नक्षत्र भी पृथ्वी की तरह ठोस मिलते हैं। सन् 1936 में **लेटमान** महोदय ने भूकम्प-विज्ञान सम्बन्धी प्रमाणों से सिद्ध किया कि पृथ्वी का केन्द्र ठोस हो सकता है।

तरल आन्तरतम

वैज्ञानिक **लाप्लास** द्वारा प्रतिपादित तरल आन्तरतम परिकल्पना के पक्ष में ज्वालामुखी का उद्भेदन तथा भूकम्प तरंगों की रुकावट की घटना प्रस्तुत की जाती है। **वीचर्ट** महोदय ने सन् 1890 में तरल आन्तरतम की परिकल्पना को प्रस्तुत किया जिसको सन् 1906 में भूवैज्ञानिक **ओल्डम** ने सिद्ध किया। किन्तु इसके विरुद्ध निम्न प्रमाण भी मिलते हैं :

(1) सागर में ज्वार-भाटा उत्पन्न करने के लिए जल-मण्डल के नीचे 400 किलोमीटर मोटाई का ठोस गोलाकार पिण्ड होना चाहिए। तरल आन्तरतम पर सारी शक्तियों के प्रभाव से पृथ्वी की तहें दो बार मुड़ जाती हैं। यदि पृथ्वी का आन्तरतम तरल होता तो पृथ्वी के धरातल पर ज्वार उठते, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है।

(2) ऊपर की ठोस तह इतने युगों में ठोस और घनी हो जाती। भौगोलिक युगों में मोटी तह हो जाने पर ज्वालामुखी के विस्फोटों में लगातार कमी होती चली जाती, परन्तु ऐसा नहीं है।

(3) एक ठोस तह तरल आन्तरतम पर रखी नहीं रह सकती है। जैसे ही वह ठोस होगी, तह की शैल अधिक गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे बैठ जायगी। इस दशा में पृथ्वी के तरल आन्तरतम की कल्पना का त्याग करना पड़ा।

स्वीडन के वैज्ञानिक **अरीनिउस** ने यह कल्पना की थी कि पृथ्वी धातुओं से बनी है और इसके अत्यन्त गहरे भाग में भारी धातुएँ भरी हुई हैं। इसका ऊपरी भाग ठोस है, बीच में द्रव-पदार्थ है और सबसे नीचे का भाग गैसीय अवस्था में है। किन्तु इस कथन को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ हैं :

(1) ज्वार के समय समस्त पृथ्वी-पिण्ड एक ठोस पिण्ड की भाँति कार्य करता है।

(2) भूकम्प की तरंगें काफी गहराई तक उसी प्रकार चली जाती हैं जैसे वे एक ठोस पिण्ड में जा सकती हैं।

गैसीय आन्तरतम

भूपटल की शैलों तथा पृथ्वी के घनत्व के आधार पर **न्यूटन** ने निर्धारित किया था कि आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के अनुपात में कम होती है। इस नियम के अनुसार, सम्पूर्ण पृथ्वी का औसत घनत्व 5·5 है, पर्पटी का 2·7 है तथा केन्द्रीय भाग का 8 है। इससे निष्कर्ष

निकलता है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग बहुत भारी पदार्थों से बना है। पृथ्वी के गोले की परिदृढ़ता, पृथ्वी का चुम्बकत्व, उल्काओं में लोहे तथा निकिल के यौगिकों का महत्त्वपूर्ण अंश भी इसी तथ्य के समर्थन में आते हैं। अत: लाप्लास द्वारा प्रस्तुत गैसीय आन्तरतम की धारणा अव्यावहारिक प्रतीत होती है।

सुइस के विचार
(Theory of Suess)

पृथ्वी की बाह्य शैलों का रवेदार भाग मुख्यत: सिलिका से बना है जिसमें फेलसपार (felspar), अभ्रक (mica) इत्यादि खनिज हैं। सिलिका से बनी हुई शैलों का घनत्व बहुत भिन्न होता है क्योंकि रवेदार शैलें दो प्रकार की होती हैं, जिसमें प्रथम हल्के सिलिका की शैलें तथा द्वितीय घने सिलिका की शैलें हैं। उपर्युक्त बातों से सुइस नामक जर्मन वैज्ञानिक के विचार की पुष्टि होती है कि अवसादी शैलों के नीचे साधारण ग्रेनाइट तुल्य पदार्थों की एक तह है जिसे हम सिएल[1] (sial) कहते हैं। इसमें सिलिका तथा ऐलुमिनियम की प्रधानता होती है। इसका घनत्व 2·7 से 2·9 होता है। इससे अधिकतर महाद्वीपों का निर्माण होता है। इसके नीचे अधिक घनत्व का पदार्थ होता है जिसमें सिलिका तथा मैगनीशियम की अधिकता होती है और इसको हम सिमै[1] (sima) कहते हैं। इसकी तुलना में भारी मूल आग्नेय शैलें ही रखी जा सकती हैं। सिमै की प्रतिनिधि शैलें बेसाल्ट (basalt) तथा गेब्रो (gabro) हैं। इसका घनत्व 2·9 से 4·75 के बीच है। इसकी परत अधिकतर महासागरों का निर्माण करती है। परत महाद्वीपों के नीचे भी स्थित हैं। पृथ्वी का केन्द्रीय भाग लोहा एवं निकिल का बना हुआ है और इसको निफे (nife) कहते हैं।
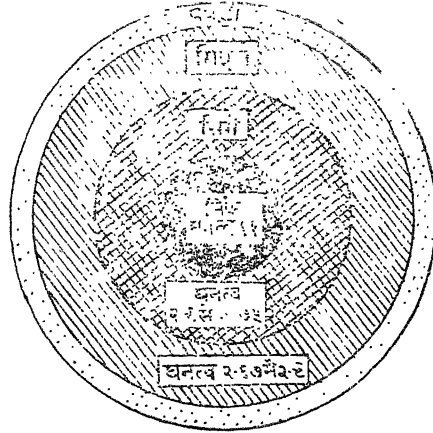
चित्र 40—पृथ्वी की परतों का रासायनिक संगठन (प्रो० सुइस के अनुसार)

सुइस ने सिमै के पश्चात् पृथ्वी के केन्द्रीय भाग को निफे (nife) नाम दिया है। इसकी शैलों का घनत्व 8 से 11 है जिसमें लोहा तथा निकिल की प्रधानता है।

---

[1] सिएल (sial) शब्द सिलिका तथा ऐलुमिनियम के प्रथम दो-दो अक्षरों के और सिमै (sima), सिलिका तथा मैगनीशियम के प्रथम दो-दो अक्षरों के संयोग का सूचक है।

सुइस के मतानुसार महाद्वीप सिएल-निर्मित है और महाद्वीपों का निचला भाग तथा महासागरीय तल सिमै के बने हुए हैं।

जेफरी के सिद्धान्त तथा भूकम्प तरंगें
(Theory of Jeffreys and Seismic Waves)

कुछ वैज्ञानिकों ने भूकम्प-तरंगों के अध्ययन से भी पृथ्वी की आन्तरिक रचना का अनुमान लगाया है। ये तरंगें मुलायम शैलों की अपेक्षा ठोस शैलों में तीव्रता से गुजरती हैं। कम घनत्व की शैलों में ये तरंगें धीरे-धीरे समान गति से गुजरती हैं, परन्तु आन्तरिक भाग की ओर (2,900 किलोमीटर की गहराई तक) इनकी गति तीव्रतर हो जाती है जबकि इससे अधिक गहराई पर तरंगों की गति एकसी रहती है। इस प्रकार तीन वर्ग की तरंगों की तीन विभिन्न भूगर्भीय गतियों के आधार पर शैलों की तीन परतें ज्ञात होती हैं : ऊपरी, मध्यवर्ती तथा अधःस्तर। ऊपरी तह में ग्रेनाइट का गुण अधिक है जिसमें अवसादी, कायान्तरित तथा आग्नेय शैलें सम्मिलित हैं। इसकी मोटाई 15 किलोमीटर मानी जाती है।
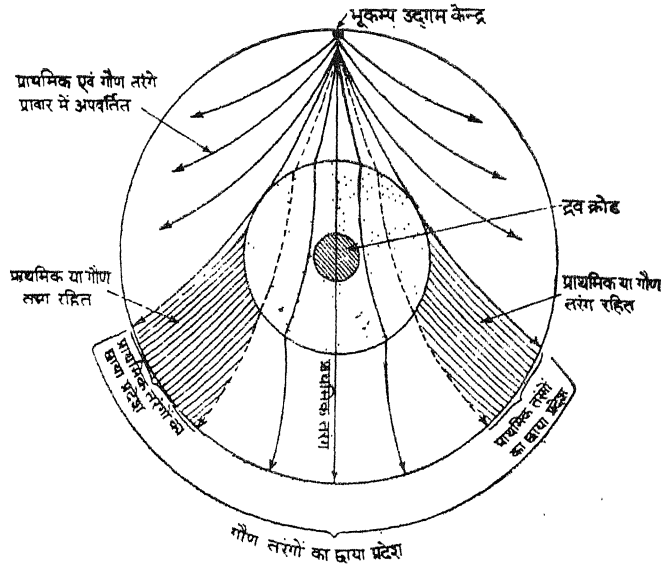
चित्र 41—भूगर्भ की झांकी

यह कम घनत्व का स्तर है। इसका घनत्व 2·7 है। इसकी तरंगें Pg कहलाती हैं जिनकी गति 5·4 किमी प्रति सेकण्ड होती है। दूसरी तरंगें Sg कहलाती हैं जिनकी गति 3·3 किमी प्रति सेकण्ड होती है। यह गति 15 किमी की गहराई तक पाई जाती है। महासागरों में ग्रेनाइट शैल का स्तर नहीं मिलता है।

मध्यवर्ती तह में बेसाल्ट की प्रधानता है जो 20 से 30 किमी गहरी है। यह पिघलती हुई दशा में एक निश्चित रासायनिक बनावट में है जो दबाव व भौतिक दशा के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न खनिज के मिश्रण से रवेदार हो सकती है या ठोस की दशा में बदलते समय रवा नहीं बन सकता है, बल्कि द्रव ही रहता है।

इस स्तर में प्रधान तरंगों की गति 6 किमी तथा गौण तरंगों की गति 4 किमी प्रति सेकण्ड होती है। इसमें महासागरों के अवसाद बेसाल्ट पर आधारित रहते हैं। बेसाल्ट की परत लगभग 5 किमी मोटी होती है।

बेसाल्ट की परत के नीचे प्रावार-शैल (mantle rock) की परत 2,900 किमी गहराई तक मिलती है। प्रावार शैल तथा भूपृष्ठ के मध्य एक सीमा का निर्धारण सन् 1909 में भूवैज्ञानिक **मोहोरो विसिस** महोदय ने किया। **मोहोरो विसिस** महोदय ने 35 किमी पर इस पेटी में भूकम्प तरंगों में एक परिवर्तन या असांतत्य पाया। इसको **मोहो** संज्ञा प्रदान की गई। इसका घनत्व 3·5 है। प्रावार-शैल की पेटी के निचले भाग का घनत्व 5 7 है।

अध: स्तर में प्रावार-शैल की परत से 5,100 किमी तक बाह्य भू-क्रोड़ मिलता है। इसके निचले भाग का घनत्व 14·2 है। इसके पश्चात् पृथ्वी के केन्द्र 6,370 किमी तक आन्तरिक भू-क्रोड़ मिलता है जिसका घनत्व 17·2 है। इन स्तरों में घनत्व की अधिकता से तरंगें दुर्बल हो जाती हैं। प्रथम तरंगों की गति वक्र हो जाती है। प्रावार-शैल की परत से पृथ्वी के केन्द्र तक लोहा एवं निकिल की प्रमुखता मिलती है। यह भाग लचीला, मुलायम किन्तु दृढ़ प्रतीत होता है।
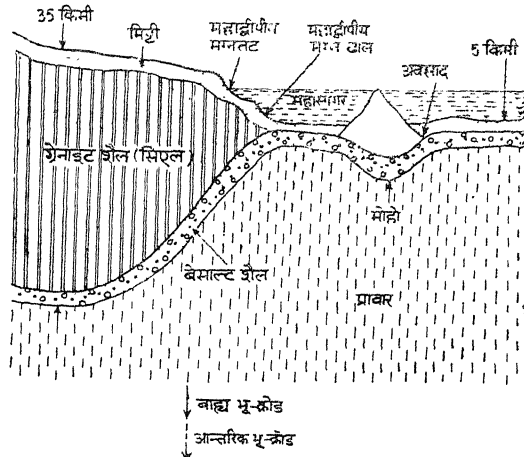
चित्र 42—पृथ्वी की सामान्य परतें (भूकम्प तरंगों के आधार पर)

अमरीकी भूविज्ञानी **डैली** तथा स्काटिश गणितज्ञ **जेफरी** इस भाग को बेसाल्ट ग्लास या टैचीलाइट का बना हुआ ही मानते हैं, जबकि **वेगनर** और **होम्स** इसे एम्फीबोलाइट (amphibolite) का बना मानते हैं, किन्तु, अध:स्तर भाग अवश्य ही बेसाल्ट से घने पदार्थों से बना हुआ माना जाता है जिसमें ओलिविन (olivine) तथा खनिज की अधिकता है और ये पदार्थ रव-सहित चमकदार दशा में हैं। इसको डुनाइट (dunite) द्वारा सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार भूकम्पी तरंगों के अध्ययन से पृथ्वी की आन्तरिक संरचना की जानकारी में भारी सहायता मिल सकी है।

पृथ्वी की परतें

भूकम्प की लहरों के आधार पर पृथ्वी की तीन परतें भी ज्ञात होती हैं :

(1) **स्थल-मण्डल** (Lithosphere)—इसकी मोटाई पृथ्वी के धरातल से 100 किमी की गहराई तक मानी जाती है। यह हल्की जलज शैलों द्वारा निर्मित है। इसमें ग्रेनाइट शैलों की प्रधानता है जिसमें सिलिका तथा ऐलुमिनियम धातुओं की प्रधानता है। इसमें भूकम्प की प्रधान तरंगों की चाल $5\frac{1}{2}$ किमी प्रति सेकण्ड और तिरछी तरंगों की 3 किमी प्रति सेकण्ड होती है। इसकी शैलों का घनत्व 2·7 है।

(2) **उत्ताप मण्डल** (Pyrosphere)—यह भूगर्भ का मध्यवर्ती भाग है जो 100 किमी से 2,900 किमी गहराई तक माना जाता है। इन शैलों में सिलिका तथा मैगनीशियम की अधिकता है। इसमें प्रधान तरंगें 6 से 7 किमी प्रति सेकण्ड और तिर्यक तरंगें 3 से 4 किमी प्रति सेकण्ड चलती हैं। बेसाल्ट शैलों के इस प्रदेश का घनत्व 3·5 है।

(3) **गुरु या केन्द्र-मण्डल** (Barysphere)—यह भाग 2,900 किमी गहराई से पृथ्वी के केन्द्र तक पड़ता है। यह पृथ्वी का एक तिहाई भाग है। इसका घनत्व 8 से 11 है। इस भाग में लोहा या निकिल की प्रमुखता है। इसमें तिरछी तरंगें प्रवेश नहीं कर पातीं और द्रव में प्रवेश करते समय प्रधान तरंगों की गति में कमी आ जाती है। यह भाग लोचदार, मुलायम किन्तु दृढ़ प्रतीत होता है।
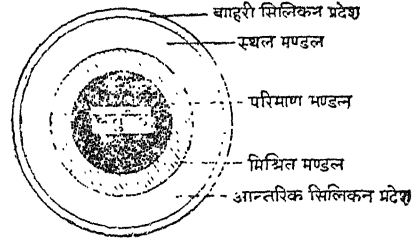
चित्र 43—पृथ्वी के विभिन्न मण्डल

वर्तमान अन्वेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग पूर्णतया द्रव-पदार्थ द्वारा निर्मित नहीं है, बल्कि सबसे नीचे केन्द्रीय भाग में 1,290 किमी अर्द्धव्यास का ठोस भाग है जिसका घनत्व 18 है। मध्य के द्रव-सिलिकेट द्वारा निर्मित द्रवक्षेत्र लगभग 2,250 किमी मोटा है।

उपर्युक्त कल्पना के समर्थन में विश्व-उत्पत्ति-शास्त्र (Cosmogony), भौतिक शास्त्र में शिलाओं की संपीड्यता का प्रायोगिक अध्ययन तथा उल्कापिण्ड विज्ञान (Science of Meteorites) प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

भूकम्पीय तरंगों के अध्ययन के आधार पर **जेफरी** महोदय ने पृथ्वी को तीन परतों में माना है :

(1) वाह्य या ऊपरी परत
(2) मध्यवर्ती परत
(3) निचली परत

जेफरी के मतानुसार अधिक घनत्व की शैलें निचली परत में और कम घनत्व की शैलें ऊपरी परत में मिलती हैं। ऊपरी परत में ग्रेनाइट, मध्यवर्ती परत में डिओराइट तथा निचली परत में बेसाल्ट की बहुलता रहती है। गोले का केन्द्र सबसे भारी धातुओं से निर्मित है।
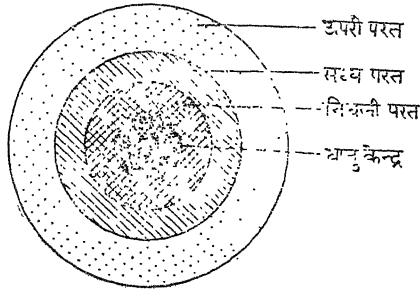
चित्र 44—जेफरी की परतें

सर आर्थर होम्स महोदय ने पृथ्वी को दो परतों में माना है। प्रथम परत भू-पृष्ठ से सम्बोधित की गई है। भू-पृष्ठ में सिएल (मिट्टी, ग्रेनाइट) तथा सिमै (बसाल्ट) परतें सम्मिलित हैं जिसकी मोटाई भी विभिन्न आधारों एवं प्रमाणों के आधार पर निर्धारित की गई है। दूसरी परत अधः स्तर कहलाती है जो बेसाल्ट से भी अधिक घनत्व के पदार्थों से निर्मित है। इसमें ओलिविन तथा खनिजों की अधिकता है।
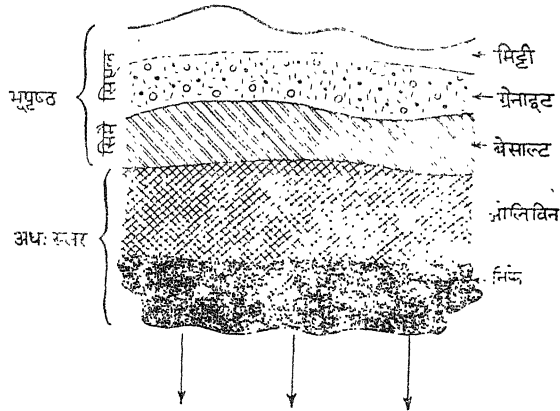
चित्र 45—आर्थर होम्स की परतें

गटेनवर्ग ने अपने प्रयासों द्वारा सन् 1951 में भूगर्भ को पाँच समानान्तर पेटियों में विभाजित किया है :

(1) **अवसादी परत** (Sedimentary Layer)—इसका विस्तार महाद्वीपों एवं महासागरों में अनियमित है। इसकी मोटाई भी भिन्न-भिन्न है।

(2) **ग्रेनाइट शैल परत** (Granite Rock Layer)—इसका विस्तार महाद्वीपों पर ही है। महासागरों में यह लेशमात्र प्राप्त होती है। अवसादी एवं ग्रेनाइट परत से भूपटल (earth crust) की रचना होती है। इन दोनों परतों की मोटाई 15 से 30 किमी है।

(3) **अल्पसिलिक शैल परत** (Basic Rock Layer)—यह परत भूपटल के

नीचे पाई जाती है। इसकी खोज **ए० मोहोरोविसिस** महोदय ने सन् 1909 में की थी। इसलिए इस परत को मोहो संज्ञा भी प्रदान की जाती है।

चित्र 46—पृथ्वी की परतें (गटेनवर्ग)

(4) **अत्यल्प सिलिक शैल परत** (Ultra-basic Rock Layer)—इसकी खोज **गटेनवर्ग** ने की थी। अतः इसको गटेनवर्ग परत भी कहते हैं। इसमें सिलिका शैलों की मात्रा गहराई के अनुसार क्रमशः कम होती जाती है। इसकी गहराई 2,900 किमी तक है।
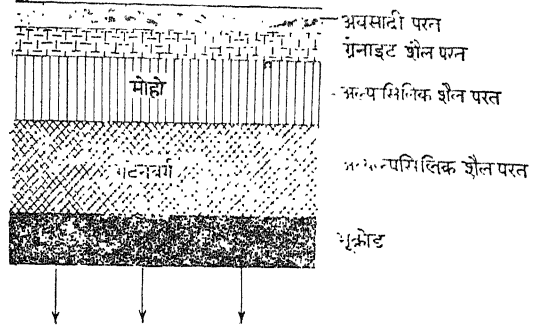
(5) **भू-क्रोड़** (Core)—भू-गर्भ के ऊपर की परतों के पश्चात् केन्द्र तक 3,470 किमी तक भू-क्रोड़ है। इस प्रकार धरातल से पृथ्वी का केन्द्र 6,370 किलोमीटर है।
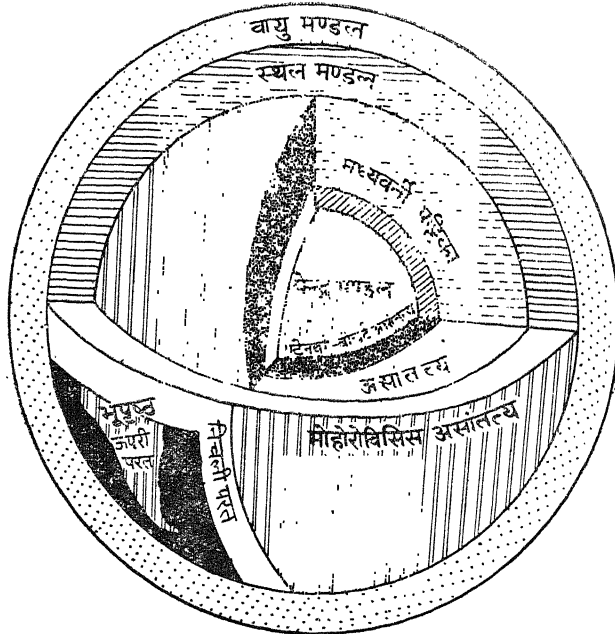
चित्र 47—पृथ्वी की सामान्य परतें (डैली)

आर० ए० डेली ने सन् 1940 ई० में भू-गर्भ को चार संकेन्द्रीय पेटियों में विभाजित किया :

(1) **स्थल मण्डल**—यह परत कठोर है और इसकी मोटाई लगभग 80 किलोमीटर है।

(2) **दुर्बलता मण्डल** (Asthenosphere)—यह परत न तो कठोर है और न दृढ़। इसकी मोटाई 360 किलोमीटर होती है।

(3) **मध्य मण्डल** (Mesosphere)—इसकी मोटाई 2,400 किलोमीटर है। यह परत दुर्बलता मण्डल की अपेक्षा कठोर है।

(4) **केन्द्र मण्डल** (Centrosphere)—शेष भाग केन्द्र मण्डल है इसका व्यास लगभग 3,538 किलोमीटर है। इसकी रासायनिक गठन दुर्बलता मण्डल तथा मध्य मण्डल के ही समान है। इसमें रवेदार शैलें अधिक घनत्व की हैं जिनमें दृढ़ता भी है।

हाब्स तथा **चेम्बरलिन** महोदयों ने भी पृथ्वी को परतों में विभक्त किया है :

हाब्स की परतें—

(1) अवसादी एवं आग्नेय शैलें
(2) उल्काश्म (Meteoric Stone)
(3) उल्का लोहा (Meteoric Iron)
(4) उल्का अश्म लोहा (Meteoric Stone Iron)

चित्र 48—हाब्स की परतें

चेम्बरलिन की परतें—

(1) बाह्य आग्नेय शैल
(2) ग्रहाणु पदार्थ (आग्नेय)
(3) ग्रहाणु पदार्थ
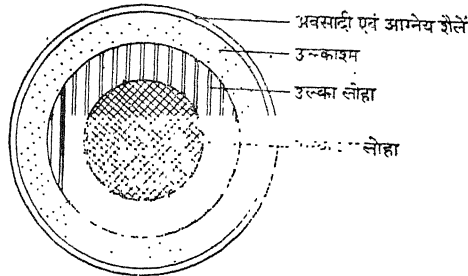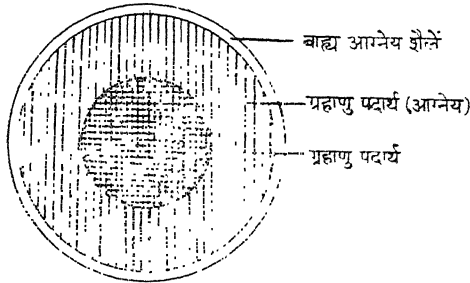
चित्र 49—चेम्बरलिन की परतें

बी० एम० गोल्डस्मिट ने पृथ्वी की आन्तरिक परतों का क्रम निम्न प्रकार बताया है :

(1) बाह्य परत की मोटाई 120 किलोमीटर तथा घनत्व 2·8 है।

(2) इसके बाद एक्लोजाइट खोल (Eclozite shell) 120 किलोमीटर से 1 हजार किलोमीटर गहराई तक है जिसका घनत्व 3·6 से 4 है।

(3) तत्पश्चात् सल्फाइड तथा ऑक्साइड की परत मिलती है जिसकी गहराई 1,700 किलोमीटर है और घनत्व 5 से 6 तक है।

(4) केन्द्र में लोहा निकिल की परत है जिसका घनत्व बहुत अधिक है।

उपर्युक्त कटिबन्धों के समकक्ष ही जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक वेन्डर ग्राक्ट ने पृथ्वी के अन्तराल के तत्वों को निम्नांकित भागों में विभक्त किया है :

कटिबन्ध	मोटाई	घनत्व
(1) बाहरी सिएल का पपड़ा या बाह्य सिलिकन प्रदेश	15 से 50 किलोमीटर	2·75 से 2·9
(2) भीतरी सिएल-पृष्ठ या आन्तरिक सिलिकन प्रदेश	50 से 675 किलोमीटर	3·1 से 4·75
(3) मिश्रित मण्डल	675 से 2,900 किलोमीटर	4·76 से 5·0
(4) धात्विक आन्तरतम भाग (Metallic Core)	2,900 किलोमीटर से भीतरी केन्द्र तक	11·0

तुलनात्मक विवरण—ग्राक्ट तथा जेफरी द्वारा प्रस्तावित पृथ्वी की परतों में लेशमात्र अन्तर प्रतीत होता है, अर्थात् केवल परतों की मोटाई में विशेष भिन्नता मिलती है। यदि ग्राक्ट द्वारा प्रस्तावित सिएल परत की मोटाई कम कर दी जाय तो वह जेफरी की ऊपरी परत के समान हो जायगी। जेफरी के मध्यम तथा निचली परत ग्राक्ट के सिलिकेट की भीतरी परतों के अनुरूप है। प्रोफेसर होम्स ने जेफरी की ऊपरी तथा मध्यम परत को भूपृष्ठ में सम्मिलित किया है। होम्स का अधःस्तर जेफरी की निचली परत है। इसके अधःस्तर में भूपृष्ठ की अपेक्षा अधिक उष्णता मौजूद रहती है। सभी वैज्ञानिकों ने केन्द्र में एक धातुपिण्ड सम्मिलित किया है।

प्रश्न

1. What do you know about the structure of the earth? How do Seismolgoic records provide the most powerful available means for exploring the earth's interior?

   (*Agra 1969*; *Nagpur 1969*; *Gorakhpur 1971*)

   पृथ्वी की रचना के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? भूगर्भ की व्याख्या के निमित्त भूकम्पलेखी गणनाएँ कैसे सर्व-शक्तिमान साधन होती हैं?

2. Discuss the formation of the earth's interior.

   (*Varanasi 1970*; *Sagar 1971*; *Rajasthan 1969*)

   भूगर्भ की रचना की व्याख्या कीजिए।

3. What are the characteristic features of the earth's interior? Explain in detail. (*Jodhpur 1971*; *Bihar 1968*)

   भूगर्भ के आन्तरिक भाग की क्या विशिष्टताएँ हैं? विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए।

6

सृष्टि का इतिहास

[A HISTORY OF THE EARTH]

पृथ्वी की उत्पत्ति दो अरब वर्ष पूर्व आँकी जाती है। इस अनुमान के लिए निश्चित आधार न होने के कारण विद्वानों में मतवैषम्य मिलता है। अब तक की विभिन्न गणनाओं के आधार शैलों की बनावट तथा जीवाश्म (fossils) हैं। भू-वैज्ञानिक कल्पों का आधार शैल-स्तर हैं। कुछ कल्पों का नाम स्थान विशेष के आधार पर रखा गया है जहाँ एक विशेष स्तर की खोज हो सकी थी। पृथ्वी की आयु के प्रथम डेढ़ अरब वर्ष का अनुमान तो निराधार है किन्तु अन्तिम पचास करोड़ वर्षों का अनुमान विभिन्न तथ्यों पर अवलम्बित है। सृष्टि के इतिहास को चार महाकल्पों तथा चौदह कल्पों में विभक्त किया जाता है।

महाकल्प

(1) उष: या आद्य महाकल्प (Eozoic or Archaean Era)

(2) पुराजीव महाकल्प या प्रथम महाकल्प (Palaeozoic[1] or Primary Era)

(3) मध्यजीव महाकल्प या द्वितीय महाकल्प (Mesozoic[2] or Secondary Era)

(4) नवजीव महाकल्प या तृतीय एवं चतुर्थ महाकल्प (Neozoic or Cenozoic[3] or Kainozoic Era)

---

[1] Palaios=प्राचीन+Zoe=जीवन (ग्रीक)

[2] Meso=मध्य +Zoe=जीवन (ग्रीक)

[3] Cene=नवीन +Zoe=जीवन

महाकल्प के कल्प एवं युग
(Period and Epoch)

(1) आद्य महाकल्प

(2) पुराजीव महाकल्प

(क) प्राचीन पुराजीव महाकल्प
- कैम्ब्रियन कल्प (Cambrian Period)
- आर्डोविसियन कल्प (Ordovician Period)
- प्रवाल कल्प (Silurian Period)

(ख) नवीन पुराजीव महाकल्प
- मत्स्य कल्प (Devonian Period)
- कोयला कल्प (Carboniferous Period)
- गिरि कल्प (Permian Period)

(3) मध्यजीव महाकल्प
- रक्ताश्म कल्प (Triassic Period)
- महासरट कल्प (Jurassic Period)
- खटी कल्प (Cretaceous Period)

(4) प्राचीन नवजीव कल्प या नवजीव महाकल्प/तृतीय कल्प (Tertiary Period)
- प्राचीनतम नूतन युग (Paleocene Epoch)
- आदिनूतन युग (Eocene Epoch)
- अल्पनूतन युग (Oligocene Epoch)
- मध्यनूतन युग (Miocene Epoch)
- अतिनूतन युग (Pliocene Epoch)

नवीन नवजीव कल्प या चतुर्थ कल्प (Quaternary Period)
- अत्यन्त नूतन युग (Pleistocene Epoch)
- अभिनव युग (Recent Epoch) या होलोसीन युग (Holocene Epoch)

आद्य महाकल्प

यह महाकल्प पृथ्वी की उत्पत्ति से डेढ़ अरब वर्ष तक माना जाता है। सृष्टि के इतिहास में यह सबसे प्राचीन ज्ञात महाकल्प है। इस महाकल्प की शैलें सबसे पुरानी हैं और पृथ्वी की आधारशिला हैं। ये पृथ्वी के आन्तरिक भाग में पड़ गयी हैं, अतः दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इन शैलों में जीवन के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इससे यह कल्पना की जाती है कि उस महाकल्प में जलवायु भयानक थी और भूकम्प तथा ज्वालामुखी के उद्भेदन से जीवन असम्भव था। इस महाकल्प में वायुमण्डलीय वाष्प का अधिकांश जल में परिणत होकर धरातल के आन्तरिक भाग में एकत्र हो गया जिससे सागरों की उत्पत्ति हुई। इस काल की प्रधान शैलें नाइस (gneiss) तथा ग्रेनाइट (granite) हैं। इन शैलों में सोना तथा लोहा उपलब्ध होता है। इस महाकल्प में पैन्जिया महाद्वीप चार खण्डों में विभक्त हो चुका था। इसमें छः भू-परिवर्तन हुए जिन्हें **ह्यूरोनियन भूकम्प** (Huronian earth movements) कहते हैं। इसमें जल सोख (स्पंज) और समुद्री वनस्पति का जीवाश्म है। अरावली तथा धारवाड़ की शैलें इसी महाकल्प की बनी हैं।

पुराजीव महाकल्प

यह महाकल्प डेढ़ अरब वर्ष में प्रारम्भ होकर 23 करोड़ वर्ष तक चलता है। इस महाकल्प में जीव तथा वनस्पतियों का प्रादुर्भाव हुआ। इसमें बिना रीढ़ की हड्डी वाले जानवरों के जीवाश्म पाये जाते हैं। इस महाकल्प के अन्तिम चरण में जलस्थल के वितरण तथा जलवायु सम्बन्धी भारी परिवर्तन हुए और नवीन पर्वतों का निर्माण तथा ज्वालामुखी का उद्भेदन हुआ। कोयला कल्प के अन्त में अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में हिम की अवस्था उपस्थित हो गयी और इस कल्प के समाप्त होते ही मरुस्थल की दशाएँ फैलने लगीं। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप जीवों की पुरानी जातियाँ नष्ट हो गयीं और पृथ्वी का रंगमंच नवीन एवं प्रगतिशील जातियों को जन्म देने के लिए प्रस्तुत हो गया।

इस महाकल्प की मुख्य शैलें शेल, स्लेट, कठोर बलुआ पत्थर और कठोर चूने का पत्थर हैं। इन शैलों में मूल्यवान खनिजों का भण्डार है।

केम्ब्रियन कल्प में समुद्र बन गये और स्थल-समूह पर समुद्र का प्रकोप हुआ। इसी कारण इस कल्प की शैलें अधिक विस्तृत हैं। इन शैलों में प्रथम तह चूने के पत्थर (limestone) की है। उसके ऊपर बलुआ पत्थर (sandstone) तथा शेल (shale) की परतें हैं और सबसे ऊपर चूने के पत्थर की पतली परत है। इन शैलों में प्रथम जीवन के अवशेष मिलते हैं। इस कल्प के जीवाश्म बहुत ही निम्न श्रेणी के बिना रीढ़ की हड्डी वाले जीवों के प्रतीत होते हैं। जीव तथा पौधे समुद्री भागों तक सीमित थे। इसकी शैलें वेलस, उत्तरी-पश्चिमी स्काटलैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमरीका में मिलती हैं। इसी शैल में विशाल प्रपाती खड्ड (grand canyon) बना है। इस कल्प का नाम वेलस के प्राचीन नाम कैम्ब्रिया पर पड़ा है जहाँ ये शैलें प्रारम्भ में प्राप्त हुई थीं।

आर्डोविसियन कल्प में सामुद्रिक प्रकोप बड़ा तथा स्थल-खण्ड का एक बड़ा भाग जल-मग्न हो गया। उत्तरी अमरीका का आधा भाग जल में डूब गया और इसके पूरबी भाग पर ज्वालामुखी की राख तथा धूल जम गयी। इस प्रकार के ज्वलामुखीय उद्भेदन से मध्य वेल्स ढक गया जिससे स्नोडान (snowdon) निर्मित है। जीव-जन्तुओं का अधिक विकास हुआ। समुद्र में उगने वाली घास प्रथम बार दिखायी दी। सभी जीवन समुद्री जल तक सीमित था। प्रथम रीढ़ वाले जीव का प्रादुर्भाव हुआ। इस कल्प की पर्वत-निर्माणकारी हलचलों से एपेलेशियन पर्वतमाला का निर्माण हुआ। इसमें अवसादी शैलों की रचना हुई। इस कल्प का नाम वेलस की एक आदिम जाति के नाम पर रखा गया है।

प्रवालादि कल्प में स्थल पर वनस्पति तथा समुद्रों में मछलियाँ पायी जाने लगीं। उच्च श्रेणी के बिना रीढ़ की हड्डी वाले जीव-जन्तु अधिक हो गये और श्वास लेने वाले जीव-जन्तुओं का उदय हुआ। इस कल्प में वनस्पति पत्तीहीन थी।

इस कल्प में सर्वप्रथम पर्वतों का निर्माण हुआ जो कैलिडोनियन भू-वलन (Caledonian earth-folding) के नाम से विख्यात है। इसके कारण स्केण्डिनेविया से लेकर ग्रीनलैण्ड तक प्रदेश में वलन उत्पन्न हुए। इनके उदाहरण स्केण्डिनेविया, उत्तरी इंगलैण्ड तथा स्विट्जरर्जन की पुरानी तथा कठोर पर्वत श्रेणियाँ हैं। लाल बलुआ पत्थर का बनना इसी कल्प में प्रारम्भ हुआ। प्रवालश्रेणियाँ बड़े पैमाने पर बढ़ीं। इस कल्प का नाम भी वेल्स की एक आदिम जाति के नाम पर है।

मत्स्य कल्प में कैलिडोनियन हलचलों के फलस्वरूप पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ तथा समुद्र-स्थल की ओर बढ़ा। इस कल्प के मुख्य जीव-जन्तु प्रधानतः जल में रहने वाले थे। इस कल्प की शैलों में मछलियों के अवशेष सब कल्पों की अपेक्षा अधिक मिलते हैं। इस कल्प का नाम इंगलैण्ड के डेवानशायर के नाम पर रखा गया है।

इस कल्प की सर्वप्रधान शैल उत्तर-पश्चिम यूरोप का प्राचीन लाल बलुआ पत्थर है, यद्यपि चूने के पत्थर और साधारण बलुआ पत्थर भी मिलते हैं।

इस कल्प में पृथ्वी हरी हो गयी। 10 मीटर से ऊँचे तक के पौधे मिलते थे।

कोयला कल्प में पृथ्वी में कोयले की परतें बनीं। इस काल में पृथ्वी की जलवायु अति गरम व तर थी, जिससे दलदल बन गये और वृक्षों की उत्पत्ति हुई। धरातल की उथल-पुथल तथा सामुद्रिक अपरदन के कारण वन पानी में डूब गये और कालान्तर में मिट्टी के निक्षेप में दब गये। यह क्रम जारी रहा। अन्त में ऊपरी दाब के कारण लकड़ी कोयले में रूपान्तरित हो गयी।

इस कल्प में आर्मोरिकन (Armorican) भू-परिवर्तन हुआ। समुद्रों में मिट्टी का निक्षेप तीव्र गति से हो रहा था और समुद्र उथले हो रहे थे, अतः कुछ जीव-जन्तुओं को स्थल भाग पर रहने का अभ्यास करना पड़ा। इसलिए इस कल्प में जल एवं थल दोनों पर रहने वाले जीव-जन्तु उत्पन्न हुए।

गिरि कल्प में पर्वत-निर्माणकारी हरसीनियन (Hercynian) भू-परिवर्तन हुए। इनके चिह्न पूरबी यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में दृष्टिगोचर होते हैं। गत कल्पों में जलमग्न स्थल भाग बाहर निकल आया और उत्तरी अमरीका सूखा स्थल हो गया।

इस कल्प में जल एवं थल पर रहने वाले जीव-जन्तु अधिक संख्या में उत्पन्न हुए तथा रेंगने वाले जीव-जन्तुओं का भी प्रादुर्भाव हुआ। स्थल पर जीवों की अधिकता हो गयी। इस कल्प के अन्त में पृथ्वी की जलवायु शुष्क हो गयी तथा तापमान में वृद्धि होने लगी। झीलों के सूखने से विश्व के पोटाश का प्रधान निक्षेप हुआ। पूरबी योरप के गर्म स्थान के नाम पर यह नामकरण किया गया है जहाँ ये शैल-स्तर हैं।

मध्यजीव महाकल्प

यह महाकल्प पुराजीव महाकल्प के पश्चात् सात करोड़ वर्ष पूर्व तक माना जाता है। यह वर्तमान तथा प्राचीन जीवन संगम का कार्य सम्पादित करता है।

जो रेंगने वाले जीव पुराजीव महाकल्प के अन्तिम चरण की शुष्कता से बच गये वे जल, स्थल एवं वायुमण्डल में फैल गये। इसमें फल वाले वृक्ष तथा चिड़ियाँ उत्पन्न हुईं। इसमें आर्कटिक महासागर की जलवायु उष्ण थी और अंगारा तथा गोंडवाना भू-भागों को अलग करने वाला टेथिस समुद्र था। धरती पर पदार्पण करने वाले सबसे विशाल, भयानक एवं विचित्र जानवर डिप्लोडोकस (Diplodocus) ने इसी महाकल्प में जन्म लिया। लम्बी ग्रीवा तथा पूँछ के कारण यह 28 मीटर लम्बा और 9 मीटर ऊँचा था और इसका भार 40 से 50 मीट्रिक टन था। यह जीव चल-फिर नहीं सकता था और बुद्धिहीन था; अतः अधिक समय तक जीवित न रह सका। इस महाकल्प को तीन छोटे-छोटे कल्पों में विभाजित किया गया है :

(1) रक्ताश्म कल्प, (2) महासरट कल्प, और (3) खटी कल्प।

रक्ताश्म कल्प जीवन की कठोरतम परीक्षा का काल हुआ क्योंकि गिरि कल्प के अन्तिम चरण में ही जलवायु शुष्क होने के कारण उष्णता बहुत बढ़ गयी जिससे अधिकांश जीवन समाप्त हो गया। इस कल्प में निम्न कोटि के स्तनपोषी जीवों का प्रादुर्भाव हुआ। इसको उरगों का कल्प भी कहा जाता है। इस काल में उत्तरी गोलार्द्ध के दलदल जब सूख रहे थे, दक्षिणी गोलार्द्ध हिमाच्छादित था। **वेगनर** के मतानुसार गोंडवाना महाद्वीप दक्षिणी ध्रुव के समीप स्थित था। इसी कारण इस पर हिमाच्छादन था। कालान्तर में छिन्न-भिन्न होकर इसके टुकड़े खिसक गये जो वर्तमान में दक्षिणी भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी तथा मध्य अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के ठोस स्थल भाग के रूप में विद्यमान हैं। धरातल के स्थल भाग में मरुस्थल तथा झाड़ी आच्छादित पर्वतों की अधिकता थी।

इस कल्प में भूमध्य सागर, आल्प्स तथा हिमालय के स्थान पर टेथिस सागर था और इसके उत्तर में एक नीचा मरुस्थल था जिसमें पुराना लाल पत्थर एकत्र था। इस युग में पृथ्वी की हलचल रही तथा भूकम्प आते रहे। इस कल्प के अन्त में जलवायु आर्द्रतर हो गयी।

महासरट कल्प में बड़े आकार के भयावने एवं कुरूप जानवरों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी। ये स्थल, जल तथा वायु किसी में रह सकते थे। ये प्रायः रेंगने वाले जीव-जन्तु थे। ये आकार में हाथी से भी विशाल थे। जल के उरगों में लम्बी गर्दन वाले प्लाओसारस (Pliosaurus) और विशाल आकार वाले इचथ्योसोरस प्रमुख थे। स्थल के उरगों में भयंकर डाइनोसारस (Dinosaurus) थे, जो निरामिष तथा बुद्धिहीन थे। उष्णता एवं शुष्कता की उत्तरोत्तर वृद्धि के फलस्वरूप इन दैत्याकार जीवों का शनैः शनैः लोप होने लगा। इस जाति के एकमात्र स्फैनोडर छिपकली न्यूजीलैण्ड में आज भी पायी जाती है। इस छिपकली के एक तीसरा नेत्र भी होता है। उड़ने वाले उरगों में टेरोडेक्टाइल मुख्य है। इस कल्प के एक पक्षी का भी जीवाश्म मिला है जिसमें पक्षी तथा उरग दोनों के शरीरांश मिलते हैं। भारत में राजमहल तथा सिलहट की पहाड़ियों की रचना भी इसी कल्प की घटना है।

पिछले कल्प की शुष्क जलवायु से अपरदित पर्वत आर्द्र जलवायु से अधिक नीचे हो गये। धरातल के अधिकांश में वन तथा दलदली भूमि थी।

खटी कल्प की प्रधान घटना सामुद्रिक अतिक्रमण है जिसके प्रभाव से यूरोप के देश ग्रेट ब्रिटेन, डेनमार्क तथा जर्मनी और उत्तरी अमरीका के अलास्का से मेक्सिको पर्यन्त और महासागरीय-मग्न तट में खड़िया मिट्टी की तह जम गयी। महासरट कल्प के अन्त में तथा खटी कल्प के प्रारम्भ में 'नेवेडियन' नामक पर्वत-निर्माणकारी हलचल हुई जिससे सियरा नेवादा पर्वत का निर्माण हुआ। खटी कल्प के अन्त में लैरेमाइड (laremide) हलचल हुई जिससे कार्डिलियरा श्रेणी का विस्तार हो गया।

इस कल्प में भारत पर भी समुद्री अतिक्रमण हुआ जिसके चिन्ह कारोमण्डल तट के दक्षिण-पूरब की ओर तिरुच्चिराप्पल्लि जनपद में, मध्य प्रदेश में, ग्वालियर से गुजरात प्रदेश के वाघवान नगर तक और महाराष्ट्र प्रदेश के लावा-क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं। इन क्षेत्रों में खटी कल्प के जीवाश्म भी मिलते हैं। ऐसा अनुमान है कि इसी कल्प में दक्षिण भारत में लावा-उद्भेदन भी हुआ जो 6,40,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पर विस्तृत हो गया था। इस प्रदेश की परतदार शैलों में मछली, मेढक और कछुआ आदि जन्तुओं और ताड़, डाइकोटिलेडीनस आदि पेड़-पौधों के जीवाश्म मिलते हैं।

इस कल्प में उरगों का पूर्ण विकास हो गया। मछलियों पथा स्तनपोषी जन्तुओं का भी प्रादुर्भाव हो गया था।

नवजीव महाकल्प

यह सबसे नवीनतम महाकल्प है। भूतत्त्ववेत्ताओं के अनुमान से इस महाकल्प का श्रीगणेश सात करोड़ वर्ष पूर्व हुआ। इस महाकल्प की शैलों की अधिक जानकारी प्राप्त है। इसको दो कल्पों में विभक्त किया जाता है—(1) प्राचीन नवजीव कल्प, और (2) नवीन नवजीव कल्प।

प्राचीन नवजीव कल्प 7 करोड़ वर्ष पूर्व से 10 लाख वर्ष पूर्व तक माना जाता है। इस कल्प को निम्न युगों में विभक्त किया गया है: (क) प्राचीन नूतन युग, (ख) आदि नूतन युग, (ग) अल्प नूतन युग, (घ) मध्य नूतन युग और (ङ) अति नूतन युग।

प्राचीन नवजीव कल्प के प्रारम्भ में अधिक उष्णता थी जिसका लोप होने लगा और जलवायु ठण्डी हो गयी तथा विशालकाय विचित्र जीव, जो जीवन-संघर्ष के लिए अनुपयुक्त निकले, नष्ट हो गये। इन्हीं जानवरों में लम्बे तेज दाँत वाला चीता भी था जो विशाल दाँतों के कारण न तो कुछ खा ही सकता था और न अपना मुख ही बन्द कर सकता था। दक्षिणी अमरीका का जन्तु देव मेगाथेरियम (Megatherium) और मध्य एशिया का बलुचिथेरियम (Baluchitherium) भी लुप्त हो गये। बन्दरों के समान विशाल जीव, जिनमें कुछ भारत में रहते थे, लुप्त हो गये।

इस काल में पर्वत-निर्माणकारी घटनाएँ हुईं जिनसे प्राचीन टेनिस में आल्प्स,

हिमालय आदि पर्वतों का निर्माण हुआ। राकी श्रेणी के उत्तुंग पर्वत-शिखरों की भी रचना इसी काल में हुई।

इस कल्प में दूध पिलाने वाले जानवर तथा फूल वाले पौधों का विकास हुआ। ये सारे जीव छोटे-छोटे वर्गों में विकसित हुए। जावा मनुष्य (Java Man) के इसी कल्प में होने का भी अनुमान है। इसी काल में मानव ने आग का पता लगाया।

नवीन नवजीव कल्प को भी दो युगों में बाँटा जाता है—अत्यन्तनूतन युग (Pleistocene Period) और अभिनव युग (Recent Period)। यह कल्प 10 लाख वर्ष पूर्व से चल रहा है। इस कल्प में पृथ्वी के धरातल का एक विस्तृत भाग हिमाच्छादित हो गया। यूरोप तथा अमरीका में 23,04,00,000 वर्ग किलोमीटर से अधिक भाँग हिमाच्छादित हो गया था। इस समय प्रस्तर युग के मानव का पृथ्वी पर रहने का अनुमान किया जाता है। जीव-जन्तुओं के शरीर में बड़े परिवर्तन हुए। दैत्याकार जीवों में अधिकाँश अति शीत से मर गये। सुरक्षा के लिए जानवरों के शरीर छोटे हो गये और हड्डियाँ छोटी हो गयीं तथा पक्षियों का पूर्ण विकास हुआ। उरगों के शरीर पर बाल जम गये तथा ये धीरे-धीरे स्तनपोषी बन गये। इस युग की शैलों में हाथी, घोड़े, ऊँट आदि के अवशेष मिलते हैं। बन्दर के जीवाश्म 4 करोड़ वर्ष पुरानी शैलों में और वनमानुष के 10 लाख वर्ष पुरानी शैलों में मिलते हैं। मनुष्य का अवशेष 1 लाख वर्ष पुरानी शैल में मिलता है। इस युग की कठिनाइयों ने मानव-मस्तिष्क को विकसित किया और वह मानव संसार का सर्वश्रेष्ठ जीव बन गया।

विघटनाभिक तथा जीवाश्मीय प्रमाणों पर आधारित भू-वैज्ञानिक इतिहास

प्रारम्भ काल (लाख वर्षों में)	महाकल्प	कल्प	युग	जैविक घटनाएँ
10	नव जीव	नवीन नव जीव	अभिनव प्लीस्टोसीन	प्रथम मानव, अन्तिम हिम युग
130 250 360 580 630	(स्तनधारियों का काल)	प्राचीन नव जीव	अति नूतन मध्य नूतन अल्प नूतन आदि नूतन प्राचीनतम नूतन	स्तनधारी जीवों का विकास
	पर्वतीय परिक्रमण-काल			
1,350	मध्य जीव	खटी		अन्तिम डाइनोसौर
1,810		महासरट		प्रथम स्तनधारी
2,300	(सरीसृपों का काल)	रक्ताश्म		प्रथम डाइनोसौर

प्रारम्भ काल (लाख वर्षों में)	महाकल्प	कल्प	युग	जैविक घटनाएँ
	पर्वतीय परिक्रमण-काल			
2,800		गिरि		नमक का निक्षेप
3,450	पुराजीव	कोयला		कोयला, प्रथम सरीसृप
4,050		मत्स्य		प्रथम जलस्थल चर
4,250		प्रबाल		स्थल जीव एवं पौधे
5,000		आर्डोविसियन		मछली
6,000		कैम्ब्रियन		अपृष्ठवंशी
	किलार्नी परिक्रमण-काल			
34,000 से अधिक		प्राक्-कैम्ब्रियन		जीवाश्म शैवाल

भारतीय भूगर्भीय इतिहास

तालिका के महाकल्पों तथा भारतीय महाकल्पों में पर्याप्त अन्तर है। निम्नलिखित तालिका से भारतीय महाकल्पों का चित्र स्पष्ट हो जायगा :

यूरोपीय महाकल्प	भारतीय महाकल्प	उदाहरण
नवजीव महाकल्प, मध्यजीव महाकल्प	आर्य कल्प	लेटराइट मिट्टी एवं शिवालिक श्रेणियाँ जबलपुर, राजमहल, महादेव तथा पनचेट की श्रेणियाँ
पुराजीव महाकल्प	द्रविड़ महाकल्प	डूमडा (रानीगंज) श्रेणी, बिन्ध्य श्रेणी
	पुराण महाकल्प	कुडप्पा तथा दिल्ली प्रणाली
आद्य महाकल्प	आद्य महाकल्प	अरावली प्रणाली तथा अभ्रकशिष्ट

[सर टी० हालैण्ड के अनुसार]

पृथ्वी की आयु-निर्धारण के आधार

विश्व के विचारक पृथ्वी की आयु आँकने के प्रयास में लगे हैं; किन्तु आजपर्यन्त कोई एक निश्चित सर्वमान्य आधार उपलब्ध नहीं हो सका है। ईरान के विद्वान् पृथ्वी की आयु 12,000 वर्ष पुरानी मानते है। बाइबिल के अनुसार सृष्टि की रचना ईसा से 4,000 वर्ष पूर्व हुई मानी जाती है। भारतीय विद्वान पृथ्वी की उत्पत्ति दो अरब वर्ष पूर्व मानते हैं। इस प्रकार धरातलीय शिलालेखों एवं जीवाश्मों के आधार

पर पृथ्वी की आयु निर्धारित करने की विभिन्न विधियाँ अपनायी गयी हैं। इनमें प्रमुख विधियों का उल्लेख इस प्रकार है :

(1) **सागर की लवणता पर आधारित आयु**—सागर का जल लवणयुक्त होता है क्योंकि प्रवाहित जल में सदैव नमक के तत्त्व बहकर समुद्र में पड़ जाते हैं और शनैः शनैः लवणता बढ़ती जाती है। किसी सागर के जल का आयतन तथा उसमें लवणता की मध्यम मात्रा निकालकर समस्त सागर की लवणता की मात्रा निकाल सकते हैं। यह भी ज्ञात किया जा सकता है कि वर्ष में कितनी लवणता बढ़ती है। इस प्रकार लवणता की कुल मात्रा में एक वर्ष की लवणता की मात्रा से भाग देने पर पृथ्वी की आयु ज्ञात हो सकती है। इस विधि से पृथ्वी की आयु 150 करोड़ वर्ष आँकी जाती है। इस सम्बन्ध में **एडमंड हैली वोको** तथा **जोली** के हिसाब प्रशंसनीय हैं।

आपत्तियाँ—इस विधि में यह मान लिया जाता है कि प्रारम्भ में समुद्री जल मीठा था, किन्तु पुराजीव महाकल्प के घोंघों तथा एतदेव अन्य जीवों के जीवाश्मों से ज्ञात हो रहा है कि प्रारम्भ में भी समुद्र के जल में नमक था क्योंकि इनका जीवाधार नमक ही था।

नदी द्वारा अपरदन कभी अधिक और कभी कम होता है। इस प्रकार समुद्र में प्रति वर्ष एक निश्चित मात्रा में लवण की उपलब्धि को मानकर पृथ्वी की आयु का अनुमान लगाना ठीक नहीं है। सभी नदियों की रासायनिक परीक्षा नहीं हुई है जिससे यह भी ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि कौन नदी कितना नमक प्रति वर्ष सागर में उँडेलती है। प्रायः आग्नेय क्रिया द्वारा भूगर्भ से लवणयुक्त लावा धरातल पर निकलता है। इस प्रकार धरातल पर लवण की अधिकता हो जाती है। परिकल्पना में इस तथ्य की उपेक्षा की गयी है।

(2) **भौतिक शास्त्र की विधि पर आधारित आयु**—पृथ्वी का पिण्ड प्रारम्भ में अत्यन्त उष्ण था। भू-पृष्ठ से ताप विकिरण के फलस्वरूप धीरे-धीरे पृथ्वी ठण्डी होने लगी। इसका ऊपरी पटल ठण्डा होकर ठोस हो गया किन्तु अन्तरंग में आज भी उष्णता है। यदि पृथ्वी के ठण्डा होने की गति ज्ञात कर ली जाय तो पृथ्वी की आयु ज्ञात हो सकती है। लार्ड कैल्विन ने इस विधि से पृथ्वी की आयु 10 करोड़ वर्ष निर्धारित की है।

लार्ड कैल्विन ने पृथ्वी की परिभ्रमण गति तथा सूर्य से आतप विकिरण की गति पर पृथ्वी की आयु को आँकने का प्रयास किया है।

आपत्तियाँ—इस विधि में पृथ्वी के भीतर उपस्थित विघटनाभिक (radioactive) पदार्थों और उनके विच्छेदन से उत्पन्न ताप का ध्यान नहीं रखा गया है, केवल शैलों की संचालकता (conductivity) को ही आधार बनाया गया है।

सूर्यताप भी सर्वदा घटता-बढ़ता रहता है, किन्तु इस अवधारणा में इसका ध्यान नहीं रखा गया है। **कैल्विन** के अनुसार भूपृष्ठ लगातार ठण्डा होकर वर्तमान रूप में

आया है। इसमें अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। किन्तु ऐसे प्रमाण हैं जो भूपृष्ठ के निरन्तर उथल-पुथल को प्रकट करते हैं।

(3) **विघटनाभिक पर आधारित आयु**—भूपटल में अनेक विघटनाभिक पदार्थ मौजूद हैं। इनके अणुओं का विच्छेदन सर्वदा हुआ करता है। इस क्रिया से एक तत्त्व बदलकर दूसरा तत्त्व बन जाता है और दूसरा तत्त्व बदलकर तीसरा तत्त्व बन जाता है। यह क्रम जारी रहता है और तत्त्वों का रूप-परिवर्तन होता रहता है। इस क्रिया में ताप की भारी मात्रा विकसित होती है। इस प्रकार अन्त में एक विशेष प्रकार का तत्त्व (सीसा) शेष रह जाता है। इसी प्रकार का एक दूसरा पदार्थ हीलियम भी शेष रह जाता है। इस सीसे या हीलियम से यह पता लगाया जाय कि प्रारम्भ में यह क्या था और किन परिवर्तनों के पश्चात् इसने अपना वर्तमान रूप गहण किया है; इसमें कितना ताप बाहर निकलता है और इस सम्पूर्ण क्रम में कितना समय लगा है। इस प्रकार सबसे प्राचीन शिला की आयु ही पृथ्वी की आवु की द्योतक होगी।

सन् 1904 ई० में **रुदरफोर्ड** महोदय ने विघटनाभिक तत्त्वों के आधार पर पृथ्वी की आयु ज्ञात करने की विधि निकाली जिसको **हीलियम विधि** (Helium Method) कहा गया। वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार यूरेनियम के विघटन से हीलियम गैस उत्पन्न होती है। सभी शैलों से निकली हीलियम गैस वायुमण्डल से मिल जाती है किन्तु बसाल्ट के विघटनाभिक तत्त्वों से उत्पन्न हीलियम गैस उसी शैल में रह जाती है। यूरेनियम की शेष मात्रा तथा हीलियम की उपस्थित मात्रा की सहायता से शैलों की आयु आँकी जाती है।

वैज्ञानिक **आर्थर होम्स** ने यूरेनियम से प्राप्त सीसे का अंश तथा शेष यूरेनियम की मात्रा की सहायता से शैलों की आयु का निर्धारण किया है। इसको **सीसा विधि** (Lead Method) कहते हैं।

शिलाओं की आयु निकालने के निम्नलिखित दो सूत्र हैं :

होम्स के अनुसार शिला की आयु=सीसा/यूरेनियम × 660 करोड़ वर्ष

रुदरफोर्ड के अनुसार शिला की आयु=हीलियम/यूरेनियम × 800 वर्ष

जोली महोदय ने भी इसी विघटनाभिक के आधार पर पृथ्वी की आयु निकाली है। उन्होंने अभ्रक में बहुत से संकेन्द्री वृत्तों का पता चलाया। इन वृत्तों का व्यास तथा अणुओं की विच्छेदन गति निकालकर पृथ्वी से खनिज की आयु निकल सकती है। इन आधारों पर पृथ्वी की आयु भी 3·4 अरब वर्ष निकाली गई है।

(4) **ज्योतिषीय गणना के आधार पर आयु**—पृथ्वी की धुरी की दीर्घवृत्तता (ellipticity) अनिश्चित है। इसमें अन्तर होता रहता है। इस आधार पर प्रसिद्ध वैज्ञानिक **लाप्लास** ने पृथ्वी की आयु लगभग दो करोड़ 10 लाख वर्ष मानी है।

0° सेग्रे (सेन्टीग्रेड मापनी)=273°K (कैल्विन मापनी)

हेरोल्ड जेफरी ने भी अपने ज्वार-भाटे के सिद्धान्त के आधार पर पृथ्वी की आयु 2.5×10^9 (250 करोड़) वर्ष निर्धारित की है।

(5) **अन्य गणनाओं के आधार पर पृथ्वी की आयु**—वैज्ञानिकों ने सागरीय अवसादन की मोटाई की गणना के आधार पृथ्वी की आयु 10 करोड़ वर्ष मानी है। इसके विरोध में निम्नलिखित गम्भीर आपत्तियाँ उठायी गयी हैं :

(1) प्रत्येक वर्ष में अवसादन एकसा नहीं होता है।

(2) अवसादनों के अपरदन का विचार इसमें नहीं किया जाता है जबकि अपरदन सदैव होता रहता है।

(3) **डॉ० डट्टन** के अनुसार सागर में नमक के मिश्रण के कारण अवसाद अधिक नीचे धँस गये होंगे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दो विचार प्रचलित हो गये। कुछ भू-वैज्ञानिक पृथ्वी की उत्पत्ति सहसा किसी कारण से मानते थे और वैज्ञानिक पृथ्वी की स्थलाकृति को धीरे-धीरे विकसित मानते थे। प्रथम विचारधारा प्रलयवाद (Catastrophism) तथा द्वितीय विचारधारा एकरूपवाद (Uniformitarianism) के नाम से विख्यात हुई।

प्रलयवाद के समर्थकों के अनुसार भूकम्प, ज्वालामुखी तथा बाढ़ आदि दैवी प्रकोपों द्वारा पृथ्वी पर विशेष परिवर्तन होते रहे हैं। इसके प्रबल समर्थक **जार्ज कुवियर** (1769-1832) थे जो फ्रांसीसी वैज्ञानिक थे। **कुवियर** ने प्रयोग द्वारा निष्कर्ष निकाला कि भूतकाल में कुछ जीव तथा उनकी नस्लें समाप्त हो गईं और पुनः सृष्टि की रचना हुई।

एकरूपवाद के प्रवर्तक स्काटलैण्ड के भू-वैज्ञानिक **जेम्स हट्टन** थे। इन्होंने सन् 1785 ई० में एडिनबरा की रायल सोसाइटी के समक्ष अपना निबन्ध पृथ्वी का सिद्धान्त रखा था जिसमें उन्होंने कहा था कि उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी विशेष तत्त्व की खोज का प्रयास व्यर्थ है। इसके आदि एवं अन्त का कुछ भी पता नहीं लगता है। वर्तमान भूत की कुंजी है। इस सिद्धान्त का मूल था। **हट्टन** के साथी गणितज्ञ **जान प्लेफेयर** ने इस सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या प्रदान की। ब्रिटिश वैज्ञानिक **चार्ल्स लील** (1797-1875) इस विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। इसी समय **लेमार्क** महोदय ने पुराने जीवों को सहसा समाप्त हो जाना न मानकर उनके निरन्तर विकास को सत्य माना। इनके मतानुसार जीवों में वातावरण के अनुसार अपनी आकृति में परिवर्तन लाने की क्षमता होती है। ब्रिटिश वैज्ञानिक **विलियम स्मिथ** तथा जीवशास्त्री **चार्ल्स डार्विन** ने भी इस विचार का समर्थन किया। **विलियम स्मिथ** ने बताया कि एक प्रकार के जीवाश्म (fossil) एक ही प्रकार की शैलों में प्राप्त होते हैं। अतः पृथ्वी की शैलें जिनमें एक प्रकार के जीवाश्म मिलते हैं, एक ही समय में बनी हैं। जीवाश्म के आधार पर पृथ्वी की आयु का अनुमान **डार्विन** महोदय ने 40 करोड़ वर्ष आँका। इनके विचार से मनुष्य प्रगतिशील जीव-विकास की चरम

सीमा है। निरन्तर विकास के फलस्वरूप आज का मानव-जीवन प्राप्त हुआ है। जीवाश्म प्राय: अवसादी परतों में मिलते हैं। आग्नेय तथा कायान्तरित शैलों का निर्माण उष्ण तरल पदार्थ से होता है अत: इनमें जीवाश्म नष्ट हो जाते हैं।

प्राणिशास्त्रियों ने कोशकीय (cellular) जीवों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर पृथ्वी की आयु को लगभग 100 करोड़ वर्ष निर्धारित किया है।

भारतीय अवधारणा

पृथ्वी की आयु के सम्बन्ध में भारतीय अवधारणा को सर्वाधिक समर्थन मिल रहा है। कर्मकाण्ड में लिखित "ब्रह्मणे द्वितीय परार्धे श्री श्वेत वाराह कल्पे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलयुगे कलि प्रथम चरणे" के अनुसार गणना करने पर पृथ्वी की आयु 1,97,29,49,032 वर्ष होती है।

प्रश्न

1. What are the various methods for estimating the age of the earth ? Which of them do you think more satisfactory and why ? *(Raipur 1969; Bhagalpur 1968)*
पृथ्वी की आयु के निर्धारण की कौन-कौन विभिन्न विधियाँ हैं ? उनमें से किस विधि को आप सर्वाधिक सन्तोषप्रद समझते हैं और क्यों ?

7

समस्थितिक सिद्धान्त

[THEORY OF ISOSTASY]

पृथ्वी की झाँकीमात्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका धरातल सदैव परिवर्तनशील रहता है। इन परिवर्तनों के मूल में पृथ्वी की आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। भूगर्भ की आन्तरिक घटनाएँ तो अत्यन्त रहस्यपूर्ण एवं भयानक हैं। इन आन्तरिक घटनाओं की स्पष्ट व्याख्या प्रदान करने में समस्थितिक सिद्धान्त (Theory of Isostasy) अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रहा है।

'आइसोस्टेसी' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Isostasios' से है जिसका अर्थ समस्थिति (in equipoiso) होता है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग एक अमरीकी भूगर्भशास्त्री **डट्टन** ने सन् 1889 में धरातल के असमतल भागों—ऊँचे उठे हुए भाग तथा धँसी हुई घाटियों—के वर्तमान सन्तुलन और इन ऊँचे उठे हुए भागों तथा धँसी हुई घाटियों के उत्प्लावन तुला (hydrostatic balance) को प्राप्त करने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में किया था। उसके मतानुसार पर्वतों, पठारों, मैदान तथा समुद्रों के नीचे पृथ्वी का भार बराबर है। उसके विचार से ऊँचे उठे हुए भाग कम घनत्व की तथा नीचे धँसे हुए भाग अधिक घनत्व की शैलों से बने हैं। अत: उसने एक ऐसे तल की कल्पना की जहाँ ऊँचे उठे हुए भाग तथा नीचे धँसे हुए भागों का दबाव एक समान होगा। इस तल को **भू-समस्थितिक तल** (isostatic level) अथवा **एक समान-दाब-तल** (level of uniform pressure) की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह अनुमान किया जाता है कि किसी क्षेत्र के प्रत्येक भाग के ऊपर इस तल पर ऊपरी शैलों का दाब एक समान रहता है, चाहे वह कितनी ही ऊँची क्यों न हों या धरातल की बनावट कैसी भी क्यों न हो। यह भी ज्ञात हुआ है कि ऊँचे भागों का घनत्व कम तथा निचले भागों का घनत्व अधिक होता है जिससे इन दोनों भागों का दाब समस्थितिक तल पर समान हो जाता है। इसीलिए किसी क्षेत्र के ऊपर किसी प्रकार का निक्षेप अथवा आग्नेय पदार्थों के उद्गार से उत्पन्न दाब या बर्फ के पिघलने अथवा अपरदन से उत्पन्न दाब की कमी संतुलन को भंग कर देती है और दबाव या उठाव

के रूप में तरल पदार्थ में **समस्थितिक संतुलन** (isostatic compensation) होती है। इस प्रकार क्षति-पूर्ति के विचार का सूत्रपात हुआ। पूर्ति-क्रिया की अधिकतम गहराई समस्थितिक-तल है। समस्थितिक-तल के नीचे का भाग **दुर्बलता-मण्डल** (Asthenosphere) कहलाता है, जो कमजोर क्षेत्र है। इन शब्दों में, **डट्टन ने** अपने विचार को भूगर्भशास्त्र के दृष्टिकोण से व्यक्त किया है। इसलिए हम इस विषय को भू-गणित (Geodesy) की दृष्टि से अच्छी तरह देख सकते हैं।

अक्षांशीय मापन

पृथ्वी के समुद्रतटीय धरातल के आकार तथा उसकी नाप को निश्चित करना भू-गणित का उद्देश्य था। इसके द्वारा अपने अक्ष पर घूमने वाले ग्लोब पर एक देशान्तर पर स्थित दो बिन्दुओं के बीच की दूरी तथा ज्योति-अक्षांश निश्चित किया जाता है। यदि दो स्थानों के बीच अक्षांशीय अन्तर को **'क'** तथा दूरी को **'ख'** किलोमीटर और पृथ्वी की परिधि को **'प'** किलोमीटर मान लिया जाय, तो

$$\frac{\text{ख}}{\text{प}} = \frac{\text{क}}{360} \qquad \text{अर्थात्} \quad \text{प} = \frac{360 \times \text{ख}}{\text{क}}$$

यदि पृथ्वी गोल होती और उस पर सब जगह एक समान गहराई का सागर होता, तो **साहुल-सूत्र या प्रलम्ब-रेखा** (plumb line) सर्वत्र समुद्र की तली पर लम्बवत् होती। किन्तु वास्तव में पृथ्वी गोल नहीं है और उस पर गहराई वाला सागर भी नहीं हैं किन्तु ध्रुवों पर पृथ्वी चपटी है, तो भी एक देशान्तर पर स्थित तीन स्थानों की दूरियों एवं अक्षांशों की जाँच से पृथ्वी के आकार एवं नाप को निश्चित कर सकते हैं। स्थल, द्वीप, पर्वत तथा पठार इत्यादि आकर्षण-शक्ति पर कार्य करते हैं जो प्रलम्ब रेखा को ठीक स्थिति से बाहर की ओर खींचते हैं जिससे प्रलम्ब-रेखा सागर-तल पर लम्बवत् नहीं रह पाती है।

आकर्षण-शक्ति में असंगति

आकर्षण-शक्ति अक्षांश रेखा पर निर्भर करती है। पृथ्वी के अपने कक्ष पर घूमने के कारण ध्रुवों की ओर आकर्षण कम होता जाता है, क्योंकि इस दशा में पृथ्वी के धरातल अधिक चाल की ओर से कम चाल की ओर जाते हैं। इसके अतिरिक्त आकर्षण ऊँचाई पर भी निर्भर करता है। ऊँचाई के अनुसार गुरुत्वाकर्षण शक्ति कम होती जाती है। इस आधार पर **प्राट** महोदय ने यह निष्कर्ष निकाला कि ऊपरी प्रक्षिप्त भाग धरातल के घनत्व में कमी के द्वारा सन्तुलित हो जाता है।

1. प्राट की धारणा
(Pratt's Concept)

अमरीकी भू-विज्ञानी डब्ल्यू० ई० **प्राट** ने आकर्षण की मात्रा ज्ञात करने का प्रयत्न सन् 1855 में किया था। उसने अनुमान किया कि पर्वतीय भागों का घनत्व पृथ्वी की पपड़ी की शैलों के घनत्व के समान लगभग 2·7 होता है, अतएव इस

आधार पर पर्वतों का झुकाव वास्तविक झुकाव से अधिक होना चाहिए। इस विषय में दो सामान्य धारणाएँ हैं :

(क) पर्वतों का अनुमानित घनत्व ठीक नहीं है और वे बहुत ही हल्के हैं।

(ख) पर्वतों एवं ऊँचे भू-भागों में अधिक पदार्थों के धरातल के नीचे घनत्व की कमी के कारण सन्तुलन हो जाता है।

प्राट द्वारा उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचने में गंगा के मैदान की नापक्रिया ने सहयोग प्रदान किया। उसने देखा कि हिमालय के पर्वतीय भाग की शैलों की बनावट मैदानी भाग की शैलों की संरचना से कम घनत्व की है, अन्यथा साहुल-रेखा का झुकाव बहुत अधिक होता जितना उस प्रयोग-काल में था। उस समय साहुल-रेखा पर हिमालय का खिचाव 15 सेकण्ड न होकर केवल 5 सेकण्ड था।
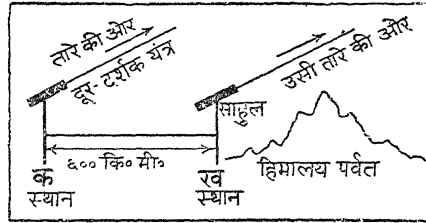
चित्र 50—प्राट का प्रयोग

प्राट ने दो स्थानों—कल्यानपुर तथा कल्याना—के मध्य का अक्षांशीय अन्तर भी खगोलीय एवं त्रिभुजन (triangulation) विधि से ज्ञात किया और उससे ज्ञात हुआ कि दोनों विधियों से प्राप्त फल में अन्तर है। इस प्रयोग से भी प्राट ने यही निष्कर्ष निकाला कि हिमालय पर्वत और मैदान की शैलों की बनावट एकसी नहीं है, अर्थात् पर्वतीय भाग की बनावट हल्के पदार्थों से है और मैदानी भाग की भारी पदार्थों से। फलतः पृथ्वी के भीतर एक समस्थितिक तल अवश्य है।

इस आधार पर प्राट ने निष्कर्ष निकाला कि स्थानीय आकर्षण, जो भूमि की बनावट के कारण अधिक रहता है, घनत्व की कमी के कारण धरातल के नीचे संतुलित हो जाता है।

2. डट्टन की धारणा
(Dutton's Concept)

सन् 1889 ई० में अमरीकी भूवैज्ञानिक **सी० एफ० डट्टन** ने प्रथम बार समस्थिति (isostasy) की संज्ञा का प्रयोग किया। **डॉ० डट्टन** को विश्वास था कि पर्वत, पठार, मैदान तथा समुद्रों के नीचे समान दाब है। इसी के फलस्वरूप महाद्वीपों एवं महासागरों के मध्य संतुलन की स्थिति रहती है। उनके मतानुसार ऊँचे उठे भाग कम घनत्व की शैलों और निचले भाग अधिक घनत्व की शैलों से निर्मित हैं। **डॉ० डट्टन** ने पृथ्वी के अन्तराल में एक तल की कल्पना की जिस पर ऊँचे उठे तथा नीचे धँसे भू-भागों द्वारा एक समान दाब पड़ता है। इस तल को **समान दाब तल** (level of uniform pressure) या **समस्थितिक तल** (isostatic level) कहते हैं। चूँकि इस तल से ऊपर के भागों का दाब समान रहता है। फलतः जो भाग जितना ही ऊँचा होगा, उसका घनत्व भी उनी अनुपात में कम होगा।

डॉ० डट्टन के मतानुसार अपरदन, निक्षेप या भूसंचलन के कारण जब दाब घट या बढ़ जाता है तो मैग्मा के स्थानान्तरण से भूगर्भ में दाब की पूर्ति होती है। इस क्रिया का समस्थितिक संतुलन (isostatic compensation) कहते हैं। डट्टन ने क्षतिपूर्ति तल की उपस्थिति पर विशेष बल दिया। इस सम्बन्ध में डट्टन को प्राट से ही प्रेरणा मिली थी।

3. समस्थिति पर सर जार्ज एअरी की धारणा (G. Airy's Concept of Isostasy)

सन् 1859 में एअरी नामक ब्रिटिश खगोलविद् ने प्राट के विचारों का खण्डन करते हुए बताया कि पृथ्वी के विभिन्न भूखण्ड एक ही प्रकार के पदार्थ के बने हैं और आयतन की भिन्नता के फलस्वरूप उनकी गहराई भिन्न हो सकती है। पर्वतों का भार कठोर शैलों के द्वारा वहन नहीं किया जा सकता; परन्तु उनका अवलम्बन अवश्य ही उनकी जड़ें हैं, जो पृथ्वी के भीतर घनी तहों तक चली गयी हैं। इस दृष्टि से ऊँचे उठे हुए पहाड़ों तथा पठारों का अधिक आकर्षण उनकी जड़ों में स्थित घने लावा पदार्थों के स्थान-परिवर्तन के कारण तुल जाता है। इस प्रकार कम घनत्व वाले स्थल-खण्ड अधिक घनत्व के सिमै में प्रविष्ट होकर उसके आकर्षण को घटा देते हैं। भौतिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि पर्वतीय भाग तैरते रहते हैं। यह विचार सन्तुलन के भौतिक अर्थ के लिए सर्वमान्य है। इसके अनुसार जो भाग अधिक ऊँचा है, उसका अधिक भाग भूगर्भ में डूबा हुआ है तथा जो भाग कम ऊँचा है उसका कम भाग भूगर्भ में डूबा है। इस प्रकार ऊँचे भूभागों का अधिक भाग द्रव्यमान में डूबा होता है तब ही वे भाग टिक पाते हैं। **आर्कमिडीज** के प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार उतराती हुई वस्तु अपने नीचे से अपने द्रव्यमान के बराबर ही द्रव्यमान को हटाती है। इस प्रकार संतुलन के लिए ऊँचे स्थली भाग का बाहर प्रक्षिप्त भाग का आठ गुना अधःस्तर में प्रविष्ट होना चाहिए। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए एअरी ने लोहे के भिन्न-भिन्न आकारों के पिण्ड लिए तथा उन्हें पारे में डुबोया। ये टुकड़े अपने आकार के अनुसार सन्तुलन रखने के लिए भिन्न-भिन्न गहराई तक डूबते हुए उसी अनुपात में बाहर दिखायी देते रहे जैसा कि चित्र 52 से विदित होता है। एअरी ने प्रयोग के पश्चात् निष्कर्ष निकाला कि अधिक घनत्व की शैलें
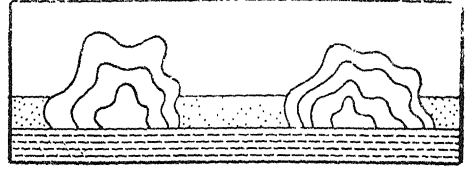
चित्र 51—एअरी की धारणा
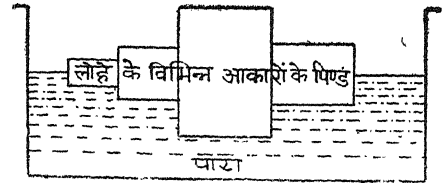
चित्र 52—एअरी का प्रयोग (तरित पदार्थ का ऊँचाई-नीचाई से सम्बन्ध)

कम घनत्व की शैलों से अधिक आकर्षण उत्पन्न करती हैं। एअरी का यह मत हेफर्ड तथा बोवी के मतों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। एअरी के विचार अधिक पुष्ट हैं क्योंकि हेफर्ड और बोवी ने विभिन्न भू-भागों को लम्बवत् स्तम्भों का रूप प्रदान किया है जो वास्तविकता से परे हैं; जबकि एअरी ने स्थल-खण्डों को सिमै में तैरता हुआ माना है जो अधिक सत्य है। साथ ही खदानों से ऊपर से नीचे को एक ही घनत्व की शैलों का प्रमाण मिलता है।

4. समस्थिति पर हेफर्ड तथा बोवी की धारणा
(Hayford and Bowie's Concept of Isostasy)

अब हमें संक्षेप में यह जानना चाहिए कि कहाँ तथा किस प्रकार निचले धरातल के घनत्व में भिन्नता होती है। इस सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के तट तथा सर्वेक्षण के संचालक **जे० एफ० हेफर्ड** (सन् 1910) तथा 50 **बोवी** (सन् 1971) विद्वानों ने यह अनुमान किये कि पृथ्वी के धरातल के नीचे
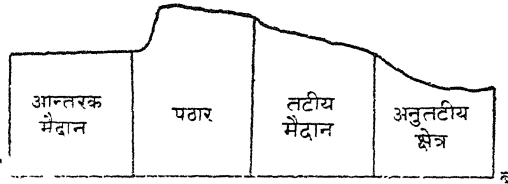
चित्र 53—समस्थितिक स्तर (बोवी के अनुसार)

एक तल है जिसके नीचे पृथ्वी के सभी पदार्थों का घनत्व एक समान है। उस तल को उन्होंने भूदाब पूर्तिस्तर (level of compensation) कहा जो लगभग 100 किलोमीटर की गहराई पर है। चित्र 53 में अ ब सन्तुलन स्तर है। इस तल पर गुरुत्व विसंगति (gravity anomaly) बिल्कुल नहीं रहती है। साहुल सूत्र तथा गुरुत्व शक्ति के परिणामों के अन्तर को गुरुत्व विसंगति कहते हैं। इस तल के ऊपर पदार्थों के घनत्व में काफी अन्तर पाया जाना कल्पित है। इसे ज्ञात करने के लिए यह माना गया है कि तिर्यक् तथा अनुप्रस्थ कटाव के हिस्से संतुलन पर आधारित हैं जिनका घनत्व ऊँचाई के अनुपात में है। चित्र 53 में मदान, पठार, तटीय मैदान तथा अनुतटीय क्षेत्रों को समस्थितिक तल पर प्रदर्शित किया गया है। इनके द्वारा यह दर्शाया गया है कि विभिन्न घनफल के पदार्थ अपने घनत्व से इस प्रकार तुलित हैं कि 'समस्थितिक तल' पर ये समान दबाव रखते हैं तथा एक-दूसरे को सँभाले हुए हैं। इस दृष्टि से 'समस्थितिक' शब्द के अन्तर्गत समान स्थिरता का सिद्धान्त निहित है। बाद में हेफर्ड ने अपने विचार में संशोधन प्रस्तुत किया कि विभिन्न घनत्व के भू-भागों के नीचे समान गहराई पर भू-दाब पूर्ति स्तर नहीं है। पृथ्वी के पटल के नीचे 16 किमी की पट्टी पूर्ति स्तर का कार्य सम्पादित करती है। आकर्षण ज्ञात करने के लिए इस विचार का उपयोग अनुमानित समस्थितिक तल पर निर्भर करता है। अनेक अनुमानित दशाएँ (अक्षांशीय, दूरी समुद्र-तल से ऊँचाई, भू-आकार) जो आकर्षण की आवश्यकता को पूरा करती हैं, अनिश्चित हैं। परन्तु यह निश्चित है कि घनत्व की भिन्नता एक निश्चित गहराई के आगे नहीं है।

हेफर्ड ने यह ज्ञात किया था कि सन्तुलन की गहराई 100 किलोमीटर से अधिक है। इस आधार पर प्रलम्ब रेखा का निरीक्षण सही किया गया तथा आकर्षण की त्रुटियाँ पहले की अपेक्षा $\frac{1}{10}$ रह गयीं। सन्तुलन के लिए उपर्युक्त ढंग से त्रुटियों को ठीक करने के पश्चात् भी आकर्षण में कुछ अवश्यम्भावी त्रुटियाँ रह ही जाती हैं जिसके कारण शैलों के घनत्व में भिन्नता पायी जाती है।

इस स्थिति में समस्थिति सम्बन्धी परिवर्तनों को विभिन्न विचारों की कसौटी पर देखना आवश्यक है। अपरदन के द्वारा स्थलीय भागों से पदार्थ हटा दिया जाता है तथा सागरीय तल पर उसका निक्षेप होता है। अतः पदार्थों के पुनः वितरण के फलस्वरूप स्थल भाग ऊपर उठता है तथा सागरीय तल नीचे धँसता जाता है। यह उठाव तथा दबाव लम्बवत् न होकर धरातलीय लहरों में होता है, जो अवश्य ही संतुलन के सिद्धान्त के अनुकूल है। इस धारणा के विरुद्ध प्रबल आपत्ति यह है कि 100 किमी की गहराई पर अधिक ऊष्मा के कारण शैलें पिघल जायेंगी और कुल क्रिया अस्थायी हो जायेगी।

5. समस्थिति पर जोली की धारणा
(Joly's Concept of Isostasy)

सन् 1925 में **जोली** नामक विद्वान् ने हेफर्ड तथा बोवी के साधारण तैरने के विचारों का खण्डन करते हुए भी तैरने के निश्चित सिद्धान्त को माना। उसने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि भिन्न-भिन्न घनत्व की स्थलीय परतों का प्रारम्भ सन्तुलन-तल से होता है बल्कि हेफर्ड द्वारा बताये गये घनत्व के वितरण को स्वीकार किया जिसमें घनत्व सम्बन्धी भिन्नता समान घनत्व की तहों के नीचे 15 किलोमीटर की परत तक सीमित बतायी गयी है। ये विचार तैरने के सिद्धान्त के समीप हैं। 15 किलोमीटर की परत में कम घनत्व का क्षेत्र हल्के स्थलीय पपड़े के नीचे की ओर डूबे रहने के अनुकूल है जबकि अधिक घनत्व उस क्षेत्र को प्रदर्शित करता है जो निचली परत में भारी पदार्थों से भरा है। यह वास्तव में स्थलीय परतों के असमान आधारों की ओर इंगित करता है और सन्तुलन-तल के विपरीत एक ऐसे कटिबन्ध को प्रदर्शित करता है जिसमें सभी वस्तुएँ तुल जाती हैं, अर्थात् इन्होंने सन्तुलन-तल को अस्वीकार करते हुए **क्षति-पूर्ति-कटिबन्ध** (compensating zone) की कल्पना की है।

वास्तव में, यह सिद्धान्त तैरने का सिद्धान्त है और इसके उदाहरण में **प्लावी हिम शैल** (iceberg) का जल में तैरना सम्यक् रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। इसमें बर्फ इस प्रकार तैरती है कि यदि उसका 1 भाग जल-स्तर के बाहर रहता है तो 9 भाग जल-स्तर के नीचे छिपे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र प्रवाह के लिए 1 : 9 का अनुपात आवश्यक है। जोली के विचारों के अनुकरण के लिए उपर्युक्त उदाहरण उपयुक्त है जिसका प्रयोग उन्होंने पृथ्वी के पपड़े के लिए किया था; यद्यपि ऐसा करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह केवल एक

उदाहरण के लिए था, निश्चित तथ्य के लिए नहीं, क्योंकि यह विचार जिस पर जोली का सिद्धान्त आधारित है, सभी लोगों के द्वारा मान्य नहीं है। सर्वसाधारण यह मानते हैं कि स्थलीय शैलों का औसत घनत्व 2·67 है तथा घनी निचली तह का घनत्व 3·00 है जिसे जोली ने बैसाल्टिक स्वीकार किया है। यदि यह तथ्य ठीक है तो यह सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है कि पृथ्वी के पपड़े के प्रत्येक भाग के अधः स्तर (substratum) से 1 भाग बाहर निकला हुआ है तथा 8 भाग अन्दर डूबे हुए हैं। यद्यपि यह एक साधारण अनुमान है, किन्तु इसके द्वारा सन्तुलन का मुख्य सिद्धान्त सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है। इस सिद्धान्त का हिमालय के सम्बन्ध में प्रयोग करते हुए देखा जाता है कि बहुत अधिक पदार्थ, जिससे दिखायी पड़ने वाला पर्वत बना है, नीचे से लगभग उसके आठ गुना पदार्थ से तुलित है। इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि ये पूर्णरूपेण तुलित हैं। किन्तु इस आधार पर यह अनुमान करना बिल्कुल गलत होगा कि यदि एवरेस्ट चोटी की ऊँचाई 8,848 मीटर है तो उसका हल्का पदार्थ नीचे की ओर 73,200 मीटर नीचे तक डूबा हुआ है, क्योंकि पर्वतीय क्षेत्र के विषय में सन्तुलन का विचार करते हुए यह मानना पड़ता है कि पहाड़ बहुत बड़ा पठार है जिसको ऊँचाई उस पर्वत-शृंखला की औसत ऊँचाई के बराबर है। यही तर्क महाद्वीप सम्बन्धी अन्य आकृतियों के लिए उपयुक्त समझा जाता है। पृथ्वी के पपड़े में इतनी अधिक शक्ति है कि वह बिना स्थानीय सन्तुलन के एक पर्वत के भार को वहन कर सकता है। इस प्रकार पर्वतीय शृंखला, विस्तृत पठार तथा महाद्वीप सन्तुलित हैं, यह बिल्कुल ठीक है; परन्तु एक चोटी अथवा किसी छोटे क्षेत्र का सन्तुलन नहीं हो सकता है।
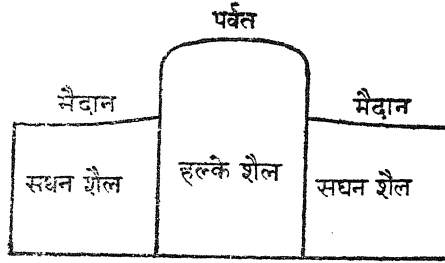
चित्र 54—पदार्थ की सघनता का आकृतियों से सम्बन्ध

संक्षेप में, जोली का मत यह है कि सम्पूर्ण भूपटल हल्के पदार्थ सिएल का बना है जिसका घनत्व 2·67 है तथा भूगर्भ सिमै का बना है, जिसका घनत्व 3·00 है। सम्पूर्ण भूपटल की आकृतियाँ जो हल्के पदार्थों की बनी हैं, अपनी स्थिरता के लिए सन्तुलित हैं तथा सन्तुलित रहने के लिए वे अधिक घनत्व वाले भारी पदार्थों पर तैरती रहती हैं और इस क्रिया में ऊपर दिखायी पड़ने वाले भाग का आठ गुना भाग अन्दर डूबा रहता है। स्मरण रहे कि वस्तुओं के आकार के अनुसार उनका नीचे डूबना अवश्यम्भावी होता है।

सन्तुलन तथा भूगर्भिक क्रियाएँ

भूगर्भिक क्रियाओं से धरातल पर परिवर्तन हुआ करते हैं, जो आकर्षण के

फलस्वरूप उपस्थित सन्तुलन की दशा को स्थिर नहीं रहने देते। धरातल के ऊपर अपरदन तथा निक्षेप में पदार्थों का स्थानान्तरण बहुत गहराई तक होता रहता है, जिसमें दो भिन्न-भिन्न भाग समस्थितिक साम्यावस्था (isostatic equilibrium) को कायम रख सकें। ऐसी दशा में निक्षेप वाला भारयुक्त भाग डूबता है तथा जहाँ से
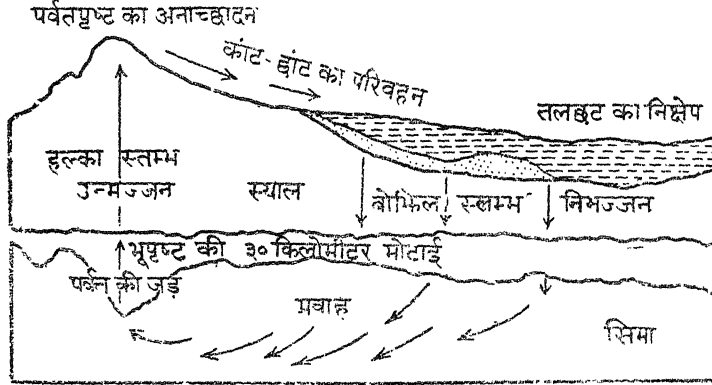
चित्र 55—समस्थितिक पुनःसमंजन

भार हटाया जाता है वह भाग ऊपर उठता है। यह क्रिया जिसके द्वारा सन्तुलन प्रतिष्ठित किया जाता है, **समस्थितिक पुनःसमंजन** (isostatic re-adjustment) कहलाती है।

निचली परत का ऊपरी भाग गरम चट्टानी पदार्थों का बना होता है जो धरातलीय रवेदार शैलों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उसके अन्दर गैसों की अधिकता होती है। गैसयुक्त शैल बहाव में सुविधा प्रदान करती है, परन्तु गति बहुत ही धीमी होती है। कुछ भागों में ऐसा ज्ञात होता है कि निचली परत के पदार्थ बिलकुल शक्तिहीन नहीं होते। तब वे सुघट्य (plastic) पदार्थ की भाँति कम शक्ति के साथ कार्य करते हैं। ऐसी दशा में पदार्थों का बहाव तब तक सम्भव नहीं होता जब तक सन्तुलन से इतना अधिक बिलगाव न हो जाय कि वह दबाव में भिन्नता उपस्थित करके उस शक्ति को दबा दें। ऐसे क्षेत्र समस्थितिक-साम्यावस्था के प्रभाव से कुछ परे ही रह जाते हैं। वास्तव में पूर्ण सन्तुलन कठिनता से हो पाता है, यद्यपि यह साधारणतः पूर्णता के समीप ही रहता है।
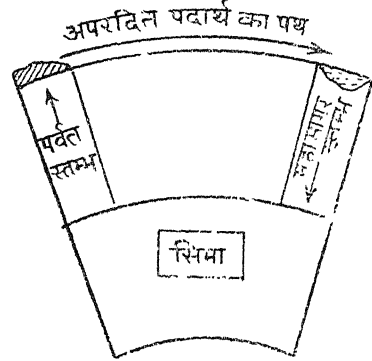
चित्र 56—भू-सन्तुलन का व्यतिक्रम

कुछ क्रियाएँ ऐसी भी हैं जो प्राप्त सन्तुलन की अवस्था को इतनी शीघ्रता से

बिगाड़ देती हैं कि वे निचली परत के आन्तरिक बहाव के द्वारा उतनी शीघ्रता से पुनः सन्तुलन नहीं कर पाते। उदाहरण के लिए, हम यूरोप तथा अमरीका में स्थित हिमयुग के उस क्षेत्र को लेंगे जहाँ बर्फ की शैलों की मोटी तह जमी थी। जब 25,000 वर्ष पूर्व हिम-युग का अन्त हुआ, हिम की मोटी शैलें पिघलना प्रारम्भ हुईं, तो ये क्षेत्र शीघ्रता से बर्फ के एक बहुत अधिक भार से मुक्त हुए। इसका फल यह हुआ कि उस काल से उस क्षेत्र का ऊपर उठना प्रारम्भ हुआ, जो अब तक जारी है। फिनलैण्ड तथा स्कैण्डिनेविया के तटों पर अधिक ऊँचाई पर **उत्थित पुलिन** (raised beaches) पायी जाती हैं जो इस बात की द्योतक हैं कि उक्त क्षेत्र में अधिकतम उत्थापन 275 मीटर तक हुई है तथा प्रत्येक 28 वर्ष के समय में क्षेत्र $\frac{1}{3}$ मीटर ऊँचा उठता जाता है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि वह क्षेत्र अब भी समस्थितिक-साम्यावस्था के बाहर है और यह अनुमान किया जाता है कि इस क्षेत्र को सन्तुलन प्राप्त करने के पूर्व 214 मीटर और ऊपर उठना पड़ेगा।

किसी भी प्रकार की पृथ्वी की हलचल (earth movement) का कारण सन्तुलन नहीं होता। यह स्पष्ट ज्ञात होना चाहिए कि भू-सन्तुलन भी तुला की एक दशा है। यह कोई शक्ति नहीं है और न भूगर्भीय साधन ही है। अनुच्छादन (denudation) तथा निक्षेपण (deposition) के द्वारा सन्तुलन बिगड़ता है। धरातलीय हलचल तथा आग्नेय क्रियाएँ उस गुरुत्वाकर्षण शक्ति को उपस्थित करती हैं जो बिगड़े हुए सन्तुलन को पुनः ठीक करती हैं, अर्थात् सन्तुलन का पुनः ठीक होना भू-पटल की लम्बवत् गति का कारण होता है तथा पृथ्वी के ऊपर उपस्थित उन हलचलों का सहयोग होता है जो भूगर्भिक क्रियाओं के द्वारा स्वयं उत्पन्न होती हैं।

समस्थितिक एक ऐसा सिद्धान्त तथा तथ्य है जो अब सर्वमान्य हो गया है तथा यह सुचारु रूप से पृथ्वी के धरातल पर जल एवं थल की वर्तमान स्थिति एवं वितरण को समझाता है। इस समय समस्थितिक के लिए हेलिसिन्की नगर में **प्रो० डब्ल्यू हीसकेनीन** के संरक्षकत्व में परीक्षण कार्य चल रहा है।

प्रश्न

1. Discuss the theory of Isostasy and its application.

   (*Patna 1969; Udaipur 1970*)

   समस्थितिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और बतलाइए कि इसकी क्या उपयोगिता है ?

2. Explain critically the salient aspects of the theory of Isostasy and discuss how it helps in solving certain earth problems.

   (*Meerutt 1968; Magadh 1970; Ranchi 1969*)

   समस्थितिक सिद्धान्त के विशिष्ट पक्षों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए और बताइए कि पृथ्वी सम्बन्धी समस्याओं के निदान में यह सिद्धान्त कैसे सहायक सिद्ध होता है ?

8

महाद्वीप और महासागर

[CONTINENTS AND OCEANS]

पृथ्वी पर उच्चावचन के अनेक लक्षण हैं। इनके तीन वर्ग बनाये गये हैं। प्रथम कोटि के उच्चावचन लक्षणों में महाद्वीप एवं महासागर आते हैं। ये प्रथमतः निर्मित लक्षण हैं। द्वितीय कोटि के उच्चावचन लक्षणों में पर्वत, मैदान तथा पठार आते हैं जो पृथ्वी की आन्तरिक संचलनों तथा बहिर्जात बलों द्वारा निर्मित हैं। तृतीय कोटि के उच्चावचन लक्षणों में नदी घाटियाँ, पहाड़ियाँ, डेल्टा, हिमोढ़ आदि आते हैं जो केवल अपरदन कारक बलों, जैसे प्रवाहित जल, वायु, तरंगें आदि से निर्मित होते हैं। **वान एन्जिल** महोदय ने महाद्वीप एवं महासागर को रंगशाला की उपमा प्रदान की है जहाँ पर्वत, पठार तथा मैदान रंगशाला के विभिन्न मंच हैं और इन्हीं मंचों पर नाटक के भिन्न-भिन्न दृश्य उपस्थित होते हैं। इस अध्याय में प्रथम कोटि के उच्चावचन महाद्वीप एवं महासागर की भूमिका प्रस्तुत की गई है।

चित्र 57—स्थल, वायु एवं जल-मण्डल

पृथ्वी के धरातल के दो मुख्य प्रारम्भिक अंग माने जाते हैं—महाद्वीप और महासागर। भूपटल के इन दो रूपों के वितरण की कुछ विशेषताएँ हैं जो इनकी उत्पत्ति

के विषय में उपस्थित समस्याओं के समाधान में सहायक होती हैं। महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति कब और किस प्रकार हुई, निस्सन्देह जटिल और विवादग्रस्त विषय है जिसके विषय में अनेक विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये हैं। ग्लोब का अध्ययन करने से महाद्वीपों एवं महासागरों के वितरण की निम्न विशेषताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं :

(1) अधिकतर महाद्वीप उत्तरी गोलार्द्ध में तथा महासागर दक्षिणी गोलार्द्ध में हैं। परन्तु ध्रुव प्रदेशों में इसके विपरीत दशा है। उत्तरी ध्रुव के समीप महासागर और दक्षिणी ध्रुव के समीप महाद्वीप हैं।

(2) स्थल गोलार्द्ध में 81 प्रतिशत स्थल का भाग पड़ता है जिसका ध्रुव बिन्दु ब्रिटनी (Brittany) में पड़ता है और जिसके अन्तर्गत उत्तरी अमरीका, यूरोप, एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका का कुछ भाग आता है। इसके विपरीत जल-गोलार्द्ध में जल का अधिक महत्त्व है जिसका ध्रुव बिन्दु न्यूजीलैण्ड (Newzealand) के आसपास पड़ता है। महाद्वीपों के आधार उत्तर की ओर चौड़े तथा दक्षिण की ओर संकरे एवं नुकीले होते जाते हैं। आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में यह बात कम लागू है। इसी प्रकार महासागर उत्तर की ओर संकरे और दक्षिण की ओर चौड़े होते जाते हैं।
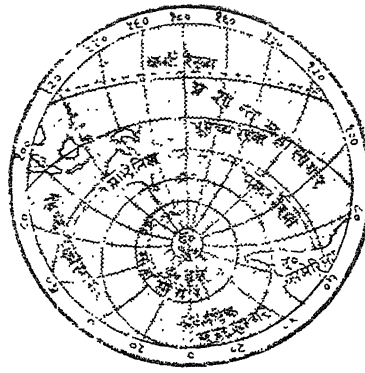
(अ) (ब)

चित्र 58—(अ) स्थल गोलार्द्ध, (ब) जल गोलार्द्ध

(3) धरातल पर जल एवं स्थल भाग का प्रतिव्यासात (antipodal) सम्बन्ध भी इसके वितरण की एक विशेषता है। धरातल के 46·6 प्रतिशत भाग में समुद्र के पीछे समुद्र है, परन्तु केवल 1·4 प्रतिशत भाग में स्थल के पीछे स्थल है। 95 प्रतिशत स्थल का भाग समुद्र के पीछे पड़ता है।

महासागरीय तल का स्थायित्व
(Permanency of Ocean Basins)

महाद्वीपों के विस्तृत भागों में समुद्री अवसादी शैलों की उपलब्धि तथा वलित पर्वतों में समुद्री जीवांशों की प्राप्ति जल एवं थल की सतह में परिवर्तन की सूचक है। यह तथ्य मान्य है कि पृथ्वी के इतिहास में ऐसे युग आये जब महाद्वीपों पर समुद्री अतिक्रमण हुए और महाद्वीपीय किनारे जलमग्न हो गये। समुद्रों के पीछे हटने पर पुनः ये भाग स्थल बन गये। ये काल महाद्वीपीय तथा सामुद्रिक युग कहलाते हैं। इस प्रकार कुछ निर्बल क्षेत्र बनते रहे और उनमें परिवर्तन होते रहे; किन्तु महाद्वीपों एवं महासागरों की वास्तविक आकृति एवं स्थिति में कभी परिवर्तन नहीं हुआ। आज के भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार समुद्र स्थायी हैं। इनका मध्य एवं गहरा भाग सदा से ऐसा ही रहा है। इनके छिछले तटीय भागों में ही परिवर्तन हुए हैं। इस सम्बन्ध में **सुइस** का मत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके पक्ष में कुछेक प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) महासागरों के गर्त में लाल मिट्टी तथा सागरीय पंक मिलती है। इनसे बनी हुई शैलें महाद्वीपों में कहीं नहीं मिलतीं। ये केवल पूर्वी द्वीप-समूह तथा पश्चिमी द्वीप-ससूह के बरमूदा द्वीप के तटीय पर्वतीय भागों में पाये जाते हैं। भू-भाग की परतदार शैलों में ऐसी शैलों का न मिलना यह संकेत करता है कि सागरों की अगाध तली कभी भी स्थल का भाग नहीं बनी।

(2) महाद्वीपों में प्राप्य अवसादी शैलें समुद्री द्वीपों में बहुत कम प्राप्त होती हैं।

(3) अवसादी शैलों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनकी रचना उथले समुद्रों में हुई है। फलतः समुद्रों में पानी की मात्रा की घटती-बढ़ती की कल्पना करनी ही पड़ेगी, अन्यथा महासागरों के गहरे तल की प्राचीन काल से यथास्थिति को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार महासागरीय तल में किसी परिवर्तन की दशा नहीं मानी जाती है।

यदि कल्पना की जाय कि गहरे सागर उथले होते रहे तो महासागरीय जल को रखने के लिए अगाध गर्त की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु समस्थितिक सिद्धान्त से स्पष्ट प्रकट होता है कि अगाध गर्त के नीचे भारी पदार्थ होते हैं। यदि स्थल के भाग अगाध गर्त बनेंगे तो उनमें वृहत् रासायनिक तथा भौतिक परिवर्तन करके अपने आप ही भारी पदार्थ बन जाने की योग्यता मान लेनी पड़ेगी। किन्तु ऐसा परिवर्तन करने वाली कोई व्यवस्था आजपर्यन्त ज्ञात नहीं हो सकी है।

(4) महासागरों में स्थित ज्वालामुखी पर्वतों के उद्भेदन के समय अल्पसिलिक लावा ही अधिक मात्रा में बाहर निकलता है। यह लावा भारी शैलों से बनता है किन्तु गुरुत्वाकर्षण शक्ति तथा भूकम्प की तरंगों से प्रमाणित होता है कि महाद्वीपीय शैलें महासागरीय गर्त की शैलों से हल्की हैं। ऐसी दशा में यदि महासागर का तल

महाद्वीप का अंश बनेगा तो उसमें भी भारी भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन अवश्य होंगे।

(5) समस्थितिक सिद्धान्त के अनुसार भी हल्के महाद्वीपीय भागों का भारी सिमै की शैलों के नीचे डूबना भौतिक रूप से असम्भव प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर सन् 1875 में **लोथियन ग्रीन** नामक विद्वान् ने महाद्वीपों तथा महासागरों को उत्पत्ति के विषय में अपनी परिकल्पना प्रस्तुत की, जिसको **ग्रेगरी** नामक विद्वान् ने सुन्दर रूप प्रदान किया। परन्तु ग्रीन के पूर्व **कैलविन** तथा **सोलास** (सन् 1908) नामक विद्वानों के विचार भूपटल के उक्त भागों की उत्पत्ति के विषय में प्रकट हो चुके थे। ब्रिटिश भौतिकविज्ञानी **कैलविन** के मतानुसार अपने उत्पत्ति-काल में पृथ्वी गैसीय अवस्था में थी। उस समय महाद्वीप आद्य-पदार्थों के एकत्र होने के केन्द्र थे। गैसीय दशा की समाप्ति पर आद्य-पदार्थों का जमाव महाद्वीपों का कारण बना।

ब्रिटिश वैज्ञानिक **सोलास** का विचार है कि आदिकालीन द्रवग्लोब पर वायु-मण्डल के असमान दबाव के कारण द्रव धरातल का कुछ भाग धँसकर खड्ड (hollow) बन गया तथा कुछ भाग प्रक्षिप्त हो गया जिसके फलस्वरूप क्रमशः सागरों और महाद्वीपों की रचना हुई। इस प्रकार महाद्वीपों एवं महासागरों के निर्माण का कारण वायुमण्डलीय दाब की भिन्नता है।

पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रहाणु परिकल्पना के प्रतिपादकों ने भी यह व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि पृथ्वी के प्रारम्भिक धरातल पर ग्रहाणु पदार्थों का बराबर वितरण नहीं था। इनके अनुसार धरातल पर स्थल एवं जल भागों की उत्पत्ति पृथ्वी की उत्पत्ति के साथ ही मानी जाती है।

चतुष्फलकीय परिकल्पना
(Tetrahedral Hypothesis)

पृथ्वी का आन्तरिक भाग अभी गरम है और धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। इस धारणा के आधार पर सन् 1875 में ब्रिटिश गणितज्ञ **लोथियन ग्रीन** ने अपनी चतुष्फलकीय परिकल्पना (Tetrahedral Hypothesis) प्रस्तुत की। उक्त विद्वान् ने महाद्वीपों एवं महासागरों का वितरण चतुष्फलक की आकृति का माना है, जिसका चारों ओर

चित्र 59—चतुष्फलक पृथ्वी

से चिपटा भाग चार महासागरों को प्रदर्शित करता है और उक्षिप्त भाग महाद्वीपों
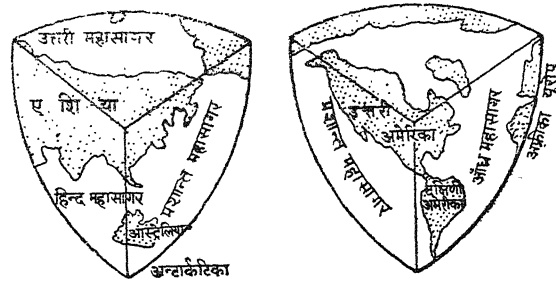
की ओर संकेत करता है; क्योंकि त्रिभुजाकार टेट्राहेड्रान तीन दिशाओं में फैली हुई वह आकृति होती है जो बराबर भुजाओं वाली चार आकृतियों से घिरी होती है। टेट्राहेड्रान की आकृति चित्र 59 से स्पष्ट हो जाती है जिसमें समद्विबाहु त्रिभुज के आकार के तीन चिपटे भाग तो प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं जिनसे उत्तरी आर्कटिक महासागर, ऐटलाण्टिक महासागर तथा हिन्द महासागर का आभास मिलता है, परन्तु चौथा चिपटा भाग आकृति में अदृश्य है जिससे प्रशान्त महासागर प्रदर्शित होता है। परन्तु इस आकृति के ऊँचे उठे भाग, जो त्रिभुजाकार चिपटे भागों की भुजाओं की ओर संकेत करते हैं, महाद्वीपों की स्थिति को बतलाते हैं, जैसा कि चित्र 59 से विदित होता है।

लोथियन ग्रीन के अनुसार, किसी भी गोल कोमल वस्तु पर दबाव का प्रभाव उसकी आकृति को टेट्राहेड्रान के रूप में बदल देता है। उन्होंने यह मान लिया कि ठण्डा होने के साथ-साथ पृथ्वी का भीतरी भाग बाहरी भाग की अपेक्षा अधिक तेजी से सिकुड़ा अर्थात् भीतरी भाग का आयतन घटा। ऊपरी धरातल पहले से ही ठोस एवं कड़ा था, अतः वह सिकुड़ नहीं सका, जिससे पृथ्वी की भीतरी तथा बाहरी तहों में अन्तर आ गया। ऐसी अवस्था में पृथ्वी को ऐसी आकृति में आना पड़ रहा है जिसका धरातल बड़ा होने पर भी आयतन कम हो। विद्वानों की राय में ऐसी आकृति चार फलक वाली चतुष्फलक ही हो सकती है।

यदि गोले तथा चतुष्फलक का क्षेत्रफल बराबर हो तो गोले के आयतन से चतुष्फलक का आयतन कम होगा। इन मतावलम्बियों के अनुसार पृथ्वी अभी पूर्ण चतुष्फलक के आकार में नहीं पहुँच पायी है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह ठण्डी होती जा रही है, चतुष्फलक की आकृति पूर्णता को प्राप्त होती जा रही है। आकर्षण-शक्ति के प्रभाव से ऊपरी भूपटल भीतरी टेट्राहेड्रान की आकृति में बैठ गया जिससे महासागरों एवं महाद्वीपों की उत्पत्ति हुई। आन्तरिक भागों में सिकुड़ने के कारण बाहरी परतों के असमान रूप से अन्दर की ओर धँसने से जो गर्त बने उनसे समुद्री भागों का निर्माण हुआ जो चतुष्फलक के समतल धरातल के अनुरूप थे। महाद्वीप चतुष्फलक के कोनों तथा किनारों के अनुरूप थे। इस विचार को उपर्युक्त आकृति से मिलाने पर सही ज्ञात होता है क्योंकि यदि टेट्राहेड्रान को पानी के ग्लोब में डुबाया जाय तो चिपटे भाग पर पानी शीघ्र आ जायेगा, परन्तु उठे हुए भाग पानी के बाहर ही रहेंगे जो क्रमशः समुद्र तथा स्थल की ओर संकेत करते हैं। यदि पृथ्वी को चतुष्फलक के आकार का मान भी लिया जाय तो इसके किनारों तथा कोनों का भाग उन्हें नीचे बैठने तथा ऊपर उठने को बाध्य करेगा और एक आकर्षणयुक्त चक्कर करती हुई वृत्ताकार पृथ्वी का निर्माण होगा।

इस विचार की मान्यता बहुत दिनों तक थी। परन्तु पिछली शताब्दी में इसकी आलोचना होने लगी। वैज्ञानिकों का कथन है कि घूमती हुई पृथ्वी की आकृति टेट्राहेड्रान के रूप में नहीं रह सकती क्योंकि यह सन्तुलित आकृति नहीं है। साथ ही,

भ्रमणशील पृथ्वी की गति की अधिकता के कारण गोल पिण्ड से चतुष्फलक का रूप ग्रहण करना भी पृथ्वी के लिए अस्वाभाविक है।

चतुष्फलक के सिद्धान्त के अनुसार सबसे अधिक स्थलीय भाग 30° उ० अक्षांश पर होना चाहिए किन्तु 60° उ० अक्षांश पर स्थलीय भाग 80·1 प्रतिशत और 30° उ० अक्षांश पर केवल 43·6 प्रतिशत है। महाद्वीपों का दक्षिणी भाग 120° के अन्तर पर होना चाहिए किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है।

ब्रिटिश वैज्ञानिक **ग्रेगरी** ने इस परिकल्पना की पुष्टि में धरातल की कुछ भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रस्तुत की हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल का भाग अधिक होना, अधिकतर भौगोलिक वस्तुओं का आकार त्रिभुजाकार होना, स्थल के भागों का दक्षिण की ओर निकला हुआ होना, समुद्रों का उत्तर की ओर सँकरा होते जाना तथा समुद्र एवं स्थल के भागों का प्रतिव्यासात सम्बन्ध होना उक्त विद्वान् द्वारा टेट्राहेड्रान की आकृति का प्रतिफल माना गया है। इसके अतिरिक्त एशिया तथा उत्तरी अमरीका के महाद्वीप 120° का कोण बनाते हुए एक-दूसरे से मिलते हैं और यह चतुष्फलक के किनारों पर बना हुआ बाह्य कोण होता है।

ग्रेगरी ने पुराभूगोलिक (palaeogeographical) मानचित्र की रचना करके प्रमाणित किया कि प्रीक-केम्ब्रियन कल्प (आद्यमहाकल्प) में महाद्वीपों का वितरण आधुनिक वितरण के लगभग समान था। उस समय एक उत्तरी महाद्वीप था, जो दक्षिण की ओर नुकीला था। आर्कटिक महासागर वर्तमान आर्कटिक के कुछ पूर्व स्थित था। **ग्रीन** महोदय के कथनानुसार कालान्तर में महाद्वीप एवं महासागरीय आकार में परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में महासागरों का विस्तार पूरब-पश्चिम और महाद्वीपों का उत्तर-दक्षिण दिशा में हुआ। किन्तु **ग्रीन** की परिकल्पना की पुष्टि के लिए **ग्रेगरी** ने सन् 1930 में इसमें संशोधन प्रस्तुत किया कि लम्बवत् किनारे लगभग स्थिर रहे किन्तु टेट्राहेड्रान की चपटी सतह को घेरने वाले उत्तल किनारे परिवर्तनशील रहे। ये किनारे उत्तर या दक्षिण को खिसकते रहे जिससे महाद्वीपों एवं महासागरों के आकार एवं क्रम में भी परिवर्तन होता रहा। पुराभूगोलविद् **फ्रेंक** ने भी ग्रेगरी के मत का ही समर्थन किया। इन तथ्यों ने इस परिकल्पना को आकर्षक एवं मान्य बना दिया। किन्तु चतुष्फलकीय सिद्धान्त की मूल आपत्तियों से इस संशोधन द्वारा मुक्ति न मिल सकी।

लैपवर्थ की परिकल्पना
(Lapworth's Hypothesis)

लैपवर्थ की कल्पना में पृथ्वी के धरातल पर एक बड़े पैमाने पर वलन-क्रिया का होना माना गया है जिसके फलस्वरूप मोड़ का ऊपरी भाग स्थल और निचला भाग समुद्र बना। इस विचार के अनुसार उत्तरी अमरीका का स्थल भाग भूपटल का ऊपर निकला हुआ एक बहुत बड़ा घेरा है जिसमें किनारे की ओर दो **विस्तीर्ण अपनति** (great anticline) तथा इनके बीच एक बहुत बड़ा मध्यवर्ती दबा हुआ भाग

पृथ्वी की प्रारम्भिक बनावट का उपर्युक्त रीति से विचार करते हुए जीन्स ने यह अनुमान किया कि पृथ्वी के ठण्डा होते समय दोनों गोलार्द्धों में पारस्परिक खिंचाव के कारण भूमध्यरेखीय भाग में कुछ उभार पैदा हो गया होगा। इस प्रकार सभी उभरे हुए भाग महाद्वीप और नीचे धँसे हुए भाग महासागर बन गये।

पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति का विचार सिद्धान्त रूप में **जार्ज डार्विन** ने सन् 1900 ई० में रखा था। चन्द्रमा के अलग होने के पूर्व पृथ्वी ठण्डी होकर तरल अवस्था में आ गई थी। इसके साथ भूपृष्ठ पर पतली पपड़ी ठोस बन गई थी।

ब्रिटिश भौतिक विज्ञानी **डब्ल्यू० चे० सोलास** ने उक्त परिकल्पना के पक्ष में सन् 1908 में कहा है कि इसके अनुसार अफ्रीका स्थल गोलार्द्ध के केन्द्र में पड़ता है तथा इसके दूसरी ओर प्रशान्त महासागर। संकुचन से मध्य भाग में जो चक्र बना वही अमरीका, ऐन्टार्कटिका तथा आस्ट्रेलिया के रूप में वर्तमान है, जो प्रशान्त महासागर को हिन्द एवं ऐटलाण्टिक महासागरों से अलग करता है। इस प्रकार सोलास ने सिद्ध किया है कि जीन्स की परिकल्पना के अनुरूप ही आज भी जल एवं थल का वितरण पाया जाता है। इतना अवश्य है कि सोलास की व्याख्या में प्रशान्त महासागर के द्वीपों का पृथ्वी के डण्ठल की ओर होना नहीं दिखलाया गया है।

ओसमाण्ड फिशर्स (1910) का विचार यह है कि प्रशान्त महासागर का भाग धरातल पर प्रारम्भ में ही चन्द्रमा के निर्माण के कारण बन गया। यह विचार पृथ्वी के बड़े पैमाने पर असममिति (asymmetry) को बतलाता है और ऐटलाण्टिक तथा प्रशान्त तट-रेखा के अन्तर को बतलाने का आधार बनता है।

यह परिकल्पना आज अमान्य है, क्योंकि जीन्स द्वारा प्रतिपादित पृथ्वी की उत्पत्ति की परिकल्पना ही निराधार घोषित कर दी गयी है। इस परिकल्ना में पर्वत-रचना एवं प्रशान्त महासागरीय द्वीपचाप की व्याख्या नहीं मिलती है। नवीन खोजों द्वारा पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति असम्भव सिद्ध हो गई है। यदि पृथ्वी से एक खण्ड अलग हुआ होता तो पृथ्वी का घूर्णन वर्तमान से बहुत कम रह जाना चाहिए। पृथ्वी के एक खण्ड के अलग होने के लिए अत्यधिक कोणीय संवेग की आवश्यकता होगी। **एफ० नोके** वैज्ञानिक ने सन् 1931 में सिद्ध किया है कि पृथ्वी से एक खण्ड अलग होता तो वह उसके द्वारा पुनः अपने में आकर्षित कर लिया जाता। **आर० ए० लिटलटन** (1938) के अनुसार एक ग्रह से पृथक होने वाला खण्ड भी एक ग्रह होगा, एक उपग्रह नहीं।

सुइस की परिकल्पना
(Suess's Hypothesis)

जर्मन भूवैज्ञानिक **सुइस** ने भूपटल को दो प्रकार की शैलों का बना हुआ माना है। कुछ भाग को उसने प्रतिरोधी शैलों (resistant rocks) का तथा शेष भाग को अप्रतिरोधक (non-resistant rocks) का बना हुआ स्वीकार किया है।

कड़ी शैलों के भाग पुराने और कड़े होने के कारण टूटने पर भी मुड़े नहीं। उत्तरी गोलार्द्ध में इस प्रकार के भाग तीन स्थलों पर पाये जाते हैं। इसमें प्रथम भाग लारेंशिया का है जिसमें रॉकी के पूरब में स्थित कनाडा का भाग और स्कॉटलैण्ड के पश्चिमी द्वीप शामिल हैं। दूसरा भाग बाल्टिक शील्ड का है, जिसमें बाल्टिक सागर के चारों ओर के क्षेत्र आते हैं। तीसरा भाग अंगारालैण्ड कहलाता है और इसमें पूरबी साइबेरिया तथा चीन का भाग पड़ता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में गोंडवानालैण्ड का कठोर भाग है जिसमें ब्राजील, अफ्रीका, अरब, भारत का प्रायद्वीप, हिन्दचीन और आस्ट्रेलिया का पश्चिमी पठार सम्मिलित हैं। इन भागों का मध्यवर्ती धरातल कमजोर होने के कारण अधिक भार को नहीं सह सका और इसमें मोड़ पड़ गये।
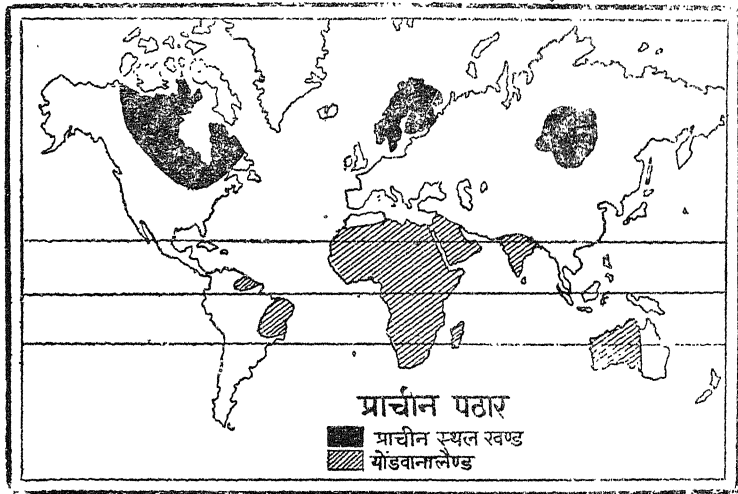
चित्र 61—धरातल के कठोर पिण्ड

विभिन्न कालों में बराबर मोड़ पड़ता रहा। मोड़ के कालों की अन्तरिम अवस्था में समस्त पृथ्वी पर शान्ति थी। कड़ी शैलों के ऊपरी भागों में दरारें पनप गयीं जिसके फलस्वरूप भूपटल के बड़े-बड़े भाग नीचे धँस गये जो सागरों के बनने के कारण बने। लारेंशिया और गोंडवानालैण्ड के टूटने से ऐटलाण्टिक महासागर बना। एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका के कठोर भागों के मध्य में मुलायम शैलों का भाग था जिसके अन्दर तृतीय महाकल्प के पूर्व टेथिस (Tethys) नाम का समुद्र था जिसका अवशेष भूमध्य सागर अब भी वर्तमान है और जिस पर दोनों ओर कड़े भागों के दबाव से एशिया तथा यूरोप के नवीन वलित पर्वतों का निर्माण हुआ। इसके अनुसार मोड़ पड़ते समय कठोर तथा मुलायम भूमि के ऊपर उठे हुए भागों से महाद्वीप बने और दरार पड़ जाने से नीचे धँसे हुए भाग सागर बन गये।

जोली की विघटनाभिक परिकल्पना या तापीय चक्र
(Radio-active Hypothesis of Joly or Thermal Cycles)

इस परिकल्पना के अन्तर्गत जो बातें प्रस्तुत की गयी हैं उनका आधार **वेगनर** की विचारधारा ही है। महाद्वीप सिएल और सागर-तल सिमै के बने हुए माने गये हैं। सिएल के भाग (जिनका घनत्व 2·67 होता है) सिमै के भागों की अपेक्षा (जिनका घनत्व लगभग 3 है) कम भारी होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सिएल के भाग सिमै पर अवलम्बित हैं। सन्तुलन के नियमानुसार सिमै पर तैरते हुए सिएल के ऊपरी भाग का आठ गुना भाग सिमै के अन्दर रहता है। जोली के अनुसार, सभी शैलें रेडियो-शक्ति का संचय करती हैं। सभी प्रकार की शैलों में विघटनाभिक पदार्थ—यूरैनियम एवं थोरियम—पाये गये हैं, चाहे उनकी मात्रा कितनी ही कम या अधिक क्यों न हो। ग्रेनाइट शैलों में विघटनाभिक तत्वों की सर्वाधिक मात्रा होती है जबकि बेसाल्ट शैलों में इनकी मात्रा कम होती है। इन पदार्थों के विच्छेदन से गरमी निकलती है। जोली ने अपनी परिकल्पना का प्रतिपादन सन् 1925 में अपनी पुस्तक *'The Surface History of the Earth'* में किया था।

सिएल शैलों की इस प्रकार की उष्णता संचालन-क्रिया द्वारा धरातल पर पहुँचकर नष्ट होती रहती है, किन्तु बेसाल्ट शैलों में विघटनाभिक द्वारा उत्पन्न गरमी बाहर नहीं निकल पाती और एकत्र होती रहती है। फलतः बेसाल्ट शैलों में गरमी की मात्रा बहुत अधिक होती है।

परन्तु पृथ्वी पर परिवर्तन प्रस्तुत करने योग्य गरमी का संचय बहुत दिनों में हो पाता है। इस प्रकार की गरमी संचय करने में तीन या चार करोड़ वर्ष लग जाते हैं। सिएल निर्मित धरातल में गहराई के साथ-साथ गरमी बढ़ती जाती है। संचित रेडियो-शक्ति सिएल से होकर संचालन द्वारा बाहर निकलती है। परन्तु यह क्रिया बहुत मन्द गति से होती है। सिएल का निचला भाग स्वयं रेडियो-शक्ति के कारण पिघलने के बिन्दु (1050° सेण्टीग्रेड) के निकट रहता है, अतः 1150° सेग्रे पर सिमै का नीचे से ऊपर की ओर पिघलना प्रारम्भ हो जाता है। जोली का कथन है कि सम्पूर्ण बेसाल्ट परत पिघल जाती है, किन्तु महासागरों का तल नहीं पिघलता है। इस तथ्य के लिए कोई विश्वसनीय कारण नहीं बताया गया है। बताया जाता है कि समुद्र के नीचे सिमै की परत है जिसमें विघटानाभिक तत्वों से उत्पन्न ताप समुद्र के सम्पर्क में आने से खो जायेगा। जब बेसाल्ट पूर्णतया पिघल जाता है तो भूपृष्ठ या सिएल अस्थिर हो जाता है। सिमै के पिघलने पर इसका आयतन अधिक हो जाता है और सिमै का घनत्व कम हो जाता है। फलतः महाद्वीप और महासागर ऊँचे उठ जाते हैं जिनसे धरातल पर तनाव पैदा हो जाता है। परिणामस्वरूप सिएल-निर्मित महाद्वीप सिमै में और अधिक डूब जाते हैं और समुद्रों का जल महाद्वीपों पर अधिक ऊँचाई तक चढ़ जाता है। इसको **समुद्री अतिक्रमण-काल** (Period of Transgressional Seas) कहते हैं। इस अवस्था में समुद्रों के तलों में

खिचाव के कारण दरारें पड़ जाती हैं, जिनके द्वारा पिघला हुआ लावा बाहर निकलने लगता है। इस प्रकार ज्वार उत्पन्न हो जाता है। प्रशान्त महासागर एवं अन्य सागरों के द्वीपों के बनने का कारण यही कहा जाता है; यद्यपि यह कार्य बहुत मन्द गति से लाखों वर्षों में सम्पन्न होता है। सिमै की पिघली हुई दशा में ज्वार के प्रभाव से सिएल-निर्मित महाद्वीप पश्चिम दिशा में बहना प्रारम्भ हो जाते हैं, जिससे महाद्वीपों के नीचे अति उष्ण बेसाल्ट परत महासागरों की ठण्डी परत से सम्बन्धित हो जाती है और इसमें रेडियो-शक्ति की संचित उष्णता महासागरों में होकर विलीन हो जाती है। ताप की बढ़ी हुई मात्रा के कम हो जाने पर सिमै ठण्डा होना प्रारम्भ हो जाता है और कठोर बन जाता है तथा उसका आयतन घट जाता है। फलस्वरूप, धरातल ऊँचा हो जाता है और समुद्री अतिक्रमण का युग समाप्त हो जाता है और **प्रति-क्रमणित समुद्र** (Regressional Seas) का युग उपस्थित हो जाता है। सिएल के अधिक जगह घेरने तथा सिमै के लगातार सिकुड़ने से सिमै के अन्दर मोड़ें पड़ जाती हैं और धीरे-धीरे सिएल तथा सिमै अपने पूर्व-रूप में आ जाती हैं। सिएल के अध: स्तर के बेसाल्ट परत के पिघलने पर बेसाल्ट-निर्मित समुद्र-तल क्यों नहीं पिघलता, यह एक गम्भीर एवं विचारणीय प्रश्न है।

आलोचना—इस परिकल्पना में पर्वत-निर्माण की क्रिया चक्रीय है; किन्तु **शेपर्ड** नामक विद्वान् ने प्रयोग द्वारा प्रमाणित किया है कि पर्वत-निर्माण-क्रिया चक्रीय नहीं है बल्कि निरन्तर होती रहती है। जोली ने अपनी परिकल्पना की विस्तृत व्याख्या में बताया है कि पर्वत-रचना के दो कालों के मध्य 3 से 6 करोड़ वर्ष का अवकाश होता है और ये अवकाश लगभग बराबर होते हैं; किन्तु अन्य भौगोलिक विवे-चनाओं ने ऐसे अवकाश की कल्पना को त्याज्य माना है।

इस परिकल्पना के अनुसार प्रत्येक महासागर के तल पर संपीडन के प्रमाण मिलने चाहिए किन्तु ऐटलाण्टिक महासागर तल पर तनाव के प्रमाण मिलते हैं। इस परिकल्पना से पूरब-पश्चिम दिशा में स्थित पर्वतों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती है।

जोली ने अपनी कल्पना में सिएल की मोटाई 30 किलोमीटर मानकर सिमै की ताप-शक्ति की गणना की है; किन्तु **जेफरी** ने भूकम्प-तरंगों के अध्ययन के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि सिएल की मोटाई 15 किलोमीटर है।

जेफरी ने जोली द्वारा प्रतिपादित सिमै के ठोस होने की कल्पना को भ्रमपूर्ण बताया है; क्योंकि जेफरी के मतानुसार विघटनाभिक पदार्थों से इतना ताप पैदा हो सकता है कि सिमै सदैव द्रव-अवस्था में रह सके।

होम्स के अनुसार ताप की बढ़ी हुई मात्रा को निकालने के लिए जोली ने जो क्रिया बतलायी है, वह अपर्याप्त तथा असम्भव है। इस साध्य के अन्तर्गत उपर्युक्त विचारधारा में सिमै का दुबारा ठण्डा होना कुछ वैज्ञानिकों को सन्तोषप्रद उत्तर नहीं देता। फिर भी आज इस परिकल्पना का काफी सम्मान है।

वेगनर की महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना
(Continental Drift Hypothesis of Wegener)

प्रो० ए० वेगनर जर्मनी के एक ऋतु-वैज्ञानिक थे। उन्होंने भूतकाल के जलवायु वितरण को स्पष्ट करने के लिए सन् 1912 में इस परिकल्पना का प्रतिपादन किया। इस बात के प्रमुख प्रमाण उपलब्ध हैं कि कोयला कल्प में उष्ण कटिबन्धीय भारत, ब्राजील (दक्षिणी अमरीका), दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया हिमाच्छादित हुए। यह तभी सम्भव है जब यह मान लिया जाय कि भूतकाल में महाद्वीपों पर जलवायु की पेटियों का वितरण भिन्न था। भूगर्भ-शास्त्रियों ने एक विशाल महाद्वीप
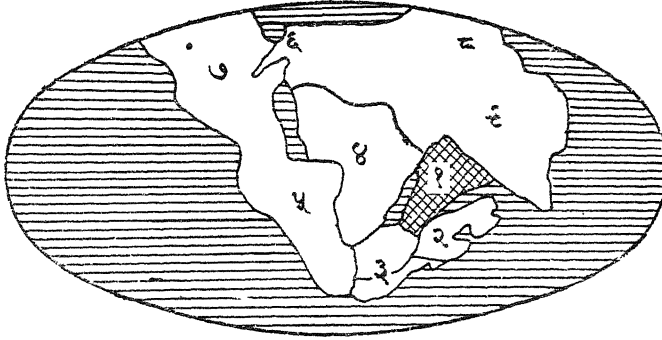
चित्र 62—पैन्थालसा, पैन्जिया तथा भारत
(1) भारत (2) आस्ट्रेलिया (3) एन्टार्कटिका (4) अफ्रीका (5) दक्षिणी अमरीका (6) ग्रीनलैण्ड (7) उत्तरी अमरीका (8) यूरोप (9) उत्तरी एशिया
(वेगनर के अनुसार)

प्रस्तावित किया था। इन्होंने सन् 1910 में यह विचार निर्धारित किया कि महाद्वीपीय सिमै के अन्दर क्षैतिज संचलन (horizontal movement) है। कोयला कल्प में सभी महाद्वीप एक साथ मिले हुए थे। इस सम्मिलित भूमि-खण्ड का नाम उसने पैन्जिया (Pangaea) रखा था। पृथ्वी के शेष भाग पर एक बहुत बड़े सागर का विस्तार था, जिसको पैन्थालसा (Panthalassa) कहते थे। पैन्जिया पर भी छोटे-छोटे महाद्वीपीय सागर थे। आद्यमहाकल्प में आस्ट्रेलिया, एन्टार्कटिका, भारतीय प्रायद्वीप, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका मिलकर दक्षिणी समूह के गोंडवानालैण्ड कहलाते थे। दूसरी ओर उत्तरी अमरीका, यूरोप तथा एशिया उत्तरी गुट के स्थल भाग लारेंशिया थे। इन दोनों समूहों के स्थल भाग के बीच टेथिस समुद्र था। इन्हीं दोनों समूहों के सम्मिलित स्थल भागों का नाम पैन्जिया था। वेगनेर ने यह स्पष्ट किया कि वर्तमान महाद्वीप एक विस्तृत भाग के रूप में आपस में जुड़े हुए थे। इसके अतिरिक्त वेगनर ने यह भी मान लिया कि दक्षिणी ध्रुव अफ्रीका के दक्षिणी तट के समीप ही स्थित

था। परन्तु महाद्वीपों का वर्तमान वितरण पैन्जिया के टूटने और विस्थापन के कारण वेगनर ने माना है। विस्थापन-शक्ति के कारण वेगनर ने अवकल गुरुत्वाकर्षण बल (Differential Gravitational Force) का सिएल के ऊपर प्रभाव बताया है। इस शक्ति के कारण महाद्वीपों का विस्थापन दो दिशाओं में हुआ—एक गुरुत्वाकर्षण में अन्तर के प्रभाव से महाद्वीपीय विस्थापन भूमध्य रेखा की ओर तथा ज्वारीय बल के कारण पश्चिम की ओर। इस प्रकार यह देखा जाता है कि अफ्रीका तथा यूरोपीय समूह के स्थल भाग प्रथम शक्ति के प्रभाव से तथा अमरीका द्वितीय शक्ति के प्रभाव से विस्थापित हुआ, जिसके फलस्वरूप वर्तमान युग में स्थल तथा जल के भाग का वितरण भूपटल पर देखा जाता है। यही नहीं, उक्त विद्वान् ने अपनी इस महाद्वीप-विस्थापन-परिकल्पना के अन्तर्गत यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि पहाड़ों की रचना किस प्रकार हुई तथा किस युग में पैन्जिया का कौनसा भाग टूटकर अलग हुआ। पहला रूप कोयला युग, दूसरा रूप आदिनूतन युग तथा तीसरा रूप चतुर्थ महाकल्प का है।
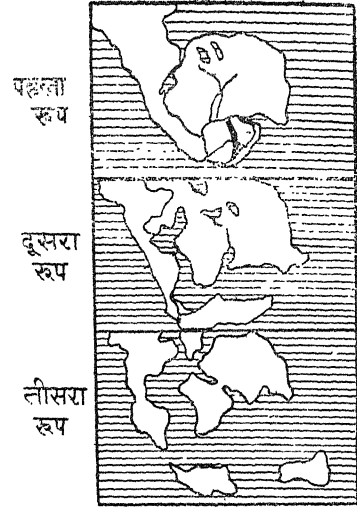
चित्र 63—पैन्जिया का क्रमशः टूटना

परन्तु उपर्युक्त परिकल्पना के विरोध में कुछ विद्वानों ने निम्न बातें प्रस्तुत कीं :

परिकल्पना के विरोधी तथ्य—(1) इस परिकल्पना के अन्तर्गत किसी ऐसी शक्ति को नहीं बतलाया गया है जो महाद्वीपों के विस्थापन का कारण बन सके। वेगनर के मतानुसार, महाद्वीपों के पश्चिम की ओर विस्थापन का कारण ज्वार-बल (tidal forcc) है। किन्तु वह वर्तमान शक्ति का 10,00,00,00,000 गुना शक्तिशाली होने पर ही महाद्वीप विस्थापन में समर्थ हो सकता है। परन्तु यदि इतनी शक्ति महाद्वीप-विस्थापन में लगी होती, तो पृथ्वी की परिभ्रमण-शक्ति को उसने एक ही वर्ष में बिल्कुल बन्द कर दिया होता।

(2) वेगनर द्वारा कथित भूमध्यरेखीय बल (equatorial force) भी इस प्रकार के महाद्वीप-विस्थापन में समर्थ नहीं है। यदि ऐसी शक्ति होती जो महाद्वीप-विस्थापन में समर्थ होती, तो उस शक्ति के प्रभाव से स्थलीय भाग विषुवत् रेखा के पास एकत्र हो गये होते। परन्तु होम्स ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि स्थलीय भाग विषुवत् रेखा पर एक दूसरी शक्ति के कारण एकत्र नहीं हो सके जो विस्थापन-शक्ति के साथ उसके विपरीत कार्य कर रही थी।

(3) उक्त परिकल्पना के सम्बन्ध में तीसरी मुख्य बात यह है कि महाद्वीप का

वह भाग जिसको वेगनर ने सिएल का बना हुआ माना है, सिमै पर किस प्रकार बह सकता है जबकि विलिस के अनुसार सिमै को सिएल की अपेक्षा अधिक कठोर माना जाता है। बोवी के अनुसार वास्तव में सिमै की अपेक्षा सिएल अधिक शक्तिमान है, अतः सिएल उस पर तैरकर मोड़ नहीं बना सकता है।

(4) वेगनर की परिकल्पना के विरोध में भूगर्भशास्त्रियों का कहना है कि उसके 'Jig Saw Fit' सिद्धान्त के अनुसार अफ्रीका एवं दक्षिणी अमरीका आपस में और आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड अरब सागर में तो ठीक बैठ जाते हैं, परन्तु पश्चिमी ग्रीनलैण्ड, बेफिनलैण्ड और उनके बीच के समुद्री भाग कहीं नहीं बैठते हैं। इस सम्बन्ध में वेगनर या उसके समर्थक अन्य किसी भी विद्वान् ने स्पष्ट बतलाने का प्रयत्न नहीं किया है।

(5) इस परिकल्पना के सम्बन्ध में अन्तिम आपत्ति यह है कि अनुमानित विस्थापन की तिथि और दिशा क्या थी ? और वह कौनसी शक्ति थी जो पैंजिया को उस समय तक एकत्र रखे रही जब तक कि उस शक्ति ने विस्थापन का कार्य प्रारम्भ नहीं किया ? और महाद्वीप-विस्थापन शक्ति ने उस समय के पूर्व ही क्यों नहीं अपना कार्य प्रारम्भ किया ?

(6) **जे० डब्ल्यू इवान्स** ने सन् 1919 में अफ्रीका से पश्चिम, पूरब और दक्षिण की ओर साधारण विस्थापन का प्रमाण पाया है जो प्रशान्त महासागर के केन्द्र की ओर है। किन्तु **टेलर** ने बताया है कि ऐटलाण्टिक कटक से अमरीका तथा यूरोप-अफ्रीका दो दिशाओं में चले गये।

(7) कोयला युग की वनस्पति के चिन्ह **वेगनर** महोदय ने भारत, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका का ऐन्टार्कटिका तथा आस्ट्रेलिया में विस्तृत बताया है किन्तु **पी० लेक** ने सन् 1931 में इस तथ्य को निराधार बताया क्योंकि ये वनस्पतियाँ अफगानिस्तान, ईरान, साइबेरिया आदि प्रदेशों में भी पाई जाती हैं।

परिकल्पना के समर्थक तथ्य—(1) इस परिकल्पना के अन्तर्गत पश्चिम तथा भूमध्य रेखा की ओर महाद्वीपीय विस्थापन कठिन प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रकार के महाद्वीपीय विस्थापन का अनुमान **एफ० बी० टेलर** ने सन् 1908 में वेगनर के पूर्व ही किया था। उसके वेगनर के विस्थापन-विचार को दो ध्रुवों से बाहर की ओर अरीय गति (radial movement) में स्वीकार किया था, जिसके फलस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध बहुत से पर्वतों एवं द्वीपों की रचना को माना गया है। फ्रांसीस विद्वान् **स्निडर** ने भी सन् 1885 में इसी सुझाव को प्रस्तुत किया था।

(2) इधर कुछ वर्षों के भीतर वेगनर के अनुयायियों ने महाद्वीपीय विस्थापन के पक्ष में बहुत-से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं जिनके द्वारा स्थल की पपड़ी का क्षैतिज गतिमान होना सिद्ध होता है। वर्तमान युग के विचारों के अनुसार पर्वतों की रचना में इस प्रकार की सैकड़ों किलोमीटर विस्तृत गति की आवश्यकता होती है। इस

प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि पर्वतों की रचना में महाद्वीपीय विस्थापन ने बहुत काम किया होगा। अतएव वेगनर का विस्थापन-विचार ठीक प्रतीत होता है।

(3) **वेगनर** एक ऋतु-विज्ञान-शास्त्री था किन्तु उसने भूभौतिक-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आदि से महाद्वीपीय-विस्थापन के सम्बन्ध में कई प्रमाण प्रस्तुत किये जिनके आधार निम्न हैं :

(क) उत्तरी तथा दक्षिणी ऐटलाण्टिक महासागरों के तटों में समानता है। 'Jig Saw Fit' के सिद्धान्त के अनुरूप उत्तरी अमरीका और ग्रीनलैण्ड को यूरोप से मिलाने पर तथा दक्षिणी अमरीका के पूर्वी तट का अफ्रीका के पश्चिमी तट के साथ जोड़ ठीक-ठीक बैठ जाता है।

(ख) ऐटलाण्टिक महासागरों के दोनों तटों के धरातल की बनावट मिलती-जुलती है। पश्चिमी यूरोप के पर्वत एवं उत्तरी अमरीका के अपेलेशियन पर्वत एक ही समय के बने हुए ज्ञात होते हैं। मध्य अफ्रीका और ब्राजील के पठार भी एक ही प्रकार की प्राचीनतम कठोर शैलों के बने हैं। दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिणी अमरीका दोनों में सोने की खानें स्थित हैं जो एक ही प्रकार की बनावट की भूमि में पायी जाती हैं। अरब का पठार, दक्षिणी भारत का पठार और पश्चिमी आस्ट्रेलिया का पठार एक ही कल्प की कठोर शैलों के बने हुए ज्ञात होते हैं।

(ग) ऐटलाण्टिक महासागर के दोनों ओर मिलने वाली प्राचीन वनस्पतियाँ और जीव-जन्तुओं के जीवाश्म (fossils) आपस में मिलते-जुलते हैं। दोनों ही भागों में पाई जाने वाली कोयले की शैलें एक समान हैं जिनमें कोयले की खानें विद्यमान हैं। पश्चिमी यूरोप, ब्रिटिश द्वीपसमूह और उत्तरी अमरीका के अपेलेशियन क्षेत्रों में एक ही प्रकार का कोयला मिलता है। उक्त शैलों में वनस्पतिक्रम में भी समानता दिखाई पड़ती है। इन बातों की व्याख्या **डुटोइट** महोदय ने सन् 1927 में रखी।

(घ) स्कैण्डिनेविया के उत्तरी भाग से छोटे-छोटे जानवर जिनमें चूहे तथा रेंगने वाले जीव मुख्य हैं, पश्चिम दिशा में आइसलैण्ड की ओर पलायन करते हैं। कुछ वर्षों में जब इनकी संख्या अधिक हो जाती है तो ये उस दिशा में जाते हैं जिधर इनके पूर्वज जाते थे। परन्तु इनके पूर्वजों की भूमि के धीरे-धीरे पश्चिम की ओर दूर चले जाने से इन्हें समुद्र में नष्ट हो जाना पड़ता है। इन जीवों की पश्चिम की ओर पलायन की प्रवृत्ति इनके पूर्वजों की प्रकृति प्रदर्शित करती है जो समय-समय पर पश्चिम की ओर जाया करते थे। यही नहीं, आइसलैण्ड के कुछ जानवर उत्तरी स्कैण्डिनेविया के जानवरों से मिलते-जुलते भी हैं।

ग्रेगरी की स्थल-सेतुओं की परिकल्पना
(Gregory's Concept of Land Bridges)

महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना के पक्ष में दूरस्थ महाद्वीपों में जीव, वनस्पति तथा शैल-समूहों में समानता का प्रमाण बहुत प्रबल था। इस तथ्य की व्याख्या के निमित्त महाद्वीपीय विस्थापन के स्थान पर स्थल सेतुओं की कल्पना जे० डब्ल्यू०

ग्रेगरी महोदय ने सन् 1929 में प्रस्तुत की। **ग्रेगरी** महोदय के विचारानुसार महाद्वीपों के मध्य स्थल-सेतु थे जिनका अवतलन हो गया और महाद्वीप एक-दूसरे से अलग हो गये। इसी कारण दूरस्थ महाद्वीपों की भू-वैज्ञानिक रचना एवं जीव-जन्तुओं में एकरूपता मिलती है।

इस परिकल्पना के पक्ष के प्रमाण

1. उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में स्तर-भ्रंश तथा अवतलन के प्रमाण मिलते हैं। स्काटलैंड तथा आइसलैंड में स्तर-भ्रंश के फलस्वरूप लावा प्रवाह हुआ। इसी कारण से पूरबी ऐटलांटिक तथा पश्चिमी अफ्रीका में ज्वालामुखी बने हैं।

2. फाकलैंड तथा मलागासी टापूओं का स्थल भाग से विलग होना अवतलन प्रमाणित करता है।

3. **डॉ० एफ० ए० मीनेज** ने अपनी खोज के निष्कर्ष में लिखा है कि महासागरों के तलों में कम घनत्व की शैलें मिलती हैं। इससे व्यक्त होता है कि ये कम घनत्व की शैलें स्थल-सेतुओं के अवतलित शेष भाग हैं।

4. प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप रायोलाइट तथा ट्रैचाइट शैलों से निर्मित हैं। अतः स्पष्ट है कि इस महासागर का तल केवल बेसाल्ट का बना नहीं है जिससे स्थल भाग के अवतलन की क्रिया का प्रमाण मिलता है।

इस परिकल्पना के विरोधी तथ्य

1. स्थल-सेतुओं की कम घनत्व की शैलें महासागर तल के अधिक घनत्व के अधः स्तर में नहीं डूब सकती हैं।

2. प्रशान्त महासागरीय तल के स्थायित्व के प्रमाण उपलब्ध हैं। इस महासागर के किनारे का महाद्वीपीय मग्न ढाल इस तथ्य का समर्थन करते हैं।

3. महाद्वीपीय विस्थापन की परिकल्पना के आधार पर अनेक उपयोगी भौगोलिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है। अतः स्थल सेतुओं की परिकल्पना को अल्प समर्थन मिला है।

नोट—महाद्वीप एवं महासागर की उत्पत्ति सम्बन्धी अन्य परिकल्पनाओं को अध्याय 20 में देखें।

प्रश्न

1. How Oceans and Continents are formed ? Describe the prevalent theories to justify your answer. Illustrate the points in favour and against.

   (*Gorakhpur 1969*; *Vikram 1971*; *Magadh 1968*)

   महासागर एवं महाद्वीपों की उत्पत्ति कैसे हुई ? अपने उत्तर को प्रमाणित करने वाली परिकल्पनाओं की व्याख्या कीजिए। पक्ष एवं विपक्ष के तथ्यों का भी उल्लेख करें।

2. What is the evidence for and against the conception of permanency of continents and oceans' basin ? Which theory is best ? Explain the present configuration of the earth's surface.
(*Aligarh 1971; Ranchi 1970; Vikram 1969*)
महाद्वीपों एवं महासागरीय बेसिन के स्थायित्व के पक्ष और विपक्ष में क्या प्रमाण हैं ? इनमें कौन परिकल्पना सर्वोत्तम है ? पृथ्वी से धरातल की वर्तमान रचना की व्याख्या कीजिए।
3. Give an account of the origin of continents and oceans.
(*Chandigarh 1971; Patna 1971; Gorakhpur 1970*)
महाद्वीपों एवं महासागरों की उत्पत्ति की व्याख्या कीजिए।
4. Discuss the main evidence in support of the theory of Continental Drift and draw sketch map showing Wegener's Pangaea.
(*Jodhpur 1971; Sagar 1968; Gwalior 1970*)
महाद्वीपीय विस्थापन के पक्ष के प्रमाणों की व्याख्या कीजिए और वेगनर को 'पैन्जिया' को एक रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए।
5. Discuss the relative merits of the various theories advanced to explain the fundamental divisions of earth's crust into continents and ocean basins.
(*Nagpur 1966*)
पृथ्वी-पटल को महाद्वीप एवं महासागर-तलों में विभक्त करने के सम्बन्ध में प्रस्तुत परिकल्पनाओं की आपेक्षिक विशिष्टताओं की व्याख्या कीजिए।
6. "Land and sea are almost everywhere antipodal." Comment.
(*Jodhpur 1968*)
"भू-भाग एवं सागर प्रत्येक स्थान पर प्रतिध्रुवात्मक हैं।" इसकी आलोचना कीजिए।
7. Present a critical analysis of Tetrahedral Hypothesis.
(*Gorakhpur 1971*)
चतुष्फलकीय परिकल्पना का विवेचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिये।

स्थल-मण्डल
[LITHOSPHERE]

अभी पृथ्वी की सबसे ऊपरी पपड़ी (crust) का ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो सका है। अंग्रेजी भाषा के इस 'क्रस्ट' शब्द का प्रयोग उस काल में प्रारम्भ हुआ जब यह धारणा थी कि पृथ्वी की ऊपरी परत ठोस और अभ्यन्तर द्रव है। यह परत विभिन्न शैलों एवं उनकी मिट्टियों से निर्मित है। इसी कारण इस परत को अंग्रेजी भाषा में 'lithosphere' (स्थल-मण्डल) भी कहते हैं क्योंकि 'lithos' का अर्थ 'पत्थर' होता है।

हमारी पृथ्वी के समस्त धरातल का क्षेत्रफल 50,68,80,000 वर्ग किलोमीटर है जिसमें 14,08,00,000 वर्ग किलोमीटर अर्थात् धरातल के 29 प्रतिशत भाग पर स्थल-मण्डल है। इस स्थल-मण्डल का दो-तिहाई भाग उत्तरी गोलार्द्ध में है। उत्तरी गोलार्द्ध में 20° से 70° तक और दक्षिणी गोलार्द्ध में 70° से 80° तक स्थल की बहुलता है।

स्थल-मण्डल की बनावट विचित्र है। कहीं भूमि सपाट है तो कहीं अत्यन्त ऊबड़-खाबड़, कहीं गहरी घाटियाँ हैं तो समीप में गगनचुम्बी पर्वत-शृंग। समुद्र-तल से 180 मीटर, 180 मीटर से 450 मीटर तथा 450 मीटर से 900 मीटर तक की ऊँचाई के प्रत्येक स्थल भाग स्थल-मण्डल के 20-20 प्रतिशत हैं। 30 प्रतिशत भाग 900 मीटर से 1,800 मीटर तक की ऊँचाई पर है। शेष 10 प्रतिशत भाग 1,800 मीटर से अधिक ऊँचा है।

पुस्तकों को सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है

9

भूपृष्ठ की रचना

[STRUCTURE OF THE EARTH'S CRUST]

भूपृष्ठ के स्थलरूप (landforms) अपनी अनेकरूपता तथा विचित्रता के साथ मानव, जीव-जन्तु तथा वनस्पति-जगत के विकास के मुख्य आधार हैं। इन स्थल-रूपों की परख कतिपय मूलभूत तथ्यों पर निर्भर करती है। प्रथमतः भूपृष्ठ किन पदार्थों से निर्मित है ? द्वितीय, भूपृष्ठ के अनेक स्थलरूप क्यों हैं ? तृतीय, इन रूपों की क्या विशेपताएँ हैं ?

भूपृष्ठ 80 या 100 किलोमीटर मोटा है। इसकी रचना करने वाले सभी पदार्थ **शैल** (rock) कहलाते हैं। साधारणतः शैल से कठोरता का संकेत होता है, किन्तु भूपृष्ठ के सभी प्राकृतिक पदार्थ शैल हैं। शैलें ग्रेनाइट की तरह कठोर, मिट्टी (clay) और बालू की तरह मुलायम, खरिया की तरह प्रवेश्य तथा स्लेट की तरह अप्रवेश्य हो सकती हैं। शैलें अनेक खनिजों (minerals) के मिश्रण से बनी होती हैं और इनका कोई रासायनिक मिश्रण नहीं होता है।

कुछ शैलों की रचना निश्चित रासायनिक संयोग एवं भौतिक विशेषताओं से युक्त होती है। इन्हें खनिज की संज्ञा प्रदान की जाती है। किन्तु ये खनिज भी कई प्रकार के रासायनिक मूल तत्त्वों (chemical elements) के मिलने से बने होते हैं। पृथ्वी में 102 प्रकार के रासायनिक तत्त्वों की जानकारी हो चुकी है। पृथ्वी का 98 प्रतिशत भाग केवल आठ तत्त्वों द्वारा बना है। स्फटिक (quartz) एक खनिज है जो सिलिका तथा ऑक्सीजन से बना है। जल भी एक खनिज है जो हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन से बना है।

पृथ्वी के आठ मूल तत्त्व

ऑक्सीजन	46.68 प्रतिशत	कैल्सियम	3·63 प्रतिशत
सिलिकन	27·60 प्रतिशत	सोडियम	2·72 प्रतिशत
ऐलुमिनियम	8·05 प्रतिशत	पोटैशियम	2·56 प्रतिशत
लोहा	5·03 प्रतिशत	मैगनीशियम	2·07 प्रतिशत

अन्य आठ तत्त्व टिटेनियम, फासफोरस, कार्बन हाइड्रोजन, मैंगनीज, गन्धक, क्लोरीन तथा बेरियम हैं जिनसे स्थल, जल तथा वायुमण्डल के 1·55 प्रतिशत भाग की रचना होती है। भूपटल में सोना, चाँदी, ताँबा आदि तत्त्वों की कमी है। ये भारी पदार्थ हैं। इस प्रकार भूपटल के निर्माण में हल्के तत्त्वों की अधिकता तथा भारी तत्त्वों की कमी ज्ञात होती है।

खनिजों के भेद

भूपृष्ठ में पाये जाने वाले खनिज मुख्यतया चार प्रकार के होते हैं :

(1) **ऑक्सीजन-प्रधान खनिज** (Oxides)—जैसे स्फटिक (quartz) तथा लोहे के ऑक्साइड। ये दो या अधिक तत्त्वों के मिलने से बनते हैं। इसमें ऑक्सीजन मुख्य तत्त्व होता है।

(2) **सिलिकन-प्रधान खनिज** (Silicates)— जैसे फेल्सपार, अभ्रक, जस्ता। ये शैल-निर्माणकारी खनिज हैं। ये सिलिका एवं ऑक्साइड के संयोग से बने हैं।

(3) **कार्बोनेट-प्रधान खनिज** (Carbonates)—जैसे कैलसाइट, डोलोमाइट, मैगनेसाइट। ये चूने, कार्बन, मैगनीशियम, ऑक्सीजन आदि के विभिन्न संयोग से बने खनिज हैं।

(4) **मूल खनिज** (Native minerals)—जैसे ग्रेफाइट, गन्धक, चाँदी, ताँबा, शैलखरी आदि। ये एक ही तत्त्व के बने होते हैं।

इन खनिजों की पहचान इनके स्वरूप, विदलन एवं विभंजन, कठोरता, रंग, घुलनशीलता, द्युति तथा वर्णरेखा के रंग से की जाती है। कभी-कभी स्वाद, सुगन्धि तथा स्पर्श का भी सहारा लिया जाता है।

शैलों के भेद

शैलें अनेक प्रकार की होती हैं। निर्माण की मौलिक प्रकृति एवं उत्पत्ति के आधार पर उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है :

(1) आग्नेय शैलें (Igneous[1] Rocks),
(2) अवसादी शैलें (Sedimentary[2] Rocks), और
(3) कायान्तरित शैलें (Metamorphic[3] Rocks)।

आग्नेय शैलें

ये भूपटल की प्रारम्भिक शैलें हैं जो पृथ्वी के पिघले हुए पदार्थों के ठण्डे हो जाने पर बनी हैं। इनका निर्माण उस अतीत काल में हुआ जब कोई जीव तथा वनस्पति नहीं थी, अतः इनके अवशेष इन शैलों में दृष्टिगत नहीं होते। ये पृथ्वी पर सर्वप्रथम बनीं, फिर भी सभी आग्नेय शैलें प्राचीनतम नहीं हैं। ज्वालामुखी के उद्-भेदन से आज भी इन शैलों की निर्माण-क्रिया जारी है। किन्तु इतना निश्चय है कि अन्य शैलों की रचना इन्हीं से हुई है, अतः आग्नेय शैलों को प्राथमिक शैलें कहना ही अधिक श्रेयस्कर है।

---

1 Ignis (Latin)=Fire. 2 Sedimentum (Latin)=Setting down.
3 Meta=Change : Morphe (Greek)=Form.

आग्नेय शैलों के लक्षण

ये कठोर और रवेदार होती हैं। ये रवे विभिन्न आकार, रूप एवं क्रम में रहते हैं। इनमें पानी प्रवेश नहीं कर सकता है। इसी कारण इनके रासायनिक परिवर्तन नहीं होते, बल्कि भौतिक विखण्डन अधिक होते हैं। सूर्य-ताप, हिम तथा जल की क्रिया से इनका विखण्डन सुगमता से होता है।

इनका जमाव स्थल होता है, किन्तु संधियों पर अपरदन तथा अपक्षय का प्रभाव पड़ता है। ये सघन होती हैं और इनमें परतें नहीं होती हैं। शैलों में समतल पर सन्धि पड़ने तथा लावा की एक परत पर लावा की दूसरी परत के पुनः जमाव से आग्नेय शैलों में परत होने का भ्रम हो जाता है।

इनमें प्राणिज अवशेष भी नहीं मिलता है।

आग्नेय शैलों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जाता है। इनमें उनकी स्थिति तथा संरचना मुख्य हैं।

स्थिति के आधार पर आग्नेय शैलों के भेद

(1) **अन्तर्वेधी शैल**—पृथ्वी के अन्तरंग भाग में पिघले हुए पदार्थ हैं जिनको **मैग्मा** (magma) कहते हैं। इनका औसत तापमान 595° सेन्टीग्रेड होता है। इनके धीरे-धीरे जमने पर बड़े-बड़े रवे बनते हैं और ऐसी शैल के बनने में समय भी अधिक लगता है। इस प्रकार की शैलों को **अन्तर्वेधी आग्नेय शैल** (Intrusive Igneous Rocks) कहते हैं। इनका विशिष्ट उदाहरण ग्रेनाइट तथा ग्रेबो शैल हैं। पृथ्वी के तल के उत्थापन या अपरदन के पश्चात् ही ये शैलें ऊपर निकलती हैं। अधिक गहराई पर स्थित इन शैलों को **वितलीय शैल** (Plutonic Rocks) कहते हैं। इनका नामकरण 'प्लूटो' शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है 'पाताल देवता'।
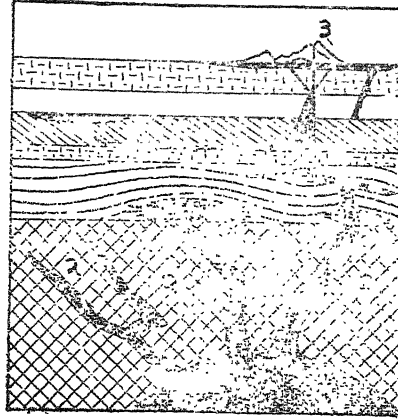
चित्र 64—आग्नेय शैलें
(1) अन्तर्वेधी, (2) मध्यवर्ती, (3) बाह्य

कतिपय कारणों से भूमि के आन्तरिक भाग से पिघला हुआ पदार्थ बाहर निकलने का प्रयास करता है और प्रायः मार्ग न मिलने पर भूपृष्ठ में फैलकर जम जाता है जिससे भूभाग गुम्बदनुमा या वीक्ष (lens) के आकार का बन जाता है। जब इसकी आकृति सेडार वृक्षवत् (cedar treelike) होती है तो इन्हें **कुकुच्छैल या छत्रक या लैकोलिथ** (laccolith) कहते हैं। इनका आधार चपटा होता है और

ये साँड़ के डील की भाँति प्रतीत होते हैं। लैकोलिथ का अर्थ है 'प्रस्तर का भण्डार' इनका एक आधार होता है और द्रव-पदार्थ के प्रवेश-मार्ग किनारों की ओर फैले होते हैं। इनके निर्माण की प्राथमिक अवस्था में परतदार या आग्नेय शैलों का आवरण होता है। कालान्तर में अनाच्छादन से ये असम्बद्ध पहाड़ियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के ऊटाह राज्य के **हेनरी पर्वत** में अनेक लैकोलिथ मिलते हैं। ब्रिटेन में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।
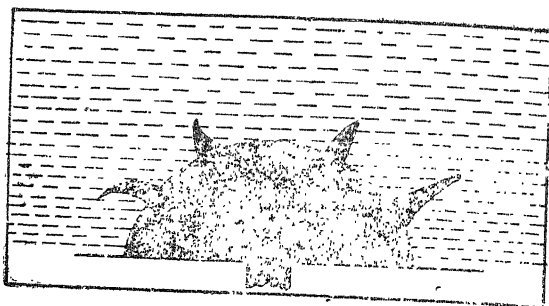
चित्र 65—छत्रक

जब इन गुम्बदों में अधिक भार के कारण दरारें पड़ जाती हैं तो इन्हें **महास्कंध** (bathylith) कहने लगते हैं। यह अन्तर्वेधी मैग्मा का सबसे बड़ा और सर्वप्रसिद्ध रूप होता है। इनके किनारे खड़े होते हैं और नीचे की ओर अज्ञात गहराई तक चले जाते हैं। इनका आधार कभी दिखायी नहीं देता है। ये सामान्यत: ग्रेनाइट द्वारा निर्मित होते हैं। इनमें राँची के पठार को निर्मित करने वाले ग्रेनाइट की शैल हैं। राजस्थान का **इरिनपुरा** ग्रेनाइट इसका उदाहरण है।
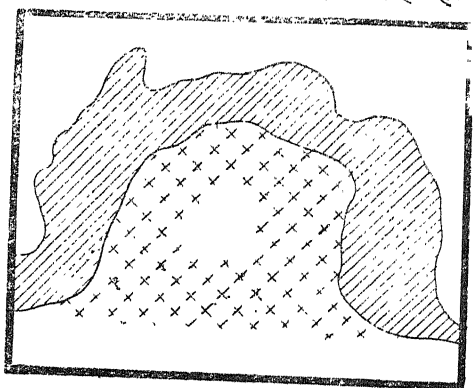
चित्र 66—महास्कंध

(2) **मध्यवर्ती शैल**—जब आन्तरिक द्रव-पदार्थ बाहर निकलते समय धरातल तक पहुँचने में असमर्थ रहता है तो मार्ग की प्रस्तरीभूत शैलों के मध्य वह लम्बवत् दीवार, पुल तथा बाँध के रूप में जम जाता है। इनको **भित्ति** (dike) कहते हैं। इनके रवे छोटे होते हैं और ये भूपृष्ठ की परतों के साथ समकोण बनाते हैं। ये शैलें उन शैलों
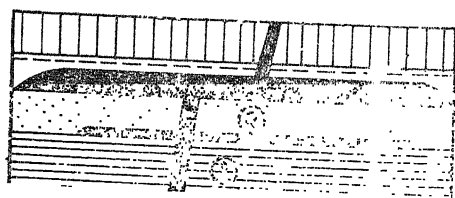
चित्र 67—लावाभित्ति
(1) लावाभित्ति, (2) लावापट्ट

से जिनमें लावा प्रवेश करता है, अधिक कठोर और शक्तिशाली होती हैं। इसीलिए किसी देश के धरातल पर दीवार या श्रेणियों के रूप में निकली हुई लावाभित्ति मिलती हैं। बिहार के सिंहभूम जनपद में लावाभित्ति मिलती हैं जो नवीनतम डोलेराइट (newer dolerite) के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरी अमरीका के संयुक्त राज्य में मुद्रिका या वलयभित्ति (ring dike) क्लीवलैण्ड लावाभित्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

जब पिघली शैलों का जमाव भूपृष्ठ की तहों के समानान्तर तथा अधिक मोटाई में होता है तो इसे लावासट्ट या सिल (sill) कहते हैं। ये लावाभित्ति से सम्बन्धित होती हैं। इनकी मोटाई कुछ सेन्टीमीटर से लेकर कई सौ मीटर तक हो सकती है। हडसन नदी के दूसरी ओर न्यूयार्क के सम्मुख स्थित पैलिसेड लावापट्ट (palisade sill) 160 किलोमीटर लम्बी एक सीधी पहाड़ी है। इंगलैण्ड में नार्दम्बरलैण्ड से लेकर टीज नदी तक फैली हुई श्याम शैल या ह्विन सिल (whin sill) डरवन के निकट लुप्त हो जाती है। रोम साम्राज्य-काल में प्रसिद्ध नार्दम्बरलैण्ड दीवार इसी पर निर्मित थी। यह 128 किलोमीटर लम्बी और 30 मीटर मोटी है। भारत में मध्य प्रदेश के कोरिया तथा बिहार की कोयला खदानों में लावापट्ट प्राप्त होती है। जब लावापट्ट कम मोटी होती है तो इसे **चादर** (sheet) कहते हैं।

छोटे आधार के महा स्कंध को **स्कंध** (stock) कहते हैं। इनका आधार भी दृष्टिगत नहीं होता है। जब इनका स्वरूप गोलाकार होता है तो उसे **वृत्त स्कंध** (boss) कहते हैं। कभी-कभी अवसादी शैलों की मोड़दार परतों में कड़ी तहों के विलग हो जाने पर रिक्त स्थान में छिछली शैलों का असमान अन्तर्वाह (influx) हो जाता है, तो इसको **मसूर शैल** या फैकोलिथ (phacolith) कहते हैं। इसकी आकृति वीक्ष से मिलती-जुलती है। जब यह अन्तर्बाह तश्तरीनुमा होता है तो इस आकृति
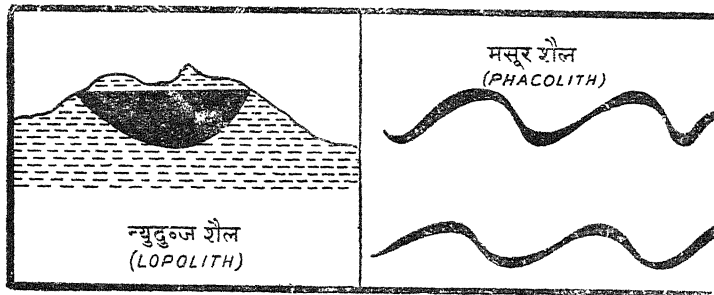
चित्र 68—न्युदुब्ज और मसूर शैल

को **न्युदुब्ज शैल** या लोपोलिथ (lopolith) कहते हैं। ऐसे भराव प्रायः अनुस्तरी (concordant) होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के बुशवेल्ड में इसके सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। ट्रान्सवाल की न्युदुब्ज शैल 480 किलोमीटर लम्बी है।

(3) बहिर्वेधी शैलें—जब पिघली हुई शैलें भूपृष्ठ पर निकलकर जम जाती हैं तो शीघ्रता से ठण्डा होने के कारण इनमें रवे नहीं बनते हैं। इन्हें बहिर्वेधी **आग्नेय**

शैलें (extrussive igneous rocks) कहते हैं। प्राय: ज्वालामुखी के उद्भेदन के समय पिघला हुआ पदार्थ धरातल पर निकल आता है जिसको लावा (lava) कहते हैं। लावा से निर्मित शैलों को ज्वालामुखी शैल भी कहते हैं। सन्धियों से निकले हुए लावा ने धरातल के एक विस्तृत भाग को ढक लिया है क्योंकि तरलता के कारण यह तारकोल की भाँति बहता है। ऐसे अनेक लावा-प्रवाहों से भारत में उत्तरी-पश्चिमी दक्कन तथा अमरीका का कोलम्बिया पठार बने हुए हैं। लावा शीशे की तरह होता है। इसका उदाहरण ओबसीडियन (obsidian) है। बहिर्वेधी आग्नेय शैलों के विशिष्ट उदाहरण **बेसाल्ट** हैं। इन्हें **अस्फटीय शैलें** (non-crystalline rocks) भी कहते हैं। इनकी बनावट भिन्न-भिन्न होती है क्योंकि इनमें खनिजों का असमान मिश्रण मिलता है।

संरचना के आधार पर आग्नेय शैलों के भेद

आग्नेय शैलों की रासायनिक संरचना भिन्न-भिन्न होती है। उनमें संघटक तत्वों का मिश्रण विभिन्न मात्रा में होता हे किन्तु सभी शैलों में अल्पाधिक मात्रा में सिलिका का मिश्रण अवश्य होता है। सिलिका एक प्रकार का कड़ा पत्थर है जिससे गैस तैयार होती है। संरचना के आधार पर आग्नेय शैलें दो वर्गों में विभक्त की जाती हैं :

(1) अधिसिलिक शैलें (Acid Igneous Rocks),

(2) अल्पसिलिक आग्नेय शैलें (Basic Igneous Rocks)।

(1) अधिसिलिक शैलें—इन शैलों में सिलिका की मात्रा 80 प्रतिशत तक होती है। ये पृथ्वी की ऊपरी परत में उपलब्ध होती हैं। लोहे तथा मैगनीशियम की कमी के कारण इनका रंग पीला और फीका होता है। साधारणत: इनमें स्फटिक तथा फेल्सपार की अधिकता होती है। ठोस पिण्ड-रूप होने के कारण अधिसिलिक शैल सरल होती हैं और अपरदन की क्रिया से कम प्रभावित होती हैं। इसी कारण इमारतों के निर्माण में इनका उपयोग होता है। इस शैल का उत्तम उदाहरण **ग्रेनाइट** है। बालू एवं सिलिका की मात्रा अधिक होने से पिघला हुआ पदार्थ तत्काल जम जाता है और ऊँचे पर्वत बन जाते हैं। इसमें सामान्य रूप से 31·3% स्फटिक, 52·3% फेल्सपार तथा 11 5% अभ्रक प्राप्त होता है।

(2) अल्पसिलिक शैलें—इन शैलों की रचना में सिलिका की मात्रा 52 प्रतिशत तक होती है। इनमें लोहे के ऑक्साइड, चूना और ऐलुमिनियम की प्रधानता होती है। इसमें क्षार पदार्थ बिल्कुल नहीं होते। इनमें बालू तथा सिलिका की मात्रा कम होती है जिससे इनका रंग गहरा एवं काला होता है। ये पृथ्वी के सिमै वाले भाग में पायी जाती हैं। यद्यपि ये शैलें ग्रेनाइट शैलों की अपेक्षा ऊँचे तापमान पर पिघलती हैं किन्तु उनकी अपेक्षा पतली होती हैं। इन पर मौसमी क्रिया का अधिक प्रभाव पड़ता है। बेसाल्ट इसका साधारण उदाहरण है। महासागरीय ज्वालामुखी क्षेत्रों तथा द्वीपों में ये शैलें अधिक मिलती हैं।

बालू तथा सिलिका की मात्रा कम होने से पिघली हुई शैलें विलम्ब से जमती हैं और धरातल पर फैल जाती हैं। फलतः इनसे पर्वत-निर्माण नहीं होता है। भारत का दक्षिणी पठार, अबीसीनिया का पठार तथा आस्ट्रेलिया का पठार इसके उदाहरण हैं।

आग्नेय शैलों का आर्थिक महत्त्व

आग्नेय शैलें खनिज भण्डार हैं। उत्तरी अमरीका का लारेंशियल शील्ड बहुमूल्य खनिजों जैसे सोना, लोहा, ताँबा आदि से भरपूर है। आस्ट्रेलिया के पश्चिमी पठार तथा दक्षिणी अफ्रीका में सोना एवं हीरे की खानें हैं।

अवसादी शैलें

जल, वायु एवं हिम के द्वारा स्थानान्तरित मिट्टी, कंकड़ तथा पत्थरों के निक्षेप परतों के रूप में भूपटल पर बन जाते हैं। इन्हें **अवसादी शैलें** कहते हैं। ये भिन्न-भिन्न आकार तथा प्रकार के छोटे एवं बड़े कणों से बनी होती हैं जिनमें उन जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों के अवशेष पाये जाते हैं जो निर्माण-काल में परतों के मध्य पड़ गये होते हैं। भूपृष्ठ के तीन-चौथाई भाग पर ये विस्तृत हैं किन्तु भूपृष्ठ की रचना में इनका योग केवल 5 प्रतिशत है। मानवमात्र के लिए ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।
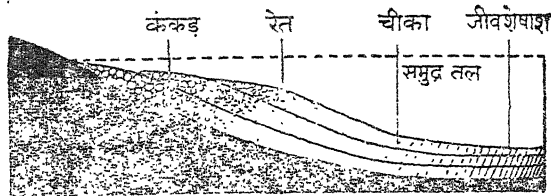
चित्र 69—अवसादी शैलों की रचना

अवसादी शैलों के निर्माण में स्फटिक, मिट्टी तथा चूना की अधिकता होती है। इनके शैल-चूर्ण विभिन्न रसायनों तथा कार्बनिक तत्वों से निर्मित होते हैं। इन शैलों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया जाता है। इनमें उनकी रचना-विधि तथा उत्पत्ति-स्थान मुख्य हैं।

रचना-विधि के आधार पर अवसादी शैलों के भेद

(1) **अपरदन चूर्ण से निर्मित शैलें या अप्राणिज शैलें**—अपनयनकारकों द्वारा शिलाचूर्ण एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर निक्षेपित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार बनी शैलें शिलाचूर्ण निर्मित शैलें होती हैं। विश्व की अधिकांश शैलें इस कोटि में आती हैं। इनके दो वर्ग हैं: (अ) बलुई शैलें (arenaceous[1] rocks), तथा (ब) मृण्मय शैलें (argillaceous[2] rocks)।

(अ) **बलुई शैलें**—इन शैलों में स्फटिक खनिज की प्रधानता होती है। फलतः ये बालू तथा बजरी में बदल जाती हैं। चिकनी मिट्टी, चूना तथा सिलिका के सूक्ष्म

---

[1] Arena (Latin)=Sand. [2] Argill (Latin)=Clay.

कणों के कारण रेत के बड़े तथा विभिन्न आकार के कण जमकर शैल बन जाते हैं। इनमें बलुआ पत्थर मुख्य है। इसमें 70% के लगभग स्फटिक तथा 7% के लगभग चिकनी मिट्टी के पदार्थ होते हैं। बलुआ शैलों के कण नुकीले तथा भद्दे होते हैं। यह छिद्रयुक्त होता है और पानी को आत्मसात कर लेता है। ग्रिटस्टोन भी इसी प्रकार की शैल है जो भवन-निर्माण के काम आती है। इसका रंग गहरा स्लेटी अथवा भूरा होता है।
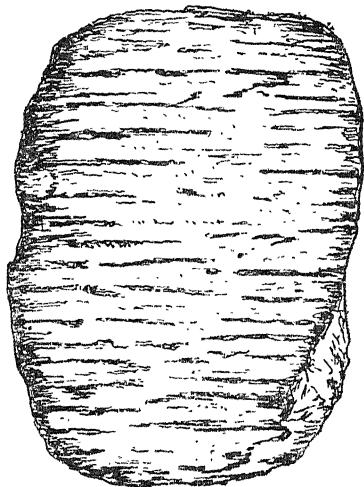
(ब) **मृण्मय शैलें**—ये मिट्टी के सूक्ष्म कणों के निक्षेप से बनी शैलें हैं। इनमें चिकनी मिट्टी की मात्रा अधिक होती है, जिसमें श्वेत अभ्रक, क्लोराइड तथा ऐलुमिनियम का अंश होता है। अतः ये शैलें मुलायम किन्तु अप्रवेश्य होती हैं। ऊपरी धरातल पर आ जाने पर इन पर अपक्षय तथा अपरदन का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। इसी कारण इन शैलों का प्रयोग भवन-निर्माण में नहीं होता है। इसका प्रमुख उदाहरण शेल (shale) है जिसकी परतें शीघ्र अलग हो जाती हैं। चिकनी मिट्टी अथवा मृत्तिका (clay) जब सूखकर कठोर हो जाती है तो इसको पकाश्म (mud stone) कहते हैं।

चित्र 70—बलुआ शैल

(2) **रसायनों से निर्मित शैलें**—बहता हुआ जल अपने साथ कुछ घुलनशील तत्त्वों को बहा ले जाता है। ये रासायनिक पदार्थ पानी न रहने पर तहों में जम जाते हैं। भारी कण निचली तह में जमते हैं और हल्के ऊपरी तह में, और इस प्रकार शैलें बन जाती हैं। शेलखरी या जिप्सम (gypsum), सैंधा लवण (rock salt), अवशैल (stalactite) तथा अंडकाश्म (oolite) इस प्रकार की शैलें हैं।

(3) **कार्बनिक तत्त्वों से निर्मित शैलें या प्राणिज शैलें**—जानवरों तथा पेड़-पौधों के अवयव शनैः शनैः एकत्र होते रहते हैं और कठोर शैलों के रूप में बदल जाते हैं। इनमें कुछ में चूने की मात्रा अधिक होती है और कुछ में कार्बन की।

(अ) **चूनेदार शैलें**—चूनेदार शैलों (calcareous rocks) में चूने की मात्रा अधिक होती है और इनका निर्माण जीव-जन्तुओं के अस्थि-पंजरों तथा वनस्पतियों के अवशेष से होता है। उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धों के छिछले समुद्रों में ये शैलें अधिक मिलती हैं। चूने का पत्थर, डोलोमाइट (dolomite) तथा खड़िया (chalk) इस प्रकार की शैलें हैं।

ये कठोर होती हैं और आसानी से खुरची नहीं जातीं। इनमें जोड़ होते हैं, फलतः पानी इनमें प्रवेश कर जाता है। कार्बन डाइ-ऑक्साइड मिले पानी में ये शैलें घुल जाती हैं।

डोलोमाइट में मैगनीशियम की मात्रा अधिक होती है, फलतः ये साधारण चूने के पत्थर से कठोर होती हैं। इनके कण आसानी से टूट जाते हैं, अतः भवन-निर्माण के लिए ये अनुपयुक्त समझी जाती हैं। इन पर अपक्षय का प्रभाव कम पड़ता है। ये पानी में कम घुलती हैं और इनका रंग पीला अथवा भूरा होता है।

चूने का पत्थर प्रवेश्य, घुलनशील तथा नरम होता है। इससे सीमेण्ट बनाया जाता है तथा भवन-निर्माण होता है। कोयला-प्रधान चूने का पत्थर अपेक्षाकृत कठोर होता है। यह ऊबड़-खाबड़ होता है।

(ब) कार्बन-प्रधान शैलें—कार्बन-प्रधान शैलें (carboniferous rocks) पेड़-पौधों के अवशेष से बनी होती हैं। इनमें कार्बन तत्व अधिक मात्रा में होता है। उष्णता तथा दाब के फलस्वरूप वनस्पति का परिवर्तित रूप खनिज बन जाता है। कोयला तथा तेल-युक्त शेल इसी प्रकार की शैलें हैं।

उत्पत्ति स्थान के आधार पर अवसादी शैलों के भेद

(1) महाद्वीपीय शैलें—वायु द्वारा मरुस्थलीय तथा समुद्रतटीय प्रदेशों में बनी प्रस्तरीभूत शैलें वायूढ़ शैलें (aeolian rocks) कहलाती हैं। इनकी परतें कम संगठित तथा कठोर होती हैं। इनके कण गोल तथा चिकने होते हैं। इनका रंग लाल होता है। बलुआ पत्थर और चिकनी मिट्टी इस श्रेणी में आते हैं।

महाद्वीपीय शैलों में बजरी, रोड़े, मिट्टी, संगुटिकाश्म (conglomerates) तथा संकोणाश्म (breccia) विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं। बजरी में छोटे-छोटे रोड़े या बालू का मिश्रण होता है। रोड़ों का घर्षण नदी के द्वारा होता है। बट्टड़ राशि (shingle) तथा मिट्टी में समुद्र की तरंगों द्वारा प्रक्षिप्त टुकड़े होते हैं, जो सामुद्रिक क्रिया से गोल हो जाते हैं। बट्टड़ राशि के बड़े-बड़े टुकड़ों के जुड़ने से संगुटिकाश्म बनती हैं। इनके जोड़ने का कार्य बालू करती है। नुकीली बजरी या बट्टड़ राशि के टुकड़ों के चिपकने से बनी शैल संकोणाश्म होती है।

(2) समुद्री शैलें—ये शैलें समुद्र के उथले भागों में बनती हैं। इनकी तीन श्रेणियाँ हैं : बलुआ पत्थर, शेल तथा चूने का पत्थर।

अवसादी शैलों से सम्बन्धित कुछ रूप

(1) जब मुलायम मिट्टी पर सूर्य की किरणें दीर्घकाल तक पड़ती हैं तो सूखने एवं सिकुड़ने से ऊपरी तह में बहुभुजी दरारें (polygonal cracks) पड़ जाती हैं जिन्हें पंक या आतपविदर (mud or sun cracks) कहते हैं। बाढ़ के मैदानों में यह विशेषता विशेषतौर से मिलती है।

(2) जब विभिन्न परतों की **संस्तरण तल** (bedding plane) समान्तर न होकर एक-दूसरे पर झुकी होती हैं तो उनमें अनुरूपता नहीं रहती है। ऐसी परतों

को **असम विन्यासी** (non-conforming) कहते हैं। ऐसी असंगतियाँ दो प्रकार की होती हैं : (क) **असम विन्यासी** (non conformity), (ख) **अपसम विन्यासी** (dis-conformity)।

जब परतों के दो वर्गों के तल में कोणिक झुकाव होता है तो उनमें अनुरूप-विहीनता की विशेषता होती है। इसको **असम-विन्यास** कहते हैं।
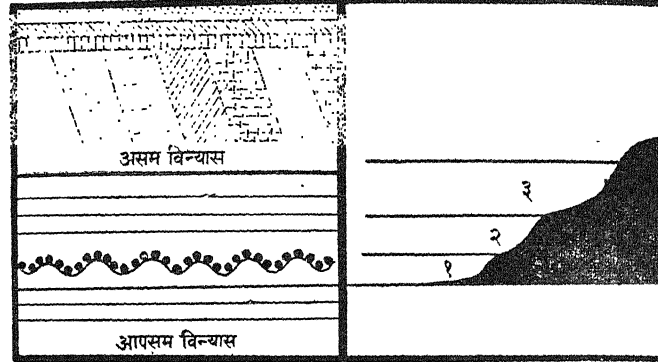
चित्र 71—असम एवं अपसम विन्यास **चित्र 72**—अतिव्यापन

जब किसी परत की रचना हो जाती है और दीर्घकाल के उपरान्त उस पर निक्षेपण होने लगता है तो पूर्व-निर्मित स्तर के तल और नवनिर्मित स्तर के तल में प्रतिकूलता मिलती है और बहुधा विषम सतह मिलती है। इसको **अपसम-विन्यास** कहते हैं।

(3) जब स्थल भाग पर समुद्र का अतिक्रमण होता है तो निक्षेप का क्षेत्र स्थल की ओर बढ़ता जाता है और पुराने तल के ऊपर नये तल बनते हैं। इसको **अति-व्यापन** (overlape) कहते हैं। यह क्रिया समुद्र के ऊपर उठने या स्थल भाग के नीचे धँसने से होती है। इसमें ऊपरी तल का फैलाव अधिक होता है। जब इसके विप-रीत दृश्य मिलता है और नये तल पुराने से कम फैलाव के होते हैं, तो इसको **अप-व्यापन** (offlap) कहते हैं। यह क्रिया समुद्र की सतह के नीचे जाने या स्थल के ऊपर उठने पर होती है।

अवसादी शैलों की परत की व्याख्या सर्वप्रथम **निकोलास स्टेनो** महोदय ने सन् 1669 में प्रस्तुत की। इनको अवसादी अनुक्रम नियम (the law of sedimentary sequence) की संज्ञा प्रदान की गयी। इससे विभिन्न परतों के सामान्य विकास की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। इन परतों के विकास दो रूपों में होते हैं जो निम्न नियमों से नियन्त्रित हैं :

(1) **मूल क्षैतिजता का नियम** (The law of original horizontality)—इसके अनुसार सभी निक्षेपित शैलें धरातल के समानान्तर होती हैं।

(2) **अध्यारोपण का नियम** (The law of superimposition)—इसके अनुसार सबसे ऊपर की परत सबसे नूतन विकास की होती है।

अवसादी शैलों की पहचान

(1) ये शैलें भिन्न-भिन्न आकार के छोटे-छोटे कणों से निर्मित होती हैं। इनकी रचना परतों में होती है। इनके कणों के जमाव में क्रमण (gradation) होता है।

(2) ये मुलायम होती हैं और इनके खरोंचने पर चूर्ण निकलता है।

(3) ये प्रवेश्य होती हैं। इनमें दरारें होती हैं और तरंगों एवं धाराओं के चिह्न परिलक्षित होते हैं।

(4) इनमें प्राणिज अवशेष मिलते हैं जिनसे इनकी उत्पत्ति एवं काल की गणना होती है।

(5) ये किसी निश्चित विभाजन-रेखा द्वारा अथवा अलग रंग द्वारा साफ पहचानी जा सकती हैं।

(6) इनका अपक्षय एवं अपरदन पर्याप्त मात्रा में होता है।

अवसादी शैलों का आर्थिक महत्त्व

अवसादी शैलें मानव-जीवन के लिए मूल्यवान हैं। कोयला तथा खनिज तेल जो आज शक्ति एवं सभ्यता के आधार-स्तम्भ हैं, इन्हीं शैलों की उपज हैं। चूना और खड़िया से सीमेण्ट तथा बालू से काँच बनता है। बलुआ पत्थर भवन-निर्माण में प्रयोग होता है। इन्हीं शैलों में सोना, टिन तथा ताँबा आदि धातुएँ भी पायी जाती हैं। इससे मानव के निवास के लिए गृह, भोजन के लिए अन्न तथा उद्योगों के लिए शक्ति उपलब्ध होती है।

कायान्तरित शैलें

आग्नेय तथा अवसादी शैलों का रूप एवं गुण उष्णता, दाब तथा भू-संचलन के कारण बदल जाता है। इस प्रकार की शैलें अधिक कठोर हो जाती हैं। खनिज-तत्त्वों का भी रूपान्तर हो जाता है और उनकी विशेषताएँ भी नवीन हो जाती हैं। शैलों की मूल स्थिति तो बनी रहती है किन्तु पूर्ण परिवर्तन हो जाने पर मूल-रूप का पहचानना कठिन हो जाता है और प्राय: शैलें रवेदार बन जाती हैं।

चित्र 73—कायान्तरित शैल

कायान्तरित शैलों का सार्वभौमिक रूप स्फटिकों की समान्तर व्यवस्था है। इस प्रकार की बनावट को **शल्कन** (Foliation) की संज्ञा प्रदान की जाती है। रूपान्तर

की इस क्रिया को **कायान्तरण** (metamorphism) कहते हैं। परिवर्तित शैलें पर्वतीय क्षेत्रों में उपलब्ध होती हैं। इसी कारण अवसादी शैलों की अपेक्षा इनका विस्तार कम है।

कायान्तरित शैलों के भेद

कायान्तरण पाँच प्रकार का होता है :

(1) संस्पर्श कायान्तरण (Contact Metamorphism),
(2) गतिक कायान्तरण (Dynamic Metamorphism),
(3) स्थैतिक कायान्तरण (Static Metamorphism),
(4) जलीय कायान्तरण (Hydro Metamorphism),
(5) उष्ण जलीय कायान्तरण (Hydro-thermal Metamorphism)।

(1) **संस्पर्श कायान्तरण**—ज्वालामुखीय क्रिया में लावा के प्रवाह में भूपृष्ठ की भीतरी शैलें झुलस जाती हैं। यह लावा दरारों एवं कन्दराओं में घुसकर दाब भी पैदा करता है। इस प्रकार के स्पर्श से शैलें परिवर्तित हो जाती हैं। चूने का पत्थर इसी प्रकार से संगमरमर बन जाता है। कोयले की सतहें इस प्रकार के ताप से प्रभावित होकर कठोर कोक में परिवर्तित हो जाती हैं।

(2) **गतिक कायान्तरण**—पर्वत-निर्माणकारी हलचलों के फलस्वरूप अधिकतर शैलें बहुत गहराई पर दब जाती हैं। इस भारी दबाव और इससे उत्पन्न अधिक उष्णता से ये शैलें पूर्णतः बदल जाती हैं और स्फटिक बन जाती हैं। इस प्रकार के रूपान्तरण में हजारों वर्ष लग जाते हैं। स्लेट, ग्रेफाइट तथा स्फटिक पत्थर इसी प्रकार की शैलें हैं। इसमें चीका मिट्टी तथा शैल का स्लेट, बलुआ पत्थर का क्वार्टजाइट और कोयला का ग्रेफाइट बन जाता है।

(3) **स्थैतिक कायान्तरण**—जब भूगर्भ में स्थित शैलों पर ऊपर का भारी दाब पड़ता है तो इनका रूपान्तरण हो जाता है।

चित्र 74—शैलों के परिवर्तन में कायान्तरित चक्र

(4) **जलीय कायान्तरण**—जब शैलों पर भार कम होता है और उष्णता भी

कम रहती है, किन्तु जलीय भार के प्रभाव से उनमें रूपान्तरण हो जाता है, तो इसे जलीय कायान्तरण कहते हैं।

(5) **उष्णजलीय कायान्तरण**—उष्ण जल तथा भाप के कारण शैलों में परिवर्तन हो जाता है तो यह उष्ण जलीय कायान्तरण कहलाता है; जैसे चूने का पत्थर संगमरमर हो जाता है।

कायान्तरित शैलों के अन्य भेद

तहों की बनावट तथा कणों के गुण के अनुकूल ये शैलें दो प्रकार की होती हैं :

(1) शल्कित कायान्तरित शैलें (Foliated metamorphic rocks), और

(2) अशल्कित कायान्तरित शैलें (Non-foliated metamorphic rocks)।

(1) **शल्कित शैलें**—इनके कण महीन होते हैं और तहों के अलग करने पर तल विकसित होते हैं। इनकी परतों की व्यवस्था क्रमिक होती है और ये शैलें एक निश्चित दिशा में टूटती हैं। स्लेट इसका उदाहरण है। मौलिक शैल अभ्रक से शिष्ट (schist) बन जाती है।

(2) **अशल्कित शैलें**—ये जलीय परिवर्तनों के कारण बनती हैं और शल्कित शैलों से अधिक ठोस होती हैं। इनके कण भद्दे होते हैं और तहों के अलग करने पर इनके तल पूर्णत: विकसित नहीं होते हैं। संगमरमर इस प्रकार की मुख्य शैल है। मूल शैल ग्रेनाइट से नाइस शैल बनती है।

आग्नेय शैलें और उनका कायान्तरण

आग्नेय शैलें	कायान्तरण
ग्रेनाइट	ग्रेनाइट नाइस
बेसाल्ट	स्लेट

अवसादी शैलें और उनका कायान्तरण

प्रारम्भिक रूप	अवसादी शैलें	कायान्तरण
कंकड़ या बजड़ी	काग्लोमरेट	काग्लोमरेट शिस्ट
बालू	बलुआ पत्थर	स्फटिक
मिट्टी	चूने का पत्थर	स्लेट (शिलापट्ट)
पीट	कोयला	ग्रेफाइट
चूना	चूने का पत्थर	संगमरमर

प्रमुख शैलों का परिचय

ग्रेनाइट—यह खुरखुरे कणों वाली शैल है जो मूल शैल के जमने तथा गैसों के बाहर निकल जाने पर बनती है। इसकी सतह पर सन्धियाँ रहती हैं। इनमें अभ्रक, स्फटिक तथा फेलसपार खनिज मिलते हैं। इनमें सैकता की मात्रा 65 से 80 प्रतिशत

तक रहती है। इस अन्तर्वेधी आग्नेय शैल की गठन कोमल से भद्दी तक होती है। यह टिकाऊ शैल है, इसलिए भवनों के निर्माण के काम आती है। इसका आपेक्षिक घनत्व 3·74 है।

गैब्रो—यह मध्यम श्रेणी के खुरखुरे कणों वाली अन्तर्वेधी आग्नेय शैल है। प्राय: यह काले रंग की होती है। इसमें सैकता 40 से 50 प्रतिशत तक रहता है। इसमें फेल्सपार तथा ऑगाइट (augite) खनिज मिलते हैं। इसका भार अधिक होता है और अनियमित जोड़ मिलते हैं। पृथ्वी की अधिक गहराई में ऊँचे तापमान पर बनती है। इसका आपेक्षिक घनत्व 2·9 से 3·3 है।

बेसाल्ट—यह गैब्रो नामक शैल का ज्वालामुखीय प्रतिरूप है। यह महीन दानेदार तथा काले रंग की होती है। प्राय: फेल्सपार के अच्छे रवे इसकी सतह पर मिलते हैं। इनमें खनिजों की पहचान कठिन होती है। इसमें लोहे की मात्रा अधिक होती है। यह इमारती पत्थर है। बाँध, पुल तथा राजमार्गों के निर्माण में इसका उपयोग होता है।

बलुआ पत्थर—बालू के कणों के चिपकने से इनकी मोटी एवं पतली तहें बन जाती हैं। इनमें सैकता की मात्रा अधिक रहती है। इनके रंगों में बहुत भिन्नता होती है। ये प्राय: लाल, भूरे तथा सफेद रंग के होते हैं। इनका रंग बालू की बनावट तथा उनके जोड़ने वाले पदार्थ पर निर्भर करता है।

ये प्रवेश्य अवसादी शैल हैं। इनके कणों के मध्य में छिद्र होते हैं। अधिक फेल्सपार की मात्रा वाले बलुआ पत्थर आरकोज (arkose) कहलाते हैं। ये ग्रेनाइट की तरह लगते हैं और जल्दी टूट-फूट जाते हैं।

जब अभ्रक की मात्रा अधिक होती है तो इसको अभ्रकमय बलुआ पत्थर कहते हैं। खुरखुरे बलुआ पत्थर को ग्रिट (grit) कहते हैं। बलुआ पत्थरों में विभिन्न आकार-प्रकार के कण मिलते हैं, जिनमें गोलाश्म (boulders), मृत्तिका (clay), मिट्टी (pebbles), कंकड़ (gravel) मुख्य हैं। गोलाश्म का व्यास 256 मिलीमीटर, चिकने कंकड़ का 64 से 256 मिलीमीटर, कंकड़ का 2 से 64 मिलीमीटर, मृत्तिका का 2 मिलीमीटर होता है। इसमें बिलकुल महीन कण के बालू, जलोढ़ आदि भी रहते हैं।

चूने का पत्थर—यह कैल्सियम कार्बोनेट का निक्षेप होता है। यह समुद्री जीवों के अवशेषों के नष्ट हो जाने पर समुद्र के तल में एकत्र हो जाता है। समुद्री घोल भी इसकी रचना में सहायता प्रदान करता है। कुछ चूने के पत्थर बहुत ही बारीक कण तथा बारीक रवे वाले होते हैं। ये हल्के भूरे, हल्के पीले, लाल तथा काले रंग के होते हैं। ये चाकू द्वारा सरलता से खुरचे जा सकते हैं। इनके ऊपर तेजाब या गन्धक डालने पर बुलबुले उठने लगते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व 2·5 से 2·8 है।

खरिया—यह अत्यन्त बारीक कणों वाला चूने का पत्थर है। यह मुलायम तथा

ढीली शैल होती है। इसका निर्माण छोटे-छोटे जीवों की खालों से होता है। इसमें अच्छी तहें दिखायी देती हैं। इसका रंग सफेद तथा हल्का भूरा रहता है।

चिकनी मिट्टी और शैल—बारीक कणों वाले ढीले पिण्ड मृत्तिका (clay) कहलाते हैं। जब इनकी कड़ी ठोस तहें बन जाती हैं तो वे शेल (shale) कहलाती हैं। वे अपने संस्तरण तलों पर सुगमता से टूट जाती हैं। इनमें जीवों के अवशेष अधिक मिलते हैं। ये चाकू से सरलता से काटी जा सकती हैं। ये विभिन्न रंग की होती हैं।

नाइस—यह खुरखुरे कणों की कायान्तरित शैल है। इस पर क्रम-रहित वर्णरेखा (streak) मिलती है। इसमें स्फटिक, फेल्सपार तथा अभ्रक खनिज अधिक मिलते हैं। प्रायः ग्रेनाइट तथा अवसादी शैलों के कायान्तरण से नाइस शैलें बन जाती हैं। इसमें खनिजों को जोड़ पर पृथक होने का गुण नहीं होता है। इनका उपयोग सड़कों के निर्माण से होता है।

सुभाजा या शिस्ट—जब शैलों में इतना कायान्तरण होता है कि वे अपने खनिजों की लम्बाई की दिशा के समान्तर अपनी सतहों पर सरलता से टूट सकें तो इसको शिस्ताभ गुण (schistose character) कहते हैं और इन शैलों को शिस्ट कहते हैं। यह लैटिन भाषा के 'शिस्टस' (schistus) शब्द से बना है जिसका अर्थ है—जो फाड़ा जा सके।

आग्नेय तथा अवसादी शैलों के कायान्तरण से भी शिस्ट शैलें बनती हैं। इनमें अभ्रक, स्फटिक, ग्रेफाइट, हार्नब्लेड आदि खनिज मिलते हैं। यह शैल नाइस से मुलायम होती है और सीमेंट बनाने में प्रयोग होती है।

संगमरमर—यह चूने के पत्थर का कायान्तरित रूप है। इसके कणों तथा रवों में परिवर्तन आ जाता है। ये सफेद, भूरे, पीले, काले आदि विभिन्न रंगों के होते हैं। ये मुलायम होते हैं ; अतः भवनों के निर्माण में काम आते हैं।

क्वार्टजाइट—यह बलुआ पत्थर का कायान्तरित रूप होता है। यह बड़ा कठोर होता है और कायान्तरित शैलों में पाया जाता है। इसमें क्वार्टजाइट खनिज की मात्रा अधिक होती है। इसकी गठन संहत होती है जो संस्तरों में अलग नहीं हो सकता है।

प्रश्न

1. Classify rocks and describe their mode of origin.
   (*Jabalpur 1971*; *Agra 1969*; *Delhi 1971*)
   शैलों का वर्गीकरण कीजिए और उनके रचना-क्रम की व्याख्या कीजिए।
2. What do you understand by metamorphism ? State the various ways it is brought about, giving examples.
   (*Meerut 1968*; *Bhopal 1971*; *Varanasi 1969*)
   कायान्तरण से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण देकर बताइए कि किन विभिन्न विधियों से कायान्तरण होता है ?

3. Classify sedimentary rocks and state their chief characteristics and uses. (*Agra 1968*; *Ranchi 1971*; *Allahabad 1969*)
अवसादी शैलों को वर्गों में विभक्त कीजिए और उनके प्रधान लक्षणों को बतलाते हुए उनकी उपयोगिता का उल्लेख कीजिए।
4. 'The qualities and properties of soils are the outcome of interaction of climate, vegetation and rocks.' Discuss.
'जलवायु, वनस्पति तथा शैलों के पारस्परिक प्रभाव के फलस्वरूप मिट्टी के गुण एवं तत्त्व होते हैं।' इस तथ्य की व्याख्या कीजिए।
5. Suggest a suitable classification of the rocks of the upper crust of the earth and give their characteristics. (*Gorakhpur 1965*)
पृथ्वी की ऊपरी परत की शैलों का एक समुचित वर्गीकरण लिखिए तथा उनकी विशिष्टता पर प्रकाश डालिए।
6. What are sedimentary rocks and how are they formed ? Give an example of the rock and describe its characteristics.
(*Udaipur 1971*; *Sagar 1970*; *Allahabad 1971*)
अवसादी शैलें क्या हैं ? उनका निर्माण कैसे होता है ? एक शैल का उदाहरण लेकर उसकी विशेषता का उल्लेख कीजिए।
7. How does sandstone differ from limestone ? What are the characteristics of landforms associated with each of these rocks ? (*Bhagalpur 1971*; *Aligarh 1966*; *Patna 1971*)
चूने के पत्थर से बालू के पत्थर में क्यों अन्तर होता है ? इन शैलों से सम्बन्धित प्रदेशों की भू-रचना की विशेषताओं को लिखिए।
8. Explain the mode of formation of igneous rocks giving examples. (*Gorakhpur 1971*; *Jodhpur 1971*)

10

पृथ्वी का परिवर्तनशील पृष्ठ

[CHANGING FACE OF THE EARTH]

पृथ्वी-तल पर अनेक प्रकार की स्थलाकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें आकाश-भेदी गिरिश्रृंग, हिम एवं पुष्पित वृक्षों से वेष्ठित सौन्दर्य एवं छटायुक्त विमुग्धकारी पर्वतमालाएँ, सभ्यता, संस्कृति एवं मानव-निवास के आदिस्थल मैदान और सृष्टि के उष:कल्प की स्मृति को संचित करने वाले पठार विशेषरूप से हमें आकर्षित एवं प्रभावित करते हैं।

पृथ्वी-तल के उपर्युक्त तीन रूप भी परिवर्तनशील एवं अस्थायी हैं। इतिहास साक्षी है कि जहाँ आज विश्व का उच्चतम गिरिपुंग हिमालय अपने सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट को सगर्व उठाये स्थित है, वहाँ अतीत का विशाल टेथिस सागर नतमस्तक विस्तृत था। उत्तरी भारत एवं पाकिस्तान का विस्तृत मैदान भी उस समय समुद्री क्रोड़ में हिलोरें खा रहा था। उस महाकल्प में केवल दो स्थलखण्ड—लारेंशिया तथा गोंडवाना—महाद्वीप के रूप में उपस्थित थे और वर्तमान महाद्वीपों का अस्तित्व भी नहीं था। आज भूपटल पर नये दृश्य उपस्थित हैं जो भविष्य में ऐसे नहीं रहेंगे। इस प्रकार पृथ्वी-तल पर निरन्तर परिवर्तन होते हैं और इनके मूल में कुछ प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं।

धरातल पर परिवर्तन लाने वाली शक्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :

(1) अन्तर्जात बलें (Endogenetic Forces),

(2) बहिर्जात बलें (Exogenetic Forces)।

अन्तर्जात बलें

भूगर्भ के अज्ञात एवं अदृश्य अंचल में गुप्त घटनाएँ होती रहती हैं जिनके फलस्वरूप धरातल के रूप में परिवर्तन होता रहता है। इन घटनाओं के मूल में तीन कारण हैं :

(क) विघटनाभिक तत्वों से उत्पन्न आन्तरिक ताप (Internal Heat),

(ख) आन्तरिक शैलों में तनाव एवं संकुचन,

(ग) संवहन धाराओं की उत्पत्ति या मैग्मा का स्थानान्तरण।

पृथ्वी की आन्तरिक घटनाओं को भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :

(1) भूपटल विरूपण (Diastrophism),

(2) आकस्मिक संचलन (Sudden Movements)।

(1) भूपटल विरूपण—इस वर्ग में पृथ्वी की अत्यन्त गुप्त तथा मन्द हलचलें आती हैं। इनके फलस्वरूप भूपटल का पपड़ा टूट जाता है, मुड़ जाता है, दायें-बायें सरक जाता है या ऊपर-नीचे उठ-बैठ जाता है। इसी के कारण समुद्रों के अतिक्रमण तथा प्रतिक्रमण की भी महान् ऐतिहासिक घटनाएँ हो जाती हैं। इसी के कारण द्वीप प्रकट होते हैं और गायब भी हो जाते है। टोकियो के निकट यूरेनिया द्वीप द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् प्रकट हुआ और गायब भी हो गया था। इस प्रकार धरातल पर असमानताएँ प्रकट हो जाती हैं।

भूपटल विरूपण को इनकी प्रकृति के आधार पर दो वर्गों में विभक्त किया जाता है :

(1) मन्द गतियाँ जो महाद्वीप एवं पर्वत निर्माणकारी होती हैं।

(2) तीव्र गतियाँ जो ज्वालामुखी, भूकम्प, विभ्रंश एवं तत्जनित आकृतियों, भूमि स्खलन (Landslide) तथा अवधाव (Avalanche) के कारण बनती हैं।

प्रभावित क्षेत्रों के आधार पर भूपटल विरूपण को विभाजित किया जाता है :

(i) स्थानीय संचलन (Local movements)—इनकी तीव्र गति से एक सीमित क्षेत्र में गहरा प्रभाव पड़ता है। इनसे भूकम्प, ज्वालामुखी, वलन-क्रिया आदि उत्पन्न होती हैं।

(ii) क्षेत्रीय संचलन (Regional movement)—इनकी मन्द गति से एक विस्तृत क्षेत्र में प्रभाव पड़ता है। इनसे हजारों वर्ष में स्थल का उत्थापन एवं अवतलन होता है।

(2) आकस्मिक संचलन—इस वर्ग की घटनाओं से धरातल पर अचानक भयंकर परिवर्तन हो जाते हैं। इस श्रेणी में ज्वालामुखी एवं भूकम्प प्रमुख हैं। इनसे धरातल पर भारी उथल-पुथल मच जाती है। वास्तव में धरातल की असमतलता एवं परिवर्तन के मूल में भूगर्भिक घटनाएँ ही होती है।

बहिर्जात बलें

आन्तरिक प्रबल बलों द्वारा स्थल-मण्डल के धरातल पर विभिन्न आकार उत्पन्न हो जाते हैं और पृथ्वी का सन्तुलन अव्यवस्थित हो जाता है। फलत: सन्तुलन एवं समतल-स्थापन का कार्य बाह्य बलें सम्पादित करती हैं। ये अपघटन (decomposition), विघटन (disintegration), अपरदन (erosion) तथा निक्षेपण (deposi-

---

diastrophe (ग्रीक) विरूपण

tion) की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण भूपृष्ठ पर परिवर्तन करती रहती हैं। इन बलों के मूल स्रोत भगवान् भास्कर हैं जिनकी एकमात्र सहायिका गुरुत्वाकर्षण बल (gravitational force) है। बहिर्जात बलों के प्रमुख प्रतिनिधि प्रवाहित जल, वायु, हिम, नदी, समुद्री तरंगें, अनाच्छादन क्रिया आदि हैं। इनकी क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) अनाच्छादन (Denudation),

(2) निक्षेपण (Deposition)।

(1) अनाच्छादन—इसके अन्तर्गत अपक्षय (weathering), अपरदन (erosion) तथा परिसंचरण (circulation) के कार्य सम्मिलित हैं। इनमें शैलों के बन्धन को ढीला करने तथा उनके स्थानान्तरण करने का कार्य होता है।

(2) निक्षेपण - इसके अन्तर्गत उच्च स्थानों की काट-छाँट को निम्न भूमि में एकत्र करने का कार्य होता है। स्मरण रखना चाहिए कि अन्तर्जात तथा बहिर्जात बलों की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बहुत-से स्थलरूप (landforms) बन जाते हैं जिनका मानव-जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है।

विकास-चक्र
(Evolutionary Cycle)

यह स्पष्ट है कि भूगर्भिक बलें धरातल को ऊँचा-नीचा करने तथा उसमें कुरूपता उत्पन्न करने में सतत् रत रहती हैं और बहिर्जात बलें उसको समतल बनाने एवं सँवारने का निरन्तर प्रयास करती हैं। सागर-तल से ऊँचा उठते ही भूभाग पर बहिर्जात बलों का अपरदन प्रारम्भ हो जाता है और कटे-पिटे पदार्थों का निक्षेपण समुद्र-तल पर होने लगता है। इस प्रकार दोनों वर्ग की बलों में पारस्परिक संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता के फलस्वरूप धरातल के उन्नयन एवं अवतलन का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार प्रत्येक स्थलाकृति का एक अपना जीवन-क्रम होता है जिसमें वह अपनी विभिन्न अवस्थाओं को पार करती है। पृथ्वी की उत्पत्ति से आजपर्यन्त का यह अखण्ड क्रम **विकास-चक्र** कहलाता है।

यह नामकरण अमरीका भूवैज्ञानिक **डब्ल्यू एम० डेविस** ने किया है। वास्तव में यह स्थल का जीवन-इतिहास है जिस पर अनेक नदियाँ बहती हैं। **वारसेस्टर** महोदय ने इसको एक अपेक्षित अवधि माना है जिसमें नदियाँ किसी नवनिर्मित स्थल खण्ड को चरमस्तर पर पहुँचा देती हैं। **भू-आकृतिक चक्र** (Geomorphic cycle) वह धरातलाकृति है जो विकास-चक्र या अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं के मध्य विकसित होती है। भू-आकृति विज्ञान स्थल रूप का एक क्रमबद्ध अध्ययन होता है।

विकास-चक्र सम्बन्धी तथ्यों का श्रीगणेश अमरीकी भूविज्ञानी **पावेल**, **डट्न** तथा **गिलबर्ट** महोदयों ने किया था, किन्तु इसका क्रमबद्ध विवेचन **डेविस** महोदय ने (1850-1934) ही प्रस्तुत किया।

अपरदन-चक्र को समझने में निम्न तथ्य सहायक होते हैं :

(1) समुद्र से निकले धरातल पर ही अपरदन-चक्र का प्रारम्भ माना जाता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि समुद्र से धरातल के ऊपर उठने की गति अपरदन से अधिक होती है।

(2) किसी स्थल पर अपरदन-चक्र धरातल की संरचना, उसकी ऊँचाई एवं विस्तार तथा अपरदन के साधनों पर निर्भर करता है।

(3) अपरदन-चक्र की अवधि स्थल की संरचना, अवस्था तथा नदियों की विशेषताओं पर निर्भर करती है।

(4) अपरदन-चक्र निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न अवस्थाएँ क्रम से आती हैं।

(5) अपरदन-चक्र में विभिन्न अवस्थाओं की अपनी धरातलाकृतियाँ रहती हैं।

अपरदन-चक्र की प्रगति में बाधाएँ

(1) **कठोर शैलों की उपस्थिति**—समप्राय भूमि के मध्य में उन्नत पहाड़ी भाग मोनाडनाक (MONADNOCK) तथा कठोर जल-विभाजक के परिआच्छादन पर्वत (Circum-denudational mountain) अपरदन-चक्र की प्रगति में बाधा उपस्थित करते हैं।

(2) **स्थल का उत्थापन एवं अवतलन**—उत्थापन से अपरदन शक्ति में वृद्धि तथा अवतलन से कमी आ जाती है। इस पर अपरदन-चक्र की प्रगति में परिवर्तन आ जाता है।

(3) **जलवायु का प्रभाव**—आर्द्र प्रदेशों में अधिक वर्षा एवं रासायनिक अपरदन के फलस्वरूप जलविभाजक तीव्र चोटी वाले, तीव्र ढाल वाले तथा उत्तल किनारे वाले होते हैं। घाटी चौड़ी होती है जिसके किनारे पर मृदा-सर्पण (Soil creep) होता है। इस प्रकार युवावस्था अल्पकालिक होती है और प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था दीर्घकालिक होती है।

शुष्क प्रदेशों में जलविभाजक का ढाल सामान्य एवं ऊर्ध्वाधर होता है। मृदा-सर्पण नहीं होता है और युवावस्था पर्याप्त समय तक रहती है।

इस चक्र की तीन अवस्थाएँ (stages) परिलक्षित होती हैं :

(1) युवावस्था (Youth Stage),

(2) प्रौढ़ावस्था (Mature Stage),

(3) वृद्धावस्था (Old Stage)।

(1) **युवावस्था**—इस अवस्था में भूमि-तल पर सभी विशेषताएँ प्रारम्भिक रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। इन पर अपरदन की क्रिया नहीं होती है। इन पर अनुवर्ती सरिताएँ (consequent rivers) बहती हैं।

(2) **प्रौढ़ावस्था**—इस अवस्था में स्थल पर विषमताओं का प्राधान्य रहता है। अपरदन का प्रभावशाली रूप दृष्टिगोचर होता है।

(3) **वृद्धावस्था**—इस अवस्था में स्थल का अनियमित रूप होता है। विषमताओं का लोप हो जाता है और अपरदन क्रिया भी प्रायः समाप्त रहती है।

अवस्था से तात्पर्य दृश्यभूमि (landscape) के बनाने में प्रयुक्त समय से नहीं है। यह दृश्यभूमि के विकास में परिवर्तन की स्थिति की परिचायक होती है। अवस्था द्वारा दृश्यभूमि द्वारा प्राप्त रूप का ही ज्ञान होता है। उपरोक्त अवस्थाएँ एक ही नदी में कई वर्षों के पश्चात् प्राप्त होती हैं और एक ही समय में उसी नदी में पर्वतीय भाग में युवावस्था, मध्यभाग में प्रौढ़ावस्था तथा अन्तिम भाग में वृद्धावस्था पाई जाती है। उपरोक्त शब्दावली के प्रस्तुत करने का श्रेय **डब्ल्यू० एम० डेविस** को है। इन्होंने दृश्यभूमि के विकास-चक्र की तुलना मानव-जीवन से की है। इस पर अन्य विद्वानों ने आपत्ति की है। उनकी आपत्ति है कि मनुष्य जीवन की अवस्थाएँ एक निश्चित समय पर रहती हैं। एक दृश्यभूमि के साथ ऐसा नियम सम्भव नहीं है। किसी दृश्यभूमि की तीनों अवस्थाएँ भूमि की संरचना तथा प्रक्रमों के अनुसार कम या अधिक समय की हो सकती हैं।

डेविस ने उपर्युक्त आपत्तियों को असाधारण स्थिति बताकर इनकी उपेक्षा की किन्तु यूरोपीय भूवैज्ञानिक **वाल्थर पेन्क** (सन् 1923) ने इसको साधारण स्थिति बताया है।

विचारों की तुलना

डेविस की धारणा	पेन्क की धारणा
(1) सर्वप्रथम भूपृष्ठ का उत्थापन आवश्यक है।	(1) सतत उत्थान की सम्भावना अवश्यम्भावी है। उत्थान के साथ ही अपरदन के क्रिया-कलाप की भी कल्पना की गई है।
(2) उत्थान मन्द गति से होता है।	(2) उत्थान शीघ्र एवं सतत होता है।
(3) ऊपरी धरातलाकृति का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। बहिर्जात अपरदन-कारकों का ज्ञान आवश्यक है। इस प्रकार यह धारणा अग्रदृष्टा है।	(3) अन्तर्जात बल तथा भूपर्पटी-संचलन का अच्छा ज्ञान आवश्यक है। फलतः यह धारणा भूवैज्ञानिक है तथा पश्चदृष्टा है।
(4) इसमें स्थलरूप का समुद्र की सतह से उठा रहना ही आवश्यक है। अतः यह धारणा हिमानी स्थलरूपों के लिए भी उपयुक्त है।	(4) प्रत्येक स्थलरूप के विकास में उत्थान का स्थान महत्त्वपूर्ण है किन्तु हिमानी स्थलरूपों में उत्थान का योग नहीं मिलता है। अतः यह धारणा त्रुटिपूर्ण प्रतीत होती है।
(5) यह धारणा सजग एवं आधुनिक है।	(5) यह धारणा रूढ़िवादी एवं भूत-कालिक है।

अपरदन-चक्र में उपर्युक्त स्थल की विभिन्न अवस्थाओं के अतिरिक्त शैलों की संरचना (structure) तथा अपरदनकारी शक्तियों के प्रक्रम (process) का विशेष प्रभाव स्थलाकृतियों के निर्माण में पड़ता है ।

संरचना भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं का परिणाम है जो भूमि के कुल पदार्थों का योग होता है । दृश्यभूमि के निर्माण में संरचना का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है । थार्नबरी ने कहा है कि दृश्यभूमि के विकास में भूवैज्ञानिक संरचना का प्रमुख हाथ होता है और दृश्यभूमि में संरचना स्पष्ट परिलक्षित होती है ।[1]

उदाहरणार्थ, चूने की शैलों में कार्स्ट रूप विकसित होता है । इसका मूल कारण शैलों की बनावट है । नदियों के प्रभाव से भूतल पर V-आकार की घाटी की रचना होती है और हिम नदी द्वारा U-आकार की घाटी का निर्माण होता है । यह नदी या हिम नदी के रूप में वहिर्जात बलों की प्रक्रिया का प्रभाव है ।

दृश्यभूमि की धरातलाकृति को उत्पन्न करने में प्रक्रम का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । इसलिए धरातल पर परिवर्तन लाने वाले विभिन्न प्रक्रमों की प्रक्रिया की जानकारी आवश्यक होती है । प्रत्येक प्रक्रम की कार्य-सीमा तथा उसके परिणाम भिन्न होते हैं जो दृश्यभूमि के रूपों को निर्धारित करते हैं । सभी प्रक्रमों के सम्मिलित प्रभाव से दृश्यभूमि का रूप बनता है । जिस दृश्यभूमि में अनेक अपूर्ण अपरदन-चक्र विकसित होते हैं उसको **बहुचक्रीय दृश्यभूमि** (polycyclic landscape) कहते हैं । इस दृश्यभूमि में पुनर्युवन की दशाएँ कई बार होती हैं । इनमें कई अपरदन-चक्र के स्थलरूप विद्यमान रहते हैं ।

इन अनुभवों के आधार पर अमरीकी भूगोलविद तथा भू-विज्ञानी **डेविस** का यह कथन प्रामाणिक एवं सत्य प्रतीत होता है कि धरातल के भू-दृश्य शैलों की संरचना, परिवहन की शक्तियों के प्रक्रम और स्थल की अवस्था का संयुक्त फल होता है ।[2]

प्रश्न

1. Discuss briefly the principle of cycle of erosion. Point out the importance of contribution of Davis to the concept of such a cycle.

   (*Raipur 1970; Magadh 1971; Meerut 1968; Agra 1968*)

   'अपरदन-चक्र' के सिद्धान्त की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए । इस चक्र के विकल्प में डेविस के योगदान के महत्त्व पर प्रकाश डालिए ।

---

[1] A systematic study of topographic relief forms or landscapes is Geomorphology. (geo, earth, morph, form, ology, science).

[2] Landscape is a function of structure, process and stage.
(*W. M. Davis*)

11

भू-संचलन

[EARTH MOVEMENTS]

पृथ्वी की क्षैतिज, उदग्र (vertical) तथा अन्य गतियाँ जो धरातलीय पुनर्निर्माण का कारण बनती हैं; **पटलविरूपी संचलन** (diastrophic movement) कहलाती हैं। वह कार्य जिसमें धरातल के वाह्य परिवर्तन होते हैं, **पटलविरूपण** (diastrophism) कहलाता है। पृथ्वी से ये हलचलें शक्ति विशेष के कारण होती हैं। ये पृथ्वी की बहिर्जात बल (exogenetic forces) एवं अन्तर्जात बल (endogenetic forces) हैं जिनके मध्य सतत् संघर्ष हुआ करता है और हलचलें उत्पन्न होती हैं जिससे पर्वतों एवं महाद्वीपों की रचना होती है। भूगर्भ की आन्तरिक दीर्घकालीन घटनाओं द्वारा जो भू-संचलन हुआ करते हैं उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :

(1) महाद्वीप-निर्माणकारी या महादेशीय उच्चावचनीय भू-संचलन (Continental Building or Epeirogenetic Movement),

(2) पर्वत-निर्माणकारी या वलनिक उच्चावचनीय भू-संचलन (Mountain Building or Orogenetic Movement)।

महाद्वीप-निर्माणकारी भू-संचलन

उपर्युक्त दोनों भू-संचलनों का क्रियाकलाप प्राय: बहुत धीरे-धीरे होता रहता है और इनका प्रभाव भी हजारों वर्ष बाद प्रकट होता है। 'इपीरोजेनिटिक' शब्द ग्रीक भाषा के 'इपीरोज' शब्द से बना है जिसका अर्थ महाद्वीप है। इस हलचल के द्वारा महाद्वीपों का उत्थापन तथा अवतलन होता है। यह भूगर्भ की उदग्र हलचल है। इससे भूपटल की शैलों की क्षैतिज स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु भूपटल का कुछ भाग ऊपर उठ जाता है या नीचे धँस जाता है। इस प्रकार भूपटल के उत्थापन (elevation) और अवतलन (subsidence) द्वारा कोई भाग समुद्र-तल से ऊपर उठ जाता है या नीचे धँस जाता है जिसके फलस्वरूप महाद्वीपीय मग्नतट (continental shelf) बन जाते हैं। उत्थापन एवं अवतलन का माप मध्यम समुद्र-

तल से किया जाता है। स्थल सम्बन्धी समुद्र-तल की दशा में परिवर्तन सुस्थितिक परिवर्तन (eustatic change) कहलाता है और इससे तटीय प्रदेश में बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। कहीं-कहीं तटीय भाग ऊपर उठ जाता है और कहीं नीचे धँस जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन सागरीय घाटी के परिवर्तन या सागरीय जल की मात्रा अथवा दोनों में परिवर्तन के कारण अवश्यम्भावी होते हैं।

अवसादी शैलें महाद्वीप-निर्माणकारी हलचलों की प्रतीक हैं। अवसादी शैलों की रचना समुद्री जल के नीचे हुई और वे समुद्री जल के नीचे दबी हुई थीं। इस समय की अनेक अवसादी शैलें महाद्वीपों के शुष्क आन्तरिक भागों में पायी जाती हैं। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह स्थल भाग समुद्र जल से बाहर उठकर आया है। यही नहीं, फ्लोरिडा, स्वीडन तथा पश्चिमी द्वीपसमूह के तटीय भागों में जलमग्न भूमि के ऊपर उठने के चिह्न दिखायी देते हैं। स्वीडन के दक्षिणी-पूर्वी तट के निरीक्षण एवं अध्ययन से ज्ञात होता है कि विगत 100 वर्षों में यह लगभग 1 मीटर ऊँचा उठ गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वी के इतिहास के आद्यमहाकल्प में इस प्रकार की हलचलें प्रायः हुआ करती होंगी जिनके फलस्वरूप महाद्वीपों का निर्माण हुआ होगा।

उत्थापन एवं अवतलन साथ-साथ होता है, क्योंकि यदि एक स्थान पर धरातल उठ जाता है तो दूसरे स्थान पर वह धँस जाता है। उत्तरी सागर के तटीय भागों के धीरे-धीरे जलमग्न होने के प्रमाण मिलते हैं। बहुत-से महाद्वीपीय मग्न-तटों के तल पर वृक्षों की जड़ें लगी मिलती हैं जो पुराने वनाच्छादित भागों के अवतलन के फलस्वरूप जलनिमग्न होने के सटीक प्रमाण हैं। सन् 1878 में की गयी मुम्बई-तट की खुदाई के समय 13 हेक्टार के क्षेत्र में 382 वृक्षों का उच्चतम तापमान के ज्वार-तल से 10 मीटर नीचे मिलना और पाण्डुचेरी के जीर्णांक या पीट निक्षेप जो अत्यन्त नूतन युग या अभिनव युग में हुए, इस विचार को और भी दृढ़ करते हैं।

महाद्वीप-निर्माणकारी भू-संचलनों को दो कोटियों में रखा जा सकता है :

(1) आकस्मिक महाद्वीपीय उच्चावचन (Sudden Epeirogenesis),

(2) मन्थर महाद्वीपीय उच्चावचन (Slow Epeirogenesis)।

प्रथम प्रकार की हलचल से भूकम्प आते हैं जो भूपटल पर एकाएक परिवर्तन उपस्थित कर देते हैं। ऐसे उदाहरण में सन् 1885 के न्यूजीलैण्ड के भूकम्प से धरातल के कुछ भागों का 3 मीटर ऊपर उठ जाना तथा सन् 1882 के चिली के भूकम्प से तट-रेखा का 1 मीटर ऊपर आ जाना दिया जा सकता है। आकस्मिक अवतलन के उदाहरण में सन् 1891 के जापानी भूकम्प से कुछ भाग का 6 मीटर नीचे धँस जाना तथा सन् 1819 के कच्छ के भूकम्प के फलस्वरूप 5,180 वर्ग किलोमीटर बिस्तृत क्षेत्र का 5 मीटर नीचे धँस जाना प्रस्तुत किया जा सकता है। कच्छ में इस क्रिया के फलस्वरूप एक बहुत बड़ा क्षेत्र अधिमहाद्वीपीय सागर (epicontinental sea) में परिणत हो गया। यथार्थ में महाद्वीपीय मग्नतट के समुद्र ही अधिमहाद्वीपीय

सागर या मग्नतट सागर कहलाते हैं। साथ ही 1,554 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र एक बाँध के रूप में ऊपर उठ गया जो आज भी 'अल्लाह वाँध' कहलाता है।

उत्थापन एवं अवतलन बहुत धीरे-धीरे होता है। उत्थापन के उदाहरण में बलुचिस्तान का मेकरान तट है। भारत के काठियावाड़ तट पर कंगुकाश्म नामक चूने का पत्थर पाया जाता है जो 358 मीटर ऊँचे चेटिला नामक पर्वत पर मिलता है। पूर्वी तट के उड़ीसा, आन्ध्र और तमिलनाडु के अनेक स्थानों में 15 मीटर से 30 मीटर की ऊँचाई तक सागरीय जीव के कवच मिलते हैं। इस प्रकार उत्थापन एवं अवतलन के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महाद्वीप-निर्माणकारी भू-संचलन का प्रभाव स्थानीय तथा प्रादेशिक दोनों प्रकार का होता है। उत्थापन एवं अवतलन के साथ तनाव या खिचाव का भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार दोनों प्रकार की शक्तियों में पारस्परिक सम्बन्ध है जिससे उठने, धँसने, मुड़ने या टूटने का कार्य होता रहता है।

सागरीय जल-तल के नीचे हो जाने पर नवीन भूमि के भाग प्रकट हो जाते हैं और जल-तल के ऊपर उठ जाने पर बहुत-से क्षेत्र जलमग्न हो जाते हैं। हिम-युग के अन्तिम काल में हिम के पिघलने पर जल-वृद्धि से समुद्र-तल 90 मीटर ऊँचा उठ गया जिससे बहुत से समुद्रतटीय भाग जलमग्न हो गये। बाद में नवीन भूमि का उत्थापन भी हुआ।

निर्माणकारी भू-संचलन

'ओरोजेनिटिक' शब्द ग्रीक भाषा के 'ओरोज' शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'पर्वत' है। इस प्रकार की हलचल से पर्वतों की रचना होती है, इसीलिए ये पर्वत निर्माणकारी संचलन कहलाती हैं। ये संचलनें क्षैतिज दिशा में गतिशील होती हैं। इनकी तरंगें एक ओर से दूसरी ओर को प्रवाहित होती हैं। फलतः भूपटल की शैलें मुड़ती, टूटती और उलट जाती हैं। पर्वत-निर्माण में दो प्रकार की शक्तियों का प्रभाव पड़ता है :

(1) सम्पीडन गति (Compressional Movement),
(2) तनावमूलक गति (Tensional Movement)।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की हलचलों में आपसी घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भूपटल पर एक ओर तनाव पड़ेगा तो दूसरी ओर सम्पीडन अवश्यम्भावी हो जाता है। सम्पीडन के फलस्वरूप भूपटल पर मोड़ें पड़ जाती हैं और तनाव में दरारें तथा सन्धियाँ बन जाती हैं और भूपटल की शैलें मुड़ जाती हैं अथवा टूट जाती हैं। इस प्रकार की संचलन का प्रभाव तीन प्रकार से पड़ता है :

(1) वलन (Folding),
(2) भ्रंशन (Faulting),
(3) संवलन (Warping)।

झुकी होती हैं। समतल धरातल के साथ मोड़ के कारण जो ढाल का कोण बन जाता है, उसे **नमन** (dip) कहते हैं। किसी तल की उस दिशा का जो नमन की दिशा की समतल रेखा से समकोण बनाती है और संस्तरण-तल (bedding plane) के समानान्तर होती है, **अनुदैर्ध्य** (strike) कहते हैं। दो पार्श्वों के मध्य के कोण को समद्विभाग करने वाली सतह **अक्षीय तल** (axial plane) कहलाती है। अक्ष रेखा तह एवं अक्ष रेखा तल की **प्रतिच्छेदन रेखा** (intersection line) होती है। किसी तल के नमन की दिशा तथा मात्रा का बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि इसी के द्वारा ऊपरी धरातल से दी हुई दूरी तक तट की गहराई निश्चित की जा सकती है।

किसी शैल का दिखायी देने वाला ऊपरी धरातल **दृश्यांश** (outcrop) कहलाता है। तल का दृश्यांश उसके **नतिलम्ब** (strike) के साथ किनारों की ओर फैला रहता है।

वलन के प्रकार—संचलनों की तीव्रता, शक्ति तथा शैलों की संरचना के अनुसार कई प्रकार की वलन पड़ जाती हैं। इनमें मुख्य निम्न हैं :

(1) सममित वलन (Symmetrical fold),
(2) असममित वलन (Asymmetrical fold),
(3) एकनति वलन (Monoclinal fold),
(4) समनत वलन (Isoclinal fold),
(5) पंखा वलन (Fan fold),
(6) शयान वलन (Recumbent fold)
(7) अधिक्षिप्त वलन (Overthrust fold)।

(1) सममित वलन—इस प्रकार की वलन खुले हुए तथा सीधे होती हैं। इसकी अक्ष रेखा धरातल पर खड़ी होती है और इसकी दोनों शाखाएँ समान रूप से झुकी होती हैं। नतिढाल लगभग समान होता है।
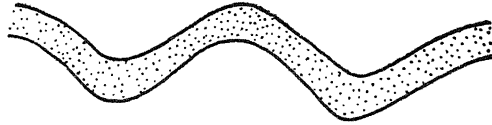
चित्र 77—सममित वलन

(2) असममित वलन—इसमें एक शाखा लम्बी तथा क्रमशः ढाल की होती है और दूसरी शाखा छोटी किन्तु तीव्र ढाल की होती है।
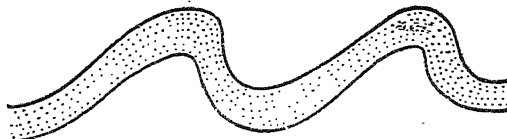
चित्र 78—असममित वलन

(3) एकनति वलन—इसमें असममित वलन

की छोटी और तीव्र ढाल वाली शाखा बिलकुल खड़ी होती है। यह वास्तविक वलन नहीं है क्योंकि इसका निर्माण पृथ्वी की ऊर्ध्व गति के द्वारा होता है जिसमें एक दिशा में वलन ऊपर उठ जाते हैं और दूसरी ओर की तह या तो नीचे दब जाती है या यथास्थिति में रह जाती है। वह धीरे-धीरे एक भ्रंशन का रूप धारण कर लेती है।
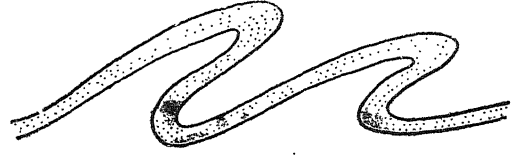
चित्र 79—एकनति वलन
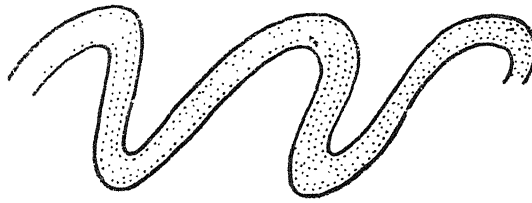
चित्र 80—एकनति वलन (झुका हुआ)

(4) **समनत वलन**—इसमें खिचाव की तीव्रता के कारण सभी वलन एक ही दिशा में इस प्रकार ढकेल दिये जाते हैं कि उनके दोनों पार्श्व एक ही दिशा में झुक जाते हैं और परस्पर समानान्तर हो जाते हैं। इसकी अक्षरेखा लम्ब नहीं रह पाती है। दबाव की तीव्रता के कारण वलन में खड़ा तीव्र ढाल बन जाता है।
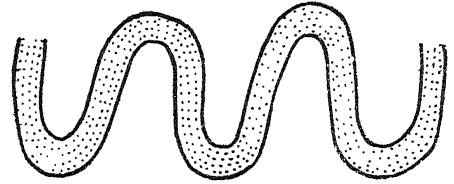
चित्र 81—समवत वलन

(5) **समपनति** (Anticlinorium)—एक विशाल अपनति का ही रूप होता है जिसमें दबाव की अधिकता से लघु अभिनतियाँ एवं अपनतियाँ बन जाती हैं। जब
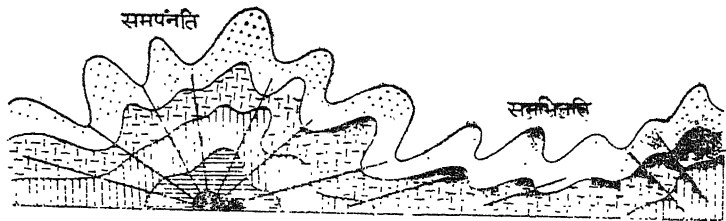
चित्र 82—समपनति एवं समभिनति

किसी विशाल अभिनति में लघु अपनतियाँ एवं अभिनतियाँ बन जाती हैं तो उस आकृति को समभिनति (Synclinorium) कहते हैं।

(6) **शयान वलन**—यह रूप वलन के अधिक उलट जाने पर बनता है। इसमें वलन के दोनों पार्श्व प्रायः क्षैतिज हो जाते हैं। इसके निर्माण में दोनों पार्श्वों के सम्पीडन में काफी अन्तर होता है।

चित्र 83—शयान वलन

(7) **अधिक्षिप्त वलन**—अधिक पार्श्वीय सम्पीडन से किसी क्षेत्र का मध्यवर्ती भाग मेहराव की आकृति का बन जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के भूपटल में अधिक दवाव से दरारें भी पड़ जाती हैं और वलित पपड़ी का एक खण्ड खिसककर दूसरे खण्ड के ऊपर चढ़ जाता है। इसको क्षेप (thrust) कहते हैं और यह क्रिया जिस समतल के अनुरूप होती है उसे **क्षेपतल** (thrust plane) कहते हैं वलन के ऊपरी उठे हुए टूटे भाग को **अधिक्षिप्त वलन** (overthrust fold) कहते हैं।

चित्र 84—अधिक्षिप्त वलन

क्षेप-तल पर जब एक बार टूट-फूट आरम्भ हो जाती है तो इसके ऊपर की मोड़दार शैलों की तहों का भाग अपने नीचे की चट्टानी भाग से खिसकता है और जब अपने मूल भाग से दूर चला जाता है तो उसे **प्रच्छेद** या **नापे** (nappe) कहते हैं। यह फ्रांसीसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ मेजपोश होता है। हिमालय तथा आल्प्स पर्वतों में बहुत नापे हैं जिनमें परिवलित मोड़ों की ऊपरी शाखाएँ विभंग-तल (plane of fracture) के सहारे बहुत दूर तक आगे की ओर चली जाती हैं। शैलों की वह पट्टी जहाँ क्षेप के पश्चात्

चित्र 85—प्रच्छेद

नापे स्थिर होते हैं, **परस्थानिक** (atoch thonous) कहलाती है। इसका अर्थ होना है स्थिर शैलों के क्षेत्र। **नापे** में शैल की स्तरें जटिल वलन प्रस्तुत करती हैं।
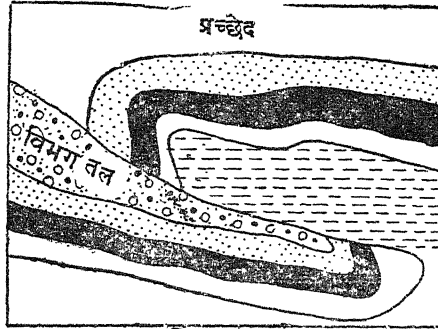
(2) भ्रंशन (Faulting)

एक स्थान पर जब संकुचन होता है तो दूसरे स्थान पर तनाव होता है। जब खिचाव बहुत तीव्र होता है तो भूपटल की शैलें मुड़ने के साथ टूट भी जाती हैं, अतः खिचाव की शक्तियों से वलन बनते हैं और तनाव से दरारें या जोड़ बन जाते हैं। कठोर शैल मुड़ने के स्थान पर चटक जाती हैं। इस क्रिया को **भ्रंशन** कहते हैं और टूटने के तल को **भ्रंश-तल** (fault plane) कहते हैं।

तनाव के कारण भ्रंश-तल के एक पार्श्व की शैल की तहें दूसरे पार्श्व की शैल की तहों की अपेक्षा ऊपर उठ जाती हैं या नीचे धँस जाती हैं। इसको भ्रंशन (faulting) कहते हैं। तनाव प्रायः दो प्रकार के होते हैं—स्थानीय तनाव तथा प्रादेशिक तनाव। तनाव एवं सम्पीडन के कारण भ्रंशनें कई प्रकार की होती हैं जिनकी जानकारी के लिए निम्नलिखित कतिपय पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या आवश्यक है।
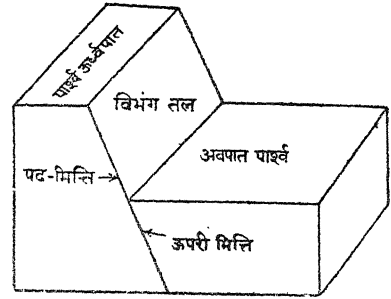
चित्र 86—भ्रंशन के कुछ पारिभाषिक शब्द

भ्रंश-तल का नमन—भ्रंश-तल की क्षैतिज दिशा के प्रति जो कोण बनता है, उसे **भ्रंश तल का नमन** (dip of the fault plane) कहते हैं। यह क्षैतिज तल से निचले तल का कोणिक झुकाव होता है।

ऊर्ध्वपात तथा अवपात पार्श्व—शिला-स्तर का वह भाग जो भ्रंश-तल की दूसरी ओर शिला-स्तरों की अपेक्षा ऊपर उठा हुआ होता है, **ऊर्ध्वपात पार्श्व** (up-thrown side) कहलाता है। भ्रंशन में जो भाग नीचे रह जाता है उसे **अवपात पार्श्व** (down-thrown side) कहते हैं।

पृथ्वी की पपड़ी के स्तरों में घटित वास्तविक ऊर्ध्वाधर परिवर्तन पात (throw) कहलाता है। जब भ्रंशन ऊर्ध्वाधर न होकर झुकी हुई रहती है तो ऊर्ध्वाधर रेखा के साथ भ्रंशतल का निर्मित कोण उन्नमन (Hade) कहलाता है।

ऊपरीभित्ति तथा पादभित्ति—भ्रंशन तल के ऊपरी पृष्ठ को **ऊपरीभित्ति** (hanging wall) कहते हैं और इसके निचले पृष्ठ को **पादभित्ति** (foot wall) कहते हैं।

अनुप्रस्थ विस्थापन—दरार फटने की क्रिया के फलस्वरूप भूपटल की शैलों का क्षैतिज खिसकाव होता है। इस खिसकाव की दूरी को **अनुप्रस्थ विस्थापन** (heave) कहते हैं। इसमें भ्रंशन सतह के लम्बवत न होकर एक ओर झुकी होती है।

भ्रंशन के भेद—भ्रंशन मुख्यतः निम्न प्रकार की होती हैं :

(1) **भ्रंश-कगार**—भूपर्पटी-संचलन के कारण भ्रंशन की क्रिया के द्वारा शैलें खिसक जाती हैं और एक किनारा ऊँचा तथा दूसरा नीचा हो जाता है या स्थिर रह

जाता है। ऐसा होने पर पर्वतीय बनावट उत्पन्न हो जाती है जिसका एक किनारा अधिक ढालू होता है। इस असमतल दृश्य को **भ्रंश-कगार** (fault scarp) कहते हैं।

सर्वप्रथम अमरीकी भूवैज्ञानिक **रसेल** ने इस शब्द का प्रयोग किया। यह भूगर्भिक अस्थिरता का द्योतक है। भूसंचलन तथा अपक्षय के फलस्वरूप पुराने भ्रंश-कगार का पुनर्युवन (rejuvination) भी हो जाता है और इस पर बहने वाली नदियाँ प्रपात बना देती हैं। भ्रंश-कगार के अपरदन द्वारा धरातल की सतह ऊर्ध्वपात पार्श्व से नीची हो जाती है तो इस कगार को भ्रंश रेखा-कगार (fault line scarp) कहते हैं।

जब असमान कठोरता की शैलें भ्रंशन बनाती हैं तो भ्रंशन के दोनों किनारों की नरम शैलें शीघ्रता से अपरदित हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप सतह में अन्तर
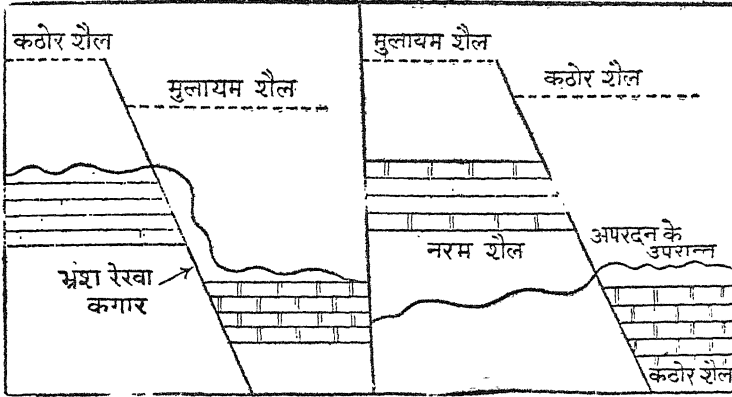
चित्र 87—कगार भ्रंश

पैदा हो जाता है और अवरोधी आग्नेय शैलों की आधार शिला बच जाती है। इस कगार की दिशा प्रारम्भिक भ्रंश-कगार के अनुकूल होती है। इसको **नवानुवर्ती भ्रंश-रेखा कगार** (resequent fault-line scarp) कहते हैं।

जब कठोर शैलें नीचे पड़ जाती हैं और नरम शैलें ऊपर, तब ढाल क्रमिक होता है। यह कगार प्रथम प्रकार की भ्रंश-कगार से विपरीत होती है। इसको **प्रत्यनुवर्ती भ्रंश-रेखा कगार** (obsequent fault-line scarp) कहते हैं।

सोपानी भ्रंश-कगार (Step-fault Scarp)—कभी-कभी भ्रंशन एक रेखा में न होकर एक पेटी में होती है। इसमें शैलें कई प्रकार से टूटती हैं और असंगत कगार का निर्माण करती हैं। अपक्षय की क्रिया के पश्चात् कगार सोपाननुमा बन जाती है।

शिशु कगार (Infantile Scarp)—भ्रंश कगार लम्बवत् या झुकी रहती है।

फलतः शिला-चूर्ण कगार के सहारे खिसकते हैं और कभी-कभी नई कगार का निर्माण करते हैं। इसका ढाल समान होता है। इस नये कगार को शिशु कगार कहते हैं।

(2) **भ्रंश संकोणाश्म**—कभी-कभी भ्रंश-तल कोणदार शैलों के टुकड़ों से भरा रहता है। ये टुकड़े दोनों किनारों के भ्रंशन से उत्पन्न होते हैं। यह **भ्रंश संकोणाश्म** (fault-breccia) कहलाता है।

(3) **सामान्य भ्रंश**—इस प्रकार के भ्रंशन में भ्रंश-तल के एक ओर की तहें टूटने के पश्चात् नीचे धँस जाती हैं और ऊपरीभित्ति धँसे हुए खण्ड की ओर होती है। इसको **गुरुत्व भ्रंश** या **सामान्य भ्रंश** (gravity fault or normal fault) भी कहते हैं। इसमें दोनों किनारे विपरीत दिशा में खिसक जाते हैं और शैलें अधिक फैल जाती हैं। ऊर्ध्व शक्ति यहाँ सर्वाधिक होती है किन्तु तनाव की शक्ति द्वारा फैलाव हो जाता है। सामान्य भ्रंश में उन्नमन 45° से 90° के मध्य पाया जाता है। इसमें भ्रंश तल का नमन एवं अवपात पार्श्व की दिशा समान होती है।

(4) **व्युत्क्रम भ्रंश**—यह सामान्य भ्रंशन के विपरीत क्रिया है। इसमें शैलों का खिसकाव ऊपर की ओर होता है और भ्रंश-तल के एक ओर की तहें ऊपर की ओर खिसक जाती हैं तथा लम्बवत भित्ति ऊपर उठे हुए भाग की ओर होती है। यह भ्रंशन सम्पीडन शक्ति के कारण होती है और प्रभावित क्षेत्र भ्रंश-तल के सहारे कम ही होता है।
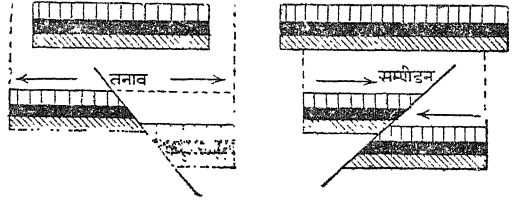
चित्र 88—सामान्य भ्रंश और व्युत्क्रम भ्रंश

इसमें लम्बवत् चट्टानीबल सबसे कम होता है। भ्रंश-तल के एक ओर की शैलें दूसरी ओर की शैलों पर चढ़ जाती हैं। यह **व्युत्क्रम भ्रंश** (reversed fault) कहा जाता है। इसका मूल कारण सम्पीडन शक्ति है, अतः इसको **सम्पीडन भ्रंश** (compressional fault) भी कहते हैं।

(5) **विदारण-भ्रंश** (Tear fault)—यह लम्बवत् भ्रंश है जिसमें भ्रंश रेखा के सहारे क्षैतिज खिसकाव होता है। इसमें शैलों पर पड़ने वाला लम्बवत् बल साधारण होता है। इसके उदाहरण नापे में मिलते हैं। भूकम्प में भी ऐसे भ्रंश बनते हैं। ग्रेट ग्लेन आफ स्काटलैण्ड तथा कैलिफोर्निया में स्थित सान एनड्रीयाज भ्रंश इसके प्रमुख उदाहरण हैं।
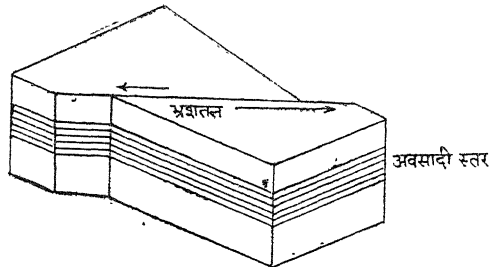
चित्र 89—विदारण-भ्रंश

(6) **अनुनति भ्रंश**—इस भ्रंशन में शैलों का खिसकाव नमन कोण की दिशा के समानान्तर होता है। इस अनुनति भ्रंश (dip fault) में सम्बन्धित तहों की अनुदैर्ध्य दिशा आरपार सीधी होती है।

(7) **नतिलम्बी भ्रंश**—यह भ्रंश सम्बन्धित तहों की अनुदैर्ध्य दिशा के समानान्तर होता है। इनमें नतिलम्बी भ्रंश (strike fault) और तहों के स्तर समानान्तर होते हैं।

(8) **तिर्यक् भ्रंश**—जब अनुदैर्ध्य दिशा के आर-पार किसी भी दिशा में तहों का खिसकाव प्रस्तुत होता है तो उसे **तिर्यक् भ्रंश** (oblique fault) कहते हैं।

चित्र 90—सोपानी भ्रंश

(1) सोपानी भ्रंश, (2) क्षेप भ्रंश (3) भूशोत्थ, (4) विभ्रंश घाटी
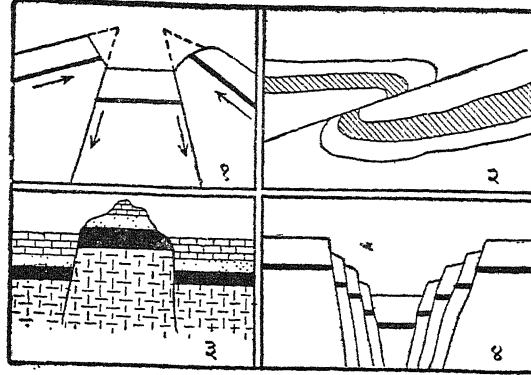
(9) **सोपानी भ्रंश**—जब कोई सामान्य भ्रंश एक ही दिशा में उत्पन्न होते हैं तो वे सोपान की आकृति प्रस्तुत करते हैं। इन्हें **सोपानी भ्रंश** (step fault) कहते हैं। इनका ढाल एक ही दिशा को होता है।

भ्रंशजनित स्थलरूप—यह निम्नलिखित हैं :

(1) **द्रोणी-भ्रंश**—जब सामान्य भ्रंश के मध्य का भाग नीचे धँस जाता है तो धँसे हुए भाग की आकृति घाटीनुमा हो जाती है। इसको **द्रोणिका** या **घाटी भ्रंश** (trough or trench or rift valley fault) कहते हैं। इस प्रकार की निर्मित घाटी को जर्मन भाषा में **ग्रेबन** (graben) कहते हैं। इस प्रकार की विस्तृत घाटियाँ राइन नदी की घाटी, लाल सागर, अफ्रीका की झीलों के भाग तथा नर्मदा की घाटी हैं।
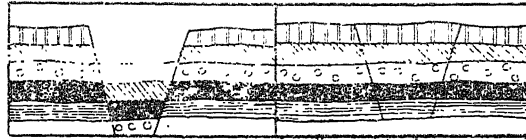
चित्र 91—द्रोणी भ्रंश

विभ्रंश घाटी (Rift Valley) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग प्रसिद्ध ब्रिटिश भूवैज्ञानिक ग्रेगरी महोदय ने किया। इस घाटी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं :

ग्रेगरी का मत—इनके अनुसार दो सामान्य भ्रंश या समानान्तर क्रम के

सोपानी भ्रंश के मध्य की लम्बी संकरी पेटी धँसकर विभ्रंश घाटी का निर्माण करती है। इनके विचार में यह क्रिया पृथ्वी के अन्तराल की तनाव की शक्तियों के कारण होती है। भ्रंश के सहारे केन्द्रीय भाग सिमै में धँस जाता है और विभ्रंश घाटी की रचना हो जाती है। तनाव के विचार को मान्य करने वाले भूवैज्ञानिक **सूइस, ईवान्स** तथा **वेगनर** आदि हैं।

इस परिकल्पना के विरुद्ध निम्न प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) विभ्रंश घाटी के उत्थित भाग (block) का ठोस धरातल में धँसना ठीक नहीं प्रतीत होता है।

(2) विभ्रंश घाटी के दोनों ओर के उत्थित भाग के सिरे एक-दूसरे से बाहर की ओर निकलते रहते हैं। अतः अवतल भाग का ऊपरी भाग चौड़ा एवं नीचे का भाग पतला होगा। अतः यह भाग एक ठोस पदार्थ सिमै एवं संकरे गड्ढे में नहीं प्रवेश कर सकता है।

(3) ऐसा प्रतीत होता है कि विभ्रंश घाटियों के तल धँसे नहीं, बल्कि घाटी के दोनों ओर का भाग उत्थापित हो गया है।

(4) फान (Wedge) आकार के भाग के धँसने पर तरल सिमै में स्थानान्तरण होगा जो विभ्रंश घाटी के सहारे ऊपर निकल कर ज्वालामुखी का निर्माण करेगा। किन्तु विभ्रंश घाटियों की रचना के साथ इस प्रकार की उद्भेदन की क्रिया नहीं मिलती है।

(5) पार्श्व तनाव से लगभग 50 किलोमीटर की दूरी पर विभ्रंश घाटियों की उत्पत्ति होनी चाहिए जो सम्भव नहीं प्रतीत होती है।

अमरीकी विद्वान् वेलण्ड एवं ब्रिटिश भूवैज्ञानिक बेली विलिस का मत

विभ्रंश घाटियों से ज्वालामुखी की क्रिया न होने के कारण तनाव के स्थान पर संपीडन का कार्य एवं इसके फलस्वरूप निर्मित विभ्रंश घाटियों की व्याख्या इन दोनों विद्वानों ने प्रस्तुत की है। इनके मतानुसार संपीडन के फलस्वरूप समानान्तर भ्रंश बनते हैं जिसके कारण किनारे के भाग ऊपर उठने लगते हैं और यह ऊर्ध्वपात पार्श्व (upthrown side) अपने मध्य के भाग को नीचे नहीं गिरने देता है क्योंकि इसका आकार ऊपर पतला एवं नीचे चौड़ा फाननुमा (wedge like) होता है। संपीडन शक्तियों के कारण यह घाटी के भाग से चिपका रहता है। ऊर्ध्वपात पार्श्व के किनारे एक-दूसरे की ओर झुके रहते हैं और घाटी की ओर लटके रहते हैं और कालान्तर में अपरदन से गिरकर घाटी के किनारे निक्षेप कर देते हैं जिनसे सोपानी भ्रंश का निर्माण हो जाता है। कई स्थानों पर निक्षेप के दबाव के कारण क्षेप भ्रंश (thrust fault) भी बन जाते हैं। ऐसे उदाहरण अफ्रीका की एलबर्ट झील में उपलब्ध होते हैं। संपीडन के विचार के समर्थक भूवैज्ञानिक **कोबर** तथा **पारसन** मुख्य हैं।

बुलर्ड का मत—बुलर्ड महोदय ने अपने अध्ययन में ऊर्ध्वपात पार्श्व में समस्थिति की अवस्था पाई और विभ्रंश घाटियों में अपेक्षाकृत कम गुरुत्वाकर्षण बल का अनु-

मान किया। इस प्रकार तनाव के कारण विभ्रंश घाटी की रचना को इन्होंने अमान्य किया। इनके मत में विभ्रंश घाटी की रचना संपीडन बल के फलस्वरूप होती है। इनके अनुसार संपीडन की स्थिति में कठोर शैल की परत क्षेप-भ्रंश उत्पन्न करेगी और यह क्रिया दूसरे स्थान पर भी होगी। इन दोनों के मध्य विभ्रंश घाटी की रचना होगी। **बुलर्ड** के मतानुसार इस घाटी की चौड़ाई रवेदार शैलों की मोटाई एवं इसकी प्रत्यास्थता (elasticity) तथा अधःस्तर की शैलों के घनत्व पर निर्भर करती है। इस मत के प्रमुख विरोधी **टोइट** हैं।

टोइट के मत—इनकी राय में संपीडन के कारण विभ्रंश घाटियों की रचना हुई होती तो नीचे धँसे भाग पर संपीडन के हल्के मोड़ दिखाई पड़ते। किन्तु ये किसी भी विभ्रंश घाटी में दृश्य नहीं हैं। **टोइट** महोदय के अनुसार घाटी के पार्श्व भाग का घाटी की ओर झुकाव भी पपड़ी में समस्थिति स्थापित करने की क्रिया के फलस्वरूप घटित है।

वेबर महोदय के मतानुसार दवाव के कारण निर्मित भ्रंशनें लम्बवत् होतीं, किन्तु विश्व की विभ्रंश घाटियाँ वलित पर्वत श्रेणियों से लम्बवत् पाई जाती हैं।

टोइट महोदय के मतानुसार विभ्रंश घाटी की रचना की निम्न अवस्थायें होती हैं :

(1) तनाव से निर्मित निक्षेप युक्त बेसिन।

(2) भ्रंश का श्रीगणेश तथा ब्लाक में टूट या पीछे खिसकाव।

(3) पृथ्वी की पपड़ी में फैलाव तथा तनाव की शक्ति का अन्त।

(4) पृथ्वी की पपड़ी के भार में कमी तथा पपड़ी का गुम्वदाकार वलन।

(5) कगार का पीछे खिसकाव तथा पपड़ी का पुनः उत्थान।

(6) मध्यस्त परत का पिघलाव तथा ज्वालामुखी क्रिया की उपस्थिति।

(2) कटक भ्रंश—जब दो सामान्य भ्रंशों के मध्य का भाग ऊपर उठ जाता है तो वहाँ कटक की बनावट उपस्थित हो जाती है। इनको **कटक भ्रंश या उत्खण्ड भ्रंश** (ridge faulting or horst fault) कहते हैं। जर्मन भाषा में ये **अवरोधी पिण्ड** या **भ्रंशोत्थ** (horst) कहलाते हैं। ये क्षैतिज होते हैं और इसमें स्पष्ट दो कगारें होती हैं। सिनाइ, ब्लैक फारेस्ट इसके उदाहरण हैं। जब ये स्थूल नत होते हैं और एक ही कगार वाले होते हैं तो इन्हें नतस्थूल (tilted block) कहते हैं जैसे दक्कन का पश्चिमी घाट।
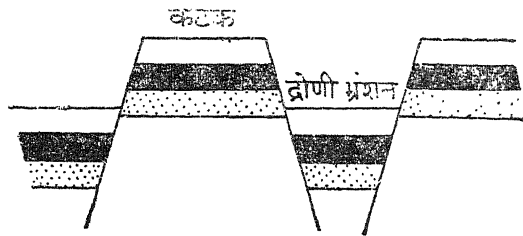
चित्र 92—कटक भ्रंशन

(3) घूर्णी भ्रंश—कभी-कभी भ्रंश चूल की गति का होता है जिसमें तहों का

एक किनारा ऊपर उठा हुआ और दूसरा नीचे की ओर धँसा हुआ होता है। इसको **घूर्णी भ्रंश** (rotary faulting) कहते हैं।

(4) **चूल भ्रंश**—इसमें एक किनारे की शैलों की तहों में खिसकाव रहता है किन्तु दूसरे किनारे अपने प्रारम्भिक स्थान पर ही स्थित रहते हैं। इस आकृति को **चूल या हिन्ज भ्रंश** (hinge faulting) कहते हैं।

(5) **क्षेप भ्रंश**—शैलों की मोड़ के साथ यह भ्रंश होती है। अधिक खिचाव को शैलें सहन नहीं कर पातीं तो टूट जाती हैं और इससे निम्नकोणात्मक भ्रंश होती है जिसमें शैलों का आपसी खिसकाव बहुत विस्तृत होता है। इसको **क्षेप भ्रंश** (thrust faulting) कहते हैं। वलित पर्वतों के क्षेत्र में ये साधारण आकृतियाँ हैं। ये दो प्रकार की होती हैं—(1) अधिक्षेप (over thrust), (2) अधःक्षेप (under thrust)।

प्रथम प्रकार के क्षेप में शैलों का टूटना तथा उनका धक्का ऊपर की ओर होता है। दूसरे में नीचे की ओर होता है।

(3) **संवलन** (Warping)

स्थानीय तनाव से स्तर-भ्रंश के कतिपय रूप उपस्थित हो जाते हैं। इनके दायें बायें न तो भू-भाग ऊपर उठता है और न नीचे धँसता है। सन्धि का तनाव शैलों के अनुसार भिन्न होता है और उनसे भिन्न सन्धि (jointing) भी बन जाती हैं।

सन्धियाँ निम्नलिखित दशाओं में बनती हैं :

(1) ठण्डक के कारण आग्नेय शैलें जब सिकुड़ती हैं,
(2) परतदार शैलें जब सूखती हैं,
(3) शैलों में जब तनाव एवं संपीडन पैदा होती है,
(4) कुछ शैलों की स्फटीय बनावट होती है जिससे स्तर अलग हो जाते हैं।

अवसादी शैलों की प्रमुख सन्धियाँ

अवसादी शैलों में तीन प्रकार की सन्धियाँ मिलती हैं :

(1) विदलन सन्धि (Cleavage Joint),
(2) अनुनति सन्धि (Dip Joint),
(3) नतिलम्ब सन्धि (Strike Joint)।

प्रथम प्रकार की सन्धि परतों के समानान्तर होती हैं। यह उन शैलों में पायी जाती है जिन पर दबाव अधिक पड़ा रहता है। दूसरे प्रकार की सन्धि लटों के झुकाव अथवा अधिक ढाल वाली दिशा के समानान्तर होती है। तीसरी सन्धि झुकाव पर लम्बवत् खींची गयी रेखा के समानान्तर होती है। अन्तिम दो प्रधान सन्धियाँ (master joints) हैं क्योंकि ये प्रायः सभी शैलों में पायी जाती हैं। ये दोनों प्रकार की सन्धियाँ धरातल के लम्बवत् होती हैं और इनके कटान-स्थल पर समकोण बनता है।

सन्धियाँ भिन्न-भिन्न शैलों के रचना-क्रम को जटिल बना देती हैं। इनके कारण शैलों की तहें कमजोर हो जाती हैं और भू-रचना पर उनका गहरा प्रभाव पड़ता है।

प्रश्न

1. What is diastrophism and how does it affect landforms ? Give examples and explain the most common landforms associated with it. (*Agra 1971; Delhi 1970; Gorakhpur 1966*)
   पटल विरूपण से क्या तात्पर्य है ? इसका स्थल रूपों पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उदाहरण देकर इससे सम्बन्धित सामान्य स्थल रूपों की व्याख्या कीजिए।
2. Write short notes on :
   Syncline, Rift valley, Nappe, Normal fault.
   (*Rajasthan 1970; Meerut 1971; Patna 1969*)
   संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   अभिनति, विभ्रंश घाटी, प्रच्छेद तथा सामान्य भ्रंश।
3. Describe the main type of earth movements and the relief features they give rise to on the earth's surface.
   (*Magadh 1971; Jabalpur 1969*)
   पृथ्वी की मुख्य संचलनों का वर्णन लिखिए और पृथ्वी-तल पर इनके द्वारा बनने वाले प्रधान भूदृश्यों का उल्लेख कीजिए।
4. What do you understand by orogenetic movements ? Describe with diagrams the structure resulting from compressive forces.
   (*Gorakhpur 1969; Udaipur 1971*)
   पर्वत-निर्माणकारी भू-संचलन से आप क्या समझते हैं ? संपीडन शक्ति के द्वारा उत्पन्न धरातलीय आकृतियों का सचित्र वर्णन कीजिए।

12

अन्तर्जात बल–ज्वालामुखी

[ENDOGENETIC FORCES—VOLCANOES]

ज्वालामुखी और उसकी क्रिया

भूपृष्ठ को फाड़कर राख, धुआँ एवं विभिन्न गैसों से परिपूर्ण विशाल मुख वाला भयानक ज्वालामुखी धरातल पर विनाश-लीला की रचना करके जीव-पुंगव मानव को बुद्धिहत एवं नतमस्तक कर देता है। यही कारण है कि अतीतकाल से मानव इस अद्भुत प्राकृतिक शक्ति का साधक बना हुआ है। ज्वालामुखी से प्रभावित जापानवासी अपने देश के सबसे बड़े ज्वालामुखी फ्यूजीयामा को सर्वश्रेष्ठ देव मानकर उसकी आराधना करते हैं और उसको प्रसन्न रखने के लिए पूजा चढ़ाते हैं। प्राचीन अवधारणा है कि ज्वालामुखी का उद्भेदन (eruption) प्रकृति देवी की अप्रसन्नता एवं क्रोध का द्योतक होता है। यह नाम भूमध्यसागर में स्थित वोलकेनो द्वीप के नाम पर रखा गया है जो रोमवासियों द्वारा पातालपुरी का प्रवेश-द्वार माना जाता था।

ज्वालामुखी की व्याख्या

इस प्रकार ज्वालामुखी भूपटल का एक गहरा छिद्र या दरार है जिससे होकर भूगर्भ की उष्ण गैसें, तरल द्रव, शिलाखण्ड आदि बाहर निकलकर भूपृष्ठ पर फैल जाते हैं। इसके नाम से ही स्पष्ट प्रकट होता है कि इसके मुख से ज्वाला निकलती है। वास्तव में बात भी यही है। इसके मुख से निकलने वाली वस्तुएँ तप्त एवं प्रज्वलित होती हैं। इस छिद्र या दरार के ऊपरी भाग को ज्वालामुखी विवर या ज्वालामुख (crater) कहते हैं। इसकी आकृति कटोरे की भाँति होती है जिसकी तली का सम्बन्ध भूगर्भ से रहता है। जब इस मुख में लावा-निक्षेप हो जाता है और ज्वालामुखी विलुप्त हो जाता है तो झीलें बन जाती हैं। कुछ ज्वालामुखियों का गर्त इतना बड़ा होता है कि एक विशाल मैदान बन जाता है। कनारी द्वीपसमूह का **केल्डरा गर्त** तीन-चार किलोमीटर लम्बा एक बड़ा गड्ढा है।

ज्वालामुखी पर्वत नहीं हैं। पहले ज्वालामुखी ही अस्तित्व में आता है और पर्वत उसका प्रतिफल होता है। लावा तथा अन्य शिलाखण्डों का जमाव रंध्र (orifice) के निकट हो जाता है और शंकु का निर्माण होता है। जिन स्थानों पर ज्वालामुखी से पतले लावा का उद्भेदन होता है वहाँ शंकु की रचना नहीं होती है। फलतः पर्वत भी नहीं बनते हैं।

ज्वालामुखी की परिभाषा

ज्वालामुखी की परिभाषा के सम्बन्ध में वैज्ञानिक एकमत नहीं हैं। स्काटलैण्ड के **प्रोफेसर जे० गीकी** के अनुसार ज्वालामुखी लगभग शंक्वाकार पर्वत है जो भूगर्भ से नली के द्वारा उष्ण वाष्प, गरम गैसें, द्रव लावा तथा अन्य चट्टानी पदार्थों का प्रवाह धरातल पर लाता है। **क्रेडनर** के अनुसार ज्वालामुखी एक सपाट शंकु है जो एक नली के द्वारा पृथ्वी की गहराई से सम्बन्धित होता है और जो भूगर्भ से गैसें, ठोस तथा जलते हुए पदार्थों को बाहर निकालने में निकास का कार्य सम्पन्न करता है।

चित्र 93—ज्वालामुखी का विभाग चित्र
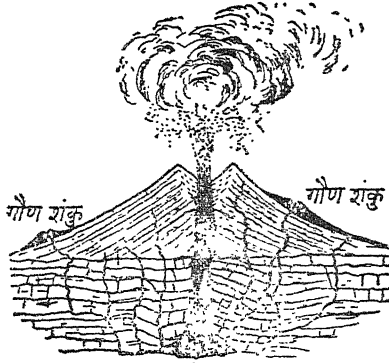
वे सभी क्रियाएँ जो भूगर्भ से भूपटल की ओर प्रवाहित होने वाले लावा की गति से सम्बन्धित हैं, ज्वालामुखी उद्भव (vulcanism) कही जाती हैं। इस आधार पर ये दो वर्गों में विभक्त की जाती हैं :

(1) अन्तर्वेधी (Intrusive), (2) बहिर्वेधी (Extrusive)।

(1) अन्तर्वेधी क्रिया में भूगर्भ का लावा धरातल तक नहीं पहुँचता है बल्कि धरातल के नीचे ही रुककर ठण्डा हो जाता है और ठोस बन जाता है। इस क्रिया के फलस्वरूप भूपृष्ठ के भिन्न-भिन्न रूप बन जाते हैं जिसमें महास्कंध (bathylith), छत्रक (laccolith), मसूर शैल (phacolith), न्युदुब्ज शैल (lopolith), स्कन्ध एवं वृत्त स्कन्ध (stocks and bosses), लावापट्ट (sills) आदि प्रमुख हैं।

(2) बहिर्वेधी क्रिया में भूगर्भ के पदार्थ धरातल पर निकल आते हैं और शंकुओं की रचना करते हैं। भूगर्भ से विभिन्न पदार्थों का बाहर निकलना ज्वालामुखीय उद्भेदन (volcanic eruption) कहलाता है। इस क्रिया के अन्तर्गत गरम सोते, उष्णोच्छलिका, वाष्पमुख तथा दरार-उद्गार आते हैं।

ज्वालामुखी उद्भेदन

ज्वालामुखी का उद्भेदन—प्रायः ज्वालामुखी के उद्भेदन का पूर्वाभास मिल जाता है। प्रारम्भ में जोरों की गड़गड़ाहट व भरभराहट की आवाज सुनाई पड़ती

है। ज्यों-ज्यों यह आवाज बढ़ती जाती है, भूकम्प के धक्के आने लगते हैं। थोड़े समय के अन्तर पर भूकम्प के कई धक्के लगते हैं। इस प्रकार उद्भेदन के पूर्व अधिकतर ज्वालामुखी चेतावनी प्रस्तुत करते हैं। उद्गार के पूर्व ज्वालामुखी के समीपस्थ भूमि का ताप भी बढ़ जाता है। भूमि भी नीचे की ओर धँस जाती है। अधिकतर उद्भेदन के पूर्व पृथ्वी में कम्पन पैदा होती है जो शीघ्रता तथा उग्रता से बढ़ जाती है। परन्तु उद्भेदन के पश्चात् कम्पन बन्द हो जाती है। जब भूकम्पों के पश्चात् भी उद्भेदन नहीं होता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि लावा में इतनी शक्ति नहीं है कि भूपटल को फाड़कर बाहर निकल सके।

उद्भेदन की पहली पहचान गड़गड़ाहट है। दूसरी पहचान कुओं तथा सोतों के प्रवाह का रुक जाना है क्योंकि जल छिद्रों तथा संधों में प्रवेश कर जाता है। कभी-कभी कुओं तथा सोतों में कीचड़ मिश्रित गंदला पानी आने लगता है। समुद्रों का जल ऊपर-नीचे उठने लगता है। कभी-कभी उद्भेदन किसी पूर्व-सूचना के बिना ही अचानक फूट पड़ता है।

उद्भेदन की वृत्तियाँ—सर्वप्रथम उद्भेदन शक्तिशाली धक्के के साथ प्रारम्भ होता है। बहुत अधिक वाष्प तथा गैसें लावा के बारीक कणों के साथ मुख से अकस्मात् बाहर निकलती हैं। इस प्रकार का विस्फोट बहुत शीघ्रता से होता है और बहुत बड़ा गोलाकार वाष्प-पिण्ड आकाश की ओर जाता है। यदि वायु नहीं चलती
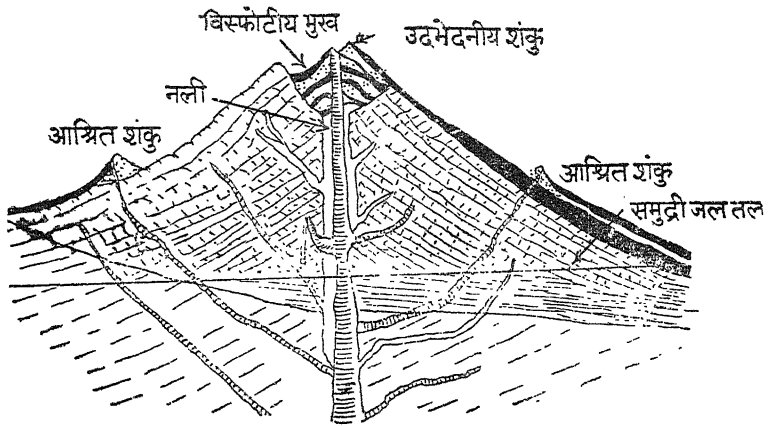
चित्र 94—ज्वालामुखी का उद्भेदन

रहती है तो यह वाष्प सीधे ऊपर की ओर जाती है और ऊँचाई पर जाकर बादल के रूप में परिणत हो जाती है। ज्वालामुखी के उद्भेदन के इस रूप को इटली में पाषाण-पाइन (stone-pine) कहते हैं।

उद्भेदन से वाष्प, गैस, ज्वालामुखीय धूल के कण तथा ज्वाला निकलती है। वाष्पीय बादल का शीघ्र ही संघनन होने लगता है और बड़े जोरों की वर्षा होती है।

वाष्प के विस्फोट के पश्चात् शीघ्र ही लावा-कण, राख तथा चट्टानी खण्डों का उद्भेदन होता है। ये पदार्थ लावा तथा ज्वालामुखी की दीवारों से प्राप्त होते हैं। ये ज्वालामुखी के निकटवर्ती स्थान पर या मुख में ही पुनः गिर पड़ते हैं। ज्वालामुख में गिरने वाले पदार्थ पुनः बाहर की ओर फेंक दिये जाते हैं और पहले की अपेक्षा सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेते हैं।

अब लावा नली के मुख पर पहुँच जाता है और मुख से बाहर निकलने लगता है। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ज्वालामुखी के उद्भेदन के साथ ये सभी वृत्तियाँ निश्चित रूप से नहीं होतीं, कहीं-कहीं इनका अभाव भी रहता है।

ज्वालामुखी के उद्भेदित पदार्थ

ज्वालामुख से बाहर निकलने वाले पदार्थ प्रायः तीन प्रकार के होते हैं :

(1) वाष्प तथा गैसें (Vapour and Gases),

(2) ज्वालामुख-क्षिप्त पदार्थ या बिखण्डित पदार्थ (Pyroclasts or Fragmental Materials),

(3) लावा (Lava)।

(1) वाष्प तथा गैसें—ज्वालामुख से निकलने वाली गैसों में जल-वाष्प मुख्य होती है। इसकी मात्रा 90 प्रतिशत होती है। गन्धक तथा कार्बन के विविध गैस-रूप भी बाहर निकलते हैं। इनमें अनेक ज्वलनशील गैसें हैं। दहनशील गैसों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा सल्फर ऑक्साइड मुख्य हैं।

दबाव के कम होने पर गैसों की स्थिति में परिवर्तन होता है। भूगर्भ में भीषण गरमी तथा दबाव के कारण गैसें लावा में घुली हुई रहती हैं, किन्तु गरमी तथा दबाव के कम होते ही गैसें लावा से अलग हो जाती हैं।

(2) बिखण्डित पदार्थ—विस्फोट के साथ लावा से गैसों के अलग हो जाने पर छोटे-बड़े शिलाखण्डों का निर्माण होता हैं। ये शिलाखण्ड उद्भेदन में सैकड़ों मीटर ऊँचे उछल पड़ते हैं। इनके विभिन्न आकार एवं प्रकार होते हैं—कुछ गोल होते हैं तो कुछ अण्डाकार, कुछ लम्बे होते हैं तो कुछ बेलनाकार। ये ठोस पदार्थ तीन प्रकार से बनते हैं :

(क) ज्वालामुख की दीवालों के टूटकर वायु में उड़ने से,

(ख) ज्वालामुख की लावा की डाट के नष्ट हो जाने से,

(ग) लावा के पिण्डों के ठण्डा हो जाने से।

उपर्युक्त तीन विधियों से ठोस पदार्थों में ज्वालामुखीय धूलि तथा राख (volcanic dust and ashes), पिण्ड (blocks), बम (bomb), अंगार या सिंडर (cinders), झांवा (pumice), ज्वालामुखी अश्मक (lapilli) तथा ज्वालामुखीय पंक (volcanic mud) उल्लेखनीय हैं। इन ठोस पिण्डों में सूक्ष्म कण वाली धूल से लेकर टनों भारी शिलाखण्ड तक होते हैं। सबसे महीन कण को ज्वालामुखीय धूलि

कहते हैं। बाजरा या मटर के बराबर कणों को **ज्वालामुखीय-राख** कहते हैं। सुपारी के आकार के टुकड़ों को **लैपिली** कहते हैं। बड़े कोणात्मक शैलों के टुकड़े जो एक इंच से लेकर कई मीटर व्यास के होते हैं, **ज्वालामुखीय-पिण्ड** कहलाते हैं। जब पिघले हुए लावा का टुकड़ा चक्कर काटते हुए वायु में जाता है तो परिभ्रमण के साथ गोलाकार एवं अण्डाकार रूप धारण कर लेता है। साथ ही साथ वह कठोर भी हो जाता है। जब ये भूमि पर गिरते हैं तो इन्हें **ज्वालामुखीय-बम** कहते हैं। इनके गोल, अण्डाकार, लम्बे तथा नाना प्रकार के विशिष्ट आकार होते हैं। ये भी कुछ सेण्टीमीटर से लेकर 1 मीटर व्यास के होते हैं। ये प्राय: खोखले होते हैं।

चित्र 95—ज्वालामुखी-उद्भेदन से प्राप्त विभिन्न प्रकार के बम

ज्वालामुख से बाहर फेंका गया खुरखुरा कोणिक तथा लाल पदार्थ **अंगार** कहलाता है। ये उन पदार्थों से मिलते-जुलते हैं जो जलने और सुलगने से प्राप्त होते हैं। इनकी बनावट स्पंजी (spongy) और कोशिकीय (cellular) होती है। यह एक हल्का तथा संरन्ध्र पदार्थ है। कभी-कभी ज्वालामुखी के उद्भेदन के पश्चात् घनघोर वर्षा होती है, जिससे ज्वालामुखीय धूलि तथा राख पंक के रूप में प्रवाहित होने लगती है। इसको **ज्वालामुखीय-पंक** कहते हैं। बिसूवियस के उद्भेदन से हरकुलेनियम नामक नगर पूर्णत: नष्ट हो गया था।

(3) **उत्तप्त लावा**—लावा ज्वालामुख से द्रव-रूप में बाहर निकलता है। इसको **मैग्मा** (magma) कहा जाता है। इसमें विभिन्न गैसें तथा खनिज मिले रहते हैं। सैकता (silica) के आधार पर अधिसिलिक लावा (acid lava) तथा अल्पसिलिक लावा (basic lava) दो वर्ग होते हैं। अधिसिलिक लावा पीले रंग का होता है। इसका भार हल्का होता है। यह अधिक ताप पर पिघलता है। यह गाढ़ा होता है और बहुत धीरे-धीरे प्रवाहित होता है। हल्के गुलाबी रंग वाली रायोलाइट नामक शैल का निर्माण अधिसिलिक मैग्मा के ठण्डे होने से होता है। इसमें सैकता की मात्रा 77 प्रतिशत होती है।

अधिसिलिक लावा की सतह शुष्क तथा ऐंठनदार होती है क्योंकि बाहर निकलने वाली गैसें इसको यत्र-तत्र ऊँचा कर देती हैं और कहीं-कही दबा देती हैं। यह लावा चिपचिपा होता है। इसमें गैसें अधिक होती हैं, इसीलिए यह भयावह विस्फोट के साथ बाहर निकलता है।

अल्पसिलिक लावा गहरे रंग का होता है। यह अपेक्षाकृत भारी तथा काले रंग का होता है। यह कम ताप पर पिघल जाता है। पतला होने से यह तीव्र गति से प्रवाहित होता है। इसमें गैसें भी मिली रहती हैं किन्तु धरातल पर ठण्डा होकर यह शीघ्र जमने लगता है। ठोस बनने पर यह लावा शीशे की भाँति परतों में जमता है किन्तु अधिसिलिक लावा ऊबड़-खाबड़ हो जाता है। अल्पसिलिक लावा का सर्वोत्तम उदाहरण बेसाल्ट शैल है।

कभी-कभी अधिसिलिक एवं अल्पसिलिक लावा में से गैसों के बाहर निकलने पर उनके बाह्य पृष्ठ पर नन्हें-नन्हें छिद्र बन जाते हैं। इसको **स्पंजी लावा** (spongy lava) कहते हैं। जब ये छिद्र अधिक होते हैं तो लावा को **अवस्कर** (scoria) कहते हैं। जब अत्यधिक छिद्रयुक्त होने से लावा हल्का होकर पानी में तैरने लगता है तो उसे झांवा (pumice) कहते हैं।

लावा की प्रवाह-गति धरातल के ढाल तथा लावा की चलनशीलता पर निर्भर करती है। यह गति प्रायः 16 किलोमीटर प्रति घण्टे से कम होती है। लावा-प्रवाह से बहुत हानि होती है, किन्तु वर्तमान वैज्ञानिक युग में लावा-प्रवाह के मार्ग का परिवर्तन बम की सहायता से किया जा रहा है। यह प्रयोग मौनालोआ तथा एटना (सिसली टापू) में सफल हो रहा है।

लावा के जमने पर दो प्रकार की सतहें उत्पन्न होती हैं। एक को भ्रंशोत्थ (block) या हवाई नाम **कर्कश** (aa-a-hah) कहते हैं। इनमें गैसों के अकस्मात् निकल जाने से कम रवे बन पाते हैं। जब लावा का ऊपरी भाग जम जाता है और निचला भाग गतिशील रहता है तो ऊपर की पट्टी कालान्तर में विभिन्न आकार-प्रकार के अवस्कर पिण्डों (scoria blocks) में टूट जाती है। दूसरे प्रकार की तह को **रज्जुक लावा** (ropy lava) या हवाई नाम **पाहोइ-होइ** (pahoe-hoe) कहते हैं। अल्पसिलिक लावा अपेक्षाकृत अधिक तापमान पर बनता है। इसमें से शनैः शनैः गैसें बुलबुले के रूप में बाहर निकलती हैं। ऊपरी भाग में एक पतली पपड़ी बन जाती है और नीचे लावा बहता रहता है। इस प्रकार लावा की सतह रस्सी की भाँति झुर्रियों की आकृति ग्रहण कर लेती है। इन झुर्रियों में द्रव लावा भर जाता है। जब इस प्रकार का लावा समुद्र-जल में या सर्द जल में बह पड़ता है तो इसका जमाव तकियों के ढेर की तरह हो जाता है। इसी कारण इसको **शिरोधान लावा** (pillow lava) के नाम से पुकारते हैं। मुम्बई टापू में सिवरी भोइवाडा का शिरोधान लावा प्रसिद्ध हैं।

ज्वालामुखीय-उद्भेदन के कारण

ज्वालामुखीय-उद्भेदन का सम्बन्ध भूपृष्ठ की भीतरी शैलों से होता है। पर्वत एवं भूखण्ड-निर्माणकारी घटनाओं के फलस्वरूप पृथ्वी पर उत्पन्न संकुचन एवं तनाव के कारण उद्भेदन घटित हो जाता है। इसके मुख्य कारण अग्रलिखित हैं :

(1) ऊष्मा की उत्पत्ति, (2) तरल लावा की उत्पत्ति,
(3) लावा का ऊर्ध्व प्रवाह, (4) गैस एवं वाष्प का बहिर्गमन ।

(1) ऊष्मा की उत्पत्ति—भूगर्भ में ऊष्मा की वृद्धि से पदार्थों का आयतन बढ़ जाता है जिससे वे बाहर निकलने का प्रयास करते हैं ।. इस ऊष्मा की उत्पत्ति का आधार भू-तापीय (geothermal) एवं रासायनिक (chemical) प्रतिक्रियाएँ तथा विघटनाभिकता (radioactivity) मुख्य हैं ।

(2) तरल लावा—पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी की शैलों के दाब से पृथ्वी के अन्तरंग की शैलें तरल अवस्था में नहीं रह सकती हैं । जब कभी भ्रंशन तथा अपरदन से ऊपरी पपड़ी का दबाव कम हो जाता है तो शैलों का गलनांक कम हो जाता है । फलस्वरूप भूगर्भ की शैलें तीव्र ताप के कारण तरल हो जाती हैं । तरल होने के साथ ही इनका आयतन बढ़ जाता है और ये बाहर निकलने का प्रयास करती हैं जिससे ज्वालामुखी का उद्भेदन होता है ।

(3) लावा का ऊर्ध्वगमन—भूगर्भ का लावा दो कारणों से ऊपर उठता है—प्रथम, धरातल में होने वाली हलचल तथा द्वितीय, लावा पर गैसों एवं वाष्प का दबाव । पपड़ी की हचचल के कारण दबाव घट जाता है और लावा में उपस्थित वाष्प तथा गैसें भी फैलती हैं और लावा को ऊपर फेंकती हैं ।

(4) गैस तथा वाष्प—भूमिगत जल-प्रवाह से अधिक मात्रा में वाष्प बनती है । समुद्र के निकट यह क्रिया अधिक होती है । इन गैसों के कारण ज्वालामुखी का उद्भेदन होता है । साथ ही, ऊपरी शैल का दबाव कम हो जाने से तरल बेसाल्ट का बहाव होता है जो आकर्षण शक्ति का प्रतिफल है ।

उपर्युक्त कारणों से लावा, वाष्प तथा गैसें पृथ्वी की पपड़ी को जहाँ भी कमजोर पाती हैं, वहीं से तोड़कर बाहर निकलने का प्रयास करती हैं । पपड़ी-प्रायः वलन, भ्रंशन तथा हलचल के क्षेत्रों में कमजोर रहती है ।

ज्वालामुखी-उद्भेदन के भेद

भूगर्भ के तरल चट्टानी पदार्थों के ऊपर निकलने की विधि तथा ढकेलने की शक्ति के आधार पर ज्वालामुखीय-उद्गार तीन कोटि के होते हैं ।

(1) विस्फोटी या केन्द्रीय उद्भेदन (Explosive or Central Eruption),
(2) विदरी उद्भेदन (Fissure Eruption),
(3) निःसृत उद्भेदन (Effusive Eruption) ।

(1) विस्फोटी उद्भेदन—इसकी उत्पत्ति एक केन्द्रीय मुख द्वारा होती है । इसमें बहुत अधिक ध्वनि तथा कम्पन होती है । चारों ओर से गड़गड़ाहट की आवाज सुनायी पड़ती है और तीव्र गति से आकाश भयानक मेघों से आच्छादित हो जाता है । इसके तुरन्त बाद विभिन्न आकार के शिलाखण्डों की बौछार प्रारम्भ हो जाती है और अधिसिलिक लावा का प्रवाह प्रारम्भ हो जाता है । इस प्रकार के उद्भेदन

से भयानक भूकम्प आते हैं और आतंक का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। इन उद्भेदनों से महत्त्वपूर्ण भू-रचना नहीं होती है।

जब भूगर्भ में लावा एवं गैसें अधिक मात्रा में एकत्र हो जाती हैं तो भूपृष्ठ के निर्बल भागों को तोड़कर और प्रायः ज्वालामुखी की डाट को तोड़कर ये भयंकर रूप से बाहर निकलती हैं। सिसली टापू का एटना, जापान का फ्यूजीयामा तथा इटली का विसूवियस विस्फोट उद्भेदन के उत्तम उदाहरण हैं। इस उद्भेदन से समीपवर्ती प्रदेश नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। लावा की मात्रा के कम हो जाने पर गैसें तेज आवाज के साथ बाहर निकलती हैं। ये गैसें राख तथा ठोस टुकड़ों के साथ निकलती हैं। इनमें इतनी शक्ति होती है कि शंकु का कुछ भाग भी वायु में उड़ जाता है। इसी प्रकार के विस्फोट से सन् 1893 में क्राकाटोआ का टापू पूर्णतः उड़ गया था और समीपवर्ती समुद्र में उद्वेलित लहरों से इण्डोनेशिया-तट की आबादी नष्ट हो गयी थी।

(2) **विदरी उद्भेदन**—धरातलीय हलचल के कारण जब भूपटल शैलों में दरारें पड़ जाती हैं तो लावा इन्हीं दरारों से बाहर निकलकर धरातल पर प्रवाहित होता है। इनसे बेसाल्ट लावा असंख्य दरारों से उबल-उबल कर धीरे-धीरे निकलता रहता है और धरातल के विस्तृत भू-भाग में फैल जाता है। इस प्रकार के उद्भेदन में भीषणता नहीं होती है। इस प्रकार के लावा का उद्गार धरातल को ढकता जाता है, यहाँ तक कि कालान्तर में धरातल पर लावा की मोटी तह जम जाती है। दक्षिण भारत का लावा प्रदेश और संयुक्त राज्य अमरीका का स्नेक नदी का प्रदेश इसी प्रकार के उद्भेदन से निर्मित हैं। इस प्रकार के उद्गार पृथ्वी के इतिहास में उस युग में हुए जब पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी हो रही थी और पृथ्वी की पपड़ी पतली थी। भूगर्भ की गरमी के कारण उत्पन्न धरातल की हलचल ने दरारें पैदा कीं जो प्रायः समानान्तर थीं। इस प्रकार के उद्गारों से बड़ी-बड़ी घाटियाँ पट गयीं।

(3) **निःसृत उद्भेदन**—यह उद्भेदन पृथ्वी के ठण्डे होने की द्वितीय दशा से सम्बन्धित है। जब पृथ्वी की पपड़ी इतनी मोटी हो गयी कि मैग्मा किसी भी स्थान पर पपड़ी को तोड़कर नहीं निकल सकता था, तो यह उद्गार कतिपय निर्बल तथा दरार वाले क्षेत्रों में होता रहा। इन उद्भेदनों में भीषणता नहीं होती अतः इन्हें **शान्त उद्भेदन** भी कहते हैं। समोआ, हवाई तथा आइसलैण्ड के ज्वालामुखी इसी प्रकार के हैं।

ज्वालामुखी उद्भेदन के विशिष्ट वर्ग

एक विशिष्ट वृत्ति के आधार पर भी उद्भेदन के कई वर्ग होते हैं। इसके वर्गीकरण में विश्व के सुविख्यात ज्वालामुखियों के नाम का उपयोग किया गया है।

(1) **हवाई उपलक्षक उद्भेदन**—यह सबसे हल्का उद्भेदन होता है जिसमें बिना किसी विस्फोटी उपद्रव के लावा शान्तिपूर्वक बाहर निकलता है। यह लावा पतला

एवं तरल होता है जो एक विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है। लावा-बिन्दुओं से निर्मित धागे के समान पतले लावा-पिण्डों को वायु उड़ा ले जाती है। इसको हवाई की अग्नि-देवी 'पीली' के नाम पर **पीली के केश** (pele nair) कहते हैं। इन ज्वालामुखियों से गैसें कम मात्रा में धीरे-धीरे निकलती हैं। इस प्रकार का उद्भेदन हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों में पाया जाता है। इसी कारण इसका यह नामकरण हुआ है।
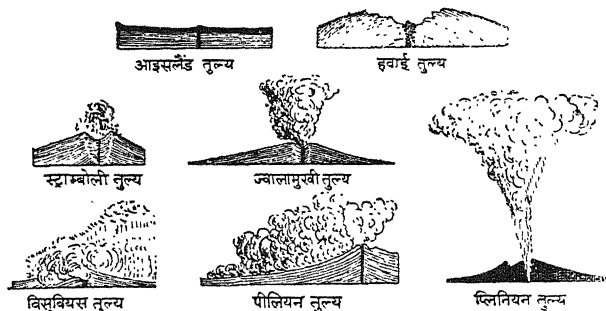
चित्र 96—ज्वालामुखी के उद्भेदन के प्रमुख रूप

(2) **स्ट्रोम्बोली उपलक्षक उद्भेदन**—सिसली टापू के उत्तर में स्थित लिपारी टापू के स्ट्रोम्वोली ज्वालामुखी में उद्भेदन समय-समय पर होता है। इसमें लावा कम तरल होता है और लावा के कण हवा में उड़कर बम तथा विखण्डित पदार्थ बन जाते हैं। इसमें प्रज्ज्वलित गैस-पुंज बाहर निकलते हैं और इसी कारण स्ट्रोम्बोली को भूमध्यसागर का प्रकाश-गृह कहा जाता है। कभी-कभी जोरों का उद्भेदन भी हो जाता है।

(3) **बाल्केनो उपलक्षक उद्भेदन**—बाल्केनो भी लिपारी द्वीप का ही ज्वाला-मुखी है। इसमें बहुत लसदार लावा बाहर निकलता है और दो उद्भेदनों के मध्य लावा के थक्के (clots) बन जाते हैं। इस कारण बाद के उद्भेदन में शैल-पिण्डों की ढेरी वाहर फेंकी जाती है। गैसें भी बाहर निकलती हैं जो फूलगोभी की आकृति धारण करती हैं। किन्तु ये स्ट्राम्बोली की तरह प्रज्ज्वलित नहीं होती।

(4) **विसूवियस उपलक्षक उद्भेदन**—इटली के विसूवियस ज्वालामुखी में अधिक गैसयुक्त होने के कारण लावा विस्फोटित होता है। गैसें फूलगोभी की आकृति में बहुत ऊपर उठती हैं और अपने साथ विखण्डित पदार्थों को, विशेषतया राख को ले आती हैं। विसूवियस के अति विस्फोटीय उद्भेदनों को **प्लिनियन तुल्य** भी कहते हैं कथानक के अनुसार **प्लिनी** महोदय ने **टैसिटस** महोदय को विसूवियस के एक उद्भेदन के विषय में एक पत्र में लिखा था, जिसके कारण इसका उक्त नाम पड़ गया। इसमें गैस बहुत ऊपर पहुँच जाती है जिससे बादल का विस्तृत निर्माण हो जाता है।

(5) **पीलियन उपलक्षक उद्भेदन**—पीली ज्वालामुखी पश्चिमी द्वीपसमूह के मार्टिनिक द्वीप में है। इसमें संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली विस्फोट होता है। मैग्मा

बहुत लसदार होता है, अत: ज्वालामुखीय नली में कठोर पट्टी पड़ जाती है। नीचे का गैसयुक्त लावा ऊपर निकलने का प्रयत्न करता है। गैसें उदग्र रूप में बाहर निकलती हैं और रंग में काली होती हैं। इनको **आइसलैण्ड उपलक्षक** उद्भेदन भी कहा जाता है।

ज्वालामुखी-शंकु

ज्वालामुखी से बाहर निकला हुआ पदार्थ मुख के आसपास जम जाता है जो शंकु के आकार का रूप धारण कर लेता है। इसको **ज्वालामुखी-शंकु** (volcanic cone) कहते हैं। इसकी रचना के सम्बन्ध में निम्न दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं :

(1) ज्वालामुख-निष्कासन सिद्धान्त (Crater Ejection Theory),

(2) ज्वालामुख-उत्थापन सिद्धान्त (Crater Elevation Theory)।

(1) ज्वालामुख-निष्कासन सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार शंकु की रचना ज्वालामुखी के उद्गार के पदार्थों के धीरे-धीरे एकत्र होने तथा जमने से हुई है। प्रत्येक उद्भेदन के बाद निक्षेप के बढ़ते जाने से कालान्तर में शंकु की आकृति बन जाती है।

(2) ज्वालामुख-उत्थापन सिद्धान्त—इस सिद्धान्त से शंकु की रचना की व्याख्या अन्य प्रकार से की गयी है। इसके अनुसार भूगर्भीय धक्के के कारण ज्वालामुख के समीप धरातल के उठ जाने से शंकु की रचना होती है। इसके प्रवर्तक दो **जर्मन विद्वान वान बुश** तथा **वान हम्बोल्ड** हैं जिनकी सम्मति में ये शंकु शरीर पर उठे हुए फफोले की तरह हैं।

ज्वालामुखी के पाश्वों का विश्लेषण करने पर द्वितीय सिद्धान्त असत्य सिद्ध हुआ है और प्रथम सिद्धान्त की पुष्टि हुई है।

ज्वालामुखी शंकु-रचना

ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति शंकु की तरह होती है। ये शंकु छोटे-से टीले से लेकर सर्वोच्च पर्वतों के समान होते हैं। शंकु की रचना ज्वालामुखी से निकले हुए पदार्थों के घर्षण-कोण, उनकी एकत्रीभूत शक्ति, लावा की रासायनिक रचना, वायु की दिशा, विस्फोटों की दशा आदि पर निर्भर करती है। धरातल पर किसी वस्तु के राशि कोण को **घर्षण कोण** कहा जाता है। किसी राशि के कण जितने बड़े होंगे, घर्षण कोण भी उतना ही बड़ा होगा। शंकु की रचना पर उद्भेदन के समय निकले राख, धूल, पत्थर, बम आदि पदार्थों के घर्षण-कोण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। ये पदार्थ गरम होते हैं, अत: एक-दूसरे से मिल जाते हैं। उद्भेदन-काल की वर्षा का भी शंकु की रचना पर काफी प्रभाव पड़ता है।

लावा की रासायनिक रचना का भी शंकु पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अधिसिलिक लावा अधिक चिपचिपा होता है, फलत: इसका प्रवाह बहुत धीमा होता है। प्राय: लोग इसे गतिहीन समझते हैं। इसी कारण अधिसिलिक शंकु प्रपाती होता

है। जापान का फ्यूजीयामा एक दर्शनीय और सुन्दरतम शंकु है। फिलीपाइन का मेयान, उत्तरी अमरीका के हुड, शास्ता और रेनियर पर्वत भी दर्शनीय हैं।

उद्‌भेदन के समय निकले पदार्थ सनातन हवाओं के प्रवाह से भी प्रभावित हो जाते हैं। ये पदार्थ प्रवाह-दिशा की ओर लम्बे होते हैं। विस्फोटों से शंकु की आकृति बदल जाती है। भयंकर विस्फोटों में शंकु उड़ जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं या चकनाचूर हो जाते हैं। अतीत में विसूवियस शंकु उड़ गया था।

शंकु अपने आकार, विस्तार तथा रचना के आधार पर अनेक प्रकार के होते हैं जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

(1) लावा शंकु (Lava Cones),
(2) सिंडर शंकु (Cinder Cones),
(3) मिश्रित शंकु (Compostite Cones),
(4) ढाल शंकु (Shield Cones),
(5) डाट गुम्बदीय शंकु (Plug Dome Cones),
(6) परजीवी या आश्रित शंकु (Parasite Cone or Adventive Cones),
(7) लावालव शंकु (Spatter Cones)।

(1) **लावा शंकु**—ये शंकु निर्वापित ज्वालामुखी के उद्‌भेदन से बनते हैं। इनकी रचना लावा-प्रवाह से होती है। इनमें शिलाखण्ड नहीं होते हैं। रचना के अनुसार इनकी आकृति भी भिन्न-भिन्न होती है, जिनमें कुछ प्रसिद्ध हैं।

चित्र 97—अधिसिलिक लावा का शंकु

चित्र 98—अल्पसिलिक लावा का शंकु

अम्ल लावा (acid lava) शंकु अधिक सैकता-मिश्रित लावा से बनते हैं। इनका रूप तीव्र ढाल वाले गुम्बद का होता है। अल्पसिलिक लावा (basic lava) शंकु कम सैकता-मिश्रित लावा से बनते हैं। यह लावा बहुत तरल एवं पतला होता है अतः एक बड़े क्षेत्र में फैल जाता है। इसमें शंकु का ढाल बहुत मन्द होता है।

(2) **सिंडर शंकु**—ये विस्फोटीय ज्वालामुखी के उद्‌भेदन से बनते हैं। इनमें शिलाखण्डों की मात्रा अधिक होती है। इनमें राख की मात्रा भी अधिक होती है।

चित्र 99—सिंडर शंकु

इनकी आकृति पूर्ण शंकु की होती है। इनके किनारे उत्तल ढाल वाले होते हैं। राख तथा अंगार के अनुसार इनका घर्षण कोण होता है। 30° पर राख और 45° पर अंगार विश्राम करते हैं। ज्वालामुखी के विस्फोट की भीषणता एवं अवधि के अनुसार ये शंकु विस्तार में छोटे या बड़े होते हैं। यदि

विस्फोट द्वारा उद्गार थोड़ी देर तक होता है तो शंकु नीचे किन्तु चौड़े बनते हैं। किन्तु यदि देर तक भीषण उद्भेदन होता है तो शंकु सँकरे किन्तु ऊँचे बनते हैं।

सिंडर-शंकु की रचना में वायु का प्रभाव महत्त्वपूर्ण होता है। यदि उद्भेदन के समय तीव्र वायु रहती है तो प्रतिवाती ढाल पर अधिक निक्षेप होता है। किन्तु शान्त वायुमण्डल में चतुर्दिक ढाल पर समान निक्षेप होता है। इस प्रकार तीव्र वायु में विषम शंकु और शान्त वायु में सम शंकुओं की रचना होती है।

एक तीसरे प्रकार के शंकु की भी रचना होती है। कभी-कभी लावा शंकु टूट जाते हैं। इन्हें नालरूप शंकु (horse-shoe type cone) कहते हैं। लेसेन ज्वालामुखीय राष्ट्रीय पार्क में सिंडर-शंकु मिलता है सिसली तथा हवाई द्वीप पर भी सिंडर शंकु हैं। फिलिपाइन के लुजोन द्वीप का कैमिग्विन ज्वालामुखी में सिंडर शंकु निर्मित है।

(3) **मिश्रित शंकु**—इनका निर्माण विस्फोटीय एवं शान्त उद्भेदनों से होता है। इनमें राख, शिलाखण्डों तथा लावा की एक के पश्चात् दूसरी तह बन जाती है। इसीलिए इसको स्तरित शंकु (strata-cone) भी कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फिलिपाइन द्वीप का मेयान तथा जापान का फ्यूजीयामा है।

चित्र 100—मिश्रित शंकु

(4) **ढाल शंकु**—इसकी रचना तीव्रगामी लावा के निक्षेप से होती है। लावा के तीव्र प्रवाह से शंकु के क्षेत्र विस्तृत हो जाते हैं और मुख के चारों ओर समानान्तर तहें बन जाती हैं। इनकी ऊँचाई कम होती है और ये साधारण ढाल वाले पठारों की भाँति दिखायी पड़ते हैं। इसलिए इनको **पठारी शंकु** भी कहते हैं। हवाई टापू पर मोनालोआ ढाल शंकु के आधार के निकट का ढाल 20° है जो ऊँचाई पर 10° तक हो गया है, किन्तु 3,100 मीटर के ऊपर यह एक चपटे तथा कम ढाल वाले गुम्बद के आकार में परिवर्तित हो गया है। इसके चपटे भाग पर **फलाउआ** स्थित है जो समुद्र की सतह से 1,200 मीटर ऊँचा है। **टेना** एक दूसरा ढाल शंकु है, किन्तु इसकी चोटी का शंकु टूटे हुए पदार्थों से बना हुआ है।
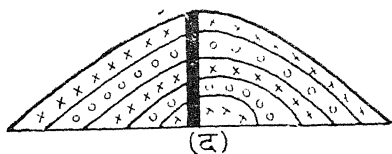
(5) **डाट गुम्बद शंकु**—ज्वालामुख के पास लसदार अधिसिलिक मैग्मा के एकत्र होने से यह शंकु बनता है। इसमें मैग्मा पहले के एकत्रित मैग्मा पर चढ़ता जाता है और गुम्बद बढ़ता जाता है। इसमें बाहरी कड़ा भाग टुकड़ों में विभक्त हो जाता है और गुम्बद के चारों ओर शैल-मलवा (talus) बन जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका के लेसेन ज्वालामुखी (कैलिफोर्निया) के पचास वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में 13 गुम्बद हैं, जिनमें सबसे बड़ी **लेसेन चोटी** (Lassen Peak) है। मारटीनीक टापू के **पेली** पर्वत की रीढ़ इसका **दूसरा उत्तम उदाहरण है।**
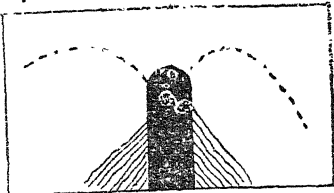
चित्र 101—डाट गुम्बद शंकु

ज्वालामुखीय प्लग (डाट) भूरचना की विलोमता का वास्तविक उदाहरण है क्योंकि ऊपर आने के पूर्व यह विवर के निर्माण करने वाले खड्ड के तल में था।

(6) **आश्रित शंकु**—मिश्रित शंकु की दीवारें बहुधा विस्फोट में टूट जाती हैं और इनके पार्श्वों पर अनेक छिद्र बन जाते हैं। इन दरारों में चारों ओर किनारे-किनारे छोटे-छोटे राख-शंकु एक रेखा में बन जाते हैं। इससे शंकु की एक विचित्र आकृति बन जाती है। ये आश्रित शंकु कहलाते हैं। एटना पर्वत पर ऐसे कई परजीवी या आश्रित शंकु बने हुए हैं। कभी-कभी ये उद्भेदन द्वारा नष्ट भी हो जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के माउण्ट शास्ता का शास्तिना शंकु आश्रित शंकु है।

(7) **लावालव शंकु**—आश्रित शंकुओं से होकर लावा की सँकरी गैस धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। यदि धीरे-धीरे उद्भेदन होता है तो उससे निकला हुआ लावा अल्पसिलिक होता है। लावा के गैस के बुलबुलों के टूटने से तीव्र ढाल वाली शृंग-आकृति बनती है। इस शंक्वाकार आकृति को लावालव शंकु कहते हैं।

ज्वालामुखी की प्रसुप्त अवस्था प्राप्त होने अथवा निर्वापित हो जाने पर शंकु की रचना बन्द हो जाती है और शंकु के मुलायम अंशों का क्षय होने लगता है। कालान्तर में शंकु का छोटा रूप शेष रह जाता है। इसके उदाहरण इडाहो राज्य (सं० रा० अमरीका) में मिलते हैं।

ज्वालामुखी के प्रकार

ज्वालामुखी अनेक प्रकार के होते हैं। इनका वर्गीकरण इनकी उद्भेदन विधि तथा निःसृत पदार्थों के आधार पर किया जाता है। अनेक विद्वानों ने ज्वालामुखीय शंकुओं के आधार पर इनके भेद बताये हैं। उपर्युक्त सभी आधारों की सहायता से ज्वालामुखी के निम्न भेद बताये जाते हैं :

(1) उद्भेदन के आधार पर

(क) सक्रिय ज्वालामुखी (Active Volcanoes),
(ख) निर्वापित ज्वालामुखी (Extinct Volcanoes),
(ग) प्रसुप्त ज्वालामुखी (Dormant Volcanoes),
(घ) विस्फोटीय ज्वालामुखी (Explosive Volcanoes),
(ङ) निसृत ज्वालामुखी (Effusive Volcanoes),
(च) मिश्रित ज्वालामुखी (Mixed Volcanoes)।

(2) शंकुओं के आकार, प्रकार एवं रचना के आधार पर

(क) लावा गुम्बद ज्वालामुखी (Lava Dome Volcanoes),
(ख) सिंडर शंकु ज्वालामुखी (Cinder Cone Volcanoes),
(ग) मिश्र शंकु ज्वालामुखी (Composite Cone Volcanoes),
(घ) ढाल ज्वालामुखी (Shield Volcanoes),
(ङ) कुण्ड ज्वालामुखी (Calderas Volcanoes)।

(3) उद्भेदन के पदार्थों के आधार पर
(क) गन्धकीय ज्वालामुखी या गैसमोची ज्वालामुखी (Salfataras Volcanoes),
(ख) पंक ज्वालामुखी (Mud Volcanoes)।

(1) उद्भेदन के आधार पर

(क) **सक्रिय ज्वालामुखी**—इन ज्वालामुखियों में प्राय: उद्भेदन होता रहता है। इनका मुख सर्वदा खुला रहता है और मुख के निकट वनस्पति का अभाव रहता है। नवीन ठण्डे लावा द्वारा शंकु का निर्माण होता है। इनमें नाली की दीवारें लम्बरूप रहती हैं। ये समय-समय पर लावा, धुआँ आदि उगलते रहते हैं। विभिन्न ज्वालामुखियों का जागरण-काल भिन्न-भिन्न होता है। एटना ज्वालामुखी ढाई हजार वर्षों से सक्रिय है। भारत भूमि पर कोई भी सक्रिय ज्वालामुखी नहीं है, केवल बंगाल की खाड़ी में बैरेन द्वीप में एक सक्रिय ज्वालामुखी है। सारे विश्व में लगभग 500 सक्रिय ज्वालामुखी हैं। इक्वेडर का **कोटोपैक्सी** सबसे ऊँचा (6,000 मीटर) सक्रिय ज्वालामुखी है।

(ख) **निर्वापित ज्वालामुखी**—इनमें उद्भेदन-क्रिया नहीं होती है। इनकी नली में लावा तथा अन्य भूगर्भीय पदार्थों का जमाव हो जाता है और मुख बन्द हो जाता है। कालान्तर में मुख झील के रूप में बदल जाता है जिसके ऊपर पेड़-पौधे उग आते हैं। इस प्रकार के ज्वालामुखी बहुत कम पाये जाते हैं। बहुत से ज्वालामुखी दीर्घकाल तक शान्त रहने के पश्चात् अचानक सक्रिय हो जाते हैं। ब्रह्मा का **पोपा** ज्वालामुखी इसी प्रकार का है।

(ग) **प्रसुप्त ज्वालामुखी**—इनमें दीर्घकाल से उद्भेदन नहीं हुआ होता है, किन्तु इसकी सम्भावनाएँ रहती हैं। इनके मुख से गैसें तथा वाष्प निकला करती हैं। ये जब अचानक क्रियाशील हो जाते हैं तो धन-जन की अपार क्षति होती है। इटली का **विसूवियस** ज्वालामुखी कई वर्ष तक प्रसुप्त रहने के पश्चात् सन् 1931 में अचानक फूट पड़ा। इक्वेडर का **चिम्बोराजो** 6,200 मीटर ऊँचा तथा चिली का **एकाकांगुआ** 7,000 मीटर ऊँचा—इसके उदाहरण हैं।

(घ) **विस्फोटीय ज्वालामुखी**—इस प्रकार के ज्वालामुखी में धड़ाके से उद्भेदन होता है और मुख से टूटे-फूटे शिलाखण्ड तथा गैसें बाहर निकलती हैं।

(ङ) **नि:सृत ज्वालामुखी**—इस प्रकार के ज्वालामुखी से लावा एवं गैसें बिना किसी प्रकार की ध्वनि के बाहर निकलती हैं। इनमें धड़ाके की आवाज नहीं होती है।

(च) **मिश्रित ज्वालामुखी**—ये विस्फोटीय तथा नि:सृत ज्वालामुखी के मिश्रित रूप हैं। इनमें लावा का उद्गार कभी शान्तिपूर्वक होता है तो कभी विस्फोट से। विसूवियस, एटना, केनिया तथा रेनियर सभी मिश्रित ज्वालामुखी हैं।

(2) शंकुओं के आकार, प्रकार एवं रचना के आधार पर

(क) सिंडर शंकु ज्वालामुखी—इनके मुख पर लावा के ठण्डे हो जाने से शंकुओं की रचना होती है। इसी प्रकार राख शंकु ज्वालामुखी के मुख पर राख निर्मित शंकु मिलते हैं।

(ख) मिश्र शंकु ज्वालामुखी—इस श्रेणी में वे ज्वालामुखी हैं जिनमें लावा और राख की तहों का जमाव बारी-बारी से हुआ है। इनमें शंकुओं का जमाव विस्फोटीय उद्गार से चट्टानी टुकड़ों तथा राख के स्तर का जमाव होता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे प्रकार के कई स्तरों का जमाव होने से मिश्रित शंकुओं का निर्माण होता है।

(ग) ढाल ज्वालामुखी—अधिक तरल लावा के विस्तृत क्षेत्र में फैल जाने से ढाल शंकुओं की रचना होती है। इनमें लावा समानान्तर तहों में जमा होता रहता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी के शंकुओं का विस्तार बहुत अधिक होता है किन्तु इनकी ऊँचाई बहुत कम होती है। इनको पठारी ज्वालामुखी भी कहा जाता है। हवाई द्वीप में ऐसे अनेक ज्वालामुखी पाये जाते हैं। संसार का सबसे बड़ा शील्ड ज्वालामुखी **मोनालोआ** (Mauna Loa) है। यह 4,170 मीटर ऊँचा है।

(घ) कुण्ड ज्वालामुखी—कुछ ऐसे भी ज्वालामुखी होते हैं जिनका मुख 'ला कैलडेरा' (La Caldera) के विस्तृत कड़ाहनुमा चौकोर गड्ढे के आधार पर विस्तृत होता है। यह बहुत बड़ी कटी हुई चोटी वाले शंकु की भाँति दिखलायी देता है। इसके भीतर का गड्ढा मुख की दीवारों से चारों ओर से घिरा रहता है। इसकी
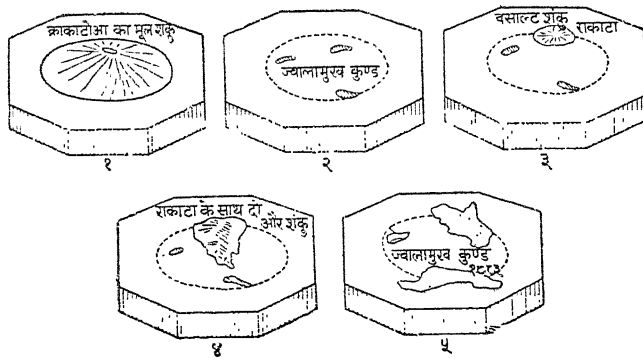
चित्र 102—क्राकाटोआ के विकास की पाँच अवस्थाएँ

दीवारों के भीतर छोटे आकार के नये ज्वालामुखी भी पाये जाते हैं जिनकी रचना निमग्न ज्वालामुखी के निर्माण के बाद कम मात्रा में पुनः उद्गार के कारण हुई होती है। निमग्न ज्वालामुखी दो प्रकार के होते हैं :

(क) विस्फोटी ज्वालामुख कुण्ड (Explosive Caldera),

(ख) निमज्जित ज्वालामुख कुण्ड (Subsidence Caldera)।

जब निमग्न ज्वालामुखी का निर्माण ज्वालामुखी शंकुओं के ऊपरी भागों को तोड़ देने वाले बहुत भयंकर विस्फोट द्वारा होता है तो उसे विस्फोटीय निमग्न ज्वालामुखी कहते हैं। इसमें विस्फोट द्वारा उड़ा हुआ पदार्थ ज्वालामुखी (Agglomerate) या संकेन्द्रीय धूल या टफ (tuff) के रूप में ज्वालामुखी के चारों ओर विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है। जब विस्फोट बहुत भयंकर होता है तो शैलें इतनी अधिक टूटती हैं कि वे सूक्ष्म धूलकण या राख में परिवर्तित हो जाती हैं। धूलकण वायु द्वारा बहुत ऊँचाई तक उड़ा ले जाये जाते हैं, जैसा कि क्राकाटोआ से सन् 1883 के विस्फोट में हुआ था।

विस्फोटी ज्वालामुख कुण्ड के शान्त हो जाने पर निमज्जित ज्वालामुख कुण्ड बनते हैं। ये अधिकतर झीलों के रूप में हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ओरेगन राज्य की विवर झील (crater lake) इसी प्रकार की है। इसका व्यास 8 किलोमीटर तथा गहराई 600 मीटर है। यह खड़े ढाल वाले पर्वतों से घिरी है जो ऊँचे शंकुओं के अवशेषमात्र हैं।

(3) उद्भेदन के पदार्थों के आधार पर

(क) गैसमोची ज्वालामुखी—जब ज्वालामुखी की शक्ति कम हो जाती है तो यह गैसमोची अवस्था (Salfatara stage) में आ जाता है। ये ज्वालामुखी दरारों एवं संधियों से बनते हैं जिससे विभिन्न प्रकार की वाष्प एवं धुएँ बाहर निकलते हैं। वाष्पों में गन्धक (sulphur), सोडियम क्लोराइड (sodium chloride), क्षारीय सल्फेट (alkaline sulphates) तथा अन्य पदार्थ भी बाहर निकलते हैं जो मुख के किनारों पर एकत्र होते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि गन्धकीय ज्वालामुखी वे ज्वालामुखी हैं जिनकी शक्ति कम हो जाती है। उनमें लावा एवं राख का उद्गार अधिक होता रहता है। यह ज्वालामुखी के पूर्ण शान्त होने से पूर्व की अवस्था है। बंगाल की खाड़ी के बैरेन द्वीप में ऐसा ज्वालामुखी है।
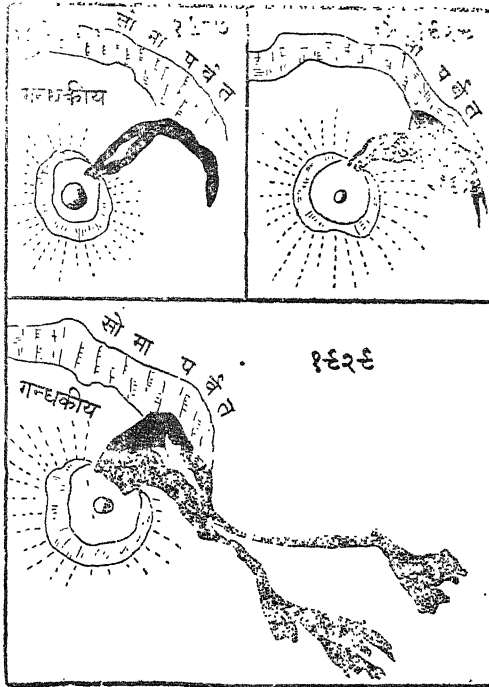
चित्र 103—गैसमोची ज्वालामुखी

(ख) **पंक ज्वालामुखी**—इस ज्वालामुखी से गैस के साथ जल का उद्गार इतना अधिक होता है कि उसके मिश्रण से पंक बन जाता है और ज्वालामुख से पंक का उद्गार होता है। विभिन्न खनिजों के मिश्रण से अनेक रंग का कीचड़ होता है। इस कीचड़ के जम जाने से शंकु का निर्माण होता है। इनकी ऊँचाई मुख के समीप 10 मीटर से अधिक नहीं पाती। इन ज्वालामुखियों में पहले पानी का स्रोत कम हो जाने से नीचे का गन्दा पानी आता है, जिसमें शैलों का चूर्ण मिला होता है। धीरे-धीरे कीचड़ अधिक गाढ़ा आने लगता है। जब कभी इस कीचड़ के सूख जाने पर पंक ज्वालामुखी का मुख बन्द हो जाता है तो उसके नीचे पानी की भाप बनती है। यह भाप कीचड़ को उछाल देती है। ट्रीनीडाड द्वीप में पंक ज्वालामुखियों का समूह पाया जाता है। काकेशस पर्वत के आसपास के ज्वालामुखियों से जल की जगह पेट्रोलियम का उद्गार होता है जो राख के साथ मिलकर पंक बनाते हैं। ब्रह्मा तथा बलुचिस्तान में भी पंक ज्वालामुखी पाये गये हैं। पाकिस्तान (पश्चिमी) में पंक-शंकु मिलते हैं जो विस्तृत भूमि को घेरे हुए हैं।

वाष्पमुख
(Fumarole)

यह शब्द लैटिन भाषा का है जिसका अर्थ वाष्पमुख होता है। इनसे निकलने वाली गैस बहुत उष्ण होती है और कभी-कभी 345° सेण्टीग्रेड तक तापमान भी प्राप्त कर लेती है। इसमें वाष्प की मात्रा 90 प्रतिशत से अधिक रहती है।

इन वाष्पमुखों से अधिकांशतः गन्धक का धुआँ निकलता है, इसका उदाहरण बलुचिस्तान का सुल्तान पर्वत है। अलास्का में 'दस सहस्र धुआँ की घाटी' एक बड़ा वाष्पमुख का क्षेत्र है। न्यूजीलैंड से ह्वाइट टापू का वाष्प मुख प्रसिद्ध है।

जब वाष्पमुखों से कार्बन डाइ-ऑक्साइड बाहर निकलता है तो वे **मोफीट** (Mofettes) कहलाते हैं। जब बोरिक एसिड बाहर निकलता है तो वे **साफिओने** (Soffione) कहलाते हैं। इटली में इन वाष्पमुखों से विद्युत उत्पन्न की जाती है।

ज्वालामुखियों की संख्या

पृथ्वी के धरातल पर पाये जाने वाले सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या 500 से कुछ अधिक है। यदि निर्वापित ज्वालामुखियों को भी शामिल कर लिया जाय जिनमें अब भी मुख पर शंकु वर्तमान है, तो इनकी संख्या लगभग 1,200 होगी। यह संख्या अनुमानित है; निश्चित संख्या विवादग्रस्त है।

ज्वालामुखी की स्थिति

ज्वालामुखी की स्थिति के सम्बन्ध में पहला स्मरणीय तथ्य यह है कि ये अधिकतर समुद्र के निकट या द्वीपों पर अथवा महाद्वीपों के किनारे पाये जाते हैं। इससे प्रकट होता है कि ये भूमि के निर्बल क्षेत्रों में महाद्वीप तथा महासागरों के संगमस्थल पर पाये जाते हैं। जहाँ कहीं ये महाद्वीपों के भीतरी भागों में पाये जाते हैं वहाँ पर भूपृष्ठ में बड़ी दरारें होती हैं। पूर्वी अफ्रीका की विशाल विभ्रंश घाटी

इसका उदाहरण है। इस विषय में पाँच या छः अपवाद अवश्य हैं जिनमें मध्य एशिया, मांचुको तथा मध्य अफ्रीका के ज्वालामुखी आते हैं।

इनकी स्थिति के विषय में दूसरा तथ्य यह है कि ये ग्लोब के सभी प्रदेशों में पाये जाते हैं। आइसलैंड तथा एलूशियन द्वीपसमूह से लेकर उष्ण कटिबन्ध तथा एन्टार्कटिक महाद्वीप तक ये मिलते हैं। यद्यपि इनकी संख्या उष्ण कटिबन्ध में अन्य प्रदेशों से अधिक है ; किन्तु ये एक निश्चित रेखा-मार्ग को अनुसरण करते हुए ज्ञात होते हैं। 300 से अधिक ज्वालामुखी प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर के तट तथा द्वीपों पर स्थित हैं।

ज्वालामुखियों का वितरण

संसार में सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या लगभग 500 है। किन्तु सौयर के मतानुसार पृथ्वी-तल पर 430 सक्रिय ज्वालामुखी हैं जिनमें 275 उत्तरी गोलार्द्ध तथा 155 दक्षिणी गोलार्द्ध में हैं। इनमें अधिकांश सागरीय भाग में हैं। निर्वापित
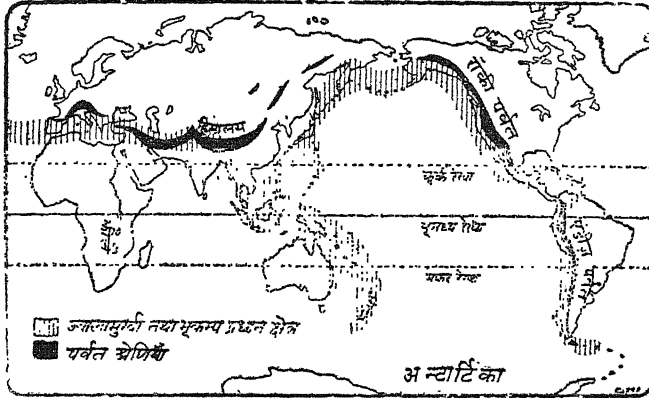
चित्र 104—विश्व में ज्वालामुखी की पेटियाँ

तथा प्रसुप्त ज्वालामुखियों की संख्या कई हजार होगी। संसार के सभी ज्वालामुखी व्यवस्थित पेटियों में पाये जाते हैं। ये पेटियाँ वलन तथा भ्रंशन के प्रदेशों में हैं। इस प्रकार की निम्न पेटियाँ उल्लेखनीय हैं :

(1) **परि-प्रशान्त महासागर की तटीय पेटी**—इसके अन्तर्गत अमरीका के पश्चिमी तट, क्यूराइल द्वीपसमूह, जापान, फिलिपाइन, पूर्वी द्वीपसमूह तथा न्यूजीलैण्ड सम्मिलित हैं। इस पेटी को अग्निवृत्त (ring of fire) भी कहते हैं।

(2) **यूरेशिया की पेटी**—इसमें इटली तथा पूर्वी भूमध्यसागरीय प्रदेश आते हैं। यह पेटी काकेशिया, आर्मीनिया, ईरान, बलुचिस्तान तथा ब्रह्मा होते हुए पूर्वी द्वीपसमूह तक जाती है।

(3) **आन्ध्र महासागरीय पेटी**—इस पेटी में पश्चिमी द्वीपसमूह तथा पूर्वी आन्ध्र महासागर के द्वीप आते हैं।

लम्बी पेटियों में ज्वालामुखी के व्यवस्थित होने का कारण यह ज्ञात होता है कि वे धरातल की दरार-रेखा (Fissure line) का अनुसार करती हैं। इसी कारण बड़े ज्वालामुखी बड़ी-बड़ी पर्वत-शृंखलाओं का अनुसरण करते हुए पाये जाते हैं, क्योंकि ये धरातल की बहुत बड़ी दरार-रेखा पर स्थित होते हैं।

ज्वालामुखी स्थलाकृति

ज्वालामुखीय प्रदेशों में इनके उद्भेदन की सामग्री मुख के समीप एकत्र हो जाने से शंक्वाकार उच्च आकृतियाँ बन जाती हैं। इन्हें ज्वालामुखी पर्वत कहते हैं। ज्वालामुखी के सक्रिय रहने पर ज्वालामुखी पर्वतों की ऊँचाई बढ़ती जाती है। यों तो ज्वालामुखी पर्वत विभिन्न आकार-प्रकार एवं ऊँचाई के होते हैं, किन्तु अधिक ऊँचे वही ज्वालामुखी पर्वत होते हैं जिनके मुख पर अधिसिलिक लावा तथा राख एवं चट्टानी खण्डों का मिश्रित निक्षेप होता है।

ज्वालामुखी पर्वतों का ऊपरी भाग ज्वालामुख के कारण दूर से सपाट दृष्टि-गोचर होता है। पार्श्व खंण्ड के अध्ययन से चोटी पर बड़ा प्याला अथवा तस्तरी रखा जान पड़ता है। विभिन्न प्रकार के ज्वालामुखी अलग-अलग प्रकार के दृश्य प्रस्तुत करते हैं, जिनके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

ज्वालामुखी की निक्षेप-सामग्री पर समुद्री लहरों तथा वर्षा के जल का गहरा प्रभाव पड़ता है। इनके द्वारा लावा-निक्षेप में काफी काट-छाँट होती है और धरातल परिवर्तित हो जाता है। ज्वालामुखी पर्वत अर्थात् शंकु या गुम्बद के बहुत कट-छँट जाने के बाद लावा की डाट खड़ी रह जाती है। इस आकृति को ज्वालामुखीय-ग्रीवा (volcanic neck) कहते हैं। अपरदन की अधिकता के कारण कभी-कभी ग्रीवा न बनकर भित्ति या बाँध के समान आकृति बन जाती है। इसे ज्वालामुखी लावापट्ट (volcanic sill) कहते हैं। समुद्र में पड़ने वाले ज्वालामुखीय निक्षेप को लहरें काट डालती हैं जिनमें अच्छे-अच्छे पोताश्रय बन जाते हैं। यही नहीं, अपरदन के साधनों द्वारा लावा-निक्षेप पर काट-छाँट होने से भिन्न-भिन्न आकार, प्रकार एवं विस्तार के गुम्बद, शंकु एवं शृंगों की रचना होती है। लावा-प्रवाह से प्रभावित घाटियाँ तथा ऊँची श्रेणियाँ उसके नीचे दबी पायी जाती हैं। किन्तु जब बीच की श्रेणियाँ कट जाती हैं तो अवशिष्ट ऊँचाइयों पर लावा की टोपी मेज की तरह ज्ञात होती है जिसे **मेसा** (mesa) कहते हैं। छोटे पहाड़ी टीले **ब्यूट** (butte) कहलाते हैं। शान्त ज्वालामुख में जल एकत्र हो जाने से उसका मुख झील के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार की झीलें **विवर झील** (crater lakes) कहलाती हैं। महाराष्ट्र की **लोनार** झील भी इसी कोटि में आती है।

ज्वालामुखी एवं मानव

ज्वालामुखी प्रायः विनाशकारी होते हैं। इनके उद्भेदन होने पर समीपवर्ती गाँव नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं तथा लाखों की जानें चली जाती हैं। इनका विनाशकारी प्रभाव इनके उद्भेदन की प्रकृति पर निर्भर करता है। विस्फोटीय उद्भेदन अधिक

विनाशकारी होते हैं। समुद्री द्वीपों पर ज्वालामुखी के उद्भेदन से कभी-कभी सम्पूर्ण द्वीप प्रभावित हो जाता है। क्राकाटोआ नामक द्वीप (प्रशान्त महासागर में) एक विस्फोटीय उद्भेदन से बिल्कुल लुप्त हो गया और उस द्वीप का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो गया। इस प्रकार भूमण्डल के मानचित्र में क्षणमात्र में महान् परिवर्तन हो गया। समुद्रों में स्थित द्वीपों पर ज्वालामुखी के उद्भेदन से समुद्रों में ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं जो निकटवर्ती जलयानों को नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं।

ज्वालामुखी अपनी उपर्युक्त विनाशकारी विशेषता के साथ-साथ उपयोगी भी होते हैं। इनके उद्भेदन से निर्मित लावा मिट्टी बड़ी उपजाऊ होती है। उसमें अनेक उपयोगी खनिजों का मिश्रण पहले से ही वर्तमान रहता है। भारत में लावा का पठार ऐसी ही उपजाऊ मिट्टी से बना है। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलिपाइन आदि द्वीपों की मिट्टी के उपजाऊ होने का मुख्य कारण यही है कि वहाँ की मिट्टी लावा से बनी है। यही नहीं, उद्गार के साथ अनेक बहुमूल्य खनिज धरातल पर आ जाते हैं। स्वीडन का लोहे का क्षेत्र इसी प्रकार बना। जापान, इटली तथा सिसली में गंधक की अधिकता का कारण यही है। अन्त में, ज्वालामुखी के उद्गार से भूगर्भ के अध्ययन में सहायता मिलती है, ऐसा भूवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है।

ज्वालामुखी के अध्ययन द्वारा भविष्य के उद्भेदनों की भविष्यवाणी हो जाती है जिससे अपार जन-धन की क्षति को बचा लिया जाता है।

लावा के जमाव से बनी शैलें इमारती कामों के लिए बहुत उपयोगी होती हैं।

इनसे दर्शनीय दृश्य बन जाते हैं। एटना तथा अरारात क्षेत्र संसार के सुन्दर एवं आकर्षक क्षेत्र गिने जाते हैं।

उद्भेदन-काल में निःसृत शक्ति का उपयोग अत्यन्त लाभप्रद होता है। **डॉ० प्रेलर** ने गणना की है कि यदि सन् 1928 में एटना पर्वत के उद्भेदन की शक्ति एकत्र कर ली जाती तो उससे समस्त इटली के लिए तीन वर्ष तक बिजली दी जा सकती थी। इस प्रकार से एकत्र भाप का बड़ा भण्डार कैलिफोर्निया में है जिसका प्रयोग बिजली-उत्पादन में किया जा रहा है।

आइसलैण्ड के गर्म स्रोतों से भोजन पकाने और वस्त्र धोने का काम लिया जाता है। कैलिफोर्निया में भी वाष्प के कुओं का उपयोग किया जाता है।

प्रश्न

1. What are Volcanoes ? What is the special relief feature associated with them ? Describe this feature fully.

   (*Meerut 1968*; *Rajasthan 1969*)

   ज्वालामुखी क्या हैं ? इनसे सम्बन्धित विशिष्ट स्थल-रूप क्या हैं ? इस भूदृश्य को व्याख्या कीजिए।

2. Describe the formation, distribution and forms of Volcanoes.

   (*Gorakhpur 1968*; *Allahabad 1968*; *Bihar 1970*)

   ज्वालामुखियों की उत्पत्ति, वितरण तथा रूपों का वर्णन कीजिए।

13

अन्तर्जात बल—भूकम्प

[ENDOGENETIC FORCES—EARTHQUAKE]

भूकम्प भूमि की कम्पन है अथवा भूमि के आगे-पीछे जाने वाली गति है। भूमि में कम्पन पृथ्वी की पपड़ी से होकर गुजरने वाली लचीली संपीडन की तरंगों द्वारा होती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भूकम्प पृथ्वी की पपड़ी का विक्षोभ है जिससे पृथ्वी हिलने लगती है और भूपर्पटी आगे-पीछे होने लगती है। वास्तव में पृथ्वी के अन्दर होने वाली किसी घटना के परिणामस्वरूप ज़ब धरातल का कोई भाग अकस्मात् काँप उठता है तो उसे **भूकम्प** कहते हैं। **वारसेस्टर** महोदय के मतानुसार भूकम्प धरातल की कम्पन है जो धरातल तथा इसके नीचे की शैलों के प्रत्यास्थ (elastic) या गुरुत्व साम्यावस्था (gravitational equilibrium) की अल्पकालिक गड़बड़ी से उत्पन्न होती है।

भूकम्प की तरंगें एक केन्द्र के बाहर की ओर चारों ओर फैलती हैं। केन्द्र से फैलने में भूकम्प की तरंगों की शक्ति सभी दिशाओं में क्रमशः कम होती जाती है। इसमें एक के बाद दूसरी कई गतियाँ होती हैं जो धीरे-धीरे समाप्त हो जाती हैं। इसमें पेड़, मन्दिरों के ऊपरी भाग तथा ऊँची वस्तुएँ आगे-पीछे हिलती हुई ज्ञात होती हैं। भूकम्प में लहरदार गतियों के अतिरिक्त प्रायः धरातल का उत्थापन या अवतलन पाया जाता है। भूमि तथा वायुमण्डल से गड़गड़ाहट की आवाज भी सुनी जाती है।

भूकम्प के कारण

आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार भूकम्प के निम्न कारण उल्लेखनीय हैं :

(1) ज्वालामुखी,
(2) पृथ्वी का संकुचन,
(3) समस्थितिक सिद्धान्त,
(4) भ्रंश क्रियाएँ,
(5) पृथ्वी की उत्तप्त गैसें,
(6) कृत्रिम भूकम्प,
(7) डॉ० रीड का सिद्धान्त।

(1) ज्वालामुखी—जब कभी ज्वालामुखी का उद्भेदन विस्फोट के साथ होता है तो उसके मुख के निकटवर्ती क्षेत्र काँप उठते हैं और हिलने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि भूकम्प आ जाता है। कभी-कभी ज्वालामुखी के प्रदेशों में विस्फोट न होने पर भी भूकम्प होने लगता है जिसका कारण भूगर्भ के द्रव-पदार्थों का अपनी पूर्ण शक्ति से बाहर निकलने का प्रयास तथा ऊपरी कड़ी शैलों द्वारा द्रव पदार्थ के मार्ग में अवरोध होता है।

इस प्रकार के भूकम्प का प्रभाव अधिक से अधिक 160-240 किलोमीटर की दूरी तक होता है। क्राकाटोआ द्वीप के विस्फोट के कारण जो भूकम्प आया था, उसका प्रभाव 12,800 किलोमीटर दूर दक्षिणी अमरीका के हार्न अन्तरीप तक पहुँच गया था। इसका वायु पर भी इतना भीषण धक्का लगा था कि 160 किलोमीटर दूरी पर स्थित जकार्ता नगर के मकानों की खिड़कियों के काँच टूट गये थे।

(2) पृथ्वी का संकुचन—बहुत-से विद्वानों का मत है कि पृथ्वी का तापमान क्रमशः कम होता रहता है। तापमान कम होने से पृथ्वी सिकुड़ती है। पृथ्वी के सिकुड़ने से इसकी पर्तों में अव्यवस्था आ जाती है और इसके बहुत-से भागों में कम्पन उत्पन्न हो जाती है जिसे भूकम्प का आना कहा जाता है।

(3) समस्थितिक का सिद्धान्त—वैज्ञानिकों के अनुसार सिएल अर्थात् पृथ्वी की धरातलीय शैलें सिमै अर्थात् भूगर्भवर्ती शैलों पर उतरा रही हैं। पृथ्वी के धरातल की उच्च भूमि की शैलें जब अपरदन के साधनों द्वारा घिस-घिसकर निचले भागों में जमा होती रहती हैं तो भू-सन्तुलन कायम रखने के लिए उच्च भूमि ऊपर उठती जाती है तथा निम्न भूमि नीचे दबती है क्योंकि अपरदन के कारण उच्च भूमि का भार क्रमशः घटता है तथा निक्षेप के कारण निम्न भूमि का भार क्रमशः बढ़ता जाता है। फलस्वरूप, भार घटने के क्षेत्र में उत्थापन तथा बढ़ने के क्षेत्र में अवतलन पैदा होती है जिससे साम्यावस्था कायम रहती है। पृथ्वी के धरातल पर इस सन्तुलन को कायम रखने के लिए पर्याप्त गहराई पर लावा-प्रवाह होता है जिससे भारी शैलों में हलचल होती है, फलतः धरातल पर धक्के लगते हैं। इस प्रकार के भूकम्प हिन्दू-कोह पर आते हैं। 4 मार्च सन् 1949 को इस प्रकार के सन्तुलनमूलक एक पातालीय भूकम्प से लाहौर (पाकिस्तान) को भारी क्षति पहुँची थी।

(4) भ्रंश क्रियाएँ—पृथ्वी के धरातल की ऊपरी पपड़ी में जब विपरीत दिशाओं से दबाव पड़ता है तो उसमें मोड़ पड़ता है। किन्तु धरातली पपड़ी के कठोर होने पर अथवा दबाव की शक्ति अधिक होने पर ऊपरी पपड़ी में मोड़ के स्थान पर दरारें फट जाती हैं। दरार फटने पर पपड़ी की शैलें दरार की विशालता के अनुसार ऊपर या नीचे चढ़ जाती या स्थानान्तरित हो जाती हैं। यह क्रिया **भ्रंश-क्रिया** कहलाती है। प्रायः भ्रंश-क्रिया के साथ निकटवर्ती क्षेत्र में कम्पन उत्पन्न हो जाती हैं। इस

प्रकार उत्पन्न भूकम्पों की विशेषता यह है कि भूकम्प के प्रमुख धक्के के बाद भी कुछ समय तक अल्पकालिक धक्के आते रहते हैं क्योंकि टूट जाने पर बहुत समय तक शैलें थरथराती रहती हैं।

भ्रंश रेखाओं (fau't lines) पर उत्पन्न होने वाले भूकम्प उन्हीं स्थानों पर आते हैं जहाँ भूगर्भीय शैलों का समुचित सन्तुलन नहीं हो पाता है। ऐसे भाग **दुर्बल क्षेत्र** (weak zones) कहे जाते हैं। विश्व में नवीन पर्वतमालाओं के क्षेत्र ही दुर्बल क्षेत्र हैं जहाँ प्रबल भूकम्प आते हैं। रॉकी, एण्डीज, आल्प्स तथा हिमालय की उच्च पर्वत-श्रेणियाँ विश्व के प्रमुख भूकम्प-क्षेत्र हैं।

(5) **पृथ्वी की उत्तप्त गैसें**—जब भूगर्भ में जल पहुँचता है तो गरम शैलों तक पहुँचकर तुरन्त भाप में बदल जाता है और भाप बाहर जाने के लिए प्रयास करती है। जब कभी यह किया तीव्र गति से होती है तो इनके दबाव के कारण धरातल हिलने लगता है और भयंकर भूकम्प आ जाता है। भूकम्पों से प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। सन् 1934 में उत्तरी बिहार के भूकम्प ने हजारों वर्ग किलोमीटर भूमि में उथल-पुथल तथा कुहराम मचा दिया। उससे धन-जन की जो महान् क्षति हुई उसके स्मरणमात्र से हृदय सिहर उठता है।

(6) **कृत्रिम भूकम्प**—कृत्रिम भूकम्प मनुष्य की प्रतिक्रियाओं के द्वारा आते हैं। मनुष्य के ऐसे कार्य, जिनसे धरातल पर काफी दबाव पड़ता है, भूकम्प उत्पन्न करने के कारण होते हैं। जापान के हिरोशिमा में ऐटम बम के धड़ाके से पृथ्वी में कम्पन हो गयी थी। रेलों के चलने से प्राय: रेल-मार्ग के धरातल तथा पुलों में कम्पन उत्पन्न हो जाती है।

कुछ सामान्य भूकम्पों में अग्रलिखित कारण होते हैं :

(1) हिमपिण्डों से खिसककर गिरने से समीपस्थ क्षेत्र में भूकम्प आ जाता है।

(2) पर्वतीय क्षेत्रों में वृहद् शिलाखण्डों के गिरने से भी भूकम्प के धक्के लग जाते हैं।

(3) चूर्ण-प्रस्तर-क्षेत्र में गुहाओं की छतों के धँस जाने से भी समीपवर्ती भाग में भूकम्प आ जाते हैं।

(4) जब समुद्री तट की ऊँची कगार या डेलटाई भाग टूटकर समुद्र में गिर जाता है तो भूकम्प आ जाते हैं।

(5) पृथ्वी के तीव्र घूर्णन से भी कभी-कभी कम्पन पैदा हो जाती है।

(6) जलीय भार से भी कम्पन पैदा हो जाती है।

भूवैज्ञानिकों की धारणा है कि मानवनिर्मित जलाशयों तथा बाँधों से भार एवं दाब में अधिक वृद्धि हो जाती है। अत: आन्तरिक शैल-स्तरों में परिवर्तन शीघ्रता से होने लगता है। इसके फलस्वरूप भूकम्पों का अनुभव किया जाता है। भारतीय

असम के सन् 1950 के भूकम्प से रेल की पटरियाँ उखड़ गयीं, मकान ध्वस्त हो गये और अपार क्षति हुई।

21 मई सन् 1960 को दक्षिणी चिली में भयंकर भूकम्प आया जिससे लगभग 1,000 व्यक्ति मरे और 15,000 घायल हुए। 50,000 व्यक्ति भूख से तड़पते हुए वस्त्र-विहीन पनाह की खोज में भटकने लगे। भूकम्प के कारण समुद्र की तरंगों ने प्रशान्त महासागर को पार करके 800 किलोमीटर प्रति घण्टे की चाल से दौड़कर जापान, हवाई द्वीप तथा आस्ट्रेलिया के किनारे मृत्यु एवं बरबादी का ताण्डव नृत्य किया। जापान के पूर्वी तट के अनेक नगर एवं गाँव बाढ़ से प्लावित हो गये। टोकियो से 300 किलोमीटर उत्तर-पूर्व में स्थित **सेनदाई नगर**, जो जापान के 8 बड़े नगरों में था, पूर्णतः नष्ट हो गया। पूर्वी तट के हजारों मकान धराशायी हो गये। सड़क, रेल-परिवहन तथा संचार के साधन क्षतिग्रस्त हो गये। हवाई द्वीप पर भी सैकड़ों व्यक्ति मर गये। यह वर्तमान युग का सबसे बड़ा संकट कहा जा सकता है। इस संकट का कारण चिली के तीन ज्वालामुखियों का निरन्तर प्रज्ज्वलित होना बताया जाता है।

भूकम्प से बचाव के लिए मकानों का निर्माण विशिष्ट प्रकार से होना चाहिए। मकान हल्का होना चाहिए जिससे भूकम्प के धक्कों का विलयन हो सके और साथ ही बहुत मजबूत भी होना चाहिए जिससे धक्के का कोई प्रभाव न पड़े। प्रथम विधि सफल नहीं हुई है क्योंकि ढीली नींव कम्पन को सोख लेती है किन्तु धरातलीय तरंगें बहुत ऊँची होती हैं जिससे क्षति हो जाती है। कठोर नींव पर कम्पन अधिक होती है किन्तु धरातलीय तरंगें नीची होती हैं। नीची इमारतें तथा कम खिड़कियों के मकान भूकम्प के धक्कों को अधिक सहन करते हैं।

भूकम्प से लाभ भी बहुत होते हैं। बहुमूल्य खनिज पदार्थ पृथ्वी के भीतर से ऊपर आ सकते हैं जिससे आर्थिक लाभ होता है।

प्रश्न

1. Account for the origin of earthquakes and also for the existing belts of their occurrence in the world. Describe the land-forms produced by them.

   (Gorakhpur 1969; Sagar 1971; Allahabad 1969)

   भूकम्प की उत्पत्ति तथा विश्व के वर्तमान भूकम्प की पेटियों का उल्लेख कीजिए। उनके द्वारा उचित भूस्वरूपों का विवरण लिखिए।

2. Discuss the causes of eanthquake. Describe the major earthquake regions of the world. *(Agra 1971; Gorakhpur 1971)*

   भूकम्प के कारणों पर प्रकाश डालिये। संसार के प्रधान भूकम्प क्षेत्रों का वर्णन कीजिये।

14

समतल-स्थापक बहिर्जात बलों के चमत्कार

[FEAT OF SURFACE-MOULDING EXOGENETIC FORCES]

पिछले पृष्ठों में पृथ्वी के अन्तरंग बलों के रहस्यमय प्रभावों का उल्लेख किया गया है। इनके द्वारा उत्पन्न स्थल रूपों के परिवर्तनों का श्रेय बहिर्जात बलों को ही होता है। ये अनेक प्रकार से समतल-स्थापन का कार्य सम्पन्न करती हैं। इनको दो वर्गों में विभक्त किया जाता है :

(1) स्थैतिक बलें (Static Forces),

(2) गतिक बलें (Dynamic Forces)।

(1) **स्थैतिक बलें**—ये शैलों को अपने स्थान पर ही नष्ट-भ्रष्ट करती हैं और उन्हें स्थानान्तरण के योग्य बनाती हैं। इस क्रिया को अपक्षय भी कहते हैं।

(2) **गतिक बलें**—ये बलें अपक्षय द्वारा ढीली बनी या टूटी शैलों को बहाकर दूसरे स्थान पर ले जाती हैं और उपयुक्त स्थान पाकर उन्हें निक्षेपित कर देती हैं।

स्थैतिक बलें (अपक्षय)

अपक्षय दो प्रकार का होता है—(1) बलकृत या यान्त्रिक अपक्षय (physical or mechanical weathering) तथा (2) रासायनिक अपक्षय (chemical weathering)। यांत्रिक अपक्षय विशेषतया शुष्क एवं पाला वाले प्रदेशों में होता है। इन भागों में भी प्रारम्भिक विघटन होता रहता है। किन्तु निबन्धन का मुख्य कार्य उष्ण एवं नम प्रदेशों में होता है। शीतोष्ण कटिबन्धों के प्रदेशों में तापान्तर की अधिकता के कारण अपक्षय का विशेष प्रभाव मिलता है। वृक्ष भी यान्त्रिक एवं रासायनिक अपक्षय में सहयोग देते हैं। अत: अपक्षय शैल-विनाश की विभिन्न विधियों के सामूहिक कार्य का प्रतिफल होता है। किसी स्थान पर शैल-विघटन एवं अपघटन ही अपक्षय (weathering) कहलाता है।

(1) यान्त्रिक अपक्षय (Physical Weathering)

इस प्रक्रिया में विघटन द्वारा शैलों के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं ; किन्तु इनमें कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता है। इसके चार प्रकार होते हैं :

(1) वायुमण्डल की भौतिक क्रिया,
(2) जमे हुए जल की यान्त्रिक क्रिया,
(3) रासायनिक अपक्षय का यान्त्रिक प्रभाव,
(4) पौधों एवं प्राणियों का यान्त्रिक तथा रासायनिक प्रभाव।

(1) वायुमण्डल की यान्त्रिक क्रिया—प्रायः दिन में अधिक गरमी पड़ती है जिसके फलस्वरूप शैलें गरम होकर आयतन में बढ़ जाती हैं। जब रात्रि में अधिक ठण्डक पड़ती है तो ये शैलें सिकुड़ने लगती हैं। इस प्रकार तापमान के दैनिक परिवर्तन एवं तापान्तर के कारण शैलों में सर्वदा तनाव एवं संकुचन की क्रिया होती रहती है जिससे उनमें दरारें पड़ जाती हैं। ये दरारें क्रमशः बढ़ती जाती हैं और अन्त में शैलें टूट जाती हैं। यह कार्य मरुस्थलों में अधिक होता है क्योंकि इन प्रदेशों में रात-दिन के तापमान में बहुत अन्तर होता है।

कभी-कभी पर्वत-निर्माणकारी दबावों तथा शीत के फलस्वरूप उत्पन्न सिकुड़न से उत्पन्न शैल संधियों के कारण शैलें बड़े-बड़े टुकड़ों में विभक्त हो जाती हैं तो इसे **पिण्ड विघटन** (block disintegration) कहते हैं। इस प्रकार के आकार नाइजीरिया तथा मोजम्बिक में द्वीपाभगिरि (insel bergs) की भाँति गुम्बदाकार होते है जो मूल शैल से क्रमशः निकलते हैं। इस विधि को **अपशल्कन** (exfoliation) भी कहते हैं। अधिक समय तक फैलने एवं सिकुड़ने की क्रिया के फलस्वरूप शैलों के खनिज अलग-अलग विभक्त हो जाते हैं। इसको **दानेदार विघटन** (granular disintegration) कहते हैं। यह क्रिया स्वच्छ आकाश, उच्च तापमान तथा अधिक तापान्तर वाले प्रदेशों में अधिक होती है। कहीं-कहीं स्थूल एवं प्रबल शैलें टूटकर तीक्ष्ण एवं कोनदार टुकड़ों में विघटित हो जाती हैं। इस क्रिया को **विखण्डन** (shattering) कहते हैं। टूटी-फूटी शैलों का ढेर गुरुत्वाकर्षण के कारण पहाड़ी पादों के निकट एकत्र हो जाता है। इसे **शैल-मलवा** (screes or talus) कहते हैं। राजस्थान के मरुस्थल में यह क्रिया दृष्टिगोचर होती है। पाला से निर्मित शैल-मलवा से कोणदार शैल-कण तथा अन्य अपक्षय से निर्मित गोल शैल-कण होते हैं।

(2) जमे हुए जल की यान्त्रिक क्रिया—शैलों के छिद्रों एवं दरारों में जल भर जाता है। यह जल सरदी के कारण जम जाता है और इसका आयतन बढ़ जाता है। यह फैलाव जल के आयतन का दसवाँ भाग होता है। इस फैलाव के कारण प्रचुर मात्रा में दबाव पड़ता है जिससे छिद्र चौड़े हो जाते हैं। यह क्रिया प्रतिवर्ष जारी रहती है और अन्त में शैलें टूट जाती हैं। यह क्रिया ऊँचे प्रदेशों और पर्वतीय भागों में अधिक तीव्रता से होती है। टूटी हुई शैलों का ढेर पर्वतीय ढालों के निचले

पर निर्भर करता है। कम आर्द्र एवं शीत प्रदेशों में न्यूनतम रासायनिक अपरदन होता है। प्रस्तुत आरेख में वर्षा तथा तापमान का प्रभाव रासायनिक अपक्षय पर प्रदर्शित है।

(4) **पौधों एवं प्राणियों द्वारा यान्त्रिक एवं रासायनिक क्रिया**—शैलों के सूक्ष्म छिद्रों एवं दरारों में पेड़-पौधे उग आते हैं। जब इनकी जड़ें मोटी हो जाती हैं तो दरारें फैलकर चौड़ी हो जाती हैं और इनके टुकड़े पृथक हो जाते हैं। बहुत-से पेड़ों की जड़ों से निकले रस से शैलों के खनिजों पर रासायनिक प्रभाव पड़ता है और इससे इनके विघटन में सहायता मिलती है।

चित्र 115—वृक्ष द्वारा अपक्षय

दीमक एवं केंचुआ मिट्टी खाने वाले जानवर होते हैं। ये बिल बनाकर या कुतर कर शैलों को नरम बना देते हैं। मिट्टी में मिले हुए छोटे जीवों तथा वनस्पतियों के अवशेष कीटाणुओं द्वारा नष्ट किये जाते हैं जिससे कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा अम्ल का निर्माण होता है। इनसे जल की घोलन-शक्ति में वृद्धि हो जाती है।
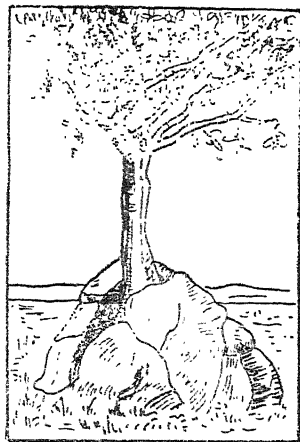
(2) **रासायनिक अपक्षय** (Chemical Weathering)

गैस तथा जल से शैलों के अवयव ढीले पड़ जाते हैं और रासायनिक परिवर्तन होते हैं। उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में यह क्रिया सर्वाधिक होती है। रासायनिक क्रिया की चार विधियाँ होती हैं :

(1) ऑक्सीकरण (Oxidation)।

(2) कार्बोनेटीकरण (Carbonation)।

(3) जलयोजन (Hydration)।

(4) घोल (Solution)।

(1) **ऑक्सीकरण**—इस क्रिया में वायु तथा जल में मिश्रित ऑक्सीजन शैलों के खनिजों के साथ मिल जाती है और इनको ढीला कर देती है। ऑक्सीकरण का स्पष्ट प्रभाव लौहमय शैलों पर परिलक्षित होता है। वर्षा ऋतु में लोहे पर लगे मुरचे लोहे और ऑक्सीजन के मिलने से बनते हैं। यह क्रिया आर्द्र प्रदेशों में विशाल रूप में होती है।

(2) **कार्बोनेटीकरण**—वर्षा तथा बहते हुए जल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड मिलकर कार्बोनिक अम्ल का निर्माण करता है जिसके द्वारा शैलों के कुछ खनिज कार्बोनेट में बदल जाते हैं। इस क्रिया को कार्बोनेटीकरण कहते हैं। घुलनशील होने के कारण कार्बोनेट जल में घुल जाता है। क्रिया आर्द्र जलवायु के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। कार्बोनिक अम्ल चूना मिश्रित शैलों को बड़ी सुविधा से घुला डालता है। वर्षा के

जल से चूने का पत्थर नहीं घुलता है, अतः भवनों के निर्माण में इसका उपयोग अधिक होता है। भूमिगत जल में कार्बोनिक अम्ल मिला रहता है, अतः चूने के पत्थरों में अधिक परिवर्तन ला देता है। इस क्रिया द्वारा ग्रेनाइट तथा फेलसपार की शिलाएँ मृत्तिका (clay) तथा बालू के रूप में बदल जाती हैं।

उष्णार्द्र जलवायु में, जहाँ शुष्क एवं नम मौसम यथाक्रम पर्याप्त अन्तर पर होता है, अलुमिना खनिजों का विघटन बहुत होता है और अन्त में बाक्साइट (bauxite) धातु की उत्पत्ति होती है। जब ऐलुमिना की ऑक्साइड, लोहे तथा मैग-नीशिया की हाइड्रॉक्साइड और अल्प मात्रा में सिलिका का मिश्रण होता है तो एक छिद्रदार तथा पारगम्य मिट्टी की रचना होती है जिसका रंग लाल; पीला या भूरा होता है। यह भीतर मुलायम होती है और ईंटों के रूप में सरलतापूर्वक कट जाती हैं। दक्षिण भारत में इस मिट्टी को लैटराइट (laterite) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'लैट' शब्द से है जिसका अर्थ ईंट होता है। यूगोस्लाविया के कार्स्ट मैदानों में उपलब्ध लाल मिट्टी को टेरारोसा (terra rossa) की संज्ञा प्रदान की जाती है।

(3) **जलयोजन**—भूपृष्ठ की शैलों के खनिजों में पानी सोख जाता है जिससे खनिजों का आयतन बढ़ जाता है और शैलों के अन्तर्गत दाब की वृद्धि से विघटन की क्रिया सम्पन्न होती रहती है। शैलों की परतें उभर जाती हैं। जलयोजन का प्रभाव फेल्सपार खनिज पर सर्वाधिक पड़ता है। ग्रेनाइट शैलों में अपपत्रण (exfoliation) का कारण यह है कि जलयोजन से ग्रेनाइट में मिश्रित फेल्सपार धातु फैल जाती है और घुलित तहें यान्त्रिक विधि से पृथक हो जाती हैं। जलयोजन से फेलसपार धातु केओलिन (kaoline) मिट्टी में परिवर्तित हो जाती है। जबलपुर की पहाड़ियों में केओलिन भी फेलसपार के निबन्धन से निर्मित है। जल एवं कैल्सियम सल्फेट के मिश्रण से जिप्सम (gypsum) की रचना होती है।

(4) **घोल**—साधारण जल में बहुत कम शैलें घुलती हैं। घुलनशील शैलों में शैल-लवण (rock salt) तथा जिप्सम मुख्य हैं। पानी में घुलित कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस से कार्बोनिक अम्ल बनता है जिससे चूने का पत्थर शनैः शनैः घुलता रहता है। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अवशैल तथा उच्छैल का निर्माण होता है। यह कार्य पाकिस्तान स्थित नमक की पहाड़ियों पर व्यापक रूप से देखने में आता है।

मौसमी अपक्षय धरातल के एक निश्चित् पेटी में होता है जिसको अपक्षय की पेटी (zone of weathering) कहते हैं। इस पेटी के नीचे कठोर आधार शिला होती है जो अपक्षय के प्रभाव से वंचित होती है अतः नश्वर नहीं होती है। अप-क्षय की गहराई वर्षा के जल का लम्बवत् प्रवेश, भूमिगत जलस्तर तथा अपक्षय की अवधि पर निर्भर करती है। सतह की ऊपरी ढीली शैलें गुरुत्वाकर्षण के फलस्वरूप नीचे सरक कर निक्षेपित हो जाती हैं। पदार्थों का यह सामूहिक बहाव द्रव्यमान क्षयण (mass wasting) कहलाता है। इस व्याख्या का श्रेय शार्प महोदय को है।

इसका अनेक प्रकार से प्रभाव होता है :

(क) **भूमि सर्पण** (Soil creep)—ढालों पर मिट्टी का बहाव सर्वदा होता है। मध्य एवं निचले अक्षांशों में यह क्रिया विशेष रूप से मिलती है। पर्वतीय ढालों पर तो मिट्टी की पूरी सतह धीरे-धीरे नीचे सरक जाती है। मिट्टी के सर्पण के मुख्य कारण मिट्टी की उष्ण एवं सर्द स्थिति, मिट्टी की आर्द्रता एवं शुष्कता, भूकम्प से शैलों का कम्पन तथा पशुचारण हैं।

शार्पे महोदय के मतानुसार भूमि सर्पण के चार प्रकार हैं—भूमि सर्पण (soil creep), टैलस सर्पण (talus creep), शैल खण्ड नदी सर्पण (rock glacier creep), तथा चट्टानी सर्पण (rock creep)।

(ख) **मृदा-सर्पण** (Solifluction)—उच्च अक्षांशों में विशिष्ट दशा में मिट्टी का बहाव मृदा-सर्पण कहलाता है। इसके लिए हिम या पाले से प्राप्त पर्याप्त जल की मात्रा, वनस्पति रहित खड़ी ढाल, हिमाच्छादित सतह तथा तीव्र गति से चट्टानी टुकड़ों का अपक्षयण आवश्यक होता है। आर्कटिक व ऊँचे अक्षांशों के क्षेत्रों में वसंत तथा ग्रीष्म ऋतु में यह क्रिया पाई जाती है। यह निरन्तर होने वाली क्रिया है जो सम्पूर्ण ढाल पर ठंडी जलवायु में पाई जाती है।

(ग) **मिट्टी की संरचना** (Soil structure)—पाले की क्रिया के फलस्वरूप अनेक आकार-प्रकार के चट्टानी टुकड़ों के समरूप हो जाते हैं और इनका जमाव अनेक पेटियों में हो जाता है जिसको पाषाण पट्टी (stone strip), मृदा पट्टी (earth strip) तथा पाषाण जाल (stone net) कहते हैं।

(घ) **मृदा प्रवाह** (Earth flow)—आर्द्र प्रदेशों में बड़े ढालों पर शनैः शनैः मिट्टी का बहाव नीचे की ओर होता है। इस प्रकार सोपान स्थलाकृतियों की रचना हो जाती है।

(च) **पंक प्रवाह** (Mud flow)—घाटियों के ढालों तथा पर्वतीय क्षेत्रों में मिट्टी बड़ी मात्रा में सहसा बह जाती है। यह बहाव एक निश्चित मार्ग में होता है। इसमें जल की मात्रा अधिक होती है। यह क्रिया शुष्क मरुस्थलों में अधिक होती है क्योंकि इन प्रदेशों में सतह पर ढीला पदार्थ, तीव्र ढाल, वनस्पति की कमी तथा सहसा जल की अधिक मात्रा उपलब्ध होती है जो पंक प्रवाह में सहायक होती हैं।

(छ) **मलबा अवधाव** (Debris avalanche)—आर्द्र प्रदेशों में शैल चूर्ण का बहाव होता है। इसमें जल की मात्रा अधिक होती है।

(ज) **भूस्खलन** (Land slide)—इसमें शैल चूर्ण का बहाव सामूहिक होता है और इसमें गति अधिक होती है। भूकम्प एवं वर्षा भूस्खलन में सहायक होते हैं।

Solifluction (लैटिन शब्द)=Soil+flow

अवधाव (avalanche) के पाँच प्रकार होते हैं :

(i) **अवपात** (Slump)—इससे असमान ढाल बन जाते हैं और आकृति सोपान-नुमा बन जाती है। उत्तल ढाल पर शैलपात होने पर तथा बहाव के पृष्ठ घूर्णन (backward rotation) के फलस्वरूप कभी-कभी ढाल पर्वतीय भाग की ओर उन्मुख हो जाता है।

(ii) **मलवा सर्पण** (Debris slide)—इनकी गति अवपात से भिन्न होती है। इसमें फिसलने वाले पदार्थ की पृष्ठ गति नहीं होती है।

(iii) **मलवा पात** (Debris fall)—इसमें शिलाचूर्ण सहसा गिर जाते हैं। यह क्रिया नदी की घाटी तथा समुद्री भृगु (cliff) पर पाई जाती है।

(iv) **शैल स्खलन** (Rock slide)—ढाल के सहारे शिला खण्ड टूटकर खिसक जाते हैं और नीचे घाटी में पत्थरों की एक चादर के समान फैल जाते हैं।

(v) **शैल पात** (Rock fall)—तीव्र गति से बड़े पत्थर तथा छोटे शिलाचूर्ण नीचे गिरकर जमा हो जाते हैं।

मौसमी अपक्षय का प्रभाव द्रव्यमान क्षयण, सतह का निम्नीकरण, नई स्थलाकृति का निर्माण तथा मिट्टी के निर्माण पर पड़ता है।

गतिक बलें

अपरदन—गतिक बलों द्वारा भूपृष्ठ पर महान् परिवर्तन होते हैं। इनके द्वारा अपरदन एवं निक्षेपण के कार्य सम्पादित होते हैं। अपक्षय से नष्ट शैलों के टुकड़े उसी स्थान पर एकत्र होते रहते हैं या गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा गिरकर ढाल के तलों में जमते रहते हैं। ये टुकड़े गतिक बलों जैसे प्रवाहित जल, हिम नदी, समुद्री लहरें तथा वायु के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को हटाये जाते हैं। ये चट्टानी टुकड़े स्थानान्तरण की क्रिया में सम्पर्क में आयी धरातलीय शैलों को रगड़ते हैं और घर्षण से ये चूर्ण-चूर्ण हो जाते हैं। भूपृष्ठ पर परिवर्तनकारी कारकों के द्वारा इन चूर्णों का स्थान-परिवर्तन होता रहता है जिसको **परिवहन** (transportation) कहते हैं। इस प्रकार घर्षण तथा परिवहन-क्रिया का सामूहिक नाम **अपरदन** (erosion) है।

निक्षेपण—शैलों के टुकड़े एक स्थान से हटकर किसी दूसरे निचले स्थान पर एकत्र हो जाते हैं। यह **निक्षेपण** है। इसको **अधिवृद्धि** (aggradation) भी कहते हैं। इस क्रिया के द्वारा नवीन स्थल रूप बन जाया करते हैं जिनका विवरण अगले पृष्ठों में उपलब्ध होगा।

अनाच्छादन

अपक्षय से शैलें मुलायम तथा ढीली बन जाती हैं और धरातल की शैलों का निरन्तर घर्षण एवं कटाव होता है। अपरदन के साधनों द्वारा अपक्षय के पदार्थ स्थानान्तरित किये जाते हैं। इस प्रकार अपक्षय तथा अपरदन से धरातल पर सदैव

परिवर्तन होते रहते हैं। इन दोनों क्रियाओं के सामूहिक प्रभाव को **अनाच्छादन** (denudation) कहते हैं। यह बाह्य शक्तियों का विनाशक कार्य होता है। यह भूतल की शैलों के नग्नीकरण का कार्य करते हैं।

परिणाम—अनाच्छादन के परिणाम मनुष्य के लिए हितकर एवं अहितकर दोनों ही होते हैं। इस क्रिया से भूमि को समतल बनाने में सहायता मिलती है। इससे मिट्टी की रचना होती है जिस पर मानव जीवन अपना आर्थिक विकास सम्पन्न करता है। शैलों की टूट-फूट से खनिज एकत्र हो जाते हैं जो मनुष्य के लिए लाभप्रद होते हैं। शेलखरी तथा चूना इसी प्रकार प्राप्त होते हैं। ये शिलाखण्ड नदियों तथा वायु को अपरदन में सहायता करते हैं। पर्वतीय भाग में स्खलन होने से झीलों की रचना हो जाती है।

भूगोल विशेषज्ञ यूरोपीय विद्वान् **बुदेल** (1948) ने जलवायु के व्यापक प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए संरचना-विकासी प्रदेशों (morphogenetic regions) की कल्पना की है। उन्होंने फार्मक्राइसेन (formkreisen) की उपस्थिति बताई है जिनको संरचना-विकासी प्रदेश भी कहते हैं। **लुइस पेल्टियर** महोदय (1950) ने इन प्रदेशों की एक सूची भी प्रस्तुत की है जिसको विशेष तापमान एवं आर्द्रता के रूप में व्यक्त किया गया है। इन प्रदेशों की रचना के प्रक्रमों का भी विवरण दिया गया है जो निम्न प्रकार है :

संरचना-विकासी प्रदेश

संरचना-विकासी प्रदेश	वार्षिक औसत तापमान-परिसर सेग्रे	वार्षिक औसत वर्षा-परिसर सेमी	आकृतिक अभिलक्षण
1. हिमनदीय (Glacial)	—17·8 से —6	0–12	(क) हिमनदीय अपरदन (ख) नेवेशन (ग) वायु-क्रिया
2. परिहिमनदीय (Periglacial)	—15 से —1·1	12–140	(क) प्रबल द्रव्यमान क्रिया (ख) साधारण से प्रबल वायु-क्रिया (ग) बहते जल की निर्बल क्रिया
3. बोरियल (Boreal)	— 9·4 से 3·3	25–150	(क) साधारण तुषार-क्रिया (ख) साधारण से अल्प वायु-क्रिया (ग) बहते जल का साधारण प्रभाव

संरचना-विकासी प्रदेश	वार्षिक औसत तापमान-परिसर सेग्रे	वार्षिक औसत वर्षा-परिसर सेमी	आकृतिक अभिलक्षण
4. समुद्रतटीय (Maritime)	1·7 से 21·1	125–190	(क) प्रबल द्रव्यमान क्रिया (ख) बहते जल की प्रबल क्रिया
5. सेल्वा (Selva)	15·6 से 29·4	140–225	(क) प्रबल द्रव्यमान क्रिया (ख) ढालवाह (slope wash) का अल्प प्रभाव
6. साधारण (Moderate)	3·3 से 29·4	90–150	(क) बहते जल का अधिकतम प्रभाव (ख) साधारण द्रव्यमान गति (ग) अधिक शीत प्रदेशों में तुषार क्रिया
7. सवाना (Savana)	12·2 से 29·4	60–125	(क) बहते जल की क्रियाएँ (ख) साधारण वायु-क्रिया
8. अर्द्धशुष्क (Semiarid)	1·7 से 29·4	25–60	(क) प्रबल वायु-क्रिया (ख) बहते जल की प्रबल क्रिया
9. शुष्क (Arid)	12·8 से 29·4	0–35	(क) प्रबल वायु-क्रिया (ख) बहते जल की साधारण क्रिया तथा द्रव्यमान-गति

प्रश्न

1. Discuss the importance of weathering as an agent of gradation of land. (*Kanpur 1968; Gwaliar 1966*)
   समतल-स्थापन-शक्ति के रूप में अपक्षय के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।
2. What is weathering ? Discuss its types. (*Kanpur 1969; Agra 1968*)
   अपक्षयण क्या है ? इसके प्रकारों की व्याख्या कीजिए।

---

erosion (लैटिन erodere=काट ले जाना)

15

परिवर्तनकारी बहिर्जात बलें–भूमिगत जल

[SURFACE-MOULDING EXOGENETIC FORCES—UNDERGROUND WATER]

भूमिगत जल का प्रमुख स्रोत वर्षा, तुषार और नदियों एवं झीलों के तल से नि:स्रावित जल होता है। इसको **उल्काजात जल** या **आकाशी जल** (meteoric water) कहते हैं। भूमिगत जल की उपलब्धि के अन्य साधन पृथ्वी की शैलों की परतों में प्राप्त जल तथा ज्वालामुखी के उद्भेदन या खनिजों के निर्माण के समय प्राप्त जल है। इनमें से प्रथम प्रकार के जल को **सहजात जल** (connate water) और दूसरे प्रकार को **मैग्मज जल** (magmatic water) कहते हैं।

भूमिगत जल के स्रोत

वर्षा के माध्यम से धरातल पर उपलब्ध जल की तीन गतियाँ मिलती हैं। कुछ जल पृथ्वी के ढालू धरातल पर प्रत्यक्ष रूप से बह जाता है, कुछ वाष्पीकरण में नष्ट हो जाता है और शेष पृथ्वी द्वारा सोख लिया जाता है। प्राय: शीतोष्ण तथा आर्द्र एवं निचले भू-भागों में लगभग एक-तिहाई जल बह जाता है, एक-तिहाई पृथ्वी सोख लेती है और शेष वाष्पीकरण में नष्ट हो जाता है। पृथ्वी द्वारा सोख लिए गये जल को भूमिगत जल की संज्ञा प्रदान की गयी है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर भूमिगत जल का भण्डार विभिन्न होता है। ऐसा अनुमान है कि पृथ्वी के भीतर भूमिगत जल की मात्रा इतनी अधिक है कि धरातल पर फैलाने पर 150 मीटर मोटा जल विस्तृत हो सकता है।

कुओं तथा सोतों के द्वारा भूमिगत जल का कुछ अंश पुन: धरातल पर आता है। इस प्रकार का जल **बिलम्बित जल** (delayed rain) कहलाता है। भूमिगत जल का अधिकांश समुद्र को पहुँच जाता है। भूमिगत जल के प्रधान कार्य धरातल के नीचे होते हैं।

वर्षा के जल की उपर्युक्त तीनों गतियों का आनुपातिक सम्बन्ध कई बातों पर निर्भर करता है जिसमें जलवायु, धरातल एवं शैलों की बनावट मुख्य हैं। शुष्क जलवायु के प्रदेशों में बहने वाले अथवा भूमि में प्रवेश करने वाले जल का अधिकांश वाष्पीकरण में विलीन हो जाता है। इसके विपरीत शीतोष्ण एवं आर्द्र जलवायु के

प्रदेशों में वाष्पीकरण बहुत मन्द होता है अतः अधिक जल धरातल के ऊपर या भूमिगत जल के रूप में प्रवाहित होता है। ऐसे प्रदेशों में वर्षा के जल का 50 प्रतिशत धरातल पर बहने लगता है।

धरातल की बनावट का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि ढाल तीव्र होता है तो जल अधिकतम बहता है और समतल या धँसे हुए क्षेत्र में भूमिगत जल की प्रधानता रहती है। शैलों की बनावट का भी कम महत्त्व नहीं होता है। प्रवेश्य शैलों (porous rocks) में पानी अधिक सोख लिया जाता है। भुरभुरी एवं मुलायम शैलों में प्रायः अधिक प्रवेश्यता होती है, किन्तु कड़ी एवं ठोस आग्नेय शैलों में प्रवेश्यता बहुत कम होती है। जिन शैलों में प्रवेश्यता का गुण नहीं होता है वे अपारगम्य (impermeable) शैलें कहलाती हैं। अपारगम्य शैलों के क्षेत्र में वर्षा का जल अधिक मात्रा में वह जाता है।

जल संतुलन
(Water Balance)

भारी एवं लम्बी वर्षा का जल विभिन्न प्रकार से भूमिगत होता है। कुल जल केशाकर्षण तनाव (capillary tension) के फलस्वरूप मिट्टी-कणों में रह जाता है और वह गुरुत्वाकर्षण से नीचे नहीं जाता है। सम्पृक्त मिट्टी का जल गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे जाता है। एक स्थिति आती है जब जल नीचे नहीं जाता है। ऐसी स्थिति में कहा जाता है कि मिट्टी में जल की क्षेत्र-धारिता (field capacity) हो गई है। यह क्षेत्र-धारिता मिट्टी की गठन पर निर्भर करती है। जब मिट्टी की आर्द्रता म्लानि बिन्दु (wilting point) पर पहुँच जाती है तो पौधों को पानी खींचना सम्भव नहीं होता है। म्लानि बिन्दु भी मिट्टी-कण के आकारों पर निर्भर करता है। इस प्रकार मिट्टी में जल के बजट का महत्त्व कृषि के लिए बहुत आवश्यक होता है। जल बजट का एक वार्षिक चक्र होता है जो जल वृष्टि, शक्य वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन (potential evapotranspiration) तथा वास्तविक वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन (actual evapotranspiration) पर निर्भर करता है। जहाँ वर्षा की मात्रा वाष्पोत्सर्जन से अधिक होती है वहाँ जल आधिक्य (water surplus) होता है। जब वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन की मात्रा अधिक होती है तो मिट्टी में

116—जल संतुलन वक्र (थार्नथ्वेट)

जल की कमी (water deficit) हो जाती है। प्रत्येक भूभाग में वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन तथा जल-वृष्टि के आधार पर मिट्टी में आर्द्रता का आधिक्य (moisture surplus) तथा आर्द्रता की हीनता (moisture deficit) होती है। जलवायु एवं ऋतु के अनुसार इनकी अवधि होती है। इनका एक वार्षिक चक्र होता है। इस चक्र में मिट्टी में जल का संतुलन होता रहता है।

जब पानी की अधिकता होती है तो मृत्तिका में जल पुनःपूरण (rechange) प्रारम्भ हो जाता है और क्षेत्र-धारिता प्राप्त हो जाने पर मिट्टी में जल आधिक्य का समय आता है और अधिक जल पृथ्वी के भीतर रिसता है।

जल-संतुलन की धारणा के जनक डॉ० थार्नथ्वेट हैं। उन्होंने जल-संतुलन को प्रदर्शित करने के लिए जल-संतुलन वक्र (water balance curve) का प्रयोग किया है। जल-संतुलन को प्रदर्शित करने में दो वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन वक्र रेखाएँ बनाई जाती हैं जिनमें वास्तविक वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन वक्र ही यथार्थ होता है। शक्य वाष्पन-वाष्पोत्सर्जन वक्र कल्पित होती है क्योंकि इसमें एक निर्दिष्ट दशा में अधिकतम जल का ह्रास प्रदर्शित होता है जिसमें सिंचाई से पानी की पूर्ति होती रहे। इन दोनों वक्र रेखाओं का अन्तर कृषि के लिए जल की कमी को प्रदर्शित करता है। ऐसी स्थिति में सिंचाई द्वारा अच्छी फसल पैदा की जा सकती है।

भूमिगत जल की सीमा

वर्षा का जल भूमि के अन्दर एक निश्चित सीमा तक जाकर रुक जाता है। यह सीमा भूपटल में पायी जाने वाली अपारगम्य शैलें होती हैं। किन्तु भूतटल के भीतर इन शैलों की स्थिति की गहराई अनिश्चित है। किन्तु 915 मीटर गहराई पर पारगम्य शैलों में भी अपारगम्य शैलों की विशेषताएँ
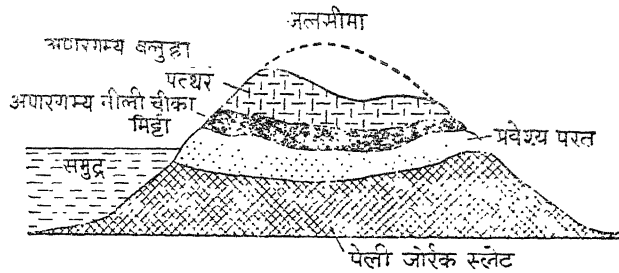
चित्र 117—चट्टानी परत तथा भूमिगत जल

पैदा हो जाती हैं। ऊपर के भारी दाब से इस गहराई पर पारगम्य शैलों के छिद्र एवं दरारें बन्द हो जाती हैं और जल का छनकर नीचे जाना रुक जाता है। इस प्रकार 915 मीटर गहराई तक अपारगम्य शैलों में भूमिगत जल पाया जाता है किन्तु जहाँ ऐसी शैलों के नीचे अपारगम्य शैलें भूपटल की कम गहराई पर ही पड़ जाती हैं वहाँ भूमिगत जल इन अपारगम्य शैलों पर ही रुक जाता है।

भौमजल-स्तर

धरातल के भीतर एक निश्चित गहराई पर सभी शैलें जल से ओत-प्रोत रहती हैं। इन्हें **संतृप्त शैल** (saturated rocks) कहते हैं। **संतृप्त क्षेत्र** का ऊपरी तल

भौमजल-स्तर (water table) कहलाता है। यह जल-रेखा एक समतल तल नहीं स्थापित करती है। एक धरातलीय बनावट का अनुसरण करती है। इसकी बनावट और गहराई वर्षा की मात्रा तथा धरातल की बनावट पर निर्भर करती है। पहाड़ियों के नीचे जल-स्तर उठा हुआ रहता है किन्तु घाटियों में यह नीचे की ओर झुका रहता है, यद्यपि यह विस्तार एकसा नहीं होता है।
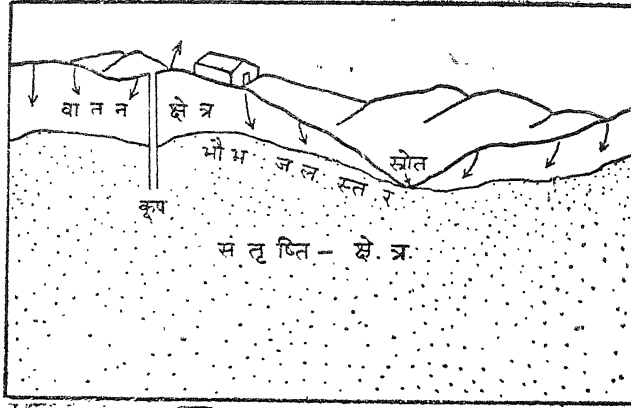
चित्र 118—छिछले कूप

वातन-क्षेत्र

भौम जल-स्तर के नीचे का जल **भूमिगत जल** (underground water) कहलाता है। जो जल पृथ्वी के धरातल तथा जल-स्तर के मध्य में पाया जाता है, **अधिभौम जल** (vadose water) कहलाता है और अधिभौम जल के क्षेत्र को **वातन क्षेत्र** (zone of aeration) कहते हैं। इस क्षेत्र में वायु मिलती है।

इस क्षेत्र की मोटाई जल-स्तर की गहराई के साथ बदलती रहती है। पहाड़ों के नीचे यह क्षेत्र मोटा है और निम्न भूमि में पतला होता है। कभी-कभी यह धरातल से बिलकुल मिला होता है, अर्थात जल-स्तर भूमि-तल पर पहुँच जाता है। ऐसे स्थलों पर दलदल तथा निस्यंद (seepage) सम्भव होते हैं। अतः जहाँ जल-स्तर बहुत गहराई पर होता है वहाँ वातन-क्षेत्र बहुत मोटा होता है और जहाँ जल-स्तर कम गहराई पर होता है वह कम मोटा होता है।

वातन-क्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया जाता है :

(1) भूमिजल अंचल (Soil Water Zone),

(2) केशिकाकर्षण अंचल (Capillary Fringe)।

भूमिजल अंचल में जल पौधों के उपयोग के लिए सुरक्षित रहता है, किन्तु केशिकाकर्षण अंचल में भूमि के भीतर से महीन नाली-क्रिया के द्वारा जल आकर्षित किया जाता है। यह क्षेत्र जल-रेखा के ठीक ऊपर होता है। कहीं-कहीं यह क्षेत्र नहीं भी होता है। प्रायः बालू की शैलों में यह दशा मिलती है।

संतृप्त क्षेत्र

यह क्षेत्र जल-स्तर से उस गहराई तक विस्तृत होता है जहाँ तक शैलें जल से भरी रहती हैं। ऐसे स्थानों में जहाँ पारगम्य शैलों का जल-स्तर बहुत नीचे चला जाता है, चश्मों के जल का प्रवाह बन्द हो जाता है। किन्तु यह दशा किसी ऋतु विशेष में होती है जब जल की प्राप्ति सीमित रहती है। इसी कारण जहाँ ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु के जल-स्तर में बहुत भिन्नता होती है वहाँ कुएँ बहुत गहराई तक खोदे जाते हैं ताकि ग्रीष्म में भी कुओं का निम्नतल जल-स्तर के नीचे पड़े। जिन क्षेत्रों में जल-स्तर वर्षाभाव में नीचे खिसक जाता है वहाँ ग्रीष्म-काल में कुएँ सूख जाते हैं।
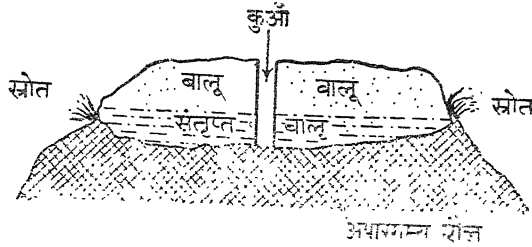
चित्र 119—कुएँ और जल-स्रोत
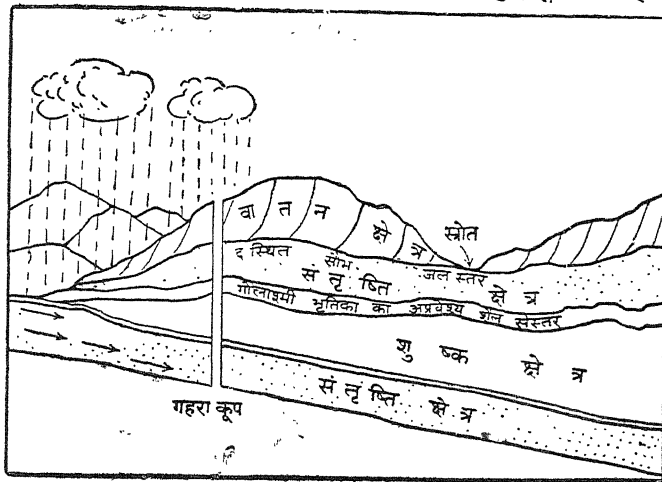
चित्र 120—गहरे कूप

जब नदी अपनी घाटी को जल-स्तर तक काट देती है तो धरातल पर बहने वाले जल में वृद्धि हो जाती है। यदि नदी-घाटी स्थायी संतृप्तता के क्षेत्र से ऊपर रह जाती है तो ग्रीष्म-काल में वाष्पीकरण तथा जल-निस्यंद के फलस्वरूप नदी सूख जाती है। जहाँ भी जल-स्तर से भूमि-तल नीचा होता है वहाँ दलदल मिलते हैं।

भौमजल-स्तर की परिवर्तनशीलता

वर्षा के जल की मात्रा तथा शैलों की प्रवेश्यता के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में भौमजल-स्तर कहीं धरातल से अधिक या कम गहराई पर पाया जाता है। अधिक

वर्षा के क्षेत्रों में जल-स्तर धरातल के निकट होता है और पर्वतीय भागों में बहुत नीचे होता है। किन्तु इनमें ऋतुओं के अनुसार भी परिवर्तन होता रहता है। ग्रीष्म ऋतु में स्वभावतः भौमजल-स्तर नीचे तथा वर्षा ऋतु में ऊपर खिसक जाता है। यह परिवर्तनशील भौमजल-स्तर अस्थायी होता है। किन्तु एक निश्चित सीमा के पश्चात् शुष्क ऋतु में भी भौमजल-स्तर का उतार नहीं होता है। इसी सीमा को **स्थायी भौमजल-स्तर** कहते हैं।

भूगर्भिक अनियमितताओं तथा शैलों की प्रवेश्यता में परिवर्तनों के कारण किसी भी क्षेत्र में विभिन्न भौमजल-स्तर पाया जाता है। ऐसा जल-स्तर वहाँ पाया जाता है जहाँ अपारगम्य शैलें तथा पारगम्य शैलें मिलती हैं। इसको **स्थानीय भौम जल-स्तर** local water table) कहते हैं। वह जल-स्तर जो किसी विस्तृत प्रदेश भर में रहता है, **प्रादेशिक भौमजल-स्तर** (regional water table) कहलाता है। यह जल-रेखा-स्थायी होती है।

भूमिगत जल-संचार

जल की प्रवृत्ति अपना तल प्राप्त करने की होती है। इसी कारण भूमिगत जल में भी प्रवाह उच्च जल-स्तर से निम्न जल-स्तर की ओर होता है। वायु-सम्पृक्त क्षेत्र में जल मुख्यतः नीचे प्रवाहित होता है। भूमि के भीतर जल का अन्तःस्रवण (water percolation) आकर्षण-शक्ति तथा केशिकाकर्षण पर निर्भर करता है। प्रायः भूमिगत जल-स्तर गूढ़ तथा असमान रहता है।

उत्स्रुत कूप
(Artesian Well)

ये विशेष प्रकार के कुएँ होते हैं जो विशेष प्रकार की परिस्थिति में पाये जाते है। इनका यह नाम इसलिए पड़ा कि इस प्रकार के कूप प्रथम बार अफ्रीका के फ्रांसीसी प्रदेश आर्टोइस (Artoise) में 12वीं शताब्दी में बनाये गये थे।
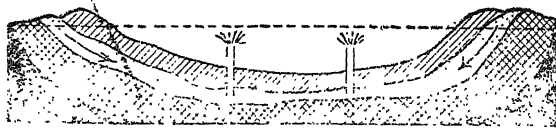
चित्र 121—स्वतः पानी निकलने वाला उत्स्रुत कूप

जब दो अपारगम्य शैलों के मध्य में पारगम्य शैल का क्षेत्र रहता है और पारगम्य शैल के क्षेत्र के बाहर निकले भाग वर्षा के जल को प्राप्त कर पाते हैं तो वर्षा का जल प्रवेश करके एकत्र होता रहता है। बालूदार भूमि में एकत्र जल में एक प्रकार के द्रवस्थैतिक दाब (hydrostatic pressure) का विकास हो जाता है और यदि ऊपरी अपारगम्य शैल से निकलने का कोई मार्ग उपलब्ध हो जाता है तो जल शीघ्र ही द्रवस्थैतिक सिद्धान्त के अनुसार अपने तल की खोज में ऊपर निकलने लगता है। ऐसे ही कुएँ उत्स्रुत कूप कहे जाते हैं। चित्रों से परिस्थिति की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। इस कूप का जल धरातल पर स्वतः बाहर निकलता है, यदि कूप का निकास पारगम्य

शैल के जल-स्तर से नीचे पड़ता है। किन्तु जब कूप का निकास पारगम्य शैल के
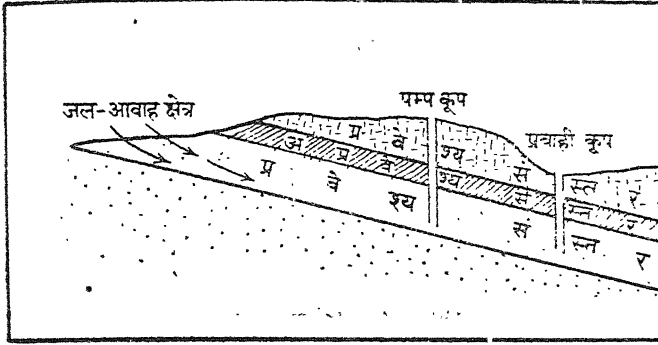
चित्र 122—उत्स्रुत कूप

जल-स्तर से ऊपर पड़ता है तो जल मार्ग में ही रुक जाता है। ऐसी स्थिति में पम्प द्वारा जल बाहर निकाला जाता है।

उत्स्रुत कूप के लिए निम्न परिस्थितियाँ लाभदायक होती हैं :

(1) घाटी के रूप में पारगम्य शैल का स्तर।

(2) पारगम्य शैल के पहले एवं पीछे अपारगम्य शैल का क्रम।

(3) आवाह क्षेत्र (catchment area) में पर्याप्त जलवृष्टि।

(4) पारगम्य शैल में एकत्रित जल के निकास का अभाव।

उत्स्रुत कूप आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के एटलस प्रदेश में बहुत हैं। हिमालय की तलहटी में भी ऐसे कुएँ बनाए जा सकते हैं।
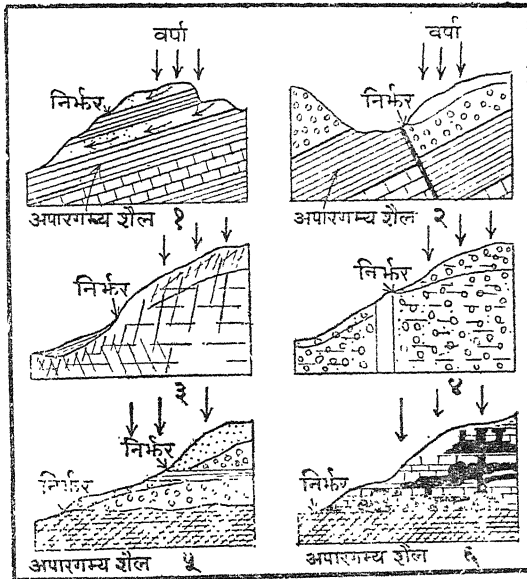
चित्र 123—निर्झर के निर्माण की विभिन्न दशाएँ

जल-स्रोत का निर्माण

पारगम्य शैलों में जल-कोष की उत्पत्ति हो जाती है और ढालू स्तरों पर जल-स्रोत का निर्माण होता है। ये स्रोत दो प्रकार के होते हैं—स्थायी एवं अस्थायी जल-स्रोत।

जहाँ भूमि के भीतर कठोर शैलों की परत अभितल के रूप में मुड़ी रहती है और जल-स्तर पहाड़ी के ऊपर पर्याप्त ऊँचाई पर रहता है तो अपारगम्य शैल तथा जल-स्तर के संगम-स्थल पर जल बहने लगता है। ऐसी दशा में जल-प्रवाह के कारण जल-स्तर नीचे चला जाता है, किन्तु जल-दाब की प्रवणता (gradient) बने रहने से सोते सदा प्रवाहित रहते हैं। ये स्थायी स्रोत कहे जाते हैं।

अस्थायी स्रोतों में कुछ समय तक जल बाहर बहता है किन्तु अधिकांश समय में वे शुष्क रहते हैं। ऐसे स्रोतों में जल-प्रवाह एवं जल-शुष्कता का समय नियमित होता है। जब तक संतृप्त-तल ऊँचा रहता है, पानी बाहर निकलता रहता है और इस संतृप्त-तल के नीचे होते ही सोता शुष्क हो जाता है। ये स्रोत **संतृप्ति-जल स्रोत** (saturation level spring) कहलाते हैं। कभी-कभी भूगर्भ स्थित कठोर एवं मुलायम शैलों के मध्य स्थित मुड़ी चट्टानी नाली से जल प्रवाहित होने लगता है। यह क्रिया तब तक सम्पन्न नहीं होती जब तक जल-स्तर एक निश्चित तल तक नहीं पहुँचता है। ज्यों ही नाली उस तल तक भर जाती है, सोता प्रवाहित होने लगता है। किन्तु स्रोत के निकास के भीतरी तल से जल-स्तर जब नीचे हो जाता है तो प्रवाह रुक जाता है। ये **साइफन स्रोत** (siphon spring) कहलाते हैं।
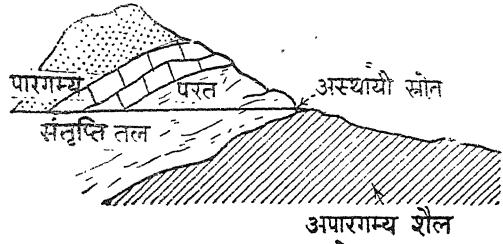
चित्र 124—संतृप्ति-तल स्रोत
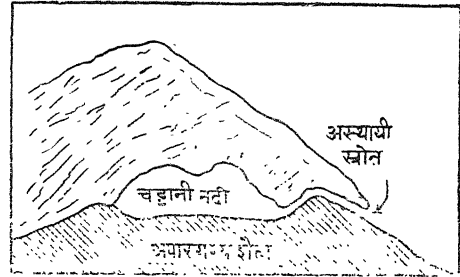
चित्र 125—साइफन स्रोत

जल-स्रोत के प्रकार

शैलों की रचना के आधार पर स्रोत कई प्रकार के होते हैं जिनमें निम्न उल्लेखनीय हैं :

(1) नतिपाद स्रोत (Dip-foot Spring),

(2) कगारपाद स्रोत (Scarp-foot Spring),

(3) दरारी स्रोत (Fissure Spring)।

स्रोतों से प्रवाहित जल ठण्डा तथा गरम होता है। साधारण गहराई से निकलने वाला जल ठण्डा होता है, परन्तु अधिक गहराई से निकलने वाला जल भूगर्भिक ऊष्मा से तप्त रहता है। इस प्रकार का गरम जल अधिकतर चट्टानी दरारों से बाहर

निकलता है, इसलिए इन्हें **उष्ण स्रोत** (hot spring) कहते हैं। ये स्रोत बहुत गहराई से जल प्राप्त करते हैं। अतः वर्षा के जल का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और इनका ताप सदैव एकसा बना रहता है। इनके जल में खनिज भी मिले रहते हैं क्योंकि भूगर्भ के उच्च-तापमान के कारण जल में घोलन-शक्ति अधिक रहती है। इसी कारण इस प्रकार के स्रोत ज्वालामुखी के उद्भेदन क्षेत्र में तथा पर्वत-पादों में बहुत मिलते हैं। सिन्ध, कश्मीर, सिक्किम, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि क्षेत्रों में गरम स्रोत मिलते हैं। राजगिरि (बिहार) तथा कुल्लू (पंजाब) के उष्ण स्रोत प्रसिद्ध हैं। इन स्रोतों से जल के साथ लवण एवं खनिज तत्त्व बाहर निकलते हैं। अतः इन्हें **खनिज स्रोत** (mineral spring) की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। इन स्रोतों से क्षारीय तथा अम्ल जल भी निकलता है। इनकी मात्रा के आधार पर इन्हें **गन्धक स्रोत** (sulphur spring) तथा **लवण स्रोत** (salt spring) कहते हैं। इनमें से कई स्रोतों में औषधि के गुण पाये जाते हैं। सहस्र-धारा (देहरादून—उत्तर प्रदेश), अतारी (पुरी—उड़ीसा) तथा छिन्दवाड़ा (मध्य प्रदेश) उल्लेखनीय हैं।
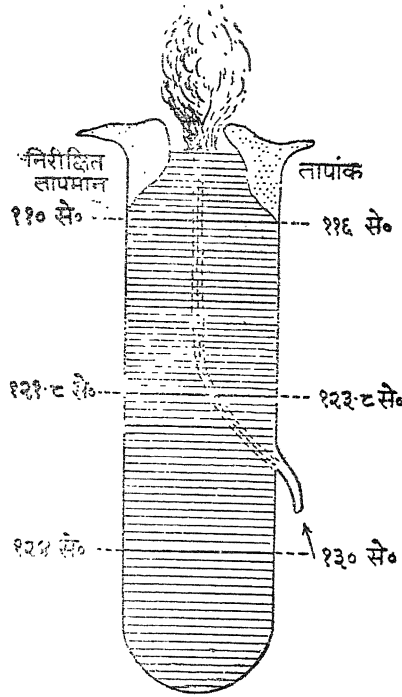
चित्र 126—उष्ण स्रोत (नली में उबलता हुआ पानी)

उष्णोत्स या गाइजर
(Geyser)

जब इन स्रोतों का जल गलनांक बिन्दु तक उष्ण रहता है तो जल वाष्प-स्तम्भ के रूप में पर्याप्त ऊपर उठता है और इन्हें **उष्णोत्स** (geyser) की संज्ञा प्रदान की जाती है। आइसलैण्ड की भाषा का शब्द 'गाइजर' शब्द यहाँ के विशेष नाम गाइसिर (Geysir) से लिया गया है जिसका अर्थ 'उबलता हुआ जल' होता है। ये ज्वालामुखी क्षेत्रों में मिलते हैं। इनमें सिलिका का मिश्रण रहता है।

किसी-किसी गाइजर में जल के फुब्बारे निकलने का समय नियमित होता है जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में यलोस्टोन पार्क का ओल्ड फेथफुल गाइजर (Old Faithful

Geyser)। इसमें प्रति एक घण्टे पर गरम पानी का फुव्वारा छूटता है और मिनिट मैन गाइजर में प्रत्येक मिनट के पश्चात् फुब्बारा छूटता है। आइसलैण्ड का ग्रेट गाइजर (Great Geyser) भी इसी प्रकार का है। संसार का सबसे बड़ा गाइजर न्यूज़ीलैण्ड का पोहुत गाइजर है। इस प्रकार एक बार फुब्बारे के छूटने के पश्चात् कुछ समय के लिए उष्णोत्स शान्त रहता है। यह उष्णोत्स का बनसन सिद्धान्त (Bunsen theory) कहलाता है। जिसमें रुक-रुक कर कुछ विलम्ब से उष्णोत्स से जल निकलता है। जब जल की प्राप्ति के स्रोत से उष्णोत्स का मुख नीचा रहता है तो उष्ण जल निरन्तर निकलता रहता है।

इन गाइजरों से फुब्बारे निकलने का कारण यह है कि कहीं-कहीं भू-गर्भ में बहुत गहराई तक पानी भरा रहता है और गाइजर की दरार एवं नली में भी पानी भरा रहता है। किन्तु इनमें इतनी ऊँचाई तक संवहन धाराएँ नहीं पहुँच पाती हैं, अतः निम्न तल का पानी सर्वदा उष्ण होता रहता है और गरम होकर भाप में बदल जाता है और भाप के वेग से फुब्बारे छूटते हैं। जिस गाइजर की दरारें चौड़ी होती हैं उसमें ऊँचे फुब्बारे नहीं छूटते हैं और गरम जल का कुण्ड बन जाता है। किन्तु जिस गाइजर की नली संकीर्ण होती है उसमें फुब्बारे बहुत ऊँचाई तक उठते हैं। ओल्ड फेथफुल गाइजर से गरम जल की फुहारें 45 मीटर ऊँचाई तक उठती हैं।
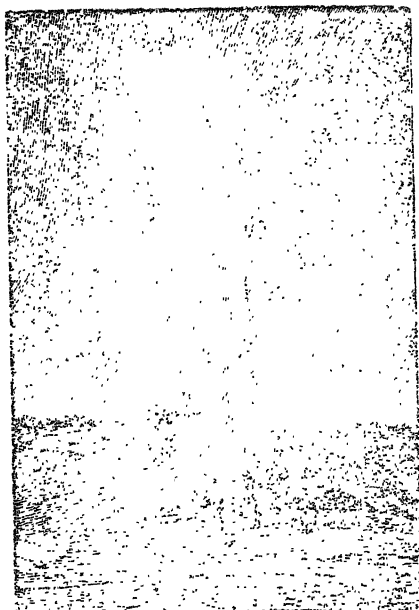
चित्र 127—गाइजर

जब तहें भ्रंशतल की ओर झुकी होती हैं तो जल को भ्रंशतल के सहारे ऊपर आ जाने का मार्ग मिल जाता है और भ्रंश के निकट के निचले भाग में पानी एकत्र होता रहता है और बाहर निकलने लगता है। इन्हें **भ्रंश-स्रोत** (fault spring) कहते हैं।

ग्रेनाइट जैसी अच्छी सन्धि वाली शैलों में जल ऊँचे प्रदेशों में प्रवेश करता है और सन्धि के निचले सिरे पर बाहर निकलने लगता है। इन्हें **सन्धि-स्रोत** (joint spring) कहते हैं।

भूमिगत जल के कार्य

धरातल के ऊपर के जल-प्रवाह की भाँति भूमिगत जल भी अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण का कार्य सम्पादित करता है। किन्तु भूमिगत जल की प्रक्रियाएँ धरातलीय जल की क्रियाओं से भिन्न होती हैं।

अपरदन तथा उसके भूदृश्य

भूमिगत जल की मन्द गति के कारण यान्त्रिक अपरदन (mechanical erosion) असम्भव होता है। परोक्ष रूप में भूमि-स्खलन (landslide) के द्वारा कुछ इस प्रकार का अपरदन होता है। जब झुके हुए धरातल की भूमि जल से संतृप्त हो जाती है तो वह ऊँचाई से नीचे सरकने लगती है। यह भूमि-स्खलन है। इससे पर्वतीय प्रदेशों में भयानक हानि होती है। इसके कारण पर्वतीय पादों पर शैलों का निक्षेपण होता है जिसको शैल-मलवा (talus) कहते हैं। जल से संतृप्त भूमि का इस प्रकार का संचार मृदा-सर्पण (solifluction) कहलाता है। भूमिगत प्रवाहित नदी-नालों से यान्त्रिक अपरदन बहुत नगण्य होता है, किन्तु रासायनिक अपरदन (chemical erosion) घोल के रूप में सर्वाधिक होता है। डोलोमाइट के साथ चूने का पत्थर साधारणतया पानी में घुलनशील नहीं होता है किन्तु यदि जल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड घोल के रूप में वर्तमान रहता है तो यह चूने के पत्थर को घुलनशील करने में अच्छा घोल बन जाता है। जल को वायुमण्डल से कार्बन डाइ-ऑक्साइड मिल जाती है जिससे चूने के क्षेत्र में विशेष आकृतियाँ बन जाती हैं।

लैपीज—जब कार्बन डाइ-ऑक्साइड मिश्रित वर्षा का जल चूने की शैलों पर बहता है तो उसके कुछ भाग को घुला देता है और पानी के अन्दर प्रवेश कर जाता है। इस क्रिया से शैलों में चौड़ी सन्धियाँ बन जाती हैं और धरातल कटावदार ज्ञात होने लगता है। ये खुले विदर बन जाते हैं। इसको फ्रांसीसी भाषा में **लैपीज** (lapies), जर्मन भाषा में **कारेन** (karren) तथा सर्विया में **बोगाज** (bogaz) कहते हैं। जब कालक्रम से ये लैपीज और चौड़े हो जाते हैं तो इन्हें घोल रन्ध्र (sink holes) कहते हैं। वर्षा-काल में धरातल का जल इनके द्वारा प्रवेश करता है। हवाई द्वीप में बलुआ पत्थर तथा बेसाल्ट में भी इनकी रचना हो रही है क्योंकि इस क्षेत्र में रासायनिक अपरदन अधिक होता है। केन्तुकी (सं० रा० अ०) में विशिष्ट उदाहरण मिलते हैं।

चित्र 128—अवकूट (लैपीज)

विलय रन्ध्र—धीरे-धीरे घोल रन्ध्र और चौड़े हो जाते हैं और इनमें से होकर बहुत बड़ी-बड़ी जलधाराएँ भूमि में प्रविष्ट होकर लुप्त हो जाती हैं। इन्हें **विलय रन्ध्र** (swallow holes) कहते हैं। इनका यह नाम इसलिए पड़ा है कि ये धरातल के सम्पूर्ण जल को निगल जाते हैं। ये बेलनाकार या कीपाकार होते हैं। यार्कशायर के

इंग्लबोरो के पास सबसे कौतूहल युक्त गेपिंग गिल विलय रन्ध्र है जिसमें फेल बेक नदी समा जाती है। इसका पानी पुनः 2 किलोमीटर आगे धरातल पर आ जाता है। सबसे गहरा विलय रन्ध्र फ्रांस का ट्रू डे ग्लाज (trou de glaz) है जो 657 मीटर गहरा है।

कन्दरा—भूमिगत जल भूपटल के नीचे ही अपना कार्य करता है। चूने की शैलों के नीचे स्थित अपारगम्य शैल तक पहुँच कर पानी क्षैतिज मार्ग से ढाल के अनुसार बहने लगता है जिसके कारण अपारगम्य शैल के ऊपर पारगम्य शैल में भूमिगत नाले बन जाते हैं। इन्हें **कन्दरा** (cavern) कहते हैं। इन कन्दराओं के मुँह धरातल पर अधिक चौड़े हो जाते हैं जिन्हें **निगिर छिद्र** (doline) कहते हैं। 'डोलिन' स्लेव भाषा का शब्द है। निगिर छिद्र भूमि के अकस्मात् धँसने से बनते हैं।

संकुण्ड या अलिजिह्वा—कभी-कभी कन्दराओं की छत टूटकर ध्वस्त हो जाती है और कई निगिर छिद्रों के मिल जाने से बहुत बड़े तथा विस्तृत गड्ढे बन जाते हैं। इन्हें अलिजिह्वा (uvo'a) कहते हैं। इन संकुण्डों का व्यास $1\frac{1}{2}$ किलोमीटर तक पाया जाता है। इनमें नदियाँ लुप्त हो जाती हैं और धरातल की घाटियाँ सूख जाती हैं जिन्हें अंध घाटी (blind valley) कहते हैं। यूगोस्लाविया के कार्स्ट मैदान में यह बहुत मिलता है।

राजकुण्ड—जब कई संकुण्ड मिल जाते हैं तो विस्तृत कुण्ड बन जाते हैं। इन्हें **राजकुण्ड** (poljes) कहते हैं। यह 'स्लेव' भाषा का शब्द है। कुछ विद्वानों के मतानुसार राजकुण्ड प्राचीन भ्रंश घाटियाँ हैं जिनमें चूने की शैल के ऊपर बालुकास्तर की परत अब भी मौजूद है। इनमें यत्र-तत्र नदियाँ बहती हैं। जहाँ बालू का स्तर बढ़ जाता है वहाँ नदियाँ धरातल के भीतर अदृश्य हो जाती हैं। मध्य प्रदेश में पंचमढ़ी के निकट वाटर्समेट (Watersmat) स्थान पर राजकुण्ड का यह दृश्य उपस्थित है।

प्राकृतिक पुल—इन संकुण्डों एवं राजकुण्डों के मध्य में पूर्ण अपरदन के पश्चात कहीं-कहीं कठोर चूना-पत्थर के अवशिष्ट टीले खड़े मिलते हैं। इनको **चूर्णकूट** (hums) कहते हैं। भूमिगत कन्दराओं की छत कहीं-कहीं टूट जाती है तो बीच का शेष भाग पुल की भाँति रुका रहता है। इनको **प्राकृतिक पुल** (natural bridge) कहते हैं। वर्जीनिया (सं० रा० अ०) में इसका उत्तम उदाहरण है।
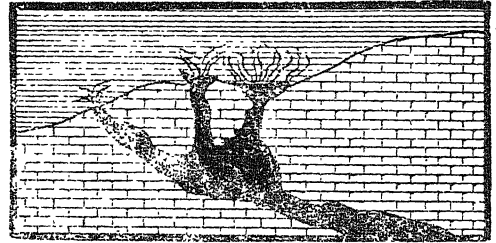
चित्र 129—निसुरंगा

निसुरंगा—घोल रन्ध्र तथा धरातल को भूमिगत नालों से मिलाने वाली सुरंगों को **निसुरंगा** (ponors) कहते हैं। यह सर्वियन भाषा का शब्द है। फ्रांसीसी भाषा में इन्हें **अवेन्स** (avens) कहते हैं। ये प्रायः लम्बवत् तथा तनिक झुके हुए होते हैं।

परिवहन

भूमिगत जल द्वारा घुलित पदार्थ घोल के रूप में तब तक बहाये जाते हैं जब तक उनका निक्षेपण नहीं हो जाता है। कभी-कभी ये घुलित पदार्थ समुद्र या भील तक ले जाये जाते हैं जिससे भील तथा समुद्र की लवणता बढ़ जाती है। कभी-कभी ये पदार्थ अवसादी शैलों में तलछट के रूप में जम जाते हैं।

निक्षेपण की स्थलाकृति

भूमिगत जल द्वारा घुलित पदार्थों के निक्षेपण से भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप निर्मित होते हैं। इन निक्षेपणों के निम्नांकित कारण होते हैं :

कार्बन डाइ-ऑक्साइड—कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा अन्य घुलित गैसों के कम हो जाने पर निक्षेपण होने लगता है क्योंकि इन गैसों की अनुपस्थिति में घुलनशीलता घट जाती है।

वाष्पीकरण—भूमि के भीतर ताप के बढ़ने से या वायुमण्डल के वाष्पीकरण से भूमिगत जल का कुछ अंश निकलता रहता है। कालान्तर में घोल से बाहर कुछ घुलित पदार्थ फेंक दिया जाता है। फलत: निक्षेपण होता है।

तापमान में कमी—ताप के बढ़ने पर अधिकतर पदार्थ की घुलनशीलता बढ़ जाती है और ताप के कम होने पर घट जाती है। अत: जल का तापमान कम होने पर जितना पदार्थ उसमें पहले से घुला होता है उसका कुछ अंश बैठ जाता है।

दाब में कमी—अधिकतर पदार्थों की घुलनशीलता दाब की वृद्धि से बढ़ जाती है और दाब के कम होने पर घट जाती है। अत: जल पर भी दाब के कम होने पर निक्षेपण प्रारम्भ हो जाता है। मार्ग में पड़ने वाली कुछ विशेष शैलों के अवरोध तथा सम्पर्क से भी भूमिगत जल में घुले हुए पदार्थों का जमाव हो जाता है।

रासायनिक क्रिया—दो घोलों का मिश्रित होना, घोलों के ऊपर गैसों की क्रियाएँ तथा घोलों पर ठोस पदार्थों की क्रियाओं के फलस्वरूप भी निक्षेपण होता है।

चित्र 130—उच्छैल तथा अवशैल का एक दृश्य

निक्षेपण से निर्मित भूदृश्य

उच्छैल—चूना-पत्थर के प्रदेशों में भूमिगत कन्दराओं में छत से जल का अन्त:स्राव होता है। जल में चूने का घोल वर्तमान रहता है। ऐसी दशा से जल के टपकने

से कन्दरा-तल के आधार पर ऊपर उठते हुए चूना-स्तम्भ बन जाते हैं। ये स्तम्भ **उच्छैल** (stalagmite) कहलाते हैं। ये स्तम्भ तल में मोटे और ऊपर की ओर क्रमश: पतले होते जाते हैं।

अवशैल—जब कन्दराओं की छत से पानी टपकता है तो धीरे-धीरे छत के आधार पर नीचे लटके हुए चूना-स्तम्भ बन जाते हैं। ये स्तम्भ छत की ओर मोटे और नीचे की ओर कन्दरा के खाली भाग में पतले होते जाते हैं। ये स्तम्भ **अवशैल** (stalactite) कहलाते हैं। इनका निर्माण कन्दरा की छत से नि:स्रावित चूने के घोल के जल के सूखने पर होता है। **डेविस** महोदय ने (1930) इसको स्रुतपाषाण (dripstone) कहा है।

कभी-कभी उच्छैल तथा अवशैल मिल जाते हैं और तल से छत तक एक पूर्ण स्तम्भ बन जाता है। अँधेरी कन्दराओं में ये दृश्य विचित्र प्रतीत होते हैं। इन्हें कन्दरा स्तम्भ (cavein pillars) कहते हैं। इंग्लैण्ड तथा समरसेट प्रदेश (आस्ट्रेलिया) में इसके उत्तम उदाहरण हैं। न्यूमेक्सिको के कार्ल्सबाड कन्दरा में यह दृश्य मिलता है। इनके मिलने से बाजे की पाइप के आकार की टेढ़ी-मेढ़ी आकृति बन जाती है जिनके थपथपाने पर ध्वनि निकलती है। कभी-कभी केवल आर्द्रता के फलस्वरूप एक आकृति बन जाती है। इसमें जल के बिन्दु या गुरुत्वाकर्षण का कोई हाथ नहीं रहता है। इसको हेलिक्टाइट (helictite) कहते हैं।

रन्ध्र-ग्रन्थिका—कभी-कभी शैलों की खोखली जगह भूमिगत घोल के निक्षेपण से पूर्ण या आंशिक रूप में भर जाती है। इस निक्षेप में सैकता (silica) निक्षेप के कण कंघी के दाँत की भाँति ज्ञात होते हैं। यह निक्षेप **रन्ध्र-ग्रन्थिका** या **जियोड** (geode) कहलाता है।

प्रतिस्थापन—यदाकदा जब भूमिगत जल के घोल में अन्य पदार्थ घुल जाते हैं तो उसी मात्रा में घुला हुआ पदार्थ अलग होकर जम जाता है। प्रतिस्थापन (replacement) की यह क्रिया अणु-प्रति-अणु में होती है। अत: घुले हुए पदार्थ के रूप में अन्तर नहीं होने पाता है किन्तु बनावट में परिवर्तन हो जाता है। इस क्रिया से कभी-कभी पेड़ों के तने भी शैलों के रूप में बदल जाते हैं जिन्हें **पाषाण वृक्ष** या **काष्टाश्म** (petrified tree or wood) कहते हैं। इस प्रकार का परिवर्तन जिन हड्डियों या घोंघों में हो जाता है, उन्हें पाषाण हड्डी या पाषाण घोंघें कहते हैं।

संग्रथन—किसी ठोस कण को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर निक्षेपण होने से **संग्रथन** (concretion) बनता है। इनका आकार **ग्रन्थिकी** (nodular) होता है। ये जमाव परतदार शैलों की तह या धरातल पर होते हैं। भारतीय कंकड़ इस प्रकार के जमाव के उत्तम उदाहरण हैं। इनमें केन्द्रीय कण के चारों ओर कैल्सियम कार्बोनेट का निक्षेपण होता है।

कार्स्ट स्थलाकृति
(Karst Topography)

चूने के प्रदेशों में विकसित भूदृश्य को **कार्स्ट स्थलाकृति** की संज्ञा प्रदान की

जाती है। इसके नामकरण का कारण आस्ट्रिया का कार्स्ट जनपद है जहाँ चूने के प्रदेश का सबसे श्रेष्ठ विकसित रूप मिलता है। इसी नाम पर इस प्रकार के सभी मैदानों का नाम कार्स्ट मैदान पड़ गया है। इस प्रकार के सबसे विकसित क्षेत्र यूरोप में निदारिक आल्प्स के समीप एड्रियाटिक सागर के पूरब में मिलता है। यह क्षेत्र लगभग 80 किलोमीटर लम्बी पेटी में इस्ट्रियन प्रायद्वीप से प्रारम्भ होकर यूगोस्लाविया होते हुए दक्षिण-पूर्व में विस्तृत है। सम्पूर्ण प्रदेश पथरीला मरुस्थल है जिसमें गड्ढे, गर्त तथा टीले अव्यवस्थित रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। यह प्रदेश वनस्पतिहीन है और इसमें धरातलीय प्रवाह भी नहीं है।

कार्स्ट स्थलाकृति मध्य फ्रांस के कासेस क्षेत्र, स्विटजरलैण्ड के आल्प्स, इंगलैण्ड की एपीनाइन श्रेणी, संयुक्त राज्य अमरीका के केन्टुकी, टेनीसी, फ्लोरिडा तथा वर्जीनिया राज्य, मैक्सिको के यूकाटन, पाकिस्तान की किरथर श्रेणी और भारत के भेड़ाघाट, रोहतास पहाड़ी, जिला कार्नूल तथा काँगड़ा घाटी में मिलती है। किन्तु इनमें कार्स्ट स्थलाकृति पूर्ण विकसित नहीं है।
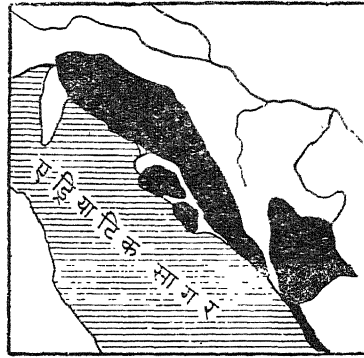
चित्र 131—एड्रियाटिक तट पर कार्स्ट भूदृश्य

कार्स्ट स्थलाकृति चूने के प्रदेश में मिलती है क्योंकि इसमें लम्बवत् सन्धियों तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड मिश्रित जल की उपलब्धि होती है। चूने के पत्थर के क्षेत्रों की आकृति विज्ञान (morphology) तथा वहाँ के जल-विज्ञान (hydrology) में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। चूने का पत्थर दो प्रकार का होता है—एक कठोर तथा मणिभीय शैलों का और दूसरा मुलायम एवं छिद्रयुक्त शैलों का। प्रथम सरकार की शैलों में कार्स्ट भूदृश्य का पूर्ण विकास होता है, किन्तु मुलायम एवं छिद्रयुक्त शैलों में विकसित भू-दृश्य खरिया (chalk) कहलाता है।

कार्स्ट स्थलाकृति के प्रमुख रूप

वर्षा का जल चूने के पत्थर के क्षेत्रों में सँकरी एवं गहरी नालियों द्वारा प्रवेश करता है। इस प्रकार क्रमश: घोल रन्ध्र, लैपीज, विलय रन्ध्र, निगिरि छिद्र, संकुण्ड तथा प्राकृतिक पुलों का निर्माण होता है जिससे धरातल ऊबड़-खाबड़ तथा विचित्र हो जाता है। भूमिगत जल के निक्षेप से उच्छैल, अवशैल, शुष्क घाटी आदि की रचना हो जाती है। इसमें टीलों एवं गड्ढों का जाल बिछा होता है। इनमें प्रवाह धरातलीय नहीं होता, बल्कि भूमिगत होता है और जल-स्तर क्षैतिज और समतल होता है। इनमें नदियों की पूर्ण व्यवस्थाएँ मिलती हैं।

कार्स्ट स्थलाकृति में अपरदन-चक्र

कार्स्ट प्रदेश में भूमिगत जल का कार्य बहुत ही स्पष्ट एवं आकर्षक होता है। ऐसे देशों में भूदृश्य के निर्माण का क्रम कार्स्ट भूआकृतिक चक्र (karst geomorphic cycle) कहलाता है। **स्विजिक** के मतानुसार कार्स्ट प्रदेश के अपरदन की तीन अवस्थाएँ होती हैं। ऐसे देश में अपरदन-चक्र के विकास के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ चूना के पत्थर की मोटी पारगम्य शैल के नीचे अपारगम्य शैल स्थित हो और भौमजल-स्तर पारगम्य शैल में काफी गहराई पर हो। ऐसे क्षेत्र जब समुद्र के भीतर से अकस्मात् ऊपर उठ जाते हैं तो अपरदन-चक्र का श्रीगणेश हो जाता है। फ्रांसीसी भूगोलवेत्ता **स्विजिक** के मतानुसार एक पूर्णतया विकसित कार्स्ट-क्रम में तीन जलीय क्षेत्र होते हैं :

(1) धरातल के नीचे का क्षेत्र जिसमें धाराएँ तथा जलकोष होते हैं जो वर्षा-काल में नीचे पानी पहुँचाते हैं, परन्तु प्रायः शुष्क रहते हैं।

(2) इसके बाद क्रमवत् शुष्क एवं आर्द्र क्षेत्र हैं। इनमें पर्याप्त समय तक कन्दराएँ तथा जलधाराएँ जलपूर्ण रह सकती हैं, किन्तु यह स्थिति स्थायी नहीं होती है।

(3) सबसे नीचे के अपारगम्य शैल के ऊपर का क्षेत्र, जो सदैव जलयुक्त रहता है और स्थायी जलधाराएँ तथा जलकोष रहते हैं।

स्विजिक के पूर्व ब्रिटिश विद्वान **ग्रुण्ड** तथा **काटजर** ने भी भूमिगतजल-अपवाह के सम्बन्ध में विरोधी मत प्रकट किये थे। **काटजर** महोदय के मतानुसार पानी पृथ्वी के भीतर अनवरत रूप से बह रहा है। जहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं है वहाँ 'साइफन' के समान गड्ढे हैं जो पानी को ऊपर ठेल देते हैं। **काटजर** स्थायी जल को एक आकस्मिक एवं क्षणिक क्रिया के रूप में मानते हैं।

ग्रुण्ड के मतानुसार चूने के पत्थर में एक संतृप्त तल रहता है जिसके नीचे की शैल जल से परिपूर्ण रहती है। इस जल में प्रवाह तब होता है जब ऊपर से वर्षा का जल इसमें पहुँच जाता है।

उपर्युक्त दोनों मतों से कार्स्ट मैदानों की आकृति एवं जल-व्यवस्था की व्याख्या नहीं हो पाती है। जल-स्रोतों के स्थान एवं जल-स्तर में अन्तर, झीलों में जल की कमी और अन्त में उनका शुष्क हो जाना आदि तथ्यों की व्याख्या इन मतों से स्पष्ट नहीं हो पाती है।

स्विजिक महोदय के अनुसार भूमिगत जल द्वारा अपरदन-चक्र की निम्न चार अवस्थाएँ होती हैं। इस अवधारणा का प्रतिपादन सन् 1918 में हुआ।

(1) तरुणावस्था—अपरदन-चक्र की प्रथम अवस्था में धरातल की सामान्य अपवाह-व्यवस्था आरम्भ होती है, क्योंकि चूने की शैलों के ऊपर सामान्यतः बालू-स्तर रहता है। जल-स्तर प्रायः धरातल के निकट होता है और अपरदन की साधारण प्रक्रिया जारी होती है। चूने की मोटी तह के ऊपर का आवरण नष्ट होने लगता है। धरातल की सन्धियाँ घोल द्वारा चौड़ी होने लगती हैं और घोल रन्ध्र,

लैपीज तथा वलय-रन्ध्र का निर्माण हो जाता है। **वान ऐंगलिन** का मत है कि लैपीज का निर्माण युवावस्था में होता है, किन्तु अन्य विद्वान इसको प्रौढ़ावस्था का दृश्य मानते हैं। इस अवस्था में धरातलीय प्रवाह का कुछ अंश भूमिगत अपवाह में परिणत हो जाता है और क्रमशः भूमिगत अपवाह में वृद्धि के लक्षण मिलते हैं। बिखरे निगिरि-छिद्र इस अवस्था की मुख्य विशेषता है।
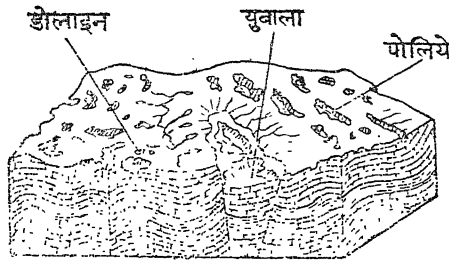
चित्र 132—चूर्ण-प्रस्तर क्षेत्र : तरुणावस्था

(2) **प्रौढ़ावस्था**—दूसरी अवस्था में भूमिगत कन्दराओं, पोनार्स, गुफाओं आदि का निर्माण हो जाता है। भूमिगत अपवाह में वृद्धि होती जाती है, साधारण वर्षा का सारा जल नीचे दबती निवेशिका (sinking creek) द्वारा विलय-रन्ध्र या अंध घाटी में चला जाता है और धरातलीय अपवाह लुप्त हो जाता है। निगिरि-छिद्र और भूमिगत जल-गर्त के टूट जाने से भूमिगत जल-प्रवाह में अधिक विस्तार हो जाता है। जल-स्तर की ऊँचाई कम हो जाती है। प्राकृतिक रूपरेखा बंजर तथा शुष्क हो जाती है। निगिरि छिद्र कन्दराएँ तथा विलय रन्ध्र संख्या तथा आकार में बढ़ जाते हैं। संकुण्ड, राजकुण्ड, शुष्कघाटी, उच्छैल अवशैल तथा चूर्णकूट की रचना हो जाती है। कार्स्ट का विकास श्रेष्ठ काल होता है।
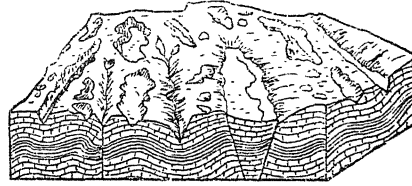
चित्र 133—चूर्ण-प्रस्तर क्षेत्र : प्रौढ़ावस्था

(3) **पूर्ण प्रौढ़ावस्था**—इस अवस्था में कार्स्ट लक्षणों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। कन्दराओं की सरिताएँ कार्स्ट-गवाक्षों (karst windows) से अंशतः दृष्टिगोचर होने लगती हैं। ये गवाक्ष बढ़कर अलिजिह्वा में परिणत हो जाते हैं और मूल चूने के उच्च प्रदेश के बिखरे भाग चूर्णकूट (hum) रूप में दिखाई देते हैं।

(4) **वृद्धावस्था**—अन्तिम अवस्था में राजकुण्ड तथा चूर्णकूट का पूर्ण विकास हो जाता है। जल द्वारा और अधिक गहराई तक कटाव सम्भव नहीं होता और सम्पूर्ण क्षेत्र अपारगम्य शैलों पर
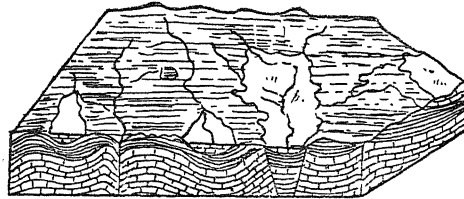
चित्र 134—चूर्ण-प्रस्तर क्षेत्र : वृद्धावस्था

पुन: एक बार खुल जाता है और अपारगम्य शैलें वायुमण्डल के संसर्ग में आ जाती हैं और स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं। धरातलीय जल-अपवाह पुन: प्रारम्भ हो जाता है। बिखरे चूर्णकूट (hum) पाये जाते हैं। कार्स्ट स्थलाकृति की यह अवस्था वर्जीनिया तथा कासेस (फ्रांस) में मिलती है।

वालुका-स्तर की परत पुन: दृष्टिगोचर होने लगती है और दूसरा चक्र आरम्भ हो जाता है। यह क्रम सदैव जारी रहता है। इसी से इसको चक्र की संज्ञा प्रदान की गयी है। उपरोक्त अवस्थाएँ मैदानी तथा पठारी प्रदेशों में प्राप्त होती हैं।

बीड महोदय ने सन् 1911 में इस अवधारणा की व्याख्या की थी किन्तु प्रकाशन की असुविधा के फलस्वरूप इस विचार पर भूवैज्ञानिकों का ध्यान नहीं गया। इन्होंने कार्स्ट-चक्र को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है। बीड महोदय के अनुसार, युवावस्था में धरातलीय अपवाह का परिवर्तन भूमिगत अपवाह में होने लगता है और इस अवस्था की विशेषता निगिरि-छिद्र होते हैं।

प्रौढ़ावस्था में अत्यधिक घोल रन्ध्र तथा धरातलीय अपवाह प्राप्त होता है। केवल बड़ी गभीरीभूत सरिताएँ (entrenched streams) ही धरातलीय अपवाह को कायम रखती हैं। घोल निवेशिका, विलय रन्ध्र, अंधघाटी मिश्र घोल तथा निगिरि-छिद्र सैकड़ों की संख्या में मिलते हैं।

वृद्धावस्था में धरातलीय अपवाह प्रारम्भ हो जाता है। कार्स्ट गवाक्ष, कार्स्ट सुरंग, प्राकृतिक पुल तथा चूर्णकूट विशेष लक्षण हैं।

इतना स्मरण रखना चाहिए कि एक ही समय कार्स्ट-क्षेत्र में कार्स्ट-चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

प्रश्न

1. Give a graphic account of the work of underground water with regard to erosion, transportation and deposition.
   (*Agra 1969*; *Bihar 1965*; *Ranchi 1968*; *Gorakhpur 1971*)
   भूमिगत जल के अपरदन एवं निक्षेपण कार्यों का विवरण लिखिए।
2. Discuss the characteristic features of Karst Region. Illustrate with examples their origin.
   (*Kanpur 1971*; *Agra 1968*; *Meerut 1968*)
   कार्स्ट स्थलाकृति की विशिष्टताओं का विवरण लिखिए और उदाहरण भी दीजिए।
3. Discuss the action of underground Water in Limestone Region.
   (*Allahabad 1968*; *Bihar 1971*)
   चूना-प्रदेश में भूमिगत जल के कार्यों की विवेचना कीजिए।
4. What distinctive forms are produced by weathering in Karst Regions? (*Magadh 1969*; *Gwalior 1969*; *Jodhpur 1971*)
   कार्स्ट-क्षेत्र में अपक्षय से किन आकारों का निर्माण होता है?
5. Analyze the formation of Artesian well. (*Gorakhpur 1971*)
   उत्स्रुत कूप के निर्माण की व्याख्या कीजिये।

16

परिवर्तनकारी बहिर्जात बलें–प्रवाहित जल

[SURFACE-MOULDING EXOGENETIC FORCES—RUNNING WATER]

किसी स्थल भाग के समुद्र-तल से बाहर निकलते ही अनाच्छादी साधनों का प्रभाव पड़ने लगता है। ये सभी साधन विशिष्ट प्रकार से भूदृश्य को परिवर्तित करते हैं। वर्षा से प्राप्त जल द्वारा धरातल पर महत्वपूर्ण परिवर्तन लाये जाते हैं। इस जल की तीन गतियाँ होती हैं। कुछ भाग भूमि में सोख लिया जाता है, कुछ वाष्पीकरण में चला जाता है और शेष धरातल पर प्रवाहित होता है। इस प्रवाहित जल का प्रभाव धरातल पर सर्वाधिक पड़ता है। प्रवाहित जल की प्रतीक नदियाँ हैं।

जल का बहाव पृथ्वी के आकर्षण के फलस्वरूप होता है। अत: जल ढाल की ओर बहता है और जल-प्रवाह धाराओं के द्वारा होता है। जल-प्रवाह के लिए धाराएँ स्थल को काटती-छाँटती रहती हैं और नदी के रूप में उपस्थित हो जाती हैं। पर्वतीय भागों में तीव्रगामी छोटी-छोटी धाराएँ, मैदानों में मन्द गति से बहने वाली बड़ी-बड़ी नदियाँ तथा मरुस्थलों में उतराने वाली नदियाँ स्थल पर भारी परिवर्तन प्रस्तुत करती हैं।

प्रवाहित जल नदियों के रूप में प्रधानत: तीन कार्य करता है—अपरदन, परिवहन तथा निक्षेपण। नदी का जल किनारों एवं तली को काटता-छाँटता रहता है। यह नदी का **अपरदन** कार्य कहलाता है। अपरदित पदार्थ जैसे रेत, कीचड़ एवं लटके हुए पदार्थ जल के साथ दूर तक बहते चले जाते हैं। यह नदी का **परिवहन** कहा जाता है। नदी के जल के साथ बहते हुए पदार्थ परिस्थिति विशेष में कहीं न कहीं जमा हो जाते हैं। यह कार्य **निक्षेपण** के नाम से पुकारा जाता है।

अपरदन

नदियों द्वारा अपरदन दो प्रकार का होता है—बलकृत अपरदन (mechanical erosion) तथा रासायनिक अपरदन (chemical erosion)। रासायनिक अपरदन में नदी के तल का घुलनशील पदार्थ उसके जल में घुलकर बहने लगता है। इस दिशा

में उस पदार्थ का अपना रूप नहीं रह जाता है। बलकृत अपरदन में नदी अपने किनारों को अपनी धारा की शक्ति से काटती है। नदी के द्वारा इस प्रकार का अपरदन अधिक होता है। यह दो प्रकार का होता है—पार्श्विक अपरदन तथा ऊर्ध्वाधर अपरदन। प्रथम प्रकार के अपरदन से नदी चौड़ी होती है और द्वितीय अपरदन में नदी का पेटा गहरा होता है।

अपरदन की विधियाँ

नदी द्वारा अपरदन कार्य चार विधियों से सम्पन्न होता है :

(1) जलीय क्रिया (Hydraulic Action),
(2) अपघर्षण क्रिया (Abrasion),
(3) संनिघर्षण क्रिया (Attrition),
(4) संक्षारण क्रिया (Corrosion)।

जलीय-क्रिया में नदी का बहता हुआ जल उसके तल तथा किनारे की शैलों को ढीला कर देता है और बलकृत अपरदन की सामग्री को अन्य अव्यवस्थित पदार्थों के साथ जल में बहा देता है। मूसलाधार वर्षा से जोते हुए खेतों में यह क्रिया देखी जा सकती है। इस अपघर्षण क्रिया का अर्थ नदी की तली एवं किनारों की शैलों का नदी-भार से पारस्परिक भौतिक रगड़ होता है। नदी की धारा में बहुत अधिक शैलों के कण भार के रूप में बहते रहते हैं। ये सदैव नदी के तल एवं किनारों से रगड़ खाते हैं। इसका फल यह होता है कि शैलें कटती-फटती रहती हैं और रगड़ पैदा करने वाले पदार्थ धारा द्वारा दूर तक बहा दिये जाते हैं। इस प्रकार नया कटाव-तल बनता जाता है और शैलें अधिक कटती जाती हैं। तल में बहने वाले कंकड़ों एवं गोलाश्मों से तल गहरा हो जाता है और भँवरों द्वारा तल में गड्ढे बन जाते हैं।

नदियों द्वारा बहाकर लाये गये पदार्थों पर ही बलकृत क्रिया हो जाती है। ये टुकड़े नदियों के असमतल तल की शैलों के किनारों की टक्कर तथा आपसी संघर्षण से टूट जाते हैं और घिसकर गोल एवं चिकने हो जाते हैं। नदी बड़े टुकड़ों को घसीटती हुई और सूक्ष्म कणों को बहाती हुई ले जाती है। भँवर में बड़े टुकड़े ऊपर आ जाते हैं और पुनः तली में चले जाते हैं। इस प्रकार लुढ़कने एवं उछलने का क्रम बँध जाता है। इनके फलस्वरूप नदी की घाटी गहरी तथा चौड़ी होती जाती है। नदी का उद्गम-स्थल भी वर्षा से कटता जाता है जिसके परिणामस्वरूप घाटियाँ लम्बी होती जाती हैं।

नदी द्वारा रासायनिक अपरदन होता है। नदी के जल की घोलन-शक्ति, खारापन, कार्बन डाइ-ऑक्साइड तथा अन्य गैसों के सम्मिश्रण से बढ़ जाती है। तलीय शैलों की बनावट भी नदी के जल की क्षरण-शक्ति को निश्चित करती है। इस प्रकार संक्षारण क्रिया से शैलें ढीली हो जाती हैं और कालान्तर में ध्वस्त हो जाती हैं। इस प्रकार घोल द्वारा पदार्थों का परिवहन से संक्षारण होता है।

अपरदन के आधार

नदियों के अपरदन में भिन्नता होती है। इसका कारण उनकी परिस्थितियों में अन्तर है। नदी द्वारा अपरदन को निम्नलिखित तथ्य निर्धारित करते हैं :

(1) नदी के जल की मात्रा, (2) नदी के जल की गति,
(3) नदी के जल का भार, (4) नदी के तल की बनावट,
(5) नदी की घाटी का विकास।

(1) **जल-मात्रा**—नदी में जल की मात्रा उसके उद्गम तथा उसके आवाह-क्षेत्र की वर्षा पर निर्भर करती है। अधिक वर्षा के क्षेत्र में बहने वाली नदियों में पर्याप्त जल भरा रहता है और कम वर्षा के क्षेत्र में स्थित नदियों में जल की कमी रहती है। वर्ष भर वर्षा वाले क्षेत्र की नदियों में साल भर और मौसमी वर्षा वाले क्षेत्र की नदियों में कुछ मास अधिक जल रहता है। जिन नदियों में छोटी-छोटी कई नदियाँ आकर मिलती हैं उनमें जल की मात्रा आवाह-क्षेत्र की वर्षा पर निर्भर करती है। जो नदियाँ झीलों से निकलती हैं उन नदियों में जल की मात्रा झीलों की जल-शक्ति पर निर्भर करती है। किन्तु कुछ नदियाँ हिमाच्छादित पर्वतों से निकलती हैं। उनमें जल-मात्रा हिम के पिघलने पर निर्भर करती है। जिन नदियों को उपर्युक्त दोनों या तीनों परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं उनमें साल भर पर्याप्त जल मिलता है। उत्तरी भारत की नदियों को मौसमी वर्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में हिम के पिघलने से पानी मिलता है। दक्षिणी भारत की नदियों में केवल वर्षा ऋतु में जल रहता है। अमेजन तथा कांगो नदियों के क्षेत्र में साल भर वर्षा होती है, अतः उनमें वर्ष-पर्यन्त जल भरा रहता है।

(2) **जल-गति**—नदी के जल की गति जल की मात्रा एवं नदी के ढाल पर निर्भर करती है। जल की अधिक मात्रा एवं तलहटी के अधिक ढाल पर नदी का वेग तीव्र होता है। जल की मात्रा तथा नदी-तल के ढाल के कम होने पर नदी की गति मन्द हो जाती है। भारतीय नदियों में वर्षा ऋतु में तीव्र प्रवाह हो जाता है। उत्तरी भारत की नदियों में अपेक्षाकृत कम तीव्र गति होती है क्योंकि नदियाँ समतल मैदान से होकर बहती हैं जिसका ढाल बहुत ही मन्द है। किन्तु दक्षिणी भारत की नदियों की गति अधिक तीव्र होती है क्योंकि ये ऊबड़-खाबड़ भूमि से होकर बहती हैं।

नदी-घाटी की चौड़ाई का भी नदी की गति पर प्रभाव पड़ता है। अधिक चौड़ी घाटी में जल की गति सँकरी घाटी की अपेक्षा मन्द होती है। तीव्रगामी नदियाँ अधिक अपरदन करती हैं और उनमें अधिक भार-वहन की शक्ति होती है।

(3) **नद-भार**—नदी के जल में मिश्रित तथा उसमें बहने वाले कंकड़ एवं गोलाश्म नदी का भार कहलाती हैं जिसके द्वारा अपरदन होता है। नदी के द्वारा भार-वहन करने की विधि के अनुसार नदी का भार तीन प्रकार का कहा जाता है :

(क) जल में मिले हुए छोटे-छोटे कण जिनसे पानी गँदला होता है।

(ख) जल में घुला हुआ पदार्थ।

(ग) जल में लुढ़कता हुआ पदार्थ जो नदी के तले को घसीटता हुआ बहता है।

पर्वतीय भागों के तीव्र ढाल पर इस प्रकार का भार अधिक होता है। ये पदार्थ पारस्परिक रगड़ के फलस्वरूप छोटे-छोटे कणों के रूप में बदल कर पानी में दूर तक बहते जाते हैं।

नद-भार कई बातों पर निर्भर करता है। जल की गति पर भार अधिक निर्भर करता है। तीव्रगामी नदी अधिक भार वहन करती है और अधिक भारयुक्त नदियाँ अधिक अपरदन करती हैं क्योंकि जल में कंकड़-पत्थर, रेत आदि नदी की तली तथा किनारों को काटने में यन्त्र का कार्य करते हैं। कठोर शैलों के भार से अपरदन अधिक होता है।

नदी की गति के साथ उसके जल में भार-वहन करने की शक्ति बढ़ती जाती है। यदि नदी की चाल दुगुनी कर दी जाय तो उसके जल में पहले की अपेक्षा 64 गुना भार-वहन करने की शक्ति हो जायगी और काट-छाँट की भी शक्ति बढ़ जायगी। इसके विपरीत शुद्ध एवं स्वच्छ जल में काट-छाँट करने की शक्ति शून्य होती है। नदी द्वारा अपरदन उसके भार के अनुपात में होता है। जब नदी में भार उतना ही होता है जितना उसे सामान्यतः ढोना चाहिए, तो नदी द्वारा न तो अपरदन होता है और न निक्षेपण ही। किन्तु वास्तव में नदी का भार वहन योग्य मात्रा से कम या अधिक होता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि नदी में भार नहीं है तो अपरदन नहीं होता और जब नदी में भार की मात्रा अधिकतम होती है तब भी अपरदन नहीं होता है। इन दोनों सीमाओं के मध्य में एक ऐसी अवस्था है जब अपरदन अधिकतम होता है। इस अवस्था के पूर्व अपरदन क्रमशः बढ़ता है तथा इसके पश्चात् क्रमशः घटता है। जल में भार की मात्रा अधिकतम होने पर निक्षेपण होने लगता है और तत्पश्चात् जल में अपरदन की शक्ति पैदा हो जाती है। यही **अपरदन का मूल सिद्धान्त** (basic principle of erosion) है।

(4) **नदी-तल की बनावट**—नदी-तल की शैलों की बनावट तथा प्रकृति पर भी अपरदन निर्भर करता है। यदि तलीय शैलें मुलायम होती हैं तो कटाव अधिक होता है और तलीय शैलों के कठोर होने पर कटाव शनैः शनैः होता है। नदी-तल की शैलों में सन्धियों तथा दरारों की उपस्थिति अपरदन में सहायक होती है।

चित्र 135—नदी घाटी का विकास

(5) **नदी-घाटी का विकास**—प्रत्येक नदी स्वनिर्मित घाटी में बहती है। कभी-कभी नदियाँ पूर्वनिर्मित घाटी में भी बहने लगती हैं किन्तु ऐसी दशा हिम-प्रवाहित क्षेत्रों में हिमनदी के हट जाने पर पायी जाती है जिसमें नदियाँ घाटी को सुधारती हैं।
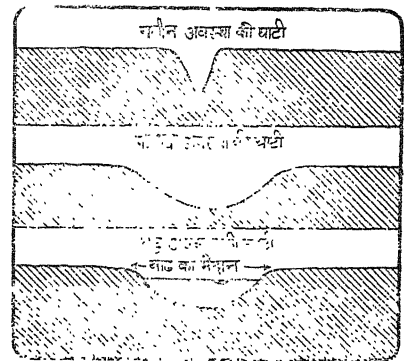
घाटी का विकास जलवायु, नदी-तल की शैलों की बनावट तथा धरातल की प्राकृतिक अवस्था पर निर्भर करता है। प्रारम्भ में वर्षा का जल या हिमनदी का जल एकत्र होकर ढाल के अनुसार बहने लगता है जिससे छोटे-छोटे नालों एवं नदियों की घाटियाँ बन जाती हैं क्योंकि बहना प्रारम्भ करते ही जल-धाराएँ गहरा कटाव करने लगती हैं। इस समय कोई भी सहायक नदी नहीं होती है। इसमें जल की मात्रा भी कम होती है। अतः इनसे सँकरी एवं गहरी घाटियाँ बन जाती हैं। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है, नदी का आवाह-क्षेत्र (catchment area) बढ़ता जाता है। फलतः इसमें जल की मात्रा और भार की अधिकता होती जाती है और नदी अपनी घाटी को गहराई के साथ पार्श्वों में भी काटने लगती है। पार्श्वों को काटने में शैलों की बनावट, वर्षा, वायु तथा सूर्य-ताप भी सहायक होता है। इस क्रिया द्वारा घाटी चौड़ी होने लगती है और इसका रूप द्विवेणी (V-आकार) का हो जाता है।
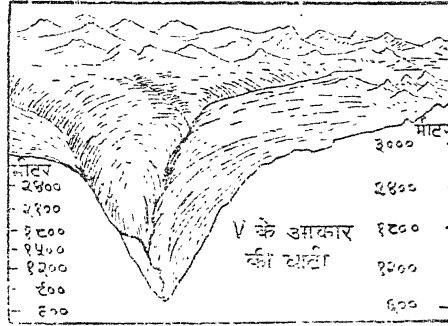
चित्र 136—द्विवेणी रूप घाटी

जब नदी कठोर शैलों से होकर प्रवाहित होती है तो उसकी घाटी चौड़ी न होकर गहरी होती जाती है। ऐसी सँकरी एवं गहरी घाटी महाखड्ड (gorge) कहलाती है जिसके दोनों किनारे खड़े होते हैं।

प्रारम्भिक अवस्था में गहरा कटाव इस प्रकार से होता है कि ऊबड़-खाबड़ तली में जलगर्तिका (pot holes) बन जाते हैं जिनमें उत्पन्न वृत्ताकार भँवर में नुकीले पत्थर चक्कर काटते हैं। जब प्रवाह में भार बढ़ जाता है तो घाटी का तलीय भाग समतल हो जाता है। यह कार्य उस अवस्था में होता है जब नदी घाटी को गहरा करने की अपेक्षा विशेष रूप से किनारों की काट-छाँट करती है।

प्रारम्भिक अवस्था में नदियाँ अभिशीर्ष अपरदन (head erosion) के द्वारा शीर्ष की ओर लम्बी होती हैं और कभी-कभी अन्य नदियों का अपहरण (river capture) भी सम्पन्न करती हैं। इससे प्रवाह-क्षेत्र एवं जल की मात्रा भी बढ़ती जाती है। किन्तु नदियों द्वारा गहरे कटाव की एक सीमा होती है। यह नदी का **आधार-तल या चरम स्तर** (base level) कहलाता है। किसी नदी की गहराई उसके मुहाने के स्तर से नीची नहीं हो सकती है। वास्तव में नदी के मुहाने के तल को ही आधार-तल कहा जाता है। महासागर-तल नदियों का सबसे अधिक गहरा चरम स्तर है। जिन नदियों का संगम झीलों में होता है उनका चरम स्तर झीलों का तल ही होता है। इसी प्रकार सहायक नदियों का चरम स्तर उनकी मुख्य नदियों का प्रवाह-तल होता है।

जब नदियाँ कम वर्षा के क्षेत्रों में अपनी घाटी को बहुत अधिक गहरा कर देती देती हैं और किनारे बहुत ऊँचे खड़े रहते हैं तो ऐसी घाटी को **गभीर खड्ड** (canyon) कहते हैं। अमरीका की कोलोरेडो नदी का गभीर खड्ड इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कृष्णा नदी द्वारा महावलेश्वर के पास लगभग 600 मीटर गहरा गभीर खड्ड बन गया है। अबीसीनिया में ऐसी घाटियाँ बहुत मिलती हैं। महाखड्ड और गभीर खड्ड में एकमात्र अन्तर यही है कि गभीर खड्ड की घाटी अधिक गहरी होती है। नदी के इस ऊपरी भाग को **घाटी-क्षेत्र** (valley tract) कहते हैं।

नदियों द्वारा घाटियों के काटने की क्रिया के साथ नदियों में मोड़ बढ़ते जाते हैं। इसमें पर्वतीय भाग प्रक्षिप्त हो जाता है। कालान्तर में नदियाँ इन पर्वत-शाखाओं को काटती हुई मैदान में बहने लगती हैं। इस भाग को बाद में नदी का मैदान कहते हैं।

घाटियों के निर्माण का मूल कारण सन् 1800 ई० के पूर्व पृथ्वी की प्रलयकारी हलचल मानी जाती थी। यह अवधारणा थी कि इन घाटियों में बाढ़ में नदियाँ या जलधारायें बहने लगीं। किन्तु सन् 1802 में इंगलैंड के भूविज्ञानी **प्लेफेयर** महोदय ने एक नये नियम को प्रस्तुत किया जिसके तीन मुख्य अंग थे। प्रथम, सरिताओं के आकार के अनुसार ही उनकी घाटियाँ होती हैं। द्वितीय, सरिताओं के संगम स्तर में उच्चतासंगति (accordance) होती है। तीसरा, नदियों से घाटियाँ उत्कीर्ण (carved) होती हैं। वर्तमान में **प्लेफेयर** महोदय के इस नियम की व्यापक मान्यता है।

अपरदन की विभिन्न दशाएँ

जल-प्रपात—अपरदन में भिन्नता के कारण कई प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि कठोर तथा मुलायम शैलों की तहें एकान्तर से बिछी हुई रहती हैं तो घाटी में चट्टानी वेदिकाएँ बन जाती हैं। यदि कठोर तहें मुलायम तहों के साथ स्थित होकर नदी के बहाव की ओर तनिक झुकी हुई रहती हैं तो नदी की घाटी में प्रपातों की शृंखला बन जाती है। समतल मुलायम चट्टानी तहों के भीतर यदि कोई कड़ी शैल की तह ऊर्ध्वाधर खड़ी मिलती है तो घाटी में प्रपात बन जाते हैं।
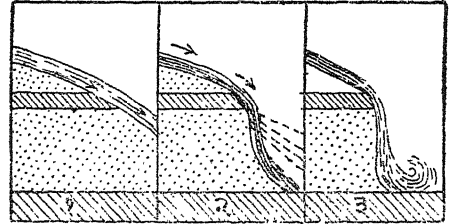
चित्र 137—जल-प्रपात की रचना

जब कठोर चट्टानी तहें मुलायम शैल की तहों के ऊपर अनुप्रस्थ स्थिति में रहती हैं तो भी नदी की घाटी में प्रपात बनता है। किन्तु नीचे की मुलायम शैलों के टूटते रहने से ऊपरी कड़ी शैलें टूट जाती हैं और प्रपात पीछे की ओर हटता जाता है। कालान्तर में ऐसे प्रपातों के समाप्त हो जाने की सम्भावना होती है।

विभिन्न जल-प्रपात—जल-प्रपातों की रचना का प्रमुख कारण नदी की घाटी में असमान, कठोर एवं मुलायम शैलों की उपस्थिति होती है। यदि घाटी में एक ही प्रकार की शैलें होती हैं तो जल-प्रपात नहीं बनते हैं।

जल-प्रपात में जल ऊपर से नीचे गिरता है। जब नदी की घाटी की मुलायम शैलें कट जाती हैं और कठोर शैलें रह जाती हैं तो नदी के मार्ग में जल-प्रपात बन जाते हैं। जब कठोर शैलों का अनुनति ढाल नदी के साथ होता है तो **क्षिप्रिक** (rapids) बन जाते हैं। नील नदी में बहुत-से क्षिप्रिका मिलते हैं। जब कठोर शैल की तह मुलायम शैलों की तहों के मध्य लम्बवत् खड़ी रह जाती है तो **जल-प्रपात** (waterfalls) बन जाते हैं। इस दशा में उसका ढाल नदी के विपरीत रहता है। इस खड़े ढाल से पानी नीचे लुढ़कता है।

चित्र 138—क्षिप्रिका

जब मुलायम शैलों की तहों के ऊपर कठोर शैलों की तहें अनुप्रस्थ स्थिति में रहती हैं तो मुलायम शैलें कट जाती हैं और इनमें एक **अवनमन कुण्ड** (plunge pool) बन जाता है। इस कुण्ड का जल उछल-उछल कर मुलायम शैलों को भिगो देता है और कालान्तर में मुलायम शैलें गिरकर बह जाती हैं। इन शैलों के बह जाने पर ऊपर की शैलें अपने बोझ के कारण टूटकर गिर जाती हैं और जल-प्रपात पीछे को हटता जाता है। कालान्तर में कठोर शैलों के पूर्ण नष्ट हो जाने पर जल-प्रपात समाप्त हो जाता है। जब कठोर शैलें सीधी खड़ी रहती हैं तो वे टूटती नहीं हैं और जल-प्रपात स्थायी बनता है।
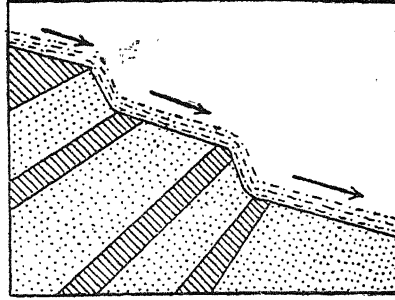
जब सीढ़ीदार दीवार के किनारे कई प्रपातों में जल गिरता है तो उनको **सोपानी पात** (cascades) कहते हैं। जब कठोर शैलों के ऊपर बहुत बड़ी जल-राशि बहती है जिससे शैल ऊपर दिखायी नहीं देती तो इसको **प्रपात** (cataract) कहते हैं। मध्य प्रदेश में जल-प्रपातों की भरमार है। नर्मदा नदी में रीवाँ से 266 किलोमीटर दूर अमरकंटक में 'कपिलधारा' नामक जल-प्रपात है। इस सुन्दर मनमुग्धकारी प्रपात के सन्निकट कपिल मुनि का तपस्याश्रम था। नर्मदा में दूसरा प्रपात 'दुग्धधारा' है। विन्ध्य कगार के अन्दर पठार पर क्षिप्रिका निर्माण होता है।

नियाग्रा जल-प्रपात—इस जल-प्रपात को फ्रांसीसी विद्वान **लासाल** ने सन् 1678 में खोजा था। यह ईरी झील से निकलने वाली एक छोटी नदी नियाग्रा पर स्थित है। गोट आइलैण्ड नामक द्वीप द्वारा यह जल-प्रपात दो भागों में विभक्त हो गया है। इसका एक भाग कनाडा में है जिसकी चौड़ाई 855 मीटर है और दूसरा भाग संयुक्त राज्य अमरीका में है जिसकी चौड़ाई 325 मीटर है। कनाडा में इस प्रपात को **नालरूप प्रपात** (horse-shoe fall) कहते हैं। कनाडा में इसकी ऊँचाई

52 मीटर और संयुक्त राज्य अमरीका में 49 मीटर है। इससे प्रति सेकण्ड 5,724 घन मीटर पानी गिरता है।

इस प्रपात का आरम्भ लगभग 25 हजार वर्ष के पूर्व हुआ। वहाँ से यह 10 किलोमीटर पीछे हट गया है। पीछे हटने की इसकी सामान्य गति लगभग 1 मीटर प्रति वर्ष है, यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका की ओर यह गति केवल $\frac{2}{3}$ मीटर प्रति वर्ष है क्योंकि उधर कम जल गिरता है।

डोलोमाइट
शेल
चूने का पत्थर
रेत का पत्थर
रेत का पत्थर और शेल
रेत का पत्थर
शेल
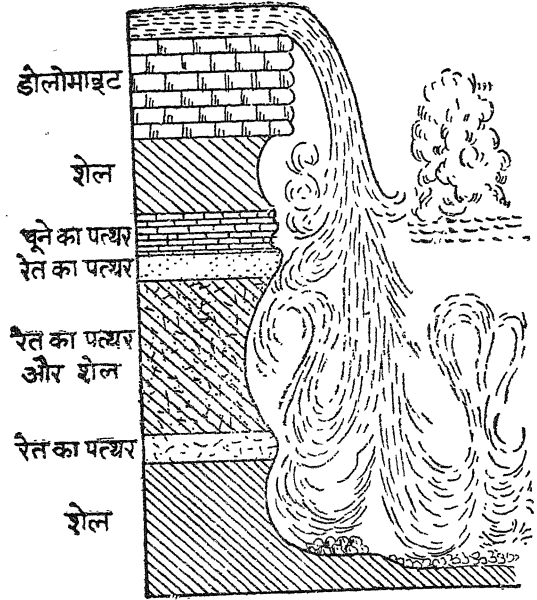
चित्र 139—नियाग्रा जल-प्रपात का विभाग चित्र

इस प्रपात में डोलोमाइट की कठोर शैल के पश्चात् मुलायम शेल (shale) की शैल है। इसके बाद चूने के पत्थर तथा बलुआ पत्थर एवं शेल की शैल का क्रम है।

नदियाँ अपनी घाटी के निचले भाग एवं किनारों को काटने लगती हैं और परिवाहित पदार्थों का निक्षेपण भी करती हैं। इस निक्षेपण से बड़े-बड़े मैदान बन जाते हैं। यह नदी-घाटी का **मैदानी क्षेत्र** (plain tract) कहलाता है। इस दशा में घाटी में अपरदन की अपेक्षा निक्षेपण अधिक होता है। घाटी की गहराई क्रमशः कम होती जाती है। नदी में बाढ़ की दशा उपस्थित हो जाती है। नदी-घाटी की प्रवणता (gradient) पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। नदी अपने मार्ग में तनिक भी अवरोध उपस्थित होने पर मुड़ जाती है। नदी के इस प्रकार के प्रवाह **को विसर्पण** (meandering) कहते हैं क्योंकि तुर्की की मियाण्डर नदी में ऐसे ही मोड़ पाये जाते हैं।
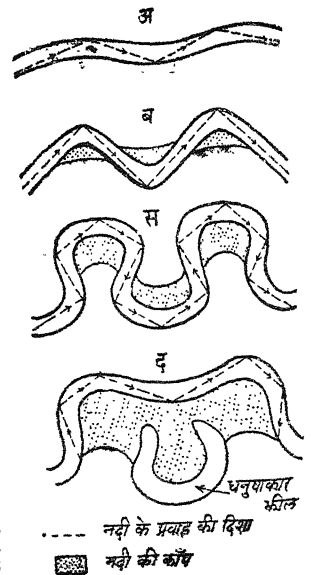
चित्र 140—नदी का विसर्पण

प्रारम्भिक अवस्था में विसर्पी नदी की घाटी संकरी होती है तथा विसर्पण अविकसित अवस्था में होता है। इनमें जटिलता कम होती है। धीरे-धीरे घाटी भी चौड़ी हो जाती है और मोड़ भी जटिल हो जाते हैं।

नदी-पथ में जलधारा घाटी के अवतल (concave) किनारे से टकराती है। फलस्वरूप वह तट कट जाता है और नदी के प्रवाह में रुकावट भी होती है। अवरोध के कारण प्रवाह में मोड़ की प्रवृत्ति हो जाती है। कटाव के पदार्थ उत्तल(convex) किनारे पर एकत्र होने लगते हैं। अवतल किनारा खड़ा प्रतीत होता है और उत्तल किनारे पर मन्द ढाल होता है। नदी की गहराई भी अवतल तट की ओर अधिक होती है और उत्तल तट की ओर गहराई धीरे-धीरे कम हो जाती है। इसी कारण खड़े तट निरन्तर कटते रहते हैं और कम ढालू तट पर निक्षेपण होता रहता है जिससे नदी के प्रवाह में मोड़ बढ़ता जाता है। इस प्रकार विसर्पण इतना बढ़ जाता है कि नदी की आकृति बिलकुल वृत्ताकार हो जाती है। इस अवस्था में नदियाँ बाढ़ के समय अपने मार्ग को छोड़कर मोड़ के निकट के भाग को काटकर बहने लगती हैं। यह सीधा प्रवाह-मार्ग बाढ़ के पश्चात् भी बना रह जाता है। ऐसी दशा में मोड़दार भाग झील का रूप धारण कर लेता है जो छाड़न (ox-bow lake) कहलाता है। गंगा नदी के मैदानी भाग में इस प्रकार की झीलें बहुत मिलती हैं।
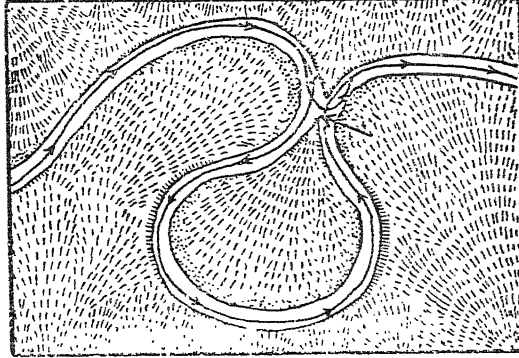
चित्र 141—नदी का मोड़
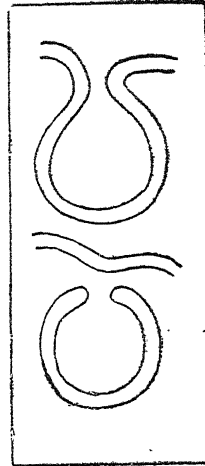
चित्र 142—छाड़न

स्ट्राथ—नदी के मार्ग में बहुधा परिवर्तन होता रहता है। धीरे-धीरे घाटी का मोड़ कटता जाता है और घाटी-तल चौड़ा होता जाता है। अन्त में घाटी-तल समतल बन जाता है जिसमें होकर सर्पिल मार्ग से नदी बहती है और नदी की घाटी की चौड़ाई से नदी की चौड़ाई अधिक हो जाती है। इस प्रकार का घाटी-तल स्ट्राथ (strath) कहलाता है।

बाढ़ के समय नदी का जल किनारों पर चढ़कर फैल जाता है। नदी के इस

बेसिन को बाढ़ का मैदान कहते हैं। बाढ़ की स्थिति में नदी में जल तीव्र गति से प्रवाहित होता है किन्तु बाढ़ के क्षेत्र में मन्द गति से बहता है। नदी के किनारों पर अवसाद के एकत्र होने से नदी-तट बाढ़ के मैदान से ऊँचा हो जाता है। बाढ़ समाप्त हो जाने पर नदी-तल में निक्षेपण होता है और नदी-तल ऊँचा होता जाता है। इसके फलस्वरूप पहले की अपेक्षा कगारों के ऊँचा होने पर भी नदी-तल से उनकी ऊँचाई पूर्ववत् ही रह जाती है। यह प्रक्रिया बराबर होती रहती है जिससे कालान्तर में नदी-तल बाढ़ के मैदान से भी ऊँचा हो जाता है। ऐसी दशा में बाढ़ अधिक आती है। नदी द्वारा निर्मित बाँध सदृश किनारे **तट-बाँध** (levees) कहलाते हैं। ह्वांगहो, मिसीसीपी तथा पो नदियों में इस प्रकार के तट-बाँध मिलते हैं।

नदी का पुनर्युवन
(Rejuvenation of Rivers)

एक अवस्था ऐसी आती है कि नदी-घाटी में परिवर्तन होने से नदी का उद्गम-स्थल ऊँचा उठ जाता है और नदी पुनः तीव्र गति से बहने लगती है और अपनी तली को गहरा करना प्रारम्भ कर देती है। इसके निम्न कारण हो सकते हैं :

(1) भूगर्भवर्ती शक्तियों द्वारा धरातल का उत्थापन,

(2) सागर के जल-तल का गिराव,

(3) अत्यधिक वर्षा, जल-भार में कमी तथा नदी के आयतन में वृद्धि।
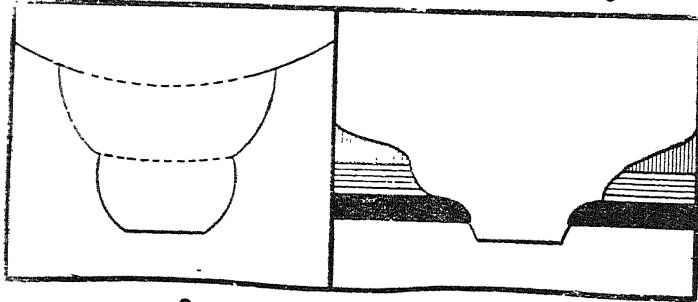
चित्र 143—नदी-घाटी का पुनर्युवन

जब किसी आकस्मिक घटना से नदी-तल का ढाल बिगड़ जाता है तो नदी की धारा तीव्र हो जाती है और नदी अपने पेटे तथा किनारे को काटना प्रारम्भ कर देती है और फिर नदी का चक्र प्रतिष्ठित हो जाता है। नदी का पुनर्युवन नदी-घाटी के विकास की किसी भी अवस्था में हो सकता है। इसको गतिक पुनर्युवन
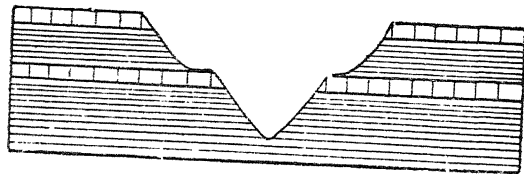
चित्र 144—रचनात्मक पाषाणी पीठिकाएँ

(dynamic rejuvenation) कहते हैं। इस क्रिया से बाढ़ का मैदान नदी-तल से बहुत ऊँचा हो जाता है और नदी-घाटी में सोपान की आकृति उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार के नदी-चक्रों के कारण सीढ़ीनुमा घाटी बन जाती है जिसे **नदी वेदिका** (river terrace) कहा जाता है।

विश्वव्यापी समुद्री जल-तल के गिराव के फलस्वरूप सुस्थितिक पुनर्युवन (eustatic rejuvenation) होता है। यह दो प्रकार की होती है—प्रथम, भूपटल विरूपी सुस्थितिकता (diastrophic eustatism) और द्वितीय, हिमानी सुस्थितिकता (glacio-eustatism)। प्रथम में महासागरीय बेसिन की धारिता के अन्तर के कारण सागरीय जल-तल में परिवर्तन आता है। दूसरे में हिमनदन के फलस्वरूप महासागर के जल-तल में अन्तर पड़ता है। भूपटल विरूपी सुस्थितिकता के जनक **सुइस** महोदय हैं जिसके वर्तमान समर्थक **कौलिग** (सन् 1935) हैं।

नदी के जल में भार की कमी, अधिक वर्षा के फलस्वरूप जल-वाह में वृद्धि और नये अपवाह से प्राप्त जल के कारण नदी के आयतन में वृद्धि भी स्थैतिक पुनर्युवन (static rejuvenation) पैदा करता है। इसके जनक **मैलाट** महोदय (सन् 1920) हैं।

विसर्पण की अवस्था में नदी के पुनर्युवन से नदी की घाटी के मोड़ गहरे बन जाते हैं, यद्यपि उनका टेढ़ा-मेढ़ा आकार पहले ही जैसा रहता है। इस प्रकार के सँकरे-गहरे मोड़ों को **गभीरीभूत विसर्प** (entrenched meanders) कहते हैं। इनका झुकाव दीवार की भाँति निकले हुए स्थल से पृथक होता है। ये स्थल बाद में कट जाते हैं। गोदावरी के परवर्ती वैतरणी नदी में यह मिलता है।

नदी का अपरदन-चक्र

नदी अपने उद्गम-स्थान से ढाल के अनुसार बहती है और उसका आवाह-क्षेत्र सीमित होता है जिससे उसमें जल की मात्रा बहुत कम होती है। इस भाग में जल में भार भी कम होता है। इस कारण इस भाग में अपरदन कम होता है। ज्यों-ज्यों नदी आगे बढ़ती जाती है उसका आवाह-क्षेत्र विस्तृत होता जाता है, जल की
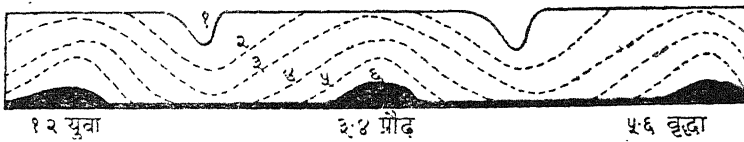
चित्र 145—नदी घाटी के अपरदन-चक्र की क्रमिक अवस्थाओं की परिच्छेदिका

मात्रा बढ़ती जाती है और जल में भार बढ़ जाता है। फलतः नदी द्वारा अपरदन अधिक हो जाता है। किन्तु यह भी एक निश्चित सीमा के पश्चात् रुक जाता है, अथवा अपरदन एवं निक्षेपण दोनों साथ-साथ चलने लगते हैं। किन्तु मुहाने के पास जल की मात्रा अधिक होते हुए भी नदी-तल में ढाल नगण्य हो जाता है। जल-प्रवाह

मन्द पड़ जाता है। अतः नदी अपने द्वारा प्रवाहित पदार्थों को निक्षेप करना प्रारम्भ कर देती है। उसमें अपरदन की शक्ति शेष नहीं रह जाती है। फलतः इस भाग में अपरदन नहीं होता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उद्गम तथा मुहाने पर अपरदन नहीं होता है और मध्यवर्ती भाग में अपरदन अधिक होता है और यह उद्गम एवं मुहाने की ओर क्रमशः कम होता जाता है। अपरदन की इस विशेषता के कारण नदी-पथ का समढाल धीरे-धीरे अवतल हो जाता है। यही नदी का **अपरदन-चक्र** (erosional cycle) कहलाता है। इसमें केवल एक नदी की घाटी का ही अध्ययन किया जाता है। किन्तु सामान्य अपरदन-चक्र (normal cycle of erosion) में इस सम्पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन होता है जिस पर नदियाँ बहती हैं और स्थल को नया रूप प्रदान करती हैं। वास्तव में भूमि के उत्थापन काल से लेकर उच्च भूमि के विनाश तक के घटना-क्रम को अपरदन-चक्र (cyle of erosion) की संज्ञा प्रदान की जाती है।

यह चक्र धीरे-धीरे विस्तृत होता जाता है और अपरदन एवं निक्षेपण की भिन्नता के कारण यह प्रतीत होता है कि उद्गम के भाग का ढाल अधिक है। ऊपरी भाग में अपरदन अधिक होता है और निचले भाग में निक्षेपण की प्रधानता रहती है। इस प्रकार अपरदन क्रमशः ऊपर को बढ़ता जाता है।

जल-विभाजक

जिस भाग से वर्षा का जल ढाल का अनुसरण करते हुए विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होता है, वह **जल-विभाजक** (water-shed) कहलाता है। पंजाब एवं उत्तर प्रदेश की नदियों का जल-विभाजक दिल्ली क्षेत्र है। जल-विभाजक अवतल या उत्तल होते हैं। यदि नदी का उद्गम जल-विभाजक के सिरे पर होता है तो जल-विभाजक **अवतल** होता है और यदि नदी का उद्गम जल-विभाजक के ढाल पर नीचे होता है तो जल-विभाजक **उत्तल** होता है। प्रारम्भ में जल-विभाजक सदैव उत्तल होता है क्योंकि नदियों का उद्गम कभी भी जल-विभाजक के शिखर पर नहीं होता है बल्कि उसके ढाल पर ही होता है। धीरे-धीरे उत्तल जल-विभाजक अभिशीर्ष अपरदन से अवतल जल-विभाजक का रूप ग्रहण कर लेता है और ऐसा भी समय आता है जब जल-विभाजक समाप्त हो जाता है।
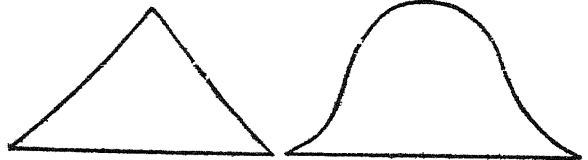
चित्र 146—जल-विभाजक

अपहरण करने वाली नदी **अपहरणी नदी** (pirate river) कहलाती है। जिस नदी का अपहरण होता है उसे **खंडित नदी** (beheaded river) कहते हैं। अपहरित

नदी में स्वभावत: जल की मात्रा बहुत कम हो जाती है और घाटी के अनुकूल इनका आकार नहीं रह जाता है। ऐसी क्षीण नदियाँ **अनुपपन्न नदी** (misfit river) कहलाती हैं। जब नदी का आकार घाटी से बड़ा होता है तो इसको अत्युपपन्न सरिता (over fit stream) कहते हैं। अपहरण के पश्चात् असफल नदी एवं अपहरणी नदी के मध्य एक शुष्क भाग उपस्थित हो जाता है जो वास्तव में असफल नदी की पहले की घाटी होती है। इस शुष्क भाग को **पवन-विदर** (wind gap) कहते हैं। यही शुष्क स्थल अपहरित एवं अपहरणी नदियों के मध्य जल-विभाजक का कार्य करता है।

कभी-कभी इस शुष्क जल-विभाजक की ओर से नदी की ओर ढाल के विपरीत छोटी धाराएँ बनने लगती हैं और कालान्तर में अभिशीर्ष अपरदन से बड़ा परिवर्तन हो जाता है। वह मोड़ जहाँ नदी अपहरित होती है, **अपहरण-मोड़** (elbow of capture) कहलाता है।

नदी का परिवहन

नदी अपरदन के पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान को बहा ले जाती है। यह नदी का **परिवहन** (transportation) कहलाता है। नदी के परिवहन में अपने अपरदन के सिवाय अन्य साधनों से भी मार्ग में पदार्थ प्राप्त होते हैं। इनमें भूमि-स्खलन (land-slides), अवपात हिमानी अवधाव (slumping avalanche) तथा वायूढ़ पदार्थ अधिक होते हैं। प्रकृति में नदियाँ परिवहन के प्रमुख साधन हैं। नदियों द्वारा परिवहन की मात्रा का अनुमान गंगा, ब्रह्मपुत्र एवं सिन्धु नदियों द्वारा क्रमश: नौ एवं दस हजार मीटर टन अवसाद प्रतिदिन बहा ले जाने की शक्ति से सहज किया जा सकता है।

नदी-परिवहन के प्रकार

नदियाँ विभिन्न आकार एवं प्रकार के पदार्थों का परिवहन करती हैं। परिवहन की पाँच विधियाँ हैं—कर्षण (traction), उत्परिवर्तन (saltation), विलंबन (suspension), घोल (solution) तथा प्लवन (fleatation)। किन्तु परिवहन के पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं:

(क) जल में घुला हुआ पदार्थ,

(ख) जल में तैरता हुआ पदार्थ,

(ग) जल में घिसटता एवं लुढ़कता हुआ पदार्थ।

इन उपर्युक्त पदार्थों के परिवहन में तीन तथ्यों का प्रभाव पड़ता है:

(1) नदी-धारा का वेग,

(2) नदी-धारा की प्रवृत्ति,

(3) परिवाहित पदार्थों का आपेक्षिक गुरुत्व (specific gravity) तथा उत्प्लावकता (buoyancy)।

बहा दिये जाते हैं। यदि जल में यह विशेषता न होती तो नदियों द्वारा पदार्थों का वहन बहुत कठिन हो जाता। नदियों में विभिन्न प्रकार के लवण घोल के रूप में उपस्थित रहते हैं। इससे जल का घनत्व बढ़ जाता है जिससे पदार्थों की प्लवनशीलता और भी बढ़ जाती है। फलतः नदी के द्वारा परिवहन और भी सरल हो जाता है।

जल-विभाजक का अपरदन

नदी अपनी घाटी को उद्गम की ओर काटती है किन्तु इसकी भी एक सीमा होती है। नदियाँ अपने उद्गम से परे नहीं काटती हैं किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि नदी की घाटी उद्गम स्थान से बहुत दूर पीछे की ओर भी विस्तृत हो जाती है। यह दशा केवल नदी के कटाव से ही नहीं सम्पन्न होती है बल्कि वर्षा, तुषार इत्यादि का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण नदी का उद्गम पीछे की ओर खिसकने लगता है। चरम स्तर (grade gradient or base level) पर पहुँच गयी नदियों में उद्गम की ओर अपरदन अधिक होता है।

निरीक्षण एवं परीक्षण से ऐसा ज्ञात होता है कि जहाँ जल-विभाजकों के दोनों ओर शिलाएँ साधारण एवं चपटी होती हैं और जहाँ नदी के दोनों ओर जल-वृष्टि समान होती है वहाँ जल-विभाजकों के ढाल मन्द होते हैं। मन्द ढाल बनने की इस प्रवृत्ति को अमरीकी भूगोलवेत्ता **कैम्पबेल का समान ढाल सिद्धान्त** (principle of equal declivity) कहते हैं। इस नियम की व्याख्या में बताया गया है कि जब जल-विभाजक के दोनों ढाल असमान हैं तब खड़े ढाल का कटाव अधिक होकर जल-विभाजक मन्द ढाल की ओर तब तक हटता जायगा जब तक कि दोनों ढाल बराबर न हो जायँ।

जिन भागों में शिलाओं की बनावट मिश्रित रहती है और उनमें अधिक ढाल रहता है वहाँ जल-विभाजक स्तरों के अधिक ढाल की ओर हटेगा जिससे दोनों ढालों में असमानता बनी रहेगी। इस प्रवृत्ति को **एकनति विस्थापन का सिद्धान्त** (principle of monoclinal shifting) कहते हैं।

चरम स्तर

नदी की गति धरातल के ढाल पर निर्भर करती है। नदी का लक्ष्य समुद्र तक पहुँचना होता है। नदियों के जीवनकाल में एक अवस्था होती है जब उनकी तली इतनी गहरी हो जाती है कि उसके बाद कटाव नहीं हो सकता है और उनके जल में भार इतना हो जाता है कि न वे अपरदन करती हैं और न निक्षेपण। वे केवल अपने भार का परिवहन करती हैं। इस प्रकार की स्थिति केवल मुहाने पर ही रहती है। मुहाने के निकट नदी के गहरे कटाव की क्रिया शून्य हो जाती है। यहाँ चरम स्तर स्थायी होता है। समुद्र-तल ही सार्वभौमिक निम्न तल हो सकता है। इसी प्रकार सहायक नदियाँ भी मुख्य नदी के साथ संगम पर स्थानीय चरम स्तर का निर्माण करती हैं जिससे अपरदन की क्रिया नियन्त्रित होती है।

चरम स्तर ही अपरदन का आधार-तल माना गया है। स्थायी चरम स्तर प्राप्त नदियों के मार्ग का ढाल ऊपरी भाग में अवतल होता है। किन्तु नदियों की यह दशा वास्तविक नहीं है. केवल कल्पनामात्र ही है क्योंकि नदियाँ सर्वदा भार का परिवहन करती रहतीं हैं और जब तक यह कार्य होता रहता है, उसके किसी न किसी भाग में निक्षेपण की क्रिया की अपेक्षा अपरदन अधिक होता है। उनके जीवनकाल में कभी भी ऐसा समय नहीं आता जब उनका भार, जल की मात्रा एवं गति इस प्रकार संतुलित हो जाय कि अपरदन एवं निक्षेपण बिलकुल न हो। इसी से नदियों का स्थायी चरम स्तर कभी भी नहीं बनता। झीलों में गिरने वाली तथा कठोर शैलों से होकर बहने वाली नदियों में और सहायक नदियों के मुहाने पर स्थानीय चरम स्तर बनता है जो अस्थायी होता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि नदी का ध्येय धरातल पर संतुलित एवं अपरिवर्तित बहाव को कायम करना ही होता है और नदी का कार्य भी यही होता है कि जल समुचित रूप से बिना रुकावट के बह जाय। इसीलिए चरम स्तर अपरदन और निक्षेपण के मध्य संतुलन स्थापित करने की आवश्यक दशा है। जब कटे हुए धरातल का भाग इतना नीचा हो जाता है कि प्रत्यक्ष रूप से समतल दृष्टिगोचर हो तो उसे नदी का चरम स्तर पर पहुँचना कहते हैं।

यदि नदी के मार्ग में कोई कठोर शैल या झील पड़ जाती है तो चरम स्तर की अवस्था विलम्ब से पहुँचती है। इस प्रकार **पावेल**, **मैलाट** तथा **डेविस** महोदयों के विचारों से स्थायी (permanent), स्थानीय (local) तथा अस्थायी (temporary) चरम स्तर होते हैं।

जब नदी का अपरदन एवं निक्षेपण कार्य बराबर हो जाता है तो यह नदी की प्रवणित अवस्था (graded stage) कहलाती है। नदी केवल एक गति से बढ़कर समुद्र तक पहुँचती है। **डेविस** महोदय के अनुसार यह दशा भूआकृति चक्र (Geomorphic cycle) की अन्तिम अवस्था होती है। प्रवणित नदी का ढाल तथा लम्बाई से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। किसी भी ढाल तथा लम्बाई की नदी प्रवणित अवस्था को प्राप्त हो सकती है। जब नदी का अपरदन रचनात्मक कार्य से अधिक होता है तो वह **निम्नीकरण अवस्था** (degradation stage) कहलाती है। इस अवस्था में नदी का पेटा गहरा होने लगता है, नदी का ढाल कम होता जाता है और नदी का वेग मन्द होने लगता है। जब अपरदन से निक्षेपण अधिक होता है तो इसको **अधिवृद्धि अवस्था** (aggradation stage) कहते हैं। इस दशा में नदी का पेटा उथला होने लगता है, ढाल अधिक हो जाता है और प्रवाह की गति बढ़ने लगती है जिससे नदी अपने पूरे भार को सुगमतापूर्वक बहा ले जाती है।

नदी का अपहरण

प्रारम्भिक अवस्था में नदियाँ अपना पथ निश्चित करती हैं किन्तु बाद में अपने

उद्गम की ओर काटना प्रारम्भ करती हैं। इस प्रकार जल-विभाजक कट जाता है। ऐसी दशा में एक नदी जल-विभाजक के दूसरे पक्ष में बहने वाली नदी के ऊपरी भाग के प्रवाह को अपने आवाह-क्षेत्र में सम्मिलित कर लेती है। यह कार्य **नदी का अपहरण** कहलाता है।

चित्र 147—नदी के अपहरण के पूर्व की अवस्था
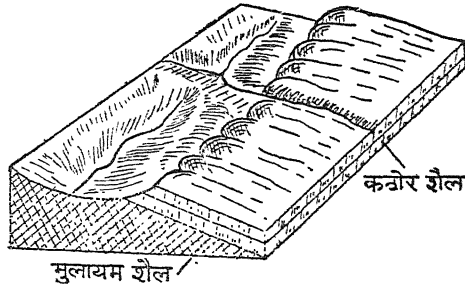
जब दो नदियाँ समीप में बहती हैं तो अपने शीर्ष की ओर अधिक कटने वाली नदी दूसरी नदी को, जो अभिशीर्ष अपरदन कम करती है, अपने में मिला लेती है। कम अपरदन वाली नदी का प्रवाह अधिक अपरदन वाली नदी की ओर मुड़ जाता है अर्थात् कम अभिशीर्ष अपरदन करने वाली नदी दूसरी नदी के द्वारा अपहरित कर ली जाती है।

चित्र 148—नदी के अपहरण के बाद की अवस्था
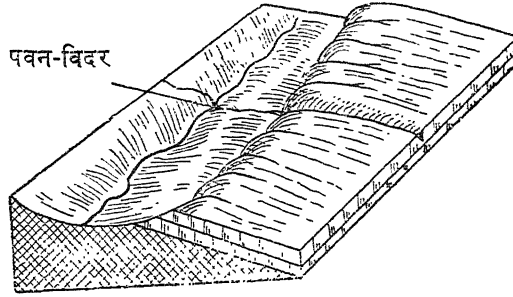
नदी का अपहरण जल-विभाजक के खिसकाव अथवा विनष्टता पर निर्भर करता है। यह प्रक्रिया भूमि की बनावट, वर्षा की मात्रा तथा भूमि के ढाल पर निर्भर करती है। यदि जल-विभाजक के एक पक्ष में मुलायम शैलें होती हैं, वर्षा अधिक होती है और ढाल भी अधिक रहता है तो जल-विभाजक शीघ्रता से कटता है। यदि जल-विभाजक के दूसरे पक्ष में कठोर शैलें, वर्षा की कम मात्रा तथा कम ढाल हो तो जल-विभाजक कम कटता है। किसी एक तथ्य में भी अन्तर होने पर कटाव में अन्तर पड़ जाता है।

नदी के स्रोत के अपहरण से प्रवाह-पथ उलट जाता है और जल विपरीत दिशा में बहने लगता है क्योंकि अपहरित नदी का जल अपहरण करने वाली नदी में प्रवाहित होने लगता है। नदी का अपहरण उस दशा में भी सम्भव होता है जब कई मुख्य नदियाँ एक-दूसरे के समान्तर बहती हैं और सहायक नदियाँ एक-दूसरे के समान्तर बहती हैं अथवा सहायक नदियाँ एक-दूसरे की विपरीत दिशा में बहती हैं और सहायक नदियों का जल-विभाजक एक दिशा में खिसकने लगता है। ऐसी दशा में एक सहायक नदी दूसरी सहायक नदी के जल को आत्मसात् करने लगती है। कभी-

कभी ऐसा भी होता है कि अपहरण करने वाली सहायक नदी अपहरित सहायक नदी के पूर्ण प्रवाह को ग्रहण कर लेती है और कालान्तर में मुख्य नदी के प्रवाह को भी अपहरण कर लेती है। हिमालय में इसके कई उदाहरण मिलते हैं। कोसी नदी ने अरुण नदी का अपहरण किया है। इंगलैण्ड की आऊज नदी ने निड, उर तथा स्वेल नदियों को क्रम से अपहरण किया है। फ्रांस में मौजेल नदी ने म्यूज की एक सहायक का अपहरण किया है। जर्मन विद्वान् **फिलिप्सन** ने सन् 1886 में नदी की अपहरण-क्रिया की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उसकी राय में जल-विभाजक का एकांगी अपरदन, नदी के प्रवाह में कठोर शैलों की तह, उत्थापन की यांत्रिक क्रियाएँ, हिम तथा ज्वालामुखी के कार्य तथा भूमि-स्खलन भी नदी-अपहरण के कारण हो सकते हैं।

नदी-अपहरण में अनुपपन्न नदी में, जो घाटी की चौड़ाई देखते हुए बहुत छोटी होती है, पवन-विदर (wind gap), अपहरण मोड़, आदि विशेष चिह्न परिलक्षित होते हैं।

अमरीकी भूविज्ञानी **डब्ल्यू० ओ० क्रासवी** के अनुसार वास्तविक नदी-अपहरण के सम्बन्ध में दो मत प्रस्तुत किये जाते हैं। एक मत के अनुसार ऊपर से नीचे वाली नदी में जल अकस्मात् बहने लगता है। दूसरे मत का विचार है कि भूमि के नीचे ही नीचे अपहरित नदी का जल दूसरी नदी में बहने लगता है। चूने की शैलों में, प्रवेश्य बालू के पत्थर में तथा कँकरीली मिट्टी में अपहरण सदैव पृथ्वी के अभ्यन्तर में होता है। अपारगम्य शैलों में, शेल तथा अवसादी शैलों में अपहरण धरातल पर होता है।

क्रासवी के अनुसार अपहरण तीन प्रकार के होते हैं :

(1) अभिशीर्ष अपहरण (Headward Erosion)

(2) पार्श्व अपहरण (Planation Capture)

(3) अन्तःभौमिक अपहरण (Sub-terranean Capture)।

नदी के निक्षेपण

अपरदन की पूरक क्रिया निक्षेपण होती है। नदी के जल की मात्रा, धारा-वेग तथा ढाल-प्रवणता के बढ़ने से अपरदन की क्रिया को प्रोत्साहन मिलता है तो इनका कम होना निक्षेपण को बढ़ाता है। नदी-प्रवाह में अवरोध नदी जल में फैलाव तथा नद-भार में वृद्धि भी निक्षेपण में सहायक होती है। नदी के मध्यवर्ती तथा निचले भाग में जल का आयतन कम नहीं होता किन्तु ढाल तथा वेग कम हो जाता है, अतएव निक्षेपण होने लगता है। इस निक्षेपण से नदी-घाटी में विभिन्न प्रकार के रूप एवं आकृतियाँ बन जाती हैं जिनमें निम्न प्रमुख हैं :

(1) जलोढ़ शंकु या पंखा (Alluvial Cone or Fan),

(2) बालुका पुलिन (Sand Banks),

(3) तट-बाँध (Levees) अथवा प्राकृतिक बाँध (Natural Embankment),

(4) बाढ़ का मैदान (Flood Plain),

(5) डेल्टा (Delta)।

चित्र 149—जलोढ़ या कछारी शंकु

(1) जलोढ़ पंखा—जब नदियाँ पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर मैदान में प्रवेश करती हैं तो उनकी गति मन्द पड़ने लगती है और उनकी परिवहन-शक्ति भी क्षीण होने लगती है जिसके फलस्वरूप मोटी बजरी, बालू, शिलाखण्ड आदि शंकु के आकार के टीलों के रूप में एकत्र हो जाते हैं। जब कई ऐसे टीले एक में मिल जाते हैं तो उनकी आकृति पंखे के समान प्रतीत होने लगती है। सूक्ष्म कण अथवा रेत के कछारी शंकु बने होते हैं। अतः वे अपेक्षाकृत अधिक चौरस होते हैं। छोटी-छोटी नदियाँ अधिक ढालू शंकु बनाती हैं। जब कई जलोढ़ पंखा मिलकर कई किलोमीटर विस्तृत एक मैदान का निर्माण करते हैं तो इसे निरापद जलोढ़ मैदान या बाजदा (piedmont alluvial plain or bajada) कहते हैं।
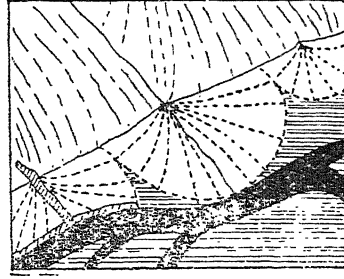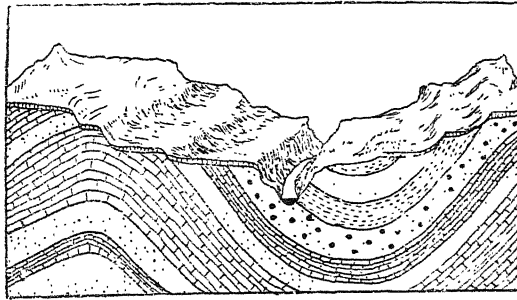
चित्र 150—कछारी पीठिकाएँ

(2) बालुका पुलिन—नदियों की घाटी के मध्य में बाढ़ के दिनों में विभिन्न प्रकार से अवसाद जमा हो जाते हैं और बालू के अवरोधी पुलिन बन जाते हैं। इस प्रकार के निक्षेपण से धीरे-धीरे नदी की तलेटी निकटवर्ती मैदानों की अपेक्षा ऊँची हो जाती है।

(3) तट-बाँध—नदी की मध्यवर्ती घाटी में निक्षेपण होता है। बाढ़ के समय नदी के प्रवाह की दिशा में ज्यों-ज्यों घुमाव पड़ता है उसके किनारों पर मोटी बजरी, बालू तथा कंकड़-पत्थर जमा होता जाता है। इस प्रकार के कगार को **तट-बाँध** कहते हैं। बाढ़ के समय नदी के पानी को रोकने के लिए केवल ऊँचे उठे हुए कगार ही रह जाते हैं। इसी कारण इन्हें प्राकृतिक बाँध भी कहते हैं। ये तट-बाँध मिसीसीपी, पो तथा ह्वांगहो नदियों में देखे जा सकते हैं। ये मुलायम मिट्टी के बने होते हैं, अतः बाढ़ आने पर टूट जाते हैं और नदी के पानी के फैल जाने से समीपवर्ती

क्षेत्र में अपार धन-जन की क्षति हो जाती है। मिसीसिपी की बाढ़ को रोकने के लिए तट-बाँधों को सीमेण्ट लगाकर दृढ़ कर दिया गया है। प्राकृतिक कगारों की ऊँचाई के साथ नदी तल भी ऊपर उठ जाता है। कालान्तर में नदी तल निकटवर्ती मैदान की सतह से ऊँचा हो जाता है। ऐसे उदाहरण उत्तरी बिहार की नदियों में मिलते हैं।
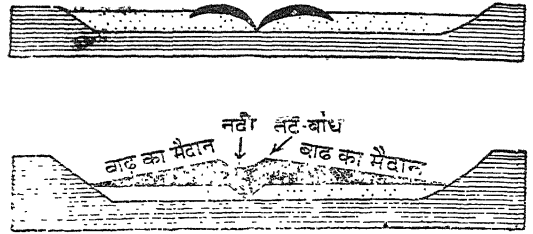
चित्र 151—नदी द्वारा निर्मित तट-बाँध एवं बाढ़ का मैदान

(4) **बाढ़कृत मैदान**—बाढ़ के दिनों में नदी के समीपवर्ती क्षेत्र में मिट्टी के बारीक कणों के निक्षेपण से बाढ़ का मैदान बनता है। सम्पूर्ण मैदान समतल तथा लहरदार प्रतीत होता है। इनमें सरिता-मार्ग में जल-मार्ग रोधिका (channel bars) तथा विसर्प (meanders) के भीतरी भाग में विसर्पी रोधिका (point bars) पाये जाते हैं। बाढ़ के मैदान में छिछले जल-मार्ग भी मिलते हैं, जिनका उपयोग बाढ़ के समय में ही होता है। इनको निर्घर्ष मार्ग (scour routes) कहते हैं। इनसे नदी का परित्यक्त मार्ग या नदी के जल-मार्ग के विकास की प्रारम्भिक अवस्था व्यक्त होती है।

चित्र 152—नदी द्वारा निर्मित अवसादी पीठिकाएँ

प्राकृतिक तट-बाँध के पृष्ठ-भाग में पश्च अनूप (back swamp) मिलते हैं, जिनमें गाद (silt) तथा मृत्तिका के विस्तृत स्तर होते हैं। इनका उच्चावचन अल्पमात्र होता है। इसमें छाड़न बन जाते हैं। जब नदी समुद्र में मिल जाती है तो नदी द्वारा प्रवाहित अवसाद संगम पर एकत्र होने लगते हैं। नदी की घाटी के विस्तृत होने से नदी का वेग घट जाता है। लवणयुक्त समुद्री जल के मिलने से नदी के अवसाद शीघ्र नीचे बैठ जाते हैं और समुद्र-जल के भीतर ही एक विस्तृत मैदान का निर्माण होने लगता है। इसको डेल्टा कहते हैं। गंगा नदी एक महान् डेल्टा बनाती है।

(5) **डेल्टा**—नदी की धारा के मध्य में नदी का वेग अधिक होता है। अतः उस भाग का जल समुद्र में अधिक दूर तक प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार अवसाद समुद्र में सुदूर तक जिह्वा के आकार में जम जाता है। किन्तु किनारे का जल मन्द होने से समुद्र के संगम पर ही समाप्त हो जाता है और अवसाद वहीं जमा हो जाता है।

धीरे-धीरे यही समुद्र का मैदान जल के ऊपर हो जाता है, किन्तु नदी का जल इतना शिथिल हो जाता है कि वह कई धाराओं में बहकर समुद्र में जा मिलता है। इस प्रकार नदियों के मुहाने पर ग्रीक भाषा के अक्षर डेल्टा (△) के आकार के त्रिभुजाकार मैदान बन जाते हैं। इन्हें डेल्टा की संज्ञा प्रदान की जाती है। डेल्टा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हेरोडोटस महोदय ने नील नदी के मुहाने के अध्ययन के समय पाँच शताब्दी पूर्व किया था। इस प्रकार **"डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह समतल मैदान है जिसका निर्माण समुद्र की भीतरी नदी द्वारा प्रवाहित अवसाद से होता है और जिस पर नदी का जल अनेक धाराओं द्वारा समुद्र में पहुँचता है।"**
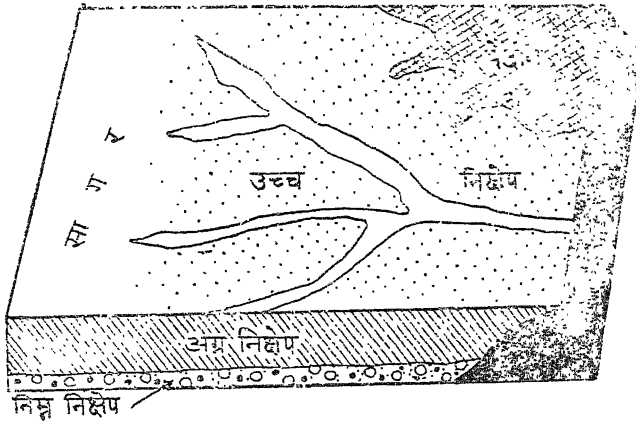
चित्र 153—डेल्टा

डेल्टा के मैदान का ढाल समुद्र की ओर रहता है। डेल्टा के निर्माण के लिए निम्न परिस्थितियाँ आवश्यक हैं :

(क) नदी की निचली घाटी अधिक विस्तृत होनी चाहिए जिसमें मुहाने पर पहुँचते-पहुँचते नदी की धारा बिल्कुल शिथिल पड़ जाय।

(ख) नदी के मार्ग में झील नहीं होनी चाहिए क्योंकि नदी के अवसाद झीलों में एकत्र हो जाते हैं और डेल्टा-निर्माण के लिए नदियों में अवसाद शेष नहीं रह जाता।

(ग) नदी के मुहाने को ज्वार-भाटे तथा समुद्री धाराओं से मुक्त होना चाहिए, अन्यथा अवसाद सुदूर तक समुद्र में बह जाता है और डेल्टा का निर्माण नहीं हो पाता है।

(घ) नदी को ऊँचे पर्वतों से निकलना चाहिए और उसकी सहायक नदियाँ भी अधिक होनी चाहिए जिनसे पर्याप्त नदीभार मिल सके और डेल्टा बन सके।

डेल्टा के निर्माण में तीन अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्था में निक्षेप के फलस्वरूप नदी की अनेक जलवितरिकाएँ (distributories) बन जाती हैं। भुजिह्वा तथा रोधिका तथा अनूप बन जाते हैं। दूसरी अवस्था में अनूप अवसादित होकर दलदल बन जाते हैं। तृतीय अवस्था में डेल्टा में पौधे उग आते हैं, दलदल लुप्त हो जाते हैं और डेल्टा ऊँचा बन जाता है और डेल्टा का भाग सूखी भूमि बन जाता है।

यदि नदी के मुहाने पर डेल्टा नहीं बनता है तो वह साफ रहता है। इस प्रकार के मुहाने को **नदमुख** (estuary) कहते हैं। कभी-कभी जब स्थल और समुद्र में निमज्जन क्रिया होती है तो नदी की घाटी भी निमज्जित हो जाती है और नदी एक ज्वार-नदमुख (tidal estuary) के द्वारा समुद्र में प्रवेश करती है। कनाडा की मेकेन्जी नदी का नदमुख डेल्टा सर्वोत्तम है।

डेल्टा के भाग—डेल्टा के तीन संस्तर होते हैं :

(क) शीर्ष-संस्तर (Top-set bed), (ख) मध्य-संस्तर (For-set bed), (ग) तल-संस्तर (Bottom-set bed)।

शीर्ष संस्तर या ऊपरी भाग एक चौड़ा मन्द ढाल वाला समतल मैदान होता है जो समुद्र-तल से थोड़ा ही ऊँचा होता है। **मध्य-संस्तर** सामने का खड़ा ढालू भाग समुद्र के भीतर डूबा होता है। इसके पदार्थ निम्न संस्तर से मोटे होते हैं और यह संस्तर डेल्टा का अग्र भाग होता है। तल-संस्तर नीचा मन्द ढालू भाग जल के भीतर समुद्र में दूर तक फैला होता है। इसके पदार्थ सूक्ष्मतर होते हैं। इसकी क्षैतिज परत होती है।

डेल्टा के भेद—आकृति के अनुसार डेल्टा के मुख्य भेद निम्नांकित हैं :

(1) चापाकार (Arcuate Type),
(2) अंगुल्याकार या पंजा (Degitated Type or Bird's Foot),
(3) पालियुक्ताकार (Lobate Type),
(4) भग्नाकार या खण्डित (Truncated Type)।

रचना की प्रगति के अनुसार डेल्टा दो प्रकार का होता है :

(1) प्रगतिशील (Vigorous),
(2) अवोधित (Blocked)।

नील नदी के मैदान का ही नाम प्रथमतः डेल्टा पड़ा जो ग्रीक अक्षर डेल्टा ($\triangle$) के आकार का था। इस डेल्टे की स्वाभाविक गति समुद्र की ओर बढ़ने तथा फैलने की है। किन्तु जल की कमी तथा बहाव के मन्द हो जाने से डेल्टा भाग में नदी का जल कई जल वितरिकाओं में होकर बहता है। इसी कारण इसके अग्र भाग का बढ़ाव मन्द है। इटली की पो नदी तथा चीन की ह्वांगहो नदी का डेल्टा तीव्रता से बढ़ता है। ये डेल्टा चापाकार कहलाते हैं। प्रायः चापाकार डेल्टा स्थूल अवसाद, जैसे बजरी एवं रेत से बनते हैं और त्रिभुजाकार होते हैं।
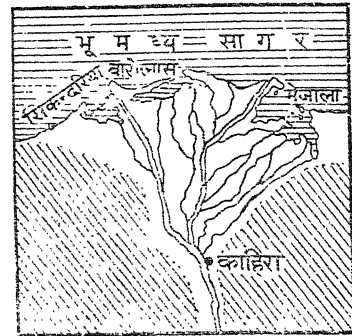
चित्र 154—नील नदी का डेल्टा

नील नदी के अवसाद को समुद्री धाराएँ पूरब में बहाकर ले जाती हैं जिससे दो धाराओं के मध्य में कभी-कभी छिछले अनूप बन जाते हैं। नील नदी में रोजेटा की

धारा से बारोलोस अनूप और दामियेटा धारा से गेनजाला अनूप बन गये हैं। इनको हम अवरोधित डेल्टा भी कहते हैं।

मिसीसीपी नदी का डेल्टा समुद्र की ओर गहरी धाराओं द्वारा बढ़ता जा रहा है। इसमें बारीक अवसाद रहता है, इसी कारण निक्षेप धाराओं के किनारे पर होता है जिससे तट-बाँध बनते हैं। फलत: नदी का डेल्टा समुद्र के भीतर प्रक्षिप्त होता चला जाता है। ऐसे डेल्टा को **प्रगतिशील डेल्टा** कहते हैं। गंगा, ह्वांगहो तथा पो नदियों के डेल्टा भी प्रगतिशील हैं।

चित्र 155—गंगा नदी का डेल्टा

मिसीसीपी नदी तथा गंगा नदी के डेल्टा पंजाकार हैं और इनमें अंगुलियों की भाँति शाखाएँ एवं जल वितरिकाएँ फैली हुई हैं। अतएव इस डेल्टा को **अंगुल्याकार या पंजा** (bird's foot) **डेल्टा** कहते हैं। मिसीसीपी का डेल्टा प्रति वर्ष 75 मीटर के लगभग मैक्सिको की खाड़ी में बढ़ रहा है।
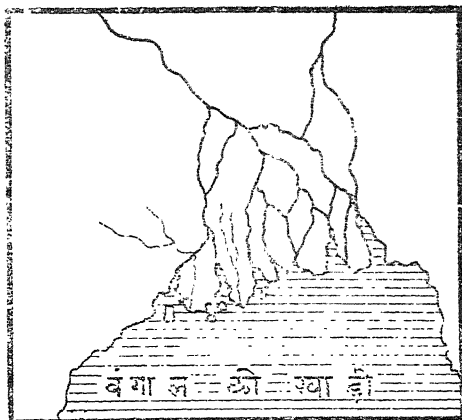
कभी-कभी नदियाँ विभिन्न जल-वितरिकाओं में विभक्त होकर अलग-अलग डेल्टा बनाने लगती हैं। इसका फल यह होता है कि बड़े डेल्टा की प्रगति घट जाती है। ऐसे डेल्टा को **पालयुक्त डेल्टा** कहते हैं।

कभी-कभी समुद्र की धाराओं द्वारा नदी का डेल्टा कट कर बह जाता है। इस डेल्टा को **भग्नाकार** या **खण्डित डेल्टा** कहते हैं।

चित्र 156—पालियुक्ताकार डेल्टा

नदी-घाटी के भाग

रचना के आधार पर नदियों की घाटियाँ उद्गम से लेकर मुहाने तक तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं :

(1) पर्वतीय अथवा ऊपरी भाग,

(2) मैदानी अथवा मध्यवर्ती भाग,

(3) डेल्टाई अथवा निचला भाग।

(1) ऊपरी घाटी—यह घाटी का वह भाग है जहाँ नदी पर्वतीय भाग से होकर प्रवाहित होती है। अत: इस भाग में उनके मार्ग में जल-

प्रपात (waterfalls), सोपानी प्रपात (cascades) तथा क्षिप्रिका (rapids) पाये जाते हैं। इस भाग में नदियों की घाटी गहरी होती है तथा दोनों पार्श्व ऊर्ध्वाधर होते हैं। उनका मार्ग सँकरे महाखड्ड (gorge) अथवा गभीर खड्ड से होकर जाता है। इस भाग में अधोमुखी गभीर अपरदन (downward deep erosion) बहुत होता है। चौड़ाई में कटाव नहीं होता है। कहीं-कहीं अपक्षय या भूमिस्खलन से खड़े किनारे कट जाते हैं। नदी की तलेटियाँ बहुत कम सीधी होती हैं। किनारों पर शैलबाहु या पर्वत-प्रक्षेप (spurs) निकले रहते हैं जिनके कारण नदियाँ दूर तक नहीं दिखाई देती हैं। झेलम नदी की घाटी इसी प्रकार की है। उष्णार्द्र जलवायु में नदियों के किनारों पर अधिक अपक्षय से पर्याप्त परिवर्तन होते रहते हैं और घाटियाँ चौड़ी हो जाती हैं। इन्हें Y-आकार की घाटी कहते हैं।
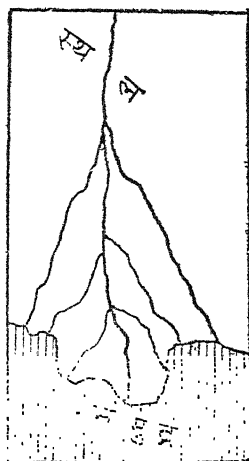
इस भाग में जल-प्रपात बन जाते हैं। मिरजापुर का विन्धम तथा टाँडा जल-प्रपात इसी प्रकार के उदाहरण हैं।
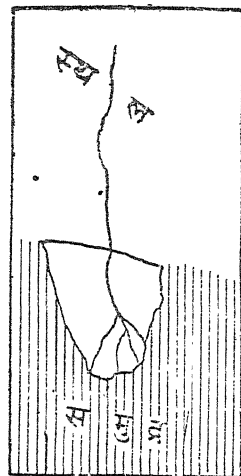
चित्र 157—खण्डित डेल्टा

कम वर्षा के क्षेत्र में किनारे खड़े रहते हैं। अमरीका में कोलोरेडो की घाटी बहुत सँकरी और गहरी है। इसकी गहराई 1,830 मीटर है। दक्षिणी भारत में कृष्णा नदी की तंग घाटी 610 मीटर गहरी है।

इस भाग में नदी अभिशीर्ष अपरदन द्वारा अपनी घाटी को लम्बी करती है। इस भाग में नदी सबसे अधिक अपरदन करती है। निक्षेपण इस भाग में बिल्कुल नहीं होता है।

(2) मध्य घाटी—मैदानी भाग और पर्वतीय भाग में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मैदानी भाग में नदी चौड़ी घाटी से होकर प्रवाहित होती है, जबकि पर्वतीय भाग में सँकरी घाटी से। मैदानी भाग में पार्श्विक अपरदन द्वारा नदी अपनी घाटी को चौड़ी कर लेती है। इस भाग में अपरदन तथा निक्षेपण दोनों साथ-साथ होते रहते हैं, क्योंकि नदी का ढाल कम होता है। फलतः प्रवाह-वेग मन्द रहता है। मन्द प्रवाह-वेग से अपरदन कम होता है तथा निक्षेपण अधिक। नदी के इस भाग में अधिक निक्षेपण का कारण पर्वतीय भाग का अपरदन तथा मैदानी भाग का पार्श्विक अपरदन है। ढाल एवं प्रवाह-वेग के मन्द होने से नदी सर्पिल मार्ग को अपनाती है क्योंकि उसके मार्ग में तनिक भी अवरोध उसके मार्ग को मोड़ने में समर्थ होता है। निक्षेपण क्रिया की प्रधानता से नदी-घाटी के इस भाग में विभिन्न आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मृत्तिका-शंकु, पंख, जलोढ़ मैदान, तट-बाँध, वेदिका एवं बाढ़ का

मैदान इत्यादि घाटी के इस भाग की प्रमुख निक्षेप आकृतियाँ हैं। कहीं-कहीं छाड़न भील अथवा दलदल भी पाये जाते हैं।

(3) **निचली घाटी**—डेल्टाई भाग नदी-घाटी का निचला तथा अन्तिम भाग है, जहाँ नदी अपनी हजारों किलोमीटर की यात्रा समाप्त कर समुद्र से मिलने के लिए तैयार रहती है। इस भाग में घाटी बहुत चौड़ी होती है। पार्श्व कटाव ही कुछ हद तक सम्भव रहता है। गहरा कटाव चरम स्तर के पहुँचने तक सीमित होता है। ढाल बहुत कम रहता है। फलस्वरूप प्रवाह-वेग बहुत धीमा होता है और कटाव नहीं होता। नदी द्वारा परिवाहित भार का निक्षेपण अधिक होता है जिससे डेल्टा बनता है।

नदीय-चक्र
(Fluvial Cycle)

नदियाँ अपने आरम्भ से लेकर पुनर्युवन दशा तक कई अवस्थाओं से होकर गुजरती हैं। वे विभिन्न अवस्था में विभिन्न प्रकार की होती हैं। पुनर्युवनन के पश्चात् उनका नवजीवन प्रारम्भ समझा जाता है। प्रारम्भ से लेकर पुनर्युवनन तक उनका जीवनकाल समझा जाता है। इसको नदीय चक्र (fluvial cycle) कहते हैं। नदियों के जीवन काल को निम्न चार भागों में बाँटा जाता है :

(1) प्रारम्भिक या बाल्यावस्था (Initial Stage),
(2) युवावस्था (Youth Stage),
(3) प्रौढ़ावस्था (Mature Stage),
(4) पुरा या वृद्धावस्था (Old Stage)।

१
२
३
४
५

चित्र 158—नदी घाटी का क्रमिक विकास

(1) **प्रारम्भिक अवस्था**—इस अवस्था में नदियाँ प्रायः ऐसे पर्वतीय प्रदेशों से प्रारम्भ होती हैं जहाँ ढाल होता है और जल की पूर्ति वर्षा अथवा बर्फ के पिघलने से अधिक होती है। एक नदी की आरम्भिक अवस्था में पानी की कई पतली नालियाँ (gutters) मिलकर पानी की छोटी सरिता (stream) बनाती हैं तथा कई छोटी सरिताएँ मिलकर नदी बनाती हैं। इस दशा में ढाल बहुत तीव्र होता है। अतः कटाव द्वारा गहरी घाटी बनती है। अपरदन का पदार्थ नदी द्वारा पर्वतीय क्षेत्र के नीचे बहा दिया जाता है। इस अवस्था में नदियाँ जल-प्रपात तथा सोपानी-प्रपात बनाती हैं। सहायक नदियों का विकास तेजी से होता है। नदियाँ अपने मार्ग को अभिशीर्ष अपरदन के द्वारा लम्बा बनाती हैं। नदियों की घाटी में भँवर बन जाते हैं।

इस अवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि नदियों की घाटी सँकरी तथा गहरी होती है। उनमें बहुत-से जल-प्रपात तथा सोपानी-प्रपात पाये जाते हैं। नदी का
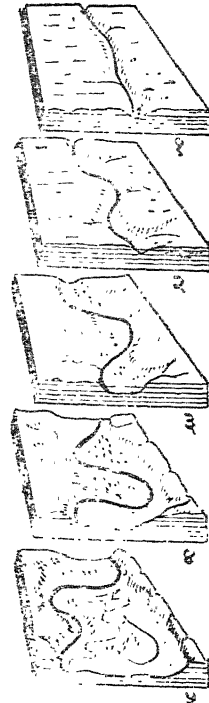
मार्ग ऊबड़-खाबड़ होता है, जल-विभाजक अविकसित दशा में होते हैं, नदी के मध्य में धारा तीव्र रहती है और उनके किनारों का ढाल तीव्र होता है।

(2) युवावस्था—युवावस्था में नदी तथा उसकी सहायक नदियों का पूर्ण विकास हो जाता है। इसमें सहायक नदियाँ अपने अभिशीर्ष अपरदन द्वारा लम्बी होने की क्रिया करती हैं। इस क्रिया के फलस्वरूप नदी-अपहरण बहुत होता है। नदी-अपहरण ही इस अवस्था की प्रमुख विशेषता है।
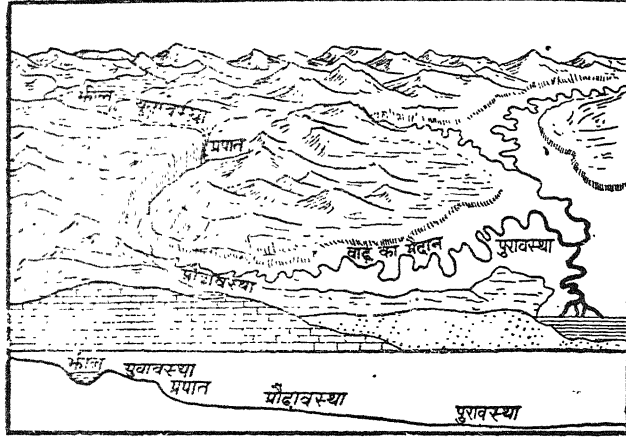
चित्र 159—नदी की अवस्थाएँ

(3) प्रौढ़ावस्था—प्रौढ़ावस्था नदी के जीवन काल की वह अवस्था है जिसमें नदी अपनी घाटी को गहरा करने की अपेक्षा चौड़ा करती है। इस अवस्था में नदियाँ पार्श्विक अपरदन द्वारा अपनी घाटी को चौड़ा करना प्रारम्भ कर देती हैं तथा नदियों में अधिक जटिल सहायक नदियाँ विकसित हो जाती हैं। नदियाँ लगभग समतल भागों से होकर प्रवाहित होने लगती हैं। उनका प्रवाह मोड़दार होता है। उनके प्रवाह-ढाल में कमी होने के कारण नदी का वेग कम हो जाता है जिसके फलस्वरूप उनमें अपरदन तथा परिवहन की शक्ति जाती रहती है। अतः नदी द्वारा परिवाहित सभी भार का निक्षेपण होने लगता है जिसमें पर्वतीय भाग के आधार पर (तराई क्षेत्र में) विभिन्न आकृतियाँ पंख (fan) या जलोढ़ शंकु (alluvial fan) बन जाते हैं। नदी-घाटियों में बाढ़ के मैदान का अधिक विस्तार हो जाता है।

इस समय से नदियाँ कम वेग से बहती हैं। उनके मार्ग में थोड़ी-सी भी रुकावट उनके मार्ग को मोड़ देती हैं और वे टेढ़े-मेढ़े मार्ग से होकर बहने लगती हैं, अर्थात् उनमें विसर्प (meanders) बन जाते हैं। धीरे-धीरे मोड़ बढ़ता जाता है और इसके वृत्ताकार हो जाने पर कभी-कभी बाढ़ के समय उनका मार्ग सीधा हो जाता है। इस अवस्था में नदी इठलाती हुई इधर-उधर भटक कर बहती है और उसके पूर्व-प्रवाह की

घाटी एक झील के रूप में रह जाती है जिसे नालरूप (horse-shoe) झील अथवा विरक्त (cut-off) झील कहते हैं। बलिया जनपद (उत्तर प्रदेश) में गंगा तथा घाघरा नदियों में ये उदाहरण मिलते हैं।

इस अवस्था की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि नदियाँ अपनी घाटी को चौड़ा करती हैं। उनका प्रवाह-मार्ग सर्पिल होता है। उनकी घाटी में निक्षेपण होता रहता है जिससे विभिन्न आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मुख्य नदी का अपने चरम स्तर पर पहुँच जाना इस अवस्था की विशेषता है। इसके अतिरिक्त बहुत-सी सहायक नदियाँ मुख्य नदी से मिलने लगती हैं। जल-विभाजक क्रमशः सँकरे हो जाते हैं। अपने स्थायी चरम स्तर पर पहुँच कर नदी अपनी प्रौढ़ावस्था की पुष्टि करती है। इस अवस्था में नदियों के किनारे प्राकृतिक तट-बाँध बन जाते हैं। इससे बाढ़ की रोकथाम होती है। कभी-कभी जब ये तट-बाँध टूट जाते हैं तो भयंकर बाढ़ें आती हैं। ह्वांगहो की ऐसी बाढ़ें बड़ी भयानक होती हैं, इसलिए ह्वांगहो को **'चीन का शोक'** कहते हैं।

(4) **वृद्धावस्था**—अपने जीवन की वृद्धावस्था में नदी अपने चरम स्तर पर पहुँची होती है। सहायक नदियाँ भी चरम स्तर प्राप्त कर लेती हैं। अतः गहराई का कटाव बिलकुल समाप्त हो जाता है। नदियाँ अपक्षय के द्वारा पार्श्विक कटाव से अपनी घाटी को चौड़ा करती हैं जिसके फलस्वरूप घाटियाँ अधिक चौड़ी एवं मन्द ढाल की होती जाती हैं तथा अन्तिम काल में ये लगभग बिल्कुल उथली तथा समतल हो जाती हैं।

इस अवस्था में नदियाँ बहुत मन्द गति से घुमावदार मार्ग में बहती हैं। पुरानी नदी अपने निश्चित मार्ग से बहती है। बाढ़ के कारण उनके किनारों पर बाढ़ का मैदान बन जाता है तथा नदियों के किनारे फैले हुए तथा बहुत नीचे हो जाते हैं। प्रायः तट-बाँधों का निर्माण हो जाता है। पर्वतीय भागों में समप्राय भूमि (penc-plain) बन जाती हैं तथा मुहाने के पास डेल्टा विस्तृत हो जाता है।

इस अवस्था में नदी अपनी घाटी को अपरदन एवं निक्षेपण द्वारा इस प्रकार से रूपान्तरित करती है कि शक्ति एवं अवरोध के मध्य साम्यावस्था की रचना हो जाती है। यह नदी की प्रवणति अवस्था है जो सर्वप्रथम नदी के मुहाने पर पहुँचती है क्योंकि वहाँ अपरदन सबसे कम होता है। नदी की साम्यावस्था नदी के जीवन में अनेक रूपों में बदलती है। **ग्रीन** महोदय के अनुसार साम्यावस्था की परिच्छेदिका सदैव परिवर्तित होती रहती है। इसकी कोई स्थायी अवस्था नहीं है।

प्रवणित नदी तथा परिच्छेदिका

नदियों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ढाल-प्रवणता अधिक होती है। इसी कारण अपरदन द्वारा घाटी गहरी होती है। तली के निरन्तर कटाव से प्रवणता कम हो जाती है, फलतः नदी का वेग भी कम हो जाता है और अपरदन की शक्ति भी कम हो जाती है।

जब अपरदित पदार्थों की मात्रा पर्याप्त अधिक हो जाती है तो उनका अपनयन भी नदी का मुख्य कार्य हो जाता है । इसलिए अपरदन-कार्य कम हो जाता है ।

प्रौढ़ावस्था में अपरदन एवं निक्षेपण में एक संतुलन स्थापित हो जाता है। यही नदी की सामान्य दशा (normal stage) कही जाती है । जब सामान्य दशा से अधिक अपरदन होता है तो प्रवणता कम हो जाती है । इसके कारण नदी के जल का वेग कम हो जाता है और अपरदन की शक्ति भी घट जाती है । इसके फलस्वरूप परिवहन की शक्ति भी कम हो जाती है । इसका फल यह होता है कि नदी के भार का एक अंश निक्षेपित हो जाता है । इस निक्षेपण से पुनः सामान्य दशा बन जाती है ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट व्यक्त होता है कि अधिक अपरदन की पूर्ति अधिक निक्षेपण से हो जाती है और उसके विपरीत भी । इस प्रकार अपरदन एवं निक्षेपण में एक संतुलन स्थापित हो जाता है। इस दशा के प्राप्त होने पर नदी को प्रवणित नदी (graded river) कहते हैं और इसके पार्श्व चित्र को साम्यावस्था परिच्छेदिका (profile of equilibrium or graded profile) कहते हैं। यह स्थायी नहीं होती है ।
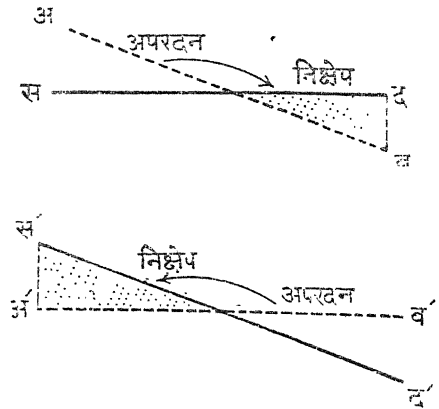
चित्र 160—साम्यावस्था परिच्छेदिका

मैकिन महोदय ने सन् 1948 में बताया कि नदी की प्रवणित अवस्था साम्यावस्था का एक क्रम होती है । इसका लक्षण है कि नियन्त्रक कारकों में किसी प्रकार के परिवर्तन पर इस प्रकार की साम्यावस्था बन जाती है जो परिवर्तन के प्रभाव को आत्मसात करने में समर्थ होती है ।

अपवाह-तन्त्र
(Drainage System)

वर्षा के जल के एकत्र होने से जैसे ही छोटी-छोटी धाराएँ मिलकर नदी बनती है, उसकी घाटी का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है और घाटी का रूप एवं आकार समय के अनुसार बदलता जाता है । धरातलीय बनावट के अनुसार नदी तथा उसकी घाटी का विकास होता जाता है । उसकी सहायक नदियाँ बनने लगती हैं । इसी व्यवस्था को जिसमें समस्त नदी-घाटी तथा उसकी सहायक नदियों के प्रवाह-क्रम का स्वरूप होता है, **अपवाह-तन्त्र** कहते हैं ।

अपवाह-तन्त्र का विकास

विभिन्न धरातलीय बनावट पर भिन्न-भिन्न प्रकार का अपवाह-तन्त्र विकसित होता है। परन्तु समान धरातल पर समान अपवाह-तन्त्र का विकसित होना सम्भव होता है। अपवाह-तन्त्र के विकास में भूमि की बनावट तथा जलवायु का गहरा प्रभाव पड़ता है।

अपवाह-तन्त्र के विकास में कई परिस्थितियों का सहयोग रहता है; जैसे :

(क) छोटी-छोटी जलधाराओं के रूप में अपवाह का श्रीगणेश, (ख) नदियों तथा उनकी सहायक नदियों का विकास, (ग) सहायक नदियों की शाखाओं तथा उपधाराओं के विकास से अपवाह-तन्त्र का प्रसार, (घ) नदी में अभिशीर्ष अपरदन। (ङ) नदी क्रम के विस्तार में कमी तथा नदी अपहरण प्रक्रिया।

उपर्युक्त परिस्थितियों में अपवाह-तन्त्र का क्रमिक विकास होता है। इसका विकास शैलों की बनावट के ऊपर, जिससे होकर जल बहता है, निर्भर करता है। विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों एवं स्थली बनावटों पर विभिन्न प्रकार के अपवाह-तन्त्र विकसित होते हैं। इनके विकसित रूप के आधार पर इन्हें कई वर्गों में रखा जा सकता है, जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं :

(1) अनुवर्ती अपवाह (Consequent Drainage),
(2) परवर्ती अपवाह (Subsequent Drainage),
(3) नवानुवर्ती अपवाह (Resequent Drainage),
(4) प्रत्यानुवर्ती अपवाह (Obsequent Drainage),
(5) पूर्ववर्ती अपवाह (Antecedent Drainage),
(6) अध्यारोपित अपवाह (Super-imposed Drainage),
(7) द्रुमाकृतिक अपवाह (Dendritic Drainage),
(8) जालायित अपवाह (Trellis Drainage),
(9) वलयाकार अपवाह (Annular Drainage),
(10) अरीय अपवाह (Radial Drainage),
(11) अन्तः स्थलीय अपवाह (Inland Drainage),
(12) भूमिगत अपवाह (Underground Drainage),
(13) आंतरायिक अपवाह (Intermittent Drainage),
(14) अभिविन्यस्त अपवाह (Deranged Drainage),
(15) अभिकेन्द्र अपवाह (Centripetal Drainage),
(16) गुंफित अपवाह (Braided Drainage),
(17) पट्टित अपवाह (Banded Drainage),
(18) आयताकार अपवाह (Rectangular Drainage)।

(1) **अनुवर्ती अपवाह**—अनुवर्ती अपवाह का समुद्र के गर्भ से ऊपर उठे हुए धरातल से एक नियमित सम्बन्ध होता है। ऐसे धरातल पर सबसे पहले जो अपवाह-

तन्त्र विकसित होता है वह मूलतः धरातल के ढाल के अनुरूप होता है, अर्थात् मुख्य नदियाँ क्षेत्र के ढाल के समान्तर बहती हैं। ऐसी नदियों को अनुवर्ती नदियाँ कहते हैं क्योंकि इनका प्रवाह-पथ धरातल की प्रारम्भिक दशाओं का अनुगमन करता है। भारतीय प्रायद्वीप का अपवाह-तन्त्र इसी कोटि का है। इस प्रकार की घाटी की कल्पना पावेल महोदय ने (सन् 1875) की थी।
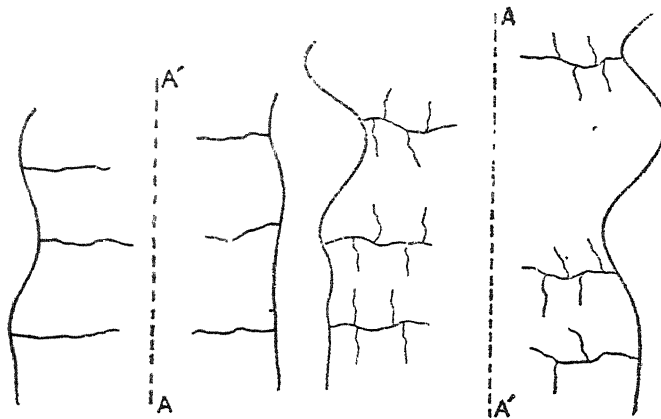
चित्र 161—अनुवर्ती नदियाँ चित्र 162—परवर्ती नदियाँ
(बिन्दु रेखा जल-विभाजक है)

(2) **परवर्ती अपवाह**—वर्षा के कारण नालियाँ बन जाती हैं जिनसे होकर निकटवर्ती क्षेत्र का जल मुख्य नदी में आता है। यही नालियाँ नदी के दोनों ओर की दिशाओं में धीरे-धीरे सहायक नदियों के रूप में बहने लगती हैं। ये सहायक नदियाँ अपने जल-विभाजकों को पीछे की ओर काटती हैं तथा मुख्य नदी की दिशा में तिरछी बहती हैं। ये सहायक नदियाँ परवर्ती नदियाँ कहलाती हैं। ये परवर्ती नदियाँ इसलिए कहलाती हैं क्योंकि इनका आगमन बाद में होता है। यमुना तथा रामगंगा नदियाँ गंगा नदी की परवर्ती नदियाँ हैं।

(3) **नवानुवर्ती अपवाह**—सहायक नदियाँ नियमित आकार और रूपरेखा की होती हैं। मोड़दार शैलों के क्षेत्र में अनुवर्ती नदियाँ अभिनति (syncline) से होकर तथा परवर्ती सहायक नदियाँ अपनति (anticline) से होकर बहती हैं। अतः अनुवर्ती नदियों की घाटियाँ लम्बी तथा परवर्ती नदियों की घाटियाँ तिरछी होती हैं। फलतः परवर्ती नदियाँ अधिक ढाल होने के कारण अपनी घाटी गहरी बनाती हैं। कभी-कभी इनकी तलहटी अभिनति से भी नीचे हो जाती है जिसके फलस्वरूप कालान्तर में अभिनति श्रेणियों की भाँति ऊँची रहती है तथा अपनति ही नीची घाटी बन जाती है। ऐसी दशा में यदि मोड़दार शैलों के नीचे कठोर शैलों की तह रहती है तो गहरा कटाव सरलता से नहीं होता और परवर्ती नदियाँ अपनति के पार्श्वों पर से

बहती रहती हैं और अभिनति श्रेणियों के नष्ट हो जाने पर सहायक नदियाँ भी अनुवर्ती नदियों की घाटियों में होकर बहने लगती हैं। इस प्रकार की नदियों को नवानुवर्ती नदी कहते हैं।
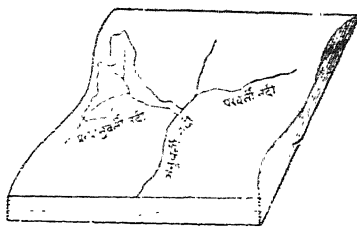
चित्र 163 —अनुवर्ती, परवर्ती तथा प्रत्यानुवर्ती अपवाह

(4) **प्रत्यानुवर्ती अपवाह**—इस अपवाह की वे नदियाँ हैं जो परवर्ती नदियों की सहायक हैं तथा उनसे बाद की बनी होती हैं। उनका प्रवाह अनुवर्ती नदियों के समान्तर और विपरीत दिशा में होता है। जिस प्रकार परवर्ती नदियाँ अनुवर्ती नदियों से कुछ आड़ी या समकोण पर मिलती हैं उसी प्रकार प्रत्यानुवर्ती नदियाँ परवर्ती नदियों के साथ दोनों पार्श्वों से आकर मिलती हैं, जैसा कि चित्र से ज्ञात होता है। ऐसी दशा में उनका प्रवाह अनुवर्ती नदियों के ठीक विपरीत होता है। इसलिए ये नदियाँ प्रत्यानुवर्ती अपवाह बनाती हैं। ऐसी प्रणाली तटीय मैदानों में अधिकतर देखने में आती है। परवर्ती, नवानुवर्ती कथा प्रत्यानुवर्ती घाटियों की कल्पना **डेविस** महोदय ने की थी।

(5) **पूर्ववर्ती अपवाह**—कुछ तन्त्र ऐसे हैं जिनकी व्यवस्था तथा विकास का सम्बन्ध उस क्षेत्र के धरातल की बनावट के ढाल के अनुसार नहीं होता। कई बार अपवाह-तन्त्र से स्थापित होने के पश्चात् उस क्षेत्र में भू-भाग ऊँचा उठने लगता है किन्तु भूमि के ऊँचे उठने की गति नदी की तलेटी को गहरा करने की गति से भी अधिक धीमी होती है और उसका प्रदेश के अपवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

कभी-कभी नदियाँ उठाव के साथ-साथ अपने पूर्व रूप में बहती रहती हैं। भारत में सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलज नदी तथा उत्तरी अमरीका में कोलम्बिया नदी में इस प्रकार के अपवाह के ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस प्रकार की नदियों को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि जब धरातलीय हलचल के कारण उनके मार्ग में पर्वतीय रुकावट आती है तो उसके यकायक आने पर मार्ग का पूर्ववत् बना रहना सम्भव नहीं होता है। यह तभी सम्भव है जब पर्वत धीरे-धीरे उठें ताकि उनका उठाव तथा नदी द्वारा अपने प्रवाह को कायम रखने के लिए गहरा कटाव समान रूप से होता रहे। इस प्रकार धीरे-धीरे पर्वतीय उठाव के द्वारा नदी के प्रवाह में कोई रुकावट नहीं होती। सिन्धु, ब्रह्मपुत्र एवं सतलज नदियाँ इसी प्रकार की मानी जाती हैं क्योंकि हिमालय पर्वत की दक्षिणी श्रेणियों के बनने के पूर्व ये नदियाँ उत्तरी श्रेणी से निकल कर दक्षिण को प्रवाहित होती थीं। परन्तु बाद में जैसे-जैसे दक्षिणी श्रेणियाँ उनके मार्ग में आती गयीं, ये नदियाँ गहरे कटाव के द्वारा अपना प्रवाह पूर्ववत् बनाये रहीं क्योंकि इन श्रेणियों का उठाव बहुत धीरे-धीरे हजारों वर्षों में हुआ जिससे गहरे कटाव के द्वारा नदियों को अपना मार्ग पूर्ववत् रखने में सुविधा हुई। ऐसी नदियों में

इस प्रकार के बाधक स्थानों पर महाखड्ड (gorges) पाये जाते हैं जहाँ उनके पार्श्व बहुत खड़े रहते हैं। इस घाटी का नामकरण **पावेल** महोदय ने किया है।

(6) **अध्यारोपित अपवाह**—इस प्रकार की अवस्था के अन्तर्गत वे नदियाँ आती हैं जो निक्षेपण द्वारा पूर्णरूपेण दब जाती हैं और पुनः निक्षेप के ऊपर नये प्रवाह के रूप में नदी बहने लगती है। ऐसी नदियाँ अध्यारोपित नदियाँ कहलाती हैं। ये नदियाँ पुरानी नदी के ऊपर स्थापित होती हैं। अध्यारोपण कई प्रकार से होता है। यदि नदियाँ
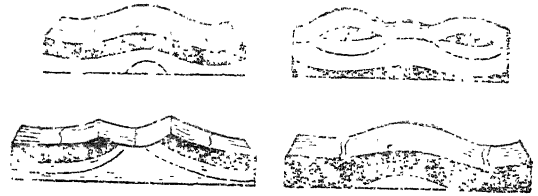
चित्र 164—अध्यारोपित नदी का विकास

किसी काल में आग्नेय क्रिया के निकले हुए लावा से दब जाती हैं और लावा-निक्षेप के ऊपर नयी नदियाँ बहने लगती हैं तो उनका प्रवाह दबी हुई नदी के ऊपर से ही होता है। ऐसे ही सागरीय या हिमोढ़ निक्षेपों में भी अध्यारोपण होता है। उत्तरी अमरीका की हडसन नदी इसका उदाहरण है जो हिमाच्छादन के पश्चात् दक्षिण की ओर बहने लगी। पहले यह सेंट लारेंस (उत्तरी अमरीका) की सहायक नदी थी। चम्बल तथा बनास नदियों का अपवाह भी इसी प्रकार है। इसकी भी कल्पना **पावेल** महोदय की है।

(7) **द्रुमाकृतिक अपवाह**—एक ही प्रकार की शैलों से निर्मित क्षेत्र में नदियों के प्रवाह भाग में उनकी बनावट से कोई बाधा नहीं उपस्थित होती है। ऐसे क्षेत्रों में मुख्य नदी तथा उसकी सहायक एवं उप-सहायक नदियाँ वृक्ष के आकार की आकृति प्रस्तुत करती हैं। इस अपवाह तन्त्र में सहायक नदियाँ कई दिशाओं से आकर न्यून कोण पर मिलती हैं। प्रायः यह तंत्र क्षैतिज अवसादी शैलों या स्थूल आग्नेय शैलों पर मिलता है। ग्रीक भाषा में 'डेण्ड्रोन' शब्द का अर्थ वृक्ष होता है। मुख्य नदी वृक्ष के तने की भाँति तथा सहायक एवं उप-सहायक नदियाँ वृक्ष की शाखाओं एवं उप-शाखाओं की भाँति ज्ञात होती हैं। ऐसी अपवाह व्यवस्था द्रुमाकृतिक अपवाह कहलाती है। इस अपवाह को **अक्रमवर्ती अपवाह** (insequent drainage) भी कहते हैं। ब्रह्मपुत्र की सहायक दिबांग एवं लोहित नदियाँ अक्रमवर्ती अपवाह-तन्त्र का उदाहरण हैं। लंका में यह अपवाह-तन्त्र देखने को मिलता है।
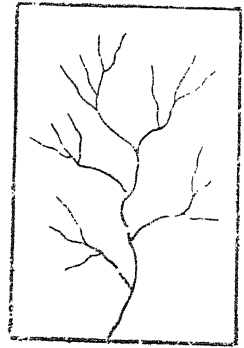
चित्र 165—द्रुमाकृतिक अपवाह (क्षैतिज शैल पर)

(8) **जालायित अपवाह**—इस प्रकार के अपवाह का विकास उन क्षेत्रों में होता

है जहाँ शैलों की बनावट भिन्न-भिन्न होती है। नदियाँ कमजोर भागों को काट देती हैं और कठोर भाग ऊपर उठा रह जाता है। इन कठोर भागों के कारण दो नदियाँ तथा उनकी सहायक नदियाँ अलग-अलग बँट जाती हैं। इन नदियों की घाटियाँ
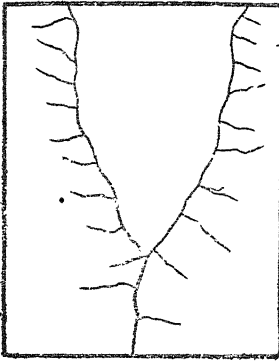
चित्र 166—जालायित अपवाह
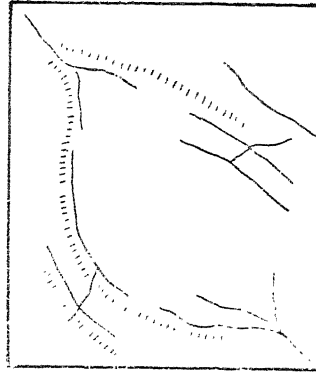
चित्र 167—वलयाकार अपवाह-तन्त्र

लगभग समान्तर तथा सीधी होती हैं। ऐसे प्रदेशों में मुख्य नदी, उनकी सहायक नदियों तथा शाखाओं का प्रवाह चतुर्भुजाकार होता है। सहायक नदियाँ मुख्य नदी के साथ समकोण बनाते हुए मिलती हैं तथा सहायक नदियों की शाखाएँ सहायक नदी से समकोण बनाते हुए मिलती हैं। ऐसी दशा में सम्पूर्ण अपवाह चतुर्भुजाकार प्रतीत होता है। अतः इस प्रकार के अपवाह को जालायित अपवाह कहते हैं। इस तन्त्र की रचना भ्रंशन के फलस्वरूप अधिक होती है।

(9) **वलयाकार अपवाह**—इस अपवाह में विच्छिन्न गुम्बद के चारों ओर (गुम्बद पर) कठोर एवं मृदुल शैलों की श्रेणियाँ रहती हैं और जल-प्रवाह मोड़दार होता है। वास्तव में यह जालायित अपवाह-तन्त्र का एक विशिष्ट रूप होता है। न्यूमेक्सिको के टर्की पर्वत पर ऐसा अपवाह मिलता है।
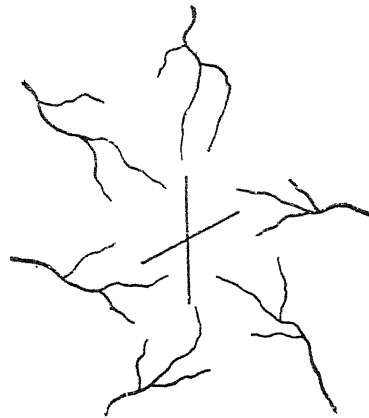
(10) **अरीय अपवाह**—ऐसी जल-प्रवाह व्यवस्था ऐसे प्रदेशों की होती है जहाँ की भूमि की बनावट गुम्बदाकार या शंक्वाकार होती है। ऐसी दशा में जल-प्रवाह केन्द्रीय उच्च भाग से चारों ओर वृत्त के अर्द्धव्यास अथवा पहिए की तिल्लियों की भाँति प्रसारित होता है। ग्रेट

चित्र 168—अरीय अपवाह

ब्रिटेन के लेक डिस्ट्रिक्ट (Lake District) की अपवाह व्यवस्था इसी प्रकार की है। भारत में अमरकंटक पर्वत की भी ऐसी ही अपवाह व्यवस्था है।

(11) **अन्तस्थलीय अपवाह**—इसके अन्तर्गत वे नदियाँ आती हैं जो समुद्र तक पहुँचने में असमर्थ होती हैं तथा वे ऐसी झीलों में गिरती हैं जिनका किसी सागर से सम्बन्ध नहीं होता। सर तथा आमू नदियों का अरल झील में गिरना तथा तारिम नदी का मरुस्थल में विलीन होना इस अपवाह-तन्त्र के प्रमुख उदाहरण हैं। राजस्थान भी अन्तः स्थली अपवाह क्षेत्र है जहाँ छोटी-छोटी नदियाँ झीलों में गिरती हैं।

(12) **भूमिगत अपवाह**—भूमि के अन्दर भी जल प्रवाहित होता है। इसका स्पष्ट रूप चूने के पत्थर के प्रदेशों में दिखायी पड़ता है। ऐसे क्षेत्रों में प्रवाहित होने वाली नदियाँ कहीं-कहीं घोल-रन्ध्र अथवा सकुण्ड या राजकुण्ड में समा जाती हैं तथा उनका प्रवाह भूमि के अन्दर ही रहता है। ये नदियाँ कहीं-कहीं इन्हीं छिद्रों के द्वारा पुनः बाहर निकल कर बहने लगती हैं और पुनः थोड़ी दूर बहने के पश्चात् भूमि में समा जाती हैं। ये नदियाँ धरातल पर प्रवाहित होने वाली नदियों की भाँति सभी कार्य करती हैं। ऐसी नदियाँ भूमिगत अपवाह प्रस्तुत करती हैं।

(13) **आन्तरायिक अपवाह**—कुछ क्षेत्रों में नदियाँ कुछ दूर बहने के पश्चात् लुप्त हो जाती हैं और पुनः धरातल पर बहने लगती हैं। 'भावर' के मैदान में बहने वाली सभी नदियों की यह गति होती है। भाबर क्षेत्र की अपवाह प्रणाली इस प्रकार की होती है।

चित्र 169—अभिविन्यस्त अपवाह
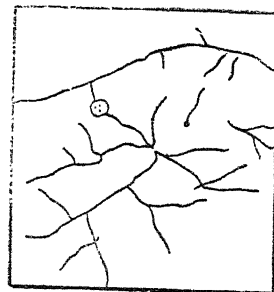
चित्र 170—अभिकेन्द्र अपवाह

(14) अन्य जल-अपवाह प्रतिरूप भी होते है। अभिविन्यस्त प्ररूप (deranged pattern) में हिमावरण के पूर्व का जल-अपवाह-तन्त्र समाप्त हो गया होता है और नया जल-अपवाह-तन्त्र की रचना पूर्ण नहीं रहती है। फलतः सरिताएँ झीलों में गिरती तथा उनसे निकलती हैं। इनकी छोटी सहायक सरिताएँ होती हैं। अधिकांश भाग दलदली होता है जिसमें अक्रमानुसार नदियाँ बहती हैं।

(15) जब एक केन्द्रीय गर्त में नदियों का बहाव केन्द्रित होता है तो इसको अभिकेन्द्र प्ररूप (centripetal pattern) कहते हैं। डेल्टाई भाग में नदियाँ निक्षेप के कारण कई शाखाओं में विभक्त होकर बहती हैं।

(16) इसको गुंफित प्ररूप (braided pattern) कहते हैं। गंगा नदी के डेल्टाई भाग में ऐसी विशिष्ट दशा मिलती है।
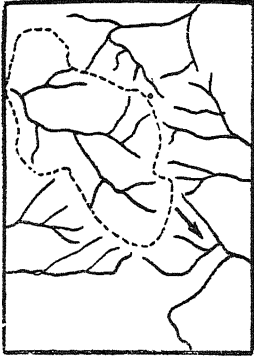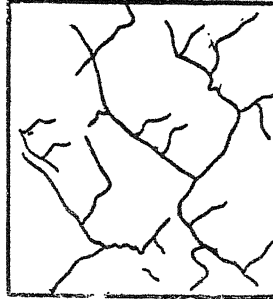
चित्र 171 पट्टित अपवाह | चित्र 172 आयताकार अपवाह | चित्र 173 समान्तर अपवाह
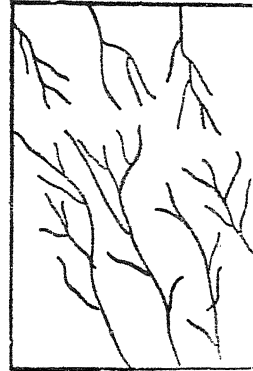
(17) जल-अपवाह-तन्त्र के शीर्ष पर कई सहायक नदियाँ मुख्य नदी में आकर मिलती हैं। ये सरिता के शीर्ष भाग की ओर इंगित करती हैं। इस प्रकार के जल-अपवाह-प्रतिमान की उत्पत्ति नदी अपहरण के फलस्वरूप होती है। इसमें थल का उत्थापन तथा संवलन भी प्रभावकारी होता है। इसको पद्धति अपवाह-प्ररूप (banded drainage pattern) कहते हैं।

(18) आयताकार जल-अपवाह-प्ररूप (rectangular drainage pattern) में मुख्य नदी तथा इनकी सहायक नदियाँ समकोण मोड़ पर मिलती हैं। इन पर संधि तथा भ्रंश का पूर्ण नियन्त्रण प्रदर्शित होता है। जब न्यून या अधिक कोण पर संधियाँ या भ्रंशनें मिलती हैं तो असमकोणीय अपवाह-प्ररूप (angulate drainage pattern) बनता है। जहाँ अधिक ढाल या संरचना का नियन्त्रण होता है वहाँ लगभग समान्तर सरिताएँ बहती हैं। इसको समान्तर जल-अपवाह-प्ररूप (parallel drainage pattern) कहते हैं।

प्रश्न

1. Describe the chief characteristics of the three stages in the life history of a river and the landforms associated with it.

   (*Vikram 1971; Poona 1971; Raipur 1968*)

   नदी के जीवन की तीन अवस्थाओं की विशेषताओं को लिखिए और उनसे सम्बन्धित स्थलरूपों को भी उल्लेख कीजिए।

2. How are waterfalls formed ? Describe the process taking Niagra Falls as example.
   (*Meerut 1968*; *Nagpur 1969*; *Aligarh 1971*)
   जल-प्रपात कैसे बनते हैं ? न्याग्रा जल-प्रपात का उदाहरण लेकर उनकी रचना-क्रिया का वृत्तान्त लिखिए ।
3. What do you understand by cycle of erosion ? What are its results ? (*Chandigarh 1971*; *Kanpur 1968*)
   अपरदन-चक्र से क्या तात्पर्य होता है ? इसके फलों को लिखिए ।
4. Describe briefly how a river valley is formed. Give diagrams to illustrate your answer. (*Udaipur 1965*)
   संक्षिप्त रूप में लिखिए कि नदी-घाटी कैसे बनती है ? उत्तर को चित्र द्वारा समझाइए ।
5. Discuss with illustration the importance of the conception of the normal cycle of erosion in the study of landforms.
   धरातल आकृतियों के अध्ययन से सामान्य अपरदन-चक्र की विचारधारा के महत्त्व पर सोदाहरण प्रकाश डालिए ।
6. 'When a river is born it is old As it grows it becomes younger.' Explain the paradox. (*Delhi 1969*; *Ranchi 1970*)
   "जब कोई नदी उत्पन्न होती है तो वह बूढ़ी होती है और जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वह युवा होती जाती है ।" इस असत्याभास को व्याख्या कीजिए ।
7. What do you understand by river profile ? Discuss fully the effect of this on the development of a river valley.
   (*Gwalior 1971*; *Madras 1971*)
   नदी की परिच्छेदिका से क्या तात्पर्य होता है ? नदी-घाटी के विकास पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए ।
8. Explain the different types of drainage patterns with examples.
   (*Agra 1969*; *Gorakhpur 1966*)
   विभिन्न प्रकार के अपवाह-तन्त्र को सोदाहरण समझाइए ।
9. How do a river valley develop ? Describe briefly.
   (*Meerut 1970*; *Punjab 1969*)
   एक नदी घाटी का विकास कैसे होता है ? संक्षेप में बताइये ।
10. Analyse the formation of Delta. (*Gorakhpur 1971*; *Bihar 1971*)
    डेल्टा के निर्माण की व्याख्या कीजिये ।
11. With the help of examples from India, make a study of the evolution of either antecedent or superimposed drainage system.
    (*Gorakhpur 1971*)
    भारत के उदाहरण के सहारे पूर्ववर्ती या अध्यारोपित अपवाह-तन्त्र के विकास का अध्ययन कीजिये ।

17
परिवर्तनकारी बहिर्जात बलें—वायु
[SURFACE-MOULDING EXOGENETIC FORCES—WIND]

अधिक वर्षा के प्रदेशों में प्रवाहित जल की भाँति और उच्च अक्षांशों एवं उच्च पर्वतीय भागों में हिमनदी की भाँति शुष्क प्रदेशों में वायु-क्रिया भी बड़ी प्रभावशाली होती है। कम वर्षा एवं वनस्पतिहीन प्रदेशों में वायु-क्रिया आदर्श रूप में दृष्टिगोचर होती है।

वायु का सर्वाधिक प्रभाव मौसम पर पड़ता है। इससे जल-वर्षा एवं हिम-वर्षा होती है, समुद्रों पर लहरें उठती हैं और तटीय भागों में अपरदन होता है। अतः नदियों, हिम-नदियों तथा लहरों के कार्य वायु के अप्रत्यक्ष कार्य कहे जा सकते हैं। वायु के प्रत्यक्ष कार्य यांत्रिक होते हैं जो मरुस्थली एवं अर्द्ध-मरुस्थली देशों में दृष्टिगत होते हैं। आर्द्र प्रदेशों में वायु के कार्य नगण्य हैं क्योंकि धरातल बहुत अधिक वनस्पति से आच्छादित रहता है। जल के कारण धरातल के कण भी बँधे रहते हैं।

वनस्पतिहीन शुष्क प्रदेशों में वायु में धूलि के ढीले कण उड़ते रहते हैं जो आपस में टकरा कर छोटे भी होते रहते हैं और काट-छाँट में वायु की सहायता करते हैं। वायु की गति मन्द होने पर उसमें उड़ते हुए धूलि के कण धरातल पर जमते जाते हैं और रगड़ द्वारा धूलि तथा बालू के असंख्य कणों में बदल जाते हैं। इसको **संनिघर्षण** (attrition) कहते हैं। बालू के कणों से परिपूर्ण वायु अपरदन का शक्तिशाली साधक बन जाती है। इस प्रकार की तीव्र वायु के अपरदन कार्य को **अपघर्षण** (abrasion) कहते हैं।

अपरदन

वायु द्वारा प्रधानतः वलकृत अपरदन होता है। रासायनिक क्रिया द्वारा अपरदन सुगमता से होता है। इसमें तीन मुख्य क्रियाएँ काम करती हैं। वायु-क्रिया द्वारा धूलि के कण सुदूर हटा दिये जाते हैं। इसको अपवाहन (wind deflation) कहते हैं। यह लैटिन भाषा के क्रिया शब्द 'डिफलेयर' से निकला है जिसका अर्थ वहा ले जाना होता है। इस क्रिया में बड़े पत्थर लुढ़कते हैं और बारीक कण सतह के निकट ही उड़ कर आगे जाते हैं। यह क्रिया दीर्घावधि तक चलती है और बड़े लुढ़कते पत्थर एक-

दूसरे के समीप आकर चिपक जाते हैं। इसको मरु कुट्टिम (desert pavement) कहते हैं। उत्तरी अफ्रीका में ऐसे धरातल को बजरी मरुस्थल (neg) कहते हैं। इसके द्वारा उड़ते हुए कण ऊपर उठे हुए भागों से टकराते हैं और रगड़ से अपरदन करते हैं। यह **वायु-अपघर्षण** है। वायु की तीसरी क्रिया द्वारा उड़ते हुए धूलि-कण पारस्परिक रगड़ द्वारा छोटे एवं चिकने होते जाते हैं। यह **संनिघर्षण** कहलाती है।

वायु द्वारा अपरदन की मात्रा कई तथ्यों पर निर्भर करती है; जैसे—वायु वेग वायु में उपस्थित धूलि-कणों का आकार एवं धरातल से ऊँचाई, शैलों की बनावट तथा जलवायु।

वायु-वेग—वायु द्वारा अपरदन में वायु-वेग का प्रभाव स्पष्ट है। मन्द वायु से अपरदन कम होता है क्योंकि ऐसी वायु में केवल बारीक कण उड़ पाते हैं। तीव्र वेग की वायु से अपरदन अधिक होता है। वायु-वेग से शैलों के असम्बद्ध कण वायु में उड़ने लगते हैं। प्रचण्ड गति से चलने वाली आँधी में बड़े-बड़े कंकड़ भी उड़ जाते हैं और धूलि-कण इतने प्रचुर मात्रा में होते हैं कि कभी-कभी दिन में अँधेरा छा जाने से रात्रि-सी प्रतीत होती है। अतः अपरदन के लिए वायु-वेग का तीव्र होना आवश्यक होता है।

मरुस्थली प्रदेश में चलने वाली आँधियों से अधिक अपरदन होता है। इनमें उड़ने वाले कंकड़-पत्थर एवं धूलि-कण अपरदन के यन्त्र का कार्य करते हैं। भारत में थार मरुस्थल में चलने वाली आँधियों के कारण अनेक बार ऐसा अँधेरा हो जाता है कि यातायात रुक जाता है। ग्रीष्म ऋतु की 'लू' इस प्रकार बालू का बादल उड़ाती है कि मार्ग पर चलना कठिन हो जाता है। धूलि-कण दोपहर की गर्मी से वायु-भँवर में उड़ते हैं। इसमें धूलि-कण तीव्रता से नाचते-नाचते एक स्तम्भ की तरह आगे बढ़ते हैं। ऐसे धूलि-स्तम्भ (dust column) राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में ग्रीष्म की दोपहरी में देखे जाते हैं।

चित्र 174—शृंग

धूलि-कणों के आकार तथा ऊँचाई—धूलि-कणों के आकार तथा ऊँचाई का भी अपरदन क्रिया पर गहरा प्रभाव पड़ता है। छोटे आकार के धूलि-कण वायु के ऊपरी भाग में उड़ते रहते हैं किन्तु बड़े-बड़े कण धरातल से बहुत कम ऊँचाई पर उड़ते हैं। धरातल से ऊँचाई की ओर वायु में उपस्थित धूलि-कणों की मात्रा भी कम होती जाती है। अतएव यह स्वाभाविक है कि धरातल के निकट वायु द्वारा अपरदन सबसे अधिक होता है और ऊँचाई के साथ यह क्रिया क्रमशः कम होती जाती है।

साधारणतः धरातल से एक मीटर की ऊँचाई तक अपघर्षण-क्रिया अधिक होती है। इसी के फलस्वरूप शृंग (crags) बनते हैं। यदि वायु एक ही दिशा में चलती है तो शृंग का केवल एक ओर का निचला भाग अधिक घिसता है। किन्तु वायु की दिशा में प्रायः परिवर्तन होता रहता है जिससे चारों ओर का निचला भाग कटता रहता है। इस प्रकार के घिसाव से विभिन्न आकृतियों के गोल, नुकीले, कई धार वाले तथा चिकने पाषाण-खण्ड बन जाते हैं। इस प्रकार के पाषाण-खण्डों की एक मोटी परत स्काटलैण्ड के उत्तर-पश्चिम में मिली है, जिससे यह अनुमान लगता है कि किसी युग में यह शुष्क जलवायु का प्रदेश था।

शैलों की बनावट—आँधी की धूलि में स्फटिक पत्थर के कण मिले होते हैं। ये कठोर तथा तीक्ष्ण धार वाले होते हैं। अतः शैलों को घिसने की इनमें प्रचण्ड शक्ति होती है। मुलायम शैलें कड़ी शैलों की अपेक्षा अधिक घिसती हैं। जिन क्षेत्रों की शैलें कड़ी एवं मुलायम होती हैं वहाँ मुलायम शैलें शीघ्रता से घिस जाती हैं। इस प्रकार के अपरदन का ज्वलन्त उदाहरण सिनाय प्रायद्वीप है। यहाँ की धरातलीय बनावट बलुआ पत्थर की है जिसमें कहीं-कहीं मैंगनीज के संग्रथन (concretions) पाये जाते हैं। बलुआ पत्थर अपेक्षाकृत मुलायम होता है। अतः दीर्घकाल के अपरदन से बलुआ पत्थर घिस गया है किन्तु मैंगनीज के संग्रथन पूर्ववत् मौजूद हैं। मिस्र देश की प्रसिद्ध स्फिक्न्स मूर्ति को आँधियों ने बुरी तरह से घिस डाला है। लीबिया देश में मरुस्थल की परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से मिलती हैं। इसके दक्षिणी भाग में चूने के पत्थर अपेक्षाकृत नरम होते हैं। अतः वायु द्वारा ये शैलें चिकनी तथा नालीदार बन गयी हैं। इस
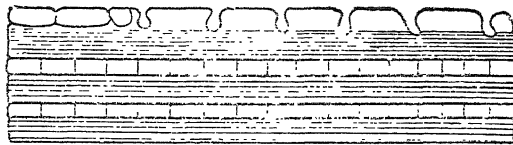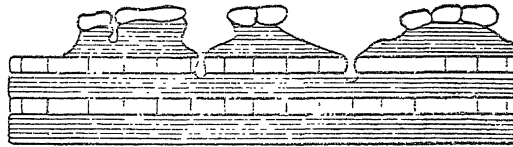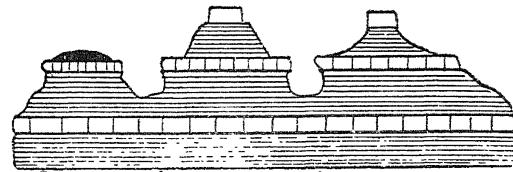
चित्र 175—वायु द्वारा शैलों का क्रमिक अपरदन

देश के उत्तरी भाग में बलुआ पत्थर की अधिकता है। आँधियों ने इनको घिसकर ऊबड़-खाबड़ बना दिया है।

जलवायु– शैलों की बनावट एवं जलवायु के प्रभावों की विषमता तापमान, शैलों की संधियों तथा ओसकणों पर निर्भर करती है। कठोर शैलों के अपरदन में तापमान का परिवर्तन, ओस के बिन्दुओं की उपस्थिति तथा शैलों की संधियों का होना सहायक होता है। संधियों में ओस के बिन्दुओं के भर जाने पर जब तापमान कम हो जाता है तो वे जलबिन्दु जम जाते हैं और उनका आयतन बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप संधियाँ चौड़ी होती जाती हैं और कालान्तर में टूट जाती हैं। इस प्रकार विकीर्ण चट्टानी कणों को वायु उड़ा ले जाती है और कठोर शैलों की तह नष्ट होती जाती है। इस प्रकार वायु द्वारा अपरदन का क्रम चलता रहता है जिसमें **अपक्षय** (weathering) की सहायता होती रहती है।

वायु द्वारा अपरदित विभिन्न आकृतियाँ

मरुस्थली प्रदेशों में वायु के क्रियाकलाप से बहुत-सी शैल 'छत्रक' नामक पौधे की भाँति प्रतीत होने लगती हैं। शैलों की इस प्रकार की बनावट को छत्रक (mushroom) कहते हैं। जोधपुर (राजस्थान) के पास ग्रेनाइट का एक छत्रक है। इन्हें सहारा मरुस्थल में **गोर** (gore) कहते हैं। ये आकृतियाँ वायु के खुरचाव, नाली-निर्माण तथा अवखनन (downcutting) से बनती हैं। इसमें आधार पर स्थित एक पतले स्तम्भ पर एक सपाट चट्टानी खण्ड स्थित रहता है। यह प्राकृतिक बनावट शृंग भी कहलाती है। जहाँ मुलायम परतों के ऊपर कड़ी परत का आवरण होता है और जब ऊपर की कड़ी परत वायु के अनवरत झोंकों से कट जाती है तो नीचे की मुलायम शैल अधिक शीघ्रता से कट जाती है। कभी-कभी चट्टानी आधार कटकर नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण शैल टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है। इन कटकों को **ज्युगेन** (zeugen) कहते हैं। जब वायु एक ही दिशा में सदैव चलती है और कठोर एवं मृदुल शैलों की पट्टियाँ प्रवाहित वायु के समान्तर स्थित होती हैं तो दृश्यभूमि का आकार तथा रूप विचित्र हो जाता है और सपाट चट्टानी खण्ड का रूप कटक एवं खाँच (midge and furrow) सा अनियमित बन जाता है और कालान्तर में सम्पूर्ण प्रदेश चट्टानी पस-

चित्र 176—ज्युगेन
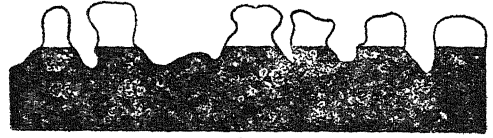
चित्र 177—यारडांग

लियों की भाँति प्रतीत होता है। खम्भों की भाँति अधिक कटे तथा असमान आकार के खड़े किनारे वाले दृश्य मध्य एशिया के मरुस्थल में **यारडांग** (yardangs) कहलाते हैं। इनकी ऊँचाई 16 मीटर तक होती है, किन्तु चौड़ाई कई सौ मीटर तक हो सकती है और ये सँकरे अन्तराल द्वारा, जिनसे होकर तीव्र वायु बहती है, एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं।

गुम्बदाकार टिब्बा

वायु एवं जल के सामूहिक कार्य से शैलों के आधार पर समतल मैदान उपस्थित हो जाते हैं और धरातल पर नालियाँ बन जाती हैं। ऐसे प्रदेशों में यत्र-तत्र शैलें टीले की तरह खड़ी रह जाती हैं। ये आकृतियाँ दक्षिणी अफ्रीका, नाइजीरिया, यूगाण्डा आदि देशों में अधिक दृष्टिगोचर होती हैं। राजस्थान की मरुभूमि में अधिक पाये जाते हैं। इनको **द्वीपाभ गिरि** (inselberg) कहते हैं। ये मरुस्थल में छोटी-छोटी तीव्र ढाल की पहाड़ियाँ हैं जिनका आकार पिरामिड तथा गुम्बद की तरह होता है। ये प्रायः ग्रेनाइट शैलों में बनती हैं। भारत में रायचूर (मध्य प्रदेश) के पास कूपघाट में ये पहाड़ी द्वीप मिलते हैं। अपरदन के पश्चात् द्वीपाभ गिरि की आकृति विचित्र हो जाती है जैसा चित्र से प्रकट हो जाता है।
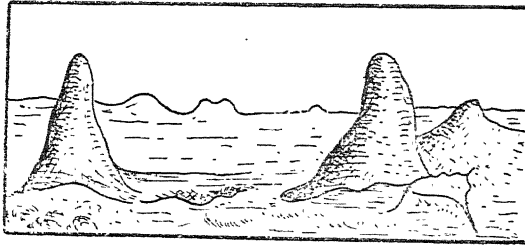
चित्र 178—द्वीपाभ गिरि (मोजम्बिक)
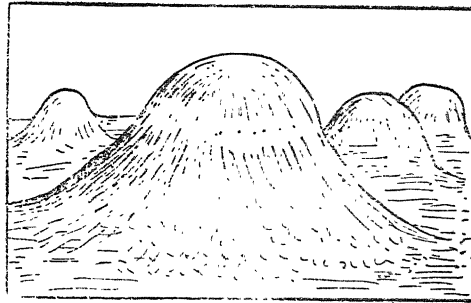
चित्र 179—ग्रेनाइट का बना गुम्बदाकार द्वीपाभ गिरि

मरुस्थलों में पड़े हुए चट्टानी टुकड़ों का ऊपरी भाग वायु के प्रहार से घिसकर चिकना हो जाता है या उसमें खरोंचें पड़ जाती हैं। ये चट्टानी टुकड़े उलट जाते हैं या वायु की दिशा बदल जाने पर तीव्र नुकीले किनारेदार नगीने के पहल बन जाते हैं। इन पर विभिन्न प्रकार की नक्काशी मिलती है और ये प्रायः तीन पार्श्व वाले शिलाखण्ड होते हैं। इस प्रकार के चट्टानी टुकड़ों को **त्रिकोडिका** (dreinkanter) अथवा **तिपहल** (ventifacets) कहते हैं। ये प्रायः सहारा में पाये जाते हैं। वायु

तथा जल के संयुक्त प्रभाव से शैल स्तम्भ (earth pillars) भी बन जाते हैं जिनके शिखर पर गोलाकार शैल स्थित रहती है। इन्हें भू-स्तम्भ (hoodos या demoiselles) कहते हैं।
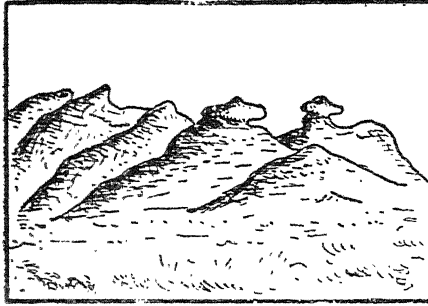
चित्र 180—अपरदन के पश्चात द्वीपाभ गिरि
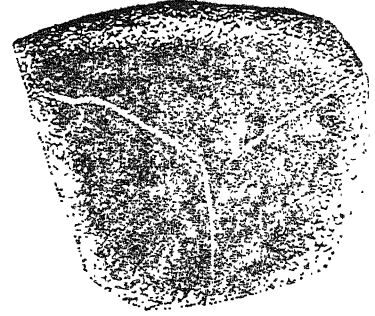
चित्र 181—त्रिकोटिका

वायु में उड़ते हुए धूलि-कणों के प्रहार से मार्ग में स्थित कोमल एवं कठोर शैलों के कोमल भाग कटकर उड़ जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप वह शिला जालीदार-सी हो जाती है। इन्हें शिला-जालक (Stone-lattice) कहते हैं। राकी पर्वत में

चित्र 182—भू-स्तम्भ तथा शैल-स्तम्भ

चित्र 183—शिला-जालक

बालुका स्तर की जालीदार शिलाएँ मिलती हैं। बलुआ पत्थर के विस्तृत क्षेत्र में वायु द्वारा तीव्र अपरदन के कारण शिला-चूर्ण बिखर जाता है और चट्टानी टुकड़ों का पथरीला मरुस्थल (rock desert) बन जाता है।

वायु का परिवहन

वायु द्वारा धरातल से ढीले-ढीले कणों का परिवहन होता है। रेत या धूलि-कण एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़ा कर ले जाये जाते हैं। हल्के एवं सूक्ष्म कण वायु में लटके रहते हैं और उनका परिवहन इसी दशा में होता है। बड़े आकार के

भारी कण धरातल पर लुढ़कते जाते हैं, किन्तु मध्यम आकार एवं भार के कण कभी वायु में उड़ते हुए तथा कभी लुढ़कते हुए परिवहित होते हैं। ये क्रियाएँ वायु के वेग पर निर्भर करती हैं।

परिवहन की क्रिया में एक कण कई बार स्तर से ऊपर उठता तथा गिरता है। इस क्रिया में एक कण उछल कर दूर जाता है कि दूसरा कण वहाँ से उड़कर आगे पहुँच जाता है। कणों का प्रक्षेप-पथ (trajectory) वायु की गति तथा कणों के आकार एवं भार पर निर्भर करता है। इस क्रिया को **उत्परिवर्तन** (saltation) कहते हैं।

बारीक धूलि के कण वायु द्वारा मरुस्थल सीमा के बाहर आनयित किये जाते हैं और लोएस (loess) के रूप में निक्षिप्त किये जाते हैं। सहारा की लाल रेत उत्तरी इटली में पहुँच जाती है और जब वर्षा के साथ धरातल पर गिरती है तो यह वर्षा रक्त वर्षा (blood rain) कहलाती है। वायु की परिवहन शक्ति नदी से अनेक गुनी अधिक होती है। **पेट्री** नामक विद्वान के अनुसार पिछले 2,600 वर्षों में नील नदी के डेल्टा में 2½ मीटर से अधिक मोटी तह वायु द्वारा उड़ायी जा चुकी है। अर्द्ध-मरुस्थली प्रदेशों में वायु के खरोंच से बड़े गड्ढे बन जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के व्योमिंग प्रदेश में 14 किलोमीटर लम्बा, 5 किलोमीटर चौड़ा तथा 90 मीटर गहरा एक गड्ढा है जिसमें से 10 अरब मीट्रिक टन रेत एवं धूलि कणों के परिवहन का अनुमान है। वायु अपवाहन (deflation) की क्रिया जोते हुए खेतों तथा कछारी मैदानों में बहुत होती है। समुद्र-तटीय भागों में निम्न ज्वार के समय वायु द्वारा सूखे कण स्थल की ओर बहा लिए जाते हैं। अमरीकी आविष्कारक **हालैण्ड** तथा ब्रिटिश खगोलशास्त्री **क्रिस्ती** ने अनुमान लगाया है कि प्रति वर्ष लगभग 1,30,000 मीट्रिक टन नमक के कण कच्छ की खाड़ी से राजस्थान की ओर परिवहित होते हैं। वायु अपवाहन से निर्मित गड्ढे जब जलसंपृक्त शैल तक पहुँच जाते हैं तो दलदल या मरु-द्यान (oasis) पैदा हो जाते हैं।

वायु द्वारा निक्षेपण

वायु द्वारा उड़ाये गये रेत या धूलि के कण वायु के मन्द होने पर धरातल पर एकत्र हो जाते हैं। वायु के मार्ग में अवरोध उपस्थित होने पर भी निक्षेपण होता है। कभी-कभी यह निक्षेपण अस्थायी होता है जो वायु के दूसरे झोंकों के द्वारा दूर हटा दिया जाता है। किन्तु अधिकतर निक्षेपण स्थायी होते हैं। इन्हें **वातोढ़ निक्षेप** (aeolian deposits) कहते हैं। वायु देव **एयोलस** के नाम पर यह नामकरण हुआ है। ये निक्षेप शैलों के कणों के आकार एवं भार के अनुसार क्रमबद्ध होते हैं। भारी कण निकट और हल्के कण दूर तक परिवाहित होते हैं। जिन प्रदेशों में अपरदन अधिक होता है वहाँ पथरीले मरुस्थल बन जाते हैं और जहाँ निक्षेपण अधिक होता है वहाँ बालू तथा लोयस के मरुस्थल बन जाते हैं। इनकी बनावट पैतृक शैल की बनावट तथा निक्षेप्य पदार्थों की क्रमिक व्यवस्था पर निर्भर करती है।

लोएस

लोएस एक प्रकार का विशिष्ट वायूढ़ निक्षेप होता है। यह जर्मन शब्द 'अल्सासी' से प्राप्त किया गया है जिसका अर्थ है सूक्ष्मकणीय निक्षेप। इसके कण रेत के कणों से छोटे तथा बारीक होते हैं किन्तु मृत्तिका से बड़े होते हैं। इसका रंग पीला अथवा हल्का भूरा होता है। यह पानी में घुलनशील तथा प्रवेश्य होता है। यह विभिन्न मोटाई की एक ढीली-ढाली राशि होती है। इसमें अनुप्रस्थ स्तर नहीं होते। इसमें मृत्तिका, क्वार्ट्ज, फेल्सपार, अवरक, कैल्साइट इत्यादि के सूक्ष्म कण वर्तमान रहते हैं। लोएस में स्थली जानवरों के अवशेष भी पाये जाते हैं।
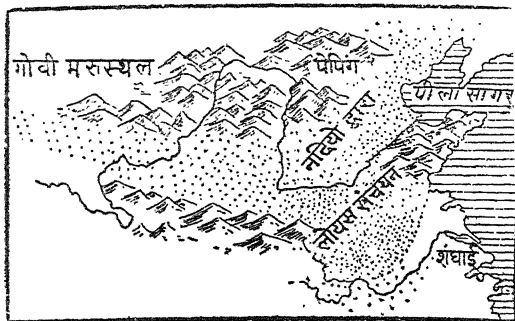
चित्र 184—चीन में लोएस मिट्टी का संचयन
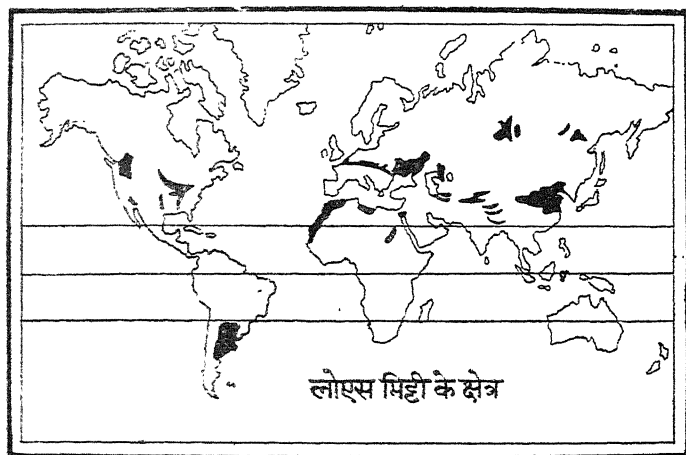
चित्र 185—संसार में लोएस मिट्टी के क्षेत्र

उत्तरी चीन में 1 लाख वर्ग किलोमीटर से अधिक क्षेत्र है जिसमें लोएस की मोटाई 6 मीटर से 90 मीटर तक है। इसके लिए गोबी के मरुस्थल से मिट्टी प्राप्त हुई है जो बहुत उपजाऊ है। नदियाँ इसको बड़ी आसानी से काट सकती हैं। अतः इसमें घाटियाँ बहुत गहरी होती हैं। नदी का पीला रंग ही पीत नदी तथा पीत सागर के नामकरण का आधार है।

लोएस का निक्षेप मध्य यूरोप, संयुक्त राज्य अमरीका तथा अर्जेन्टाइना (दक्षिणी अमरीका) में भी पाया जाता है। मिसीसीपी की घाटी में इस प्रकार के निक्षेप को **कच्ची ईंट** (abode) कहते हैं। यूरोपीय लोएस जिसका निक्षेप फ्रांस, जर्मनी, यूक्रेन (रूस) तथा एलास्का (उत्तरी अमरीका) में हुआ है, मरुस्थली नहीं है। ऐसा अनुमान है कि हिमानी-निक्षेप के ऊपर वायु के प्रभाव से यह निक्षेपण हुआ है।

बालू-टिब्बा

बालू के एकत्र होने से बालुका-टिब्बा (sand-dunes) का निर्माण होता है। इनकी रचना के लिए बालू की प्रचुरता, बालू-संचयन के लिए स्थान, वायु का तीव्र वेग तथा वायु-मार्ग में अवरोध आवश्यक होते हैं। बालू की अनन्त राशि मरुस्थलों, नदी तलों तथा सागरीय तटों पर मिलती है, इसलिए इन्हीं प्रदेशों में बालुका-स्तूपों की भरमार रहती है।

बालू की प्रचुरता धरातल की शैलों की बनावट पर निर्भर करती है। शुष्क प्रदेशों में बालुका-स्तर की अधिकता होती है। जहाँ चूने की शैलें अधिक हैं अथवा जहाँ शेल पत्थर का बाहुल्य रहता है वहाँ बालू-कणों की कमी से बालुका टिब्बों का अभाव होता है। इसी कारण नेवादा राज्य (सं० रा० अमरीका) में शुष्क जलवायु होते हुए भी बालुका-टिब्बा नहीं हैं।

झाड़ियाँ, इमारत तथा प्रक्षिप्त शैलें अवरोध का कार्य करती हैं। अवरोध की प्रकृति के अनुसार बालुका-टिब्बों की रचना सम अथवा विषम होती है। इनका रूप बालू की मात्रा एवं वायु-वेग पर निर्भर करता है।

जब बालुका-टिब्बों का धरातल अव्यवस्थित होता है तो इन्हें बालू-टिब्बा (sand-hills) कहते हैं। मरुस्थलों में 30 मीटर से 90 मीटर ऊँचाई के बालुका-टिब्बा पाये जाते हैं। प्रत्येक मरुस्थल का एक-तिहाई से लेकर एक-चौथाई तक का क्षेत्र बालुका-टिब्बों से आच्छादित रहता है। संसार में सबसे अधिक बालुका-टिब्बों वाला देश अरब है जहाँ धरातल के एक-तिहाई भाग में बालुका-टिब्बा हैं। सहारा मरुस्थल के नवें भाग पर ही बालुका-राशि है और शेष भाग पर शिला-खण्ड, वायु-विरचित पाषाण-खण्ड तथा आधार-शैल (bedrocks) बिखरे पड़े हैं।

बनावट की दृष्टि से विचार करने पर बालुका-टिब्बों में पवनाभिमुख (wind-ward side) की ओर लम्बा तथा उत्तल मन्द ढाल और पवन-विमुख दिशा (leeward side) की ओर खड़ा तथा अवतल अधिक ढाल रहता है। इसमें पवन-विमुख दिशा में पवन भंवर (wind eddy) से बालू-राशि में गुफा-सी बन जाती है जो **सर्पण सतह** (slip face) भी कहलाती है। पवनाभिमुख ढाल पर बालू के कण वायु द्वारा शीर्ष की ओर सरका दिये जाते हैं जो पवन-विमुख ढाल पर अधिक कोणिक झुकाव के साथ एकत्र हो जाते हैं। बालू के कण पवन-विमुख ढाल पर जिस कोण पर रुकते हैं, वह **घर्षण कोण** (angle of repose) कहलाता है। यह झुकाव 20° से 40° तक होता है। पवन-विमुख ढाल पर बालू की हल्की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ दृष्टिगोचर

होती हैं और धीरे-धीरे इनका विस्तार तथा आकार बढ़ता जाता है क्योंकि इनके पवन-विमुख ढाल पर वायु के भँवर से बालू के कण शीर्ष के दोनों ओर फैल जाते हैं और बालुका-टिब्बों का आकार अर्द्ध-चन्द्राकार तथा लम्बा हो जाता है। यदि वायु चारों ओर से चलती है तो टीले का आकार गोल बन जाता है। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में बालुका-टिब्बों का आकार कहीं गोल, कहीं नवचन्द्राकार और कहीं चपटा होता है।

समुद्र-तट पर भी बालू के टीले पाये जाते हैं। फ्रांस में बिस्के की खाड़ी के तट पर ये लैण्डीज (landes) कहलाते हैं। भारत में बालेश्वर तथा पुरी के दक्षिणी भाग में भी तटीय बालू के टीले पाये जाते हैं। आकार के आधार पर बालुका-टिब्बा दो प्रकार के होते हैं :

(1) अनुदैर्ध्य बालुका-टिब्बा (Longitudinal Sand-dunes),
(2) अनुप्रस्थ बालुका-टिब्बा (Transverse Sand-dunes)।

(1) अनुदैर्ध्य बालुका-टिब्बा—ये टीले मरुस्थली तथा आर्द्र दोनों प्रकार के क्षेत्रों में बनते हैं। इनकी उत्पत्ति बालू की महान् राशि तथा वनस्पति के अभाव से होती है। इनमें बालू के कणों का एकत्रीकरण श्रेणी की भाँति लम्बवत् होता है। ये श्रेणियाँ प्राय: समान्तर होती हैं और दाँत का आकार प्रस्तुत करती हैं। सहारा के मरुस्थल में ये सीफ्स (seifs) कहलाती हैं। भारत की मानसूनी वायु द्वारा समुद्री तटों पर भी इस प्रकार के टिब्बे बनते हैं। इस प्रकार के बालुका-टिब्बे का निर्माण वायु की दिशा के अनुकूल होता है। इसमें वायु प्रबल होती है। इनका अस्तित्व टेढ़े-मेढ़े तथा भिन्न बालुका-टिब्बों के रूप संशोधन से ही सम्भव होता है।
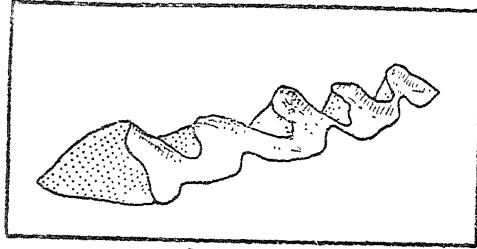
चित्र 186—सीफ
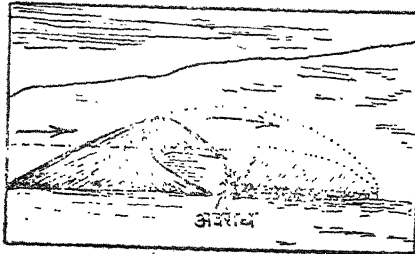
चित्र 187—अनुदैर्ध्य बालुका-टिब्बा का निर्माण (1)
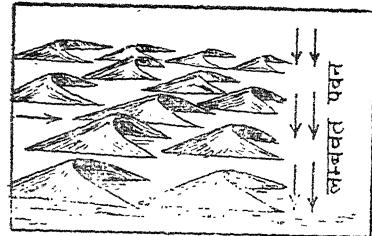
चित्र 188—अनुदैर्ध्य बालुका-टिब्बा का निर्माण (2)

अनुदैर्ध्य बालुका-टिब्बों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमुख तीन विचार हैं :

(1) साधारण या चन्द्राकार टिब्बों से ही अनुदैर्ध्य बालू-टिब्बे बन जाते हैं। तीव्र पवनें दूसरी दिशा में बालू को एकत्र करती हैं और उसे लम्बाकार आकार में फैला देती हैं। इस प्रकार प्रचलित वायु की दिशा में समान्तर श्रेणियाँ बन जाती हैं।

(2) सामूहिक बालुका-टिब्बे वायु-दिशा तथा बालू की मात्रा पर निर्भर करते हैं। ये वायु गति के साथ आगे बढ़ते हैं जहाँ हवा की दिशा बालू-टिब्बों से लम्बरूप में मिलती है। अतः बालू के टिब्बे आपस में मिल जाते हैं और अनुदैर्ध्य टिब्बे बन जाते हैं।

(3) कभी-कभी चापाकार टिब्बों की भुजायें आर्द्र हो जाती हैं तो मध्य भाग की रेत आसानी से उड़ कर आगे बढ़ जाती हैं और उस स्थान पर दो समान्तर लम्बी श्रेणियाँ बन जाती हैं।

मेल्टन के अनुसार तीन प्रकार के बालू-टिब्बे होते हैं :

(क) वायु द्वारा एक दिशा में निर्मित बालू-टिब्बे।

(ख) वनस्पति अवरोध द्वारा निर्मित बालू-टिब्बे।

(ग) प्रत्येक दिशा से प्रवाहित वायु द्वारा निर्मित मिश्रित बालू-टिब्बे।

(2) **अनुप्रस्थ बालुका-टिब्बा**—इनका विस्तार वायु की दिशा के लम्बवत् होता है। इनकी रचना गहरे बालूमय देश में हल्की वायु द्वारा होती है। नदी और झील
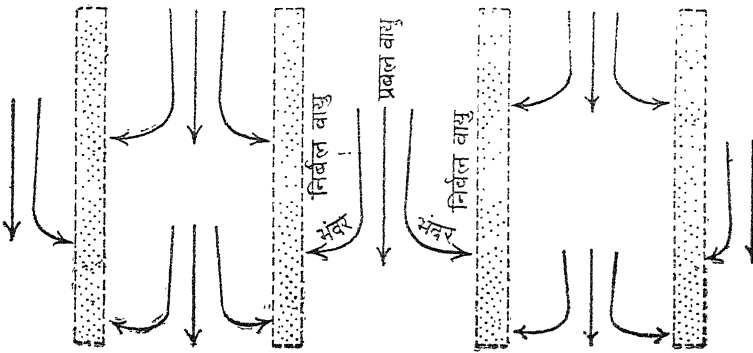
चित्र 189—बालुका-टिब्बों के मध्य वायु-भँवर

के तटों पर भी ये बहुधा मिलते हैं। टिब्बों की समान्तर कतारों के मध्य एक छोटी पट्टी होती है जिसमें वायु के हल्के भँवर पैदा हो जाते हैं जो बारीक बालू को उड़ाकर मध्य भाग को गहरा करते रहते हैं। इनका मन्द ढाल वायु की दिशा में और खड़ा ढाल प्रतिघाती दिशा में होता है। विशाल बालुका राशि के उड़ने से प्रायः पूरी वनस्पति नष्ट हो जाती है। दो बालुका-टिब्बों के मध्य की पतली पट्टियों में थोड़ी वनस्पति मिलती है। जहाँ पर बालू का टीला अकेला होता है वहाँ निरन्तर एक दिशा से बहने वाली हवा टीले के दोनों पार्श्वों को टीले के नुकीले और लम्बे दो सिरे बना देती है। इनका ढाल पवनाभिमुख की ओर उत्तल और पवन-

विमुख की ओर अवतल होता है। ऐसे टीले **चापाकार टिब्बा** (barchan) कहलाते हैं। ये चन्द्राकार होते हैं। ये वृहत लहरों की भाँति आगे बढ़ते हैं। ये मध्यम कोटि के टिब्बे हैं। 'बरकान' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ अर्द्ध-चन्द्राकार होता है।

चित्र 190—चापाकार बालू-टिब्बा

वास्तव में ये टिब्बे अनुदैर्घ्य तथा अनुप्रस्थ टिब्बे की मुख्य विशेषता रखते हैं।
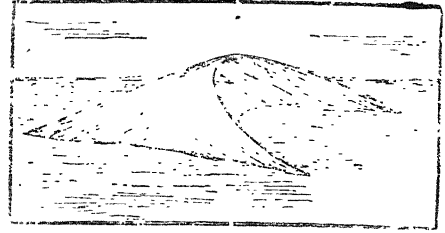
हाक महोदय ने परवलयिक बालू-टिब्बा (PARABOLIC Sand-dunes) को भी अलग प्रकार का माना है। इस प्रकार के बालू-टिब्बों में पवनविमुख ढाल पर मन्द ढाल होता है या घर्षण के फलस्वरूप इस पर गड्ढे बन जाते हैं। पवनविमुख ढाल तीव्र होता है जहाँ बालू-कणों का निक्षेप होता है। समुद्रतटीय भागों के वातगर्त टिब्बे (blow out-dunes) इसके उदाहरण हैं। ये टिब्बे स्थल की ओर खिसकते हैं और इनके ऊपरी भाग में अपवाहन से तश्तरीनुमा गड्ढे बन जाते हैं और रेत का निक्षेप कगार की तरह होता है।

शुष्क क्षेत्र में परवलयिक वातगर्त टिब्बे अपवाहन के वातगर्त के पृष्ठ भाग में बनते हैं। इसका कारण वनस्पति की कमी तथा वायु की तीव्रता है। इसके किसी किनारे पर खड़ा ढाल नहीं होता है और यह स्थिर होता है। कभी-कभी परवलयिक आकृति लम्बी, पतली व समान्तर श्रेणियों में परिवर्तित हो जाती है। इस समय इसको **रोमपिन टिब्बा** (hair pin dune) कहते हैं। वनस्पति उग आने पर ये टिब्बे स्थायी हो जाते हैं।

टिब्बों का स्थानान्तरण

वालुका-टिब्बा प्रायः आगे की ओर बढ़ते जाते हैं। टिब्बा के शिखर की बालू धीरे-धीरे हवा से उड़कर कुछ आगे गिरती रहती है। ढाल की बालू खिसकती हुई शिखर तक पहुँचती है और वहाँ से आगे को लुढ़क जाती है। अन्त में सम्पूर्ण टिब्बा ही आगे खिसक जाता है। टीलों के आगे बढ़ने की गति अधिकाधिक 30 मीटर प्रति वर्ष होती है। इस क्रिया से रेगिस्तानों का विस्तार होता है। मरुस्थल के बढ़ने से मिस्र तथा सीरिया के बड़े-बड़े नगर रेत
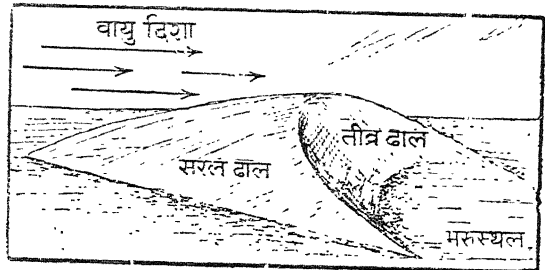
चित्र 191—चापाकार टिब्बा

में दब गये। भारत का प्राचीन नगर मोहनजोदड़ो इसी प्रकार रेत से दबकर नष्ट हो गया। फ्रांस के पश्चिमी समुद्रतट पर लैण्डीज से कई गाँव नष्ट हो गये। मरुस्थल की वृद्धि से पश्चिमी उत्तर प्रदेश के उजाड़ बन जाने की आशंका पैदा हो गयी है।

चित्र 192—टिब्बों का स्थानान्तरण

कई विशाल टिब्बे गतिहीन भी होते हैं। इसका कारण टीलों पर घास तथा झाड़ियों का उगना होता है जिससे बालू स्थिर हो जाती है। वर्षा का जल भी टीले के भीतर पहुँच कर कणों को नम तथा स्थिर बना देता है।

मरुस्थली या शुष्क अपरदन-चक्र

मरुस्थल की प्रारम्भिक दशा बहुत अंशों तक वर्षा पर निर्भर करती है। मरुस्थलों में वर्षा का समय एवं मात्रा दोनों अनियमित हैं। कभी-कभी एक घण्टे में मूसलाधार वृष्टि हो जाती है और अचानक बाढ़ें आ जाती हैं। कहीं-कहीं अस्थायी झीलें बन जाती हैं। जल के वाष्पीकरण के पश्चात घुला हुआ नमक शेष रह जाता है जिससे लवण-पटल (salt-pan) का निर्माण होता है। ये झीलें अवसाद या लवणयुक्त अवसाद से भर जाती हैं। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका में इन्हें **प्लाया** (playas) कहते हैं। अधिक नमकयुक्त होने से इनको लवण कच्छ (salina) कहते हैं।
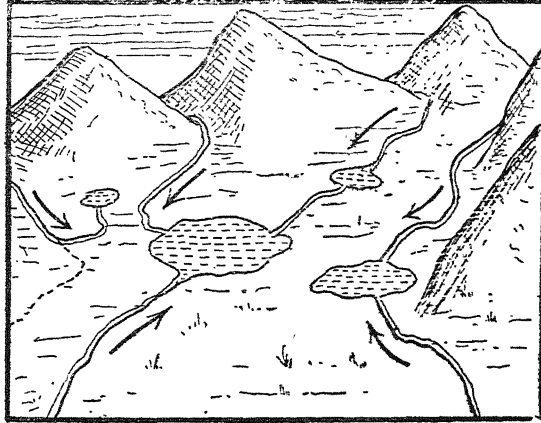
चित्र 193—प्लाया

शुष्क स्थलाकृति में खड़े ढाल वाले पर्वतीय अग्र भाग तथा मुख्य घाटी की अवसाद की पट्टी के बीच एक चौड़ी साधारण ढाल वाली चट्टानी सतह पायी जाती है। इन चट्टानी सतहों को पर्वतीय शुष्क मैदान (PEDIMENT) कहते हैं। इनका निर्माण अपरदित आधार शैल की सतह तथा पर्वतों से प्राप्त अवसाद से होता है। पर्वतीय ढालों से प्राप्त पदार्थों से शैल-पंख (rock fans) बनते हैं। इन शैल-पंखों के मिलने से एक ढालू मैदान विकसित हो जाता है जिसको 'बाजदा' (bajada) कहते

हैं। यह स्पेनिश शब्द है। पेडिमेन्ट तथा बाजदा का ढाल मन्द होता है जो $\frac{1}{2}°$ से 7° तक मिलता है किन्तु पर्वतीय अग्र भाग का ढाल 15° से अधिक ही होता है।

पर्वतीय शुष्क मैदान (Pediment) की उत्पत्ति के सिद्धान्त

(1) **चादरी बाढ़ सिद्धान्त** (Sheet-flood Theory)—**मकेगी** महोदय ने सन् 1897 में निष्कर्ष निकाला कि बाढ़ के समय नदियों की अपरदन एवं परिवहन शक्ति में अभिवृद्धि हो जाती है और अपरदित पदार्थ पर्वतों के किनारे विकीर्ण होकर पत्थरों के मरुस्थल का निर्माण करते हैं। इस प्रकार पर्वतीय शुष्क मैदान की उत्पत्ति होती है। ये मैदान सममान परत के होते हैं। इन प्रकार शुष्क मैदानों की रचना में चादरी-बाढ़ की अपरदन-शक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है।

(2) **पर्वत प्रतिसारी सिद्धान्त** (Mountain Recession Theory)—**लासन** तथा **ब्रायन** नामक विद्वानों ने सन् 1923 में मत व्यक्त किया कि वायु के अपक्षयण से पर्वतों की सीमा पीछे खिसकती है और उन स्थानों पर कंकड़ों का जमाव हो जाता है जिससे घाटियाँ भरती जाती हैं। इस जमाव में अवसाद के निक्षेप भी रहते हैं। इन जमावों पर पूर्व अवस्थित अवसाद के फिसल जाने पर विवृत सतह प्राप्त हो जाती है। इसी विवृत जगह को पर्वतीय शुष्क मैदान कहते हैं।

(3) **पार्श्व समतल सिद्धान्त** (Lateral Planation Theory)—**ब्लैक विल्डर** ने सन् 1931 तथा **जानसन** ने सन् 1932 में पार्श्व अपक्षय को ही पर्वतीय शुष्क मैदान के निर्माण का कारण बनाया। **विल्डर** के मतानुसार मरुस्थल की अस्थायी नदियों के पार्श्व अपरदन से पर्वतीय शुष्क मैदान का निक्षेप हुआ। **जानसन** महोदय के अनुसार पर्वतों के सहारे तीन पेटिकायें होती हैं :

(क) **निम्नीकरण मण्डल** (Zone of Degradation)—इस मण्डल में नदियाँ नीचे की ओर काटती हैं। यह पर्वत की तलहटी के सहारे स्थित रहता है।

(ख) **पार्श्विक अपघर्षण मण्डल** (Zone of Lateral Corrosion)—इस मण्डल में पर्वतीय शुष्क मैदान बनते हैं, क्योंकि नदियाँ पार्श्व में अपरदन करती हैं और कंकड़-पत्थरों को निक्षेपित कर देती हैं।

(ग) **अधिवृद्धि मण्डल** (Zone of Aggradation)—इसमें अवसाद का निक्षेप होता है।

(4) **संयुक्त सिद्धान्त** (Composite Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार उपरोक्त तीनों ही धारणाएँ पर्वतीय शुष्क मैदान की रचना में सहायक होती हैं। **डेविस** महोदय द्वारा प्रतिपादित सन् 1938 के विचार के अनुसार ऋतु-अपक्षय द्वारा पर्वत पीछे खिसकते हैं और बाढ़ द्वारा निक्षेप दूर तक विस्तृत हो जाता है। नदियों में भार अधिक होने से पार्श्व-अपक्षय की अधिकता होती है। इस प्रकार एक समतल सतह की रचना हो जाती है।

रिच महोदय के मतानुसार पेडिमेन्ट मौसमी अपक्षय तथा पर्वतों के अपरदन की आकृतियाँ हैं जिसमें चादरी-बाढ़ का भी महत्त्व होता है।

पेडिमेन्ट तीन प्रकार के होते हैं, पहला गुप्त पेडिमेन्ट (conceded pediment), दूसरा संधित पेडिमेन्ट् (coalescing pediment) तथा तीसरा विरदित पेडिमेन्ट (dissected pediment)। जब बाजदा निक्षेप से पेडिमेन्ट छिप जाते हैं तो उन्हें गुप्त पेडिमेन्ट कहते हैं। कई पेडिमेन्ट मिल जाते हैं तो संधित और जब पेडिमेन्ट विच्छिन्न हो जाते हैं तो विरदित कहलाते हैं।

एक मरुस्थल में प्राप्त पर्वतीय भाग तीन पार्श्वों से घिसा होता है जिसमें पार्श्वीय कटान सबसे प्रमुख होती है किन्तु इनमें निम्नीकरण (degradation), अपघर्षण (corrosion) तथा अभिवृद्धि (aggradation) की सभी विधियाँ स्पष्ट ज्ञात होती हैं। अधिकांश मरुस्थली प्रदेश उच्च प्रदेशों से आवृत्त होते हैं। दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका तथा मध्य एशिया में अपरदन-चक्र की आदर्श व्यवस्थाएँ पायी जाती हैं।

युवावस्था—इन मरुस्थलों में जल द्वारा अपरदन बहुत महत्त्वपूर्ण है। जलवायु में परिवर्तन के कारण मरुस्थल की भू-रचना किसी भी प्रकार की हो सकती है। आकस्मिक वर्षा से पहाड़ी किनारों पर गहरी तथा सँकरी अवनालिका बन जाती हैं। शुष्क दशा में ऊपरी पर्वतीय भाग घिसकर ऊँचाई में कम हो जाते हैं और ऊपरी काट-छाँट से निचले गड्ढे भर जाते हैं तथा क्षणिक अनुवर्ती नदियाँ (consequent streams) बह निकलती हैं। प्रत्येक नदी का अपना चरम स्तर होता है। नदियाँ बहते-बहते शीघ्र सूख जाती हैं। नदी घाटियों के प्रारम्भ में जलोढ़ पंख मिलते हैं। नदी घाटियाँ वी-आकार की हो जाती हैं। प्लाया झीलें विस्तृत हो जाती हैं जिनमें भूमिगत जल एकत्र होता है। घाटी में यत्र-तत्र बालू-टिब्बे दिखाई देते हैं।

प्रौढ़ावस्था—मरुस्थली बेसिन धीरे-धीरे ऊपरी काट-छाँट से भर जाता है और अनुवर्ती नदियाँ अभिशीर्ष अपरदन करती हैं तथा नदी-अपहरण की क्रिया सम्पन्न होती है। नालीदार कटाव तथा उत्खात स्थलाकृति (bad land topography) के निर्माण के साथ ही ऊँचे बेसिन के निक्षेप का अपरदन होता है और वे काट-छाँट बहकर निम्न बेसिन में पहुँच जाते हैं। वादी द्वारा विच्छिन्न अर्द्ध-मरु-प्रदेश की दृश्य भूमि को उत्खात स्थलाकृति कहते हैं। इस प्रकार कालान्तर में एक अपवाह-तन्त्र बन जाता है। नदी की घाटियाँ विशेष चौड़ी हो जाती हैं और विस्तृत जलोढ़-पंखों का निर्माण होता है। इस अवस्था में निक्षेपण एवं नदी-तल का उत्थापन हो जाता है। आकस्मिक बाढ़ों द्वारा पंखों में गहरी घाटियाँ बन जाती हैं जिन्हें सहारा में 'वादी' (wadi) और संयुक्त राज्य अमरीका में 'वाश' (washes) कहते हैं। इसमें जो जल प्रविष्ट हो जाता है वह मरुद्यान के रूप में प्रकट होता है। उथली झीलों में प्याला और सैलिना की रचना हो जाती है। 'वादी' अरबी का शब्द है जिसका तात्पर्य शुष्क नदी-मार्ग होता है। इनकी घाटी सपाट एवं किनारे तीव्र ढालू होते हैं। 'प्लाया' स्पेनिश शब्द है। इस अवस्था में पर्वतीय शुष्क मैदान बाजदा तथा शुष्क प्लाया दृष्टिगोचर होते हैं। विस्तृत गड्ढे तथा बालू-टिब्बे दिखाई पड़ते हैं।

ग्रेनाइट स्थलाकृति

ग्रेनाइट खुरखुरी शैल होती है जो कई खनिजों के संयोग से बनी होती है। इनमें संधियाँ बनी होती हैं जिसके कारण इन पर मौसमी अपरदन का अधिक प्रभाव पड़ता है और ये उष्ण तथा शीत जलवायु के प्रदेशों में—विशेषतया पर्वतों के ऊपरी भागों में—अधिक विकीर्ण होती है।

ग्रेनाइट स्थलाकृति के विशेष लक्षण गोलाकार पहाड़ियाँ, चौड़ी और छिछली घाटियाँ, गोलाश्म तथा सन्धि विच्छेद आदि हैं। धरातल पर निकले हुए ग्रेनाइट के टीले मौसमी अपरदन के कारण गोलाकार हो जाते हैं और बाद में वायु-प्रहार से उनमें से परतें निकला करती हैं। इस प्रकार वायु द्वारा गुम्बदनुमा आकार निर्मित हो जाते हैं। इस प्रकार की आकृतियाँ मिस्र तथा कालाहारी के मरुस्थलों में मिलती हैं।

किसी-किसी ग्रेनाइट शैल में सन्धियाँ दूर-दूर होती हैं जिससे बड़े-बड़े चट्टानी पिण्डों का निर्माण होता है जो कालान्तर में गोलाकार होकर गुम्बद का रूप ग्रहण कर लेते हैं। शुष्क तथा आर्द्र जलवायु के प्रदेशों में इन गुम्बदों की तीव्र खड़ी ढालें होती हैं। इनसे समय-समय पर चट्टानी टुकड़े बाहर निकला करते हैं। रायो डी जिनेरो (दक्षिणी अमरीका) के समीप इस प्रकार की एक पहाड़ी है जिसको **चीनी रोटी** (sugar loaf) कहते हैं।

ग्रेनाइट शैलों में भी दरारें होती हैं जिन्हें **मुखछिद्र** (dialcase) कहते हैं। इनके द्वारा जल अन्दर प्रवेश करता है जिससे शैलों के टूटने में सहायता मिलती है। इसके कारण शैलें अलग-अलग हो जाती हैं और पेड़-पौधे भी निकल आते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि ग्रेनाइट स्थलाकृति प्रायः वनस्पति-शून्य होती है।

ग्रेनाइट शैलों के आधार पर मिट्टियाँ मिलती हैं जो क्वार्ट्ज, फेल्सपार तथा अभ्रक से प्राप्त होती हैं। निचले भाग में अनेक स्रोत भी मिलते हैं।

अति शीत जलवायु के प्रदेशों में पाले की क्रिया द्वारा भारी चोटियाँ तथा नुकीली कगारें पायी जाती हैं।

भारत में छोटा नागपुर, दक्षिण-पूरबी राजस्थान तथा दक्षिणी भारत के कतिपय भागों में ग्रेनाइट शैल की स्थलाकृतियाँ मिलती हैं।

बलुआ पत्थर की स्थलाकृति

बलुआ पत्थर पर अपरदन का कम प्रभाव पड़ता है। इसी कारण ऊँचे पर्वत तथा पहाड़ियों के भूदृश्य बन जाते हैं। जोड़ने वाले पदार्थों की शक्ति कणों के आकार तथा सन्धियों पर बलुआ पत्थर का अपरदन निर्भर करता है। सिलिका के जोड़ शैलों को अधिक शक्तिशाली बना देते हैं जिन पर अपरदन एवं अपक्षय का अल्प प्रभाव पड़ता है। ऐसी शैलों की सन्धियाँ बहुत कठोर तथा अच्छी होती हैं और इनसे प्रायः **भृगु** (cliff) की रचना होती है। लोहे की ऑक्साइड तथा चूने से जुड़ी शैलों पर

रासायनिक अपरदन का अधिक प्रभाव पड़ता है और ऐसी शैलें शीघ्र टूट-फूट जाती हैं।

कायान्तरित बलुआ पत्थर, जो स्फटिक हो जाता है, बहुत दृढ़ होता है। इससे पर्वत-शृंगों की रचना होती है। ऐसे शृंग अरावली पर्वत, राजमहल की पहाड़ियों तथा मैसूर राज्य में मिलते हैं। ऐसे भागों के नीचे शैल-मलवा (talus) एकत्र हो जाता है और ढाल में उत्तलता होती है।

प्रश्न

1. Compare and contrast the work of running water with that of wind. (*Allahabad 1970*; *Kanpur 1968*; *Patna 1966*)
   वायु-क्रिया तथा प्रवाहित जल की क्रिया की समानता एवं असमानता की व्याख्या कीजिए।
2. Write a note on desert features. (*Agra 1968*; *Vikram 1971*)
   मरुस्थली भूदृश्यों पर एक टिप्पणी लिखिये।
3. Analyse the formation of yardangs. (*Gorakhpur 1971*)
   यारडांग के निर्माण की व्याख्या कीजिए।

18

परिवर्तनकारी बहिर्जात बलें–हिमनदियाँ और हिमनदन

[SURFACE-MOULDING EXOGENETIC FORCES—GLACIER AND GLACIATION]

पृथ्वी के धरातल पर परिवर्तनकारी साधनों में जलवृष्टि का प्रमुख स्थान है। वर्षा का जल नदी के रूप में भू-पृष्ठ पर महान् परिवर्तन लाता है। किन्तु पृथ्वी के कतिपय अंचलों में जलवृष्टि बिल्कुल नहीं होती है। वहाँ का तापमान भी 0° सेग्रे से कम होता है जिसके कारण वायुमण्डलीय वर्षा हिमपात (snowfall) का रूप ग्रहण कर लेती है। उष्ण कटिबन्ध के अति उच्च पर्वतीय प्रदेशों तथा अतिशीत ध्रुवीय प्रदेशों में हिमपात ही होता है। ध्रुवीय प्रदेशों में हिमावरण पृथ्वी के धरातल तथा समुद्र-तल पर भी पाया जाता है।

तापमान के साथ वायु की शुष्कता का भी प्रभाव हिमपात पर पड़ता है। शुष्क वायु में हिमवर्षा सम्भव नहीं होती है। ऊँचे अक्षांशों में स्थित साइबेरिया प्रदेश में शीत ऋतु में कड़ी सरदी पड़ती है किन्तु शुष्क वायु होने के कारण हिमवर्षा बहुत कम होती है।

हिम-क्षेत्र

प्राय: ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के कारण हिम पिघल जाती है। किन्तु अधिक ऊँचे भागों तथा अक्षांशों में इतनी तुषार-वृष्टि होती है कि पिघलने तथा वाष्पीकरण के पश्चात् भी प्रचुर मात्रा में हिम बच जाती है; क्योंकि ये स्थान सीधी प्रखर धूप तथा शुष्क वायु से सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार हिम से निरन्तर आच्छादित रहने वाली भूमि को **हिम-क्षेत्र** (snow-field) कहते हैं।

हिमरेखा

किसी भू-भाग की सनातन हिमाच्छादित निम्नतम सीमा को **हिमरेखा** (snow-line) कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इस रेखा के ऊपर तुषार कभी भी पूर्णतया

नहीं पिघलती है। इस रेखा की ऊँचाई अक्षांश, तुषार-वृष्टि की मात्रा, वायु की दिशा तथा धरातलीय बनावट पर निर्भर करती है। चित्र में विभिन्न अक्षांशों पर हिमरेखा की ऊँचाई प्रदर्शित है।
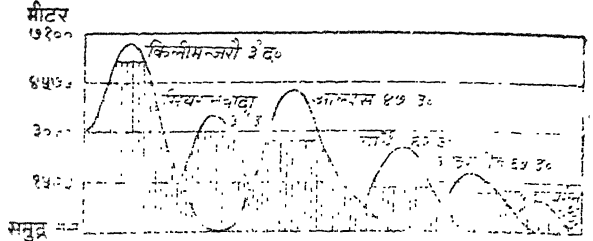
चित्र 194—विभिन्न अक्षांशों पर हिमरेखा की ऊँचाई

अक्षांश—हिम-रेखा की ऊँचाई भूमध्य रेखा की ओर बढ़ती जाती है। ग्रीनलैण्ड में इसकी ऊँचाई 610 मीटर, हिमालय में 3,965 मीटर और अफ्रीका के केनिया तथा किलीमंजारो की ऊँची चोटियों पर 5,490 मीटर है।

वायु की दिशा—शुष्क वायु के प्रभाव में पड़ने पर हिम शीघ्रता से पिघलने लगती है। अतः हिमरेखा ऊँची हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत नम वायु के मार्ग में स्थित प्रदेशों में हिमरेखा की ऊँचाई अपेक्षाकृत कम होती है। यही कारण है कि हिमालय के दक्षिणी भाग में हिमरेखा की औसत ऊँचाई 3,965 मीटर है और तिब्बतीय भाग की ओर यह ऊँचाई 4,880 मीटर है, यद्यपि उत्तरी ढाल अधिक सर्द है।

तुषार की मात्रा—अधिक हिमपात होने पर हिमरेखा नीची होती है क्योंकि हिम क्रमशः एकत्र होकर निम्न भागों को भी आच्छादित करती जाती है। जब हिम कम मात्रा में गिरती है तो पिघल जाती है और हिमरेखा की ऊँचाई अधिक हो जाती है।

भूमि का ढाल—हिमरेखा का ऊँचा या नीचा होना धरातल की बनावट पर भी आधारित होता है। अधिक ढालू भागों में हिम लुढ़क कर नीचे गिर जाती है और पिघल जाती है। इस दशा में हिमरेखा अधिक ऊँचाई पर होती है। किन्तु मन्द ढाल पर हिम रुककर एकत्र हो जाती है और हिमरेखा नीचे हो जाती है।

हिमनदियों की रचना

किसी क्षेत्र में जब तुषारपात होता है तो वह पतली तथा ढीली परतों के रूप में गिरता है। यह हिम रुई की भाँति लगती है। लगातार तुषारपात होने से हिम की मोटाई अधिक हो जाती है और निचली परत दब जाती हैं और कड़ी हो जाती है। ग्रीष्मकाल में हिम के पिघलने से जो पानी बनता है वह शीतल हिम पर बूँद-बूँद करके टपकने के कारण पुनः जम जाता है और दबने तथा पुनः जमने से हिम-परतों से वायु का निष्क्रमण हो जाता है। जो वायु शेष रह जाती है उससे बुलबुले बन जाते हैं। फलतः हिमराशि अपारदर्शी तथा सफेद हो जाती है। इस प्रकार तुषार-पात से दबाव बढ़ता है जिसके फलस्वरूप निचली हिम-तह दानेदार हिम-पिण्ड में

परिवर्तित हो जाती है। इसको फ्रांसीसी भाषा में **कण-हिम** (neve) और जर्मन भाषा में **फर्न** (firn) कहते हैं। कण-हिम तुषार एवं ठोस हिम की मध्यवर्ती दशा को कहते हैं। इसके अन्दर बुलबुलों के रूप में अधिक वायु रहती है। जब तुषारपात बराबर होता रहता है और तह के ऊपर तह जमती जाती है तो हिम-क्षेत्र की मोटाई बढ़ती जाती है। इस प्रकार निचली तह की वायु बिलकुल निकल जाती है। फलतः कण-हिम साफ नीले दानेदार हिम में परिणत हो जाती है। हिम-क्षेत्र के निचले भाग में कठोर हिम (ice), मध्यवर्ती भाग में कण-हिम और ऊपरी भाग में गुम्फिल-तुषार रहता है। इस प्रकार इनमें परतें स्पष्ट दीख पड़ती हैं।

हिमनदी का प्रवाह

हिम-क्षेत्र में तुषारपात होते रहने से हिमशिलाओं की राशि इतनी बढ़ जाती है कि उनका स्थिर रहना असम्भव हो जाता है। फलतः पर्वतीय ढालों पर स्थित हिमराशि अपने भार, पर्वतीय ढाल तथा गुरुत्वाकर्षण के कारण नीचे की ओर खिसकने लगती है। इस प्रकार प्रवाहित हिम को **हिमनदी** (glacier) कहते हैं। हिमनदियों का प्रवाह उसी दशा में प्रारम्भ होता है, जब हिम की राशि अवरोधों से ऊपर बढ़ जाती है।

हिमनदियाँ हिम-क्षेत्र के विस्तारमात्र हैं। इनका जीवन तथा प्रवाह हिम-क्षेत्र पर आधारित रहता है। ये जीभ की तरह आगे बढ़ती हैं। जीभ को आगे निकालने की शक्ति शरीर में निहित रहती है, उसी प्रकार हिमनदी के आगे बढ़ने की सीमा हिम-क्षेत्र में होने वाली तुषारवृष्टि पर निर्भर करती है। जब हिमनदी के मार्ग में पिघल कर नष्ट हुए हिम की अपेक्षा अधिक हिम की पूर्ति हिम-क्षेत्र से होती है तो हिमनदियाँ दूर तक प्रवाहित होती रहती हैं। ज्यों-ज्यों हिमनदियाँ आगे बढ़ती जाती हैं, उनका आकार एवं रूप प्रवाहित क्षेत्र के अनुकूल होता जाता है।

प्रवाह-गति—हिमनदियों की प्रवाह-गति 2·5 सेण्टीमीटर से 30 मीटर से भी अधिक प्रतिदिन होती है। हिमालय की हिमनदियों की गति 2·5 सेण्टीमीटर से 1 मीटर प्रतिदिन है। इटली के एक अन्वेषक दल के अनुसार कराकोरम पर्वत में **बाल्टीमोर** हिममदी की दैनिक गति 2 मीटर प्रतिदिन है।

जब हिम की मात्रा अधिक होती है और ढाल खड़ा होता है तो हिमनदियों का वेग अधिक होता है। ग्रीनलैण्ड की हिम-तहों से बाहर निकले हुए हिमनदी के भाग जहाँ सँकरे दर्रों से बाहर निकलते हैं, वहाँ उनकी गति प्रतिदिन 25 मीटर रहती है। जैसे किसी नदी का वेग सँकरे मार्ग से बहने पर बढ़ जाता है, उसी प्रकार हिमनदियों का वेग तंग मार्ग में बढ़ जाता है।

अमरीकी भूवैज्ञानिक **डेमोरेस्ट** (1943) ने चार प्रकार के हिमनदीय प्रवाह बताये हैं। जब घाटी की प्रवणता ऐसी होती है कि हिमनदी धरातलीय अवरोध को पार कर आगे बढ़ती जाती है, तो इसको गुरुत्वीय प्रवाह (gravity flow) कहते हैं।

जब भार की मात्रा अधिक होने पर वेग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, जिसमें अधिक चट्टानी टुकड़े मिलते हैं वह हिमनदी स्थिर हो जाती है और उसके ऊपर हिम का आवरण जम जाता है। इसके कारण हिमनदियों में स्वच्छ तथा अस्वच्छ हिम की नहें तथा अपरूपण तल (shear planes) उत्पन्न हो जाते हैं। इन तलों की वक्रता ऊपर उठी तथा आगे बढ़ी होती है। इसको अवरोधित गुरुत्वीय प्रवाह (obstructed gravity flow) कहते हैं। हिमनदियों की चाल किनारे पर रुकावट पड़ने तथा तलों पर रगड़कर चलने से कुछ मन्द हो जाती है। हिमनदियाँ मध्य में तथा सतह पर तीव्र चलती हैं। छोटी हिमनदियाँ मन्द गति से चलती हैं और विशाल आकार की अधिक तीव्र। इसकी गति पर तापमान का भी प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म ऋतु में इनकी गति में वृद्धि हो जाती है। हिमनदी की गति पर गुरुत्वाकर्षण, पुनर्हिमनदन तथा तापमान का अधिक प्रभाव पड़ता है।

जहाँ संस्तर-शैल बेसिन के रूप का बन जाता है और सामान्य स्थिति से अधिक हिम पड़ जाती है और स्थूल हिम में दबाव में भिन्नता मिलती है तो हिम के आधार तल में बढ़ाव पैदा हो जाता है। इसको बहिर्वेधी प्रवाह (extrusion flow) कहते हैं। यह हिमटोप (ice cap) में उपलब्ध होने वाला प्रवाह है। इसके प्रवाह की दिशा एवं वेग पर हिमतल की प्रवणता का प्रवाह है, धरातलाकृति का नहीं। जब इस प्रवाह में अवरोध उपस्थित हो जाता है तो उसको अवरोधित बहिर्वेधी प्रवाह (obstructed extrusion flow) कहते हैं।

वर्तमान काल में सभी हिमनदियाँ पीछे की ओर हट रही हैं। हिमयुग में ये नदियाँ बहुत अधिक संख्या में थीं और इनका प्रवाह दूर तक आगे बढ़ा हुआ था।

हिमनदी की लम्बाई

हिमनदियों की लम्बाई में बहुत भिन्नता होती है। इसकी निम्नतम सीमा तापमान पर निर्भर करती है। ये हिम के पिघलने से पीछे हटती या नष्ट होती हैं। ये उस स्थान पर लुप्त हो जाती हैं जहाँ हिम के पिघलकर बहने तथा प्रत्यक्ष वाष्पीकरण व हिम के आगे बढ़ने की गति में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इन दोनों विधियों (गलन एवं वाष्पन) द्वारा हिमनदी के नष्ट होने को **अपक्षरण** (ablation) कहते हैं।

हिमक्षेत्रों में हिम की पूर्ति के साधनों के सम्बन्ध में गहरा मतभेद है। प्रमुख वैज्ञानिक **हाब्स** ने सन् 1943 में ग्रीनलैण्ड तथा ऐन्टार्कटिका से बहने वाली प्रबल वायु के आधार पर हिमानी प्रतिचक्रवात को हिमपूर्ति का प्रमुख साधन बताया। इन हवाओं के ऊपर उठने पर वाष्प हिमकण के पक्षाभ मेघों में बदल जाती है और नीचे अवरोहण पर हिम के सम्पर्क में आकर तुहिन (rime) तथा धवल तुषार (hoar frost) बन जाते हैं। **मैथीज** (सन् 1950) ने ग्रीनलैंड में स्थायी प्रतिचक्रवात की **हाब्स** द्वारा की गई कल्पना के सम्बन्ध में बताया है कि ये चक्रवात नहीं, बल्कि कैटावेटिक वायु (katabatic winds) हैं जो गुरुत्व के प्रभाव में चलती हैं। साथ

ही स्पर्शी शीतलन से हिम की इतनी मात्रा नहीं प्राप्त हो सकती है जो हिम की पूर्ति कर सके। मैथीज के मतानुसार दोनों हिम टोपों पर शीत वायु राशियों के किनारे वाताग्र का कार्य सम्पादित करते हैं जिसके फलस्वरूप समुद्री वायु राशि खिंच आती है और चक्रवातीय वर्षा होती है जिससे अधिक हिम की पूर्ति सम्भव होती है।

हिमनदियों का अगला भाग **प्रोथ** (snout) कहलाता है। हिम-क्षेत्र से हिम की पूर्ति तथा क्षय की मात्रा के अनुसार प्रोथ की स्थिति में अन्तर आता रहता है। अधिक तुषारपात वाले प्रदेशों में अधिक हिमपूर्ति तथा कम अपव्यय के कारण हिमनदी आगे बढ़ती है और उष्ण शुष्क प्रदेशों में पीछे हटती है जिससे प्रोथ का सिरा पतला हो जाता है। यह प्रोथ हिम-रेखा के नीचे उस स्थान तक बढ़ती है जहाँ तक पिघलने तथा वाष्पन का कार्य इतना अधिक नहीं हो जाता जो उसके प्रवाह को बिल्कुल बन्द कर दे। इन नदियों के आगे प्रवाहित होने पर तापमान, आयतन एवं वेग का प्रभाव पड़ता है। यदि उनका आयतन अधिक होता है तो गति भी तीव्र होती है।
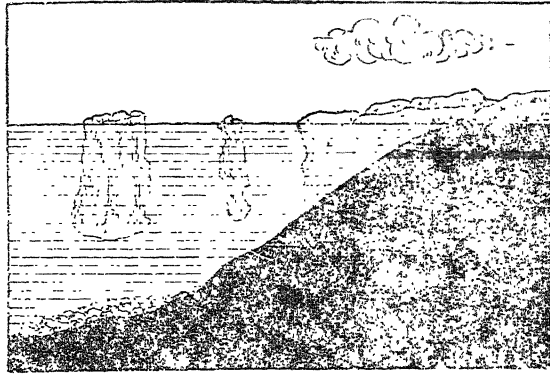
चित्र 195—प्लावी हिमशिलाएँ

प्राय: ग्रीष्मकाल में हिमनदियाँ सिकुड़ जाती हैं और शीत ऋतु में आगे बढ़ जाती हैं। समुद्र के निकट कभी-कभी हिमनदियाँ समुद्री जल तक पहुँच जाती हैं और उनका कुछ भाग टूट-टूटकर समुद्री जल में तैरने लगता है। इस प्रकार समुद्री जल में तैरते हुए बर्फ की शैलों को **प्लावी हिमशैल** (iceberg) कहते हैं।

हिम-क्षेत्रों में हिमवर्षा तथा सूर्यातप के अनुसार ही हिमनदियों की लम्बाई होती है। उष्ण तथा उपोष्ण प्रदेशों की हिमनदियाँ छोटी तथा ऊँचे अक्षांशों में स्थित हिमनदियाँ बड़ी होती हैं।

हिमनदी के प्रकार

हिमनदियाँ हिम-क्षेत्र के समीप प्रारम्भ में चौड़ी होती हैं और उनकी गति भी मन्द होती है। आगे बढ़ने पर ये संकीर्ण घाटियों में बहती हैं जिससे इनकी गति अधिक तेज होती है। इन नदियों की गति इतनी मन्द होती है कि दीर्घकाल तक इनको स्थिर समझने की भूल होती रही है।

रचना तथा स्थिति के विचार से हिमनदियों के तीन वर्ग हैं :

(1) घाटी या पर्वतीय हिमनदी (Valley or Mountain Glacier),

(2) पर्वत-पदीय हिमनदी (Piedmont Glacier),

(3) हिम-चादर तथा हिम-टोप (Ice Sheet or Ice Cap) ।

(1) **घाटी हिमनदी**—घाटी हिमनदी को अलपाइन हिमनदी भी कहते हैं। ये किसी पूर्व निर्मित घाटी में हिमरेखा के नीचे गुरुत्वाकर्पण के प्रभाव के कारण नदी की भाँति गतिशील होती है। ये घाटी की दीवारों के मध्य में सीमित रहती हैं और घाटी के आकार की होती हैं। ये घाटी से बाहर नहीं बहती हैं। ये साधारण प्रकार की हिमनदियाँ हैं। इनकी संख्या केवल आल्प्स पर्वत पर 2,000 है। अलास्का स्थित हुबर्ड हिमनदी विश्व में सबसे लम्बी है जिसकी लम्बाई 130 किलोमीटर से भी अधिक है। हिमालय की हिमनदियाँ भी प्राय: इसी प्रकार की हैं। **रीयो** पंजाब हिमालय की हिमनदी है जिसकी लम्बाई 40 किलोमीटर है। **गंगोत्री, मिलाम** तथा **केदारनाथ** कुमायूँ हिमालय की हिमनदियाँ हैं जो क्रमश: 25, 16 व 14 किलोमीटर लम्बी हैं। नेपाल हिमालय की हिमनदी जेमू की लम्बाई 26 किलोमीटर के लगभग है। हिमालय की अधिकतर हिमनदियाँ 3 किलोमीटर से 6 किलोमीटर लम्बी हैं।

हिमनदियों की मोटाई भी सैकड़ों मीटर तक होती है। इसके छोर पर मोटाई कम होती है। घाटियों में हिम-प्राप्ति के कई साधन होते हैं :

(1) हिम-क्षेत्र से खिसक कर हिमपिण्ड आ जाता है।

(2) घाटी के ऊँचे ढालों पर की तुषार फिसलकर घाटियों में गिर जाती है।

(3) घाटियों में तुपारवृष्टि होती है।

(4) हिम-क्षेत्र से तुपारकणों को वायु उड़ाकर गिराती है।

कुछ हिमनदियाँ प्रपाती घाटियों से होकर बहती हैं। इन्हें निलम्बी हिमनदी (hanging glaciers) कहते हैं। ये मुख्य घाटी-हिमनदी से भिन्न होती है और मुख्य हिमनदी से उस तल पर नहीं मिलती हैं। सिक्कम तथा कश्मीर की हिमनदियाँ इसी कोटि की हैं।

(2) **पर्वत-पदीय हिमनदियाँ**—ये हिमनदियाँ बनावट तथा स्रोत की दृष्टि से घाटी-हिमनदियों तथा हिम-चादर के मध्य की होती हैं। ये पर्वतों के आधार पर बनती हैं। उच्च अक्षांशों के पर्वतीय भागों में जहाँ हिमरेखा कम ऊँचाई पर मिलती है, घाटी हिमनदियाँ निचले प्रदेशों में पहुँच जाती हैं। दो या अधिक घाटी-हिमनदियाँ मिलकर एक विस्तृत रूप बना लेती हैं। ये गिरिपाद हिमनदियाँ अलास्का में अधिक मिलती हैं। यहाँ का **मालस्पीना** सबसे प्रसिद्ध गिरिपाद हिमनदी है। इसका क्षेत्रफल 388 वर्ग किलोमीटर है। इसके किनारे के निकट जो पदार्थ पहले हिम के नीचे दबे थे, अब धरातल पर आकर जमा हो गये हैं। इसे **अपक्षारण हिमोढ़** (ablation moraine) कहते हैं। इसके किनारे पर चीड़ के वन पाये जाते हैं।

(3) **हिम-चादर**—हिम का विस्तृत आवरण हिम-चादर या हिमटोप कहा जाता है। हिम-चादर का आकार एवं मोटाई बहुत अधिक होती है। ये हिमटोप प्रायः पर्वतों की चोटियों पर ही होते हैं तथा उन्हें पूर्ण रूप से दबा देते हैं। एण्टार्कटिक तथा ग्रीनलैण्ड के हिम-चादर इसके उदाहरण हैं। ये महाद्वीपीय हिम-चादर समुद्र पर भी निकले हुए हैं। एण्टार्कटिक हिम-चादर 1.29,50,000 वर्ग किलोमीटर से भी अधिक है। मध्य में इसकी मोटाई 2,500 मीटर से अधिक है।

समुद्र-तट के निकट जहाँ हिम की मोटाई कम होती है, ऊँची पर्वत-चोटियाँ तथा कटक दिखाई पड़ती हैं। इन्हें **नूनाटाक** (nunatak) कहते हैं। इन चोटियों पर हिम नहीं रहता है। किन्तु ये चतुर्दिक हिम से घिरी रहती हैं। पाला और हिमानी अवधाव (avalanche) इसको काटते रहते हैं। धीरे-धीरे ये शिलाखण्ड एक छोटे टीले के रूप में रह जाते हैं।

हिम-विदरों की रचना

घाटी-हिमनदियों को टेढ़े मार्ग से ऊँचे-नीचे ढालों को पार करना पड़ता है। स्थूल तथा कड़ा होने के कारण जब झुकावदार तथा असमतल धरातल पर हिम-नदियों को मोड़ लेना या लुढ़कना पड़ता है तो हिम की रवेदार ठोस प्रकृति के कारण हिमनदियों की ऊपरी सतह पर विभिन्न चौड़ाई तथा गहराई की दरारें बन जाती हैं। इसका प्रमुख कारण उसके दोनों पार्श्वों में खिचाव है। हिमनदियों की गति में परिवर्तन होने पर घाटी के सिरे के निकट तथा कण-हिम के पीछे हिम खण्डित हो जाती है। इस प्रकार गहरे एवं चौड़े हिमदरार को जर्मन भाषा में हिमदर या बर्गश्रुंड (bergschrund) नाम दिया जाता है। इसकी रचना अंशतः कुछ बर्फीली घाटी की खड़ी पिछली दीवार के गुरुत्वाकर्षण के कारण हिमनदी तथा उससे चिपकी हिम के दूर हटने से होती है।

रचना के अनुसार हिम-विदर तीन प्रकार की होती हैं :

(1) अनुदैर्ध्य हिम-विदर (Longitudinal Crevasses),

(2) अनुप्रस्थ हिम-विदर (Transverse Crevasses),

(3) सीमान्त हिम-विदर (Marginal Crevasses)।

(1) **अनुदैर्ध्य हिम-विदर**—जहाँ हिमनदियाँ सँकरी घाटी से चौड़ी घाटी में प्रवेश करती हैं उन स्थानों पर खुली जगह प्राप्त होने पर हिमनदियाँ अपने किनारों की ओर फैलती हैं और हिम-नदियों की लम्बाई के समान्तर दरारें बन जाती हैं। ये दरारें बहाव के समान्तर हो जाती हैं।

चित्र 196—हिम-विदरें

(2) **अनुप्रस्थ हिम-विदर**—हिमनदियों के प्रवाह-मार्ग में पर्वतीय ढाल के बढ़ जाने पर हिम का ढाल अधिक प्रपाती हो जाता है और हिमनदियों की चौड़ाई के

समान्तर हिम-दरारें बन जाती हैं। ये उत्तल होती हैं क्योंकि इस दशा में हिमनदियों का मध्यवर्ती भाग अधिक गति से चलता है।

(3) **सीमान्त हिम-विदर**—ये घाटी हिमनदियों के किनारे पर बनती हैं। नदी की भाँति ही हिमनदियाँ मध्यवर्ती भाग में अधिक तीव्र गति से चलती हैं क्योंकि तली तथा किनारे पर घर्षण के कारण गत्यावरोध उत्पन्न हो जाता है। घाटी के अधिक ढालू पार्श्व के निकट तिरछे तथा सीमान्त हिम-दरारों के कारण हिम विषम एवं नुकीले टुकड़ों के रूप में टूट जाती है और नुकीले हिम-टुकड़ों की बुर्जियाँ-सी बन जाती हैं। इनको सिरेक (serac) कहते हैं। यह फ्रांसीसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है हिम-सतह के नुकीले टुकड़े या अनेक आकार वाले स्तम्भ।

हिम-दरार हिमनदियों के चिकने एवं सपाट ढाल पर स्तम्भें नहीं होते। ये घाटी के विस्तार में परिवर्तन, ढाल में परिवर्तन तथा किनारों की रगड़ के कारण बनते हैं। हिमनदी के आगे बढ़ने तथा दबाव पड़ने पर ये दरार पुनः भर जाते हैं और अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु ऊपरी धरातल पर दरारों के चिन्ह बने रहते हैं। इन्हें सूर्य की किरणें पिघला कर गोल तथा चौड़ी बना देती हैं। ये प्रायः भयानक हिम-पुलों से ढके होते हैं जो हल्के भार से भी नष्ट हो जाते हैं।

हिमनदियों के कार्य

हिमनदियाँ कुछ काल तक आगे बढ़ती हैं, किन्तु कालान्तर में पीछे हट जाती हैं। जब तुषारपात अधिक होता है और प्रवाह-मार्ग में हिम कम नष्ट होता है तो हिमनदी का सीमान्त आगे बढ़ जाता है। जब हिम-क्षेत्र में तुषार कम गिरता है तो मार्ग में अधिक हिम के नष्ट होने पर उसकी पूर्ति नहीं हो पाती। इस दशा में हिमनदी पीछे हट जाती है। उन्नीसवीं शताब्दी में सभी हिमनदियाँ अग्रसर हो रही थीं किन्तु बीसवीं शताब्दी में सभी हिमनदियाँ पीछे हट रही हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के रेनियर पर्वत की एक हिमनदी सन् 1912 में पीछे हटने लगी और सन् 1929 तक पहले स्थान से 230 मीटर पीछे हट गयी। पूरबी अफ्रीका के किलीमंजारो पर्वत की अनेक हिमनदियाँ पीछे हट रही हैं और छोटी होती जा रही हैं। सन् 1926 में केनिया पर्वत पर 14 हिमनदियाँ बहती थीं, किन्तु उनमें आधी लुप्त हो गयी हैं।

हिमनदी के यन्त्र—हिमनदियों में प्रचुर मात्रा में चट्टानी पदार्थ होते हैं। ये चट्टानी पदार्थ मुख्यतः हिमानी अवधाव (avalanche) तथा पाला के कारण घाटी के किनारों की शैलों के टूटने से प्राप्त होते हैं। उत्पादन-प्रक्रम (process of plucking) द्वारा कुछ चट्टानी पदार्थ तलीय शैलों से भी मिल जाते हैं। ये शिलाखण्ड हिमनदियों में जम जाते हैं और हिम-मण्डित हो अदृश्य हो जाते हैं। वायु के झोंके से भी घाटी के दोनों पार्श्वों से शिला-चूर्ण मिल जाते हैं और हिमनदी की परतों में जम जाते हैं। हिम तथा शिलाखण्ड ही हिमनदियों के यन्त्र हैं।

हिमनदियों के कार्य के अन्तर्गत भी तीन क्रियाएँ आती हैं—अपरदन, परिवहन

तथा निक्षेपण। ये तीनों क्रियाएँ एक साथ मिलकर हिमनदन (glaciation) कहलाती हैं।

हिमनदियों के कार्य के अध्ययन के पश्चात् तीन प्रकार के विचारक सामने आते हैं :

(1) **प्रतिरक्षात्मक मतावलम्बी** (Protectionist School)—इस मत के प्रतिपादक स्विस भूविज्ञानी **हीम** ने सन् 1885 में यह विचार प्रस्तुत किया कि हिमनदियाँ भूपटल की रक्षा का कार्य करती हैं।

(2) **अपरदनात्मक मतावलम्बी** (Erosionist School)—जर्मन गणितज्ञ **एल० ओ० हेस** ने सन् 1904 में यह विचार व्यक्त किया कि हिमनदियाँ अपरदन का कार्य व्यापक रूप से करती हैं।

(3) **तीसरे विचार** के लोगों का मत है कि हिमनदियाँ धरातल की रक्षा तथा अपरदन दोनों कार्य करती हैं। जब हिम स्थायी रूप से जमा रहती है तो धरातल की रक्षा होती है, किन्तु जब हिम गतिमान हो जाती है तो धरातल के अपरदन का कार्य होने लगता है।

अपरदन

हिमनदियों द्वारा अपरदन घर्षण-क्रिया से होता है। इस कार्य में पाला तथा हिमानी की भी सहायता महत्त्वपूर्ण होती है। अकेली हिमशिलाएँ शैलों को नहीं घिस सकती हैं, किन्तु तली तथा पार्श्व में जमे हुए शिलाखण्डों की रगड़ से शैलें बड़ी शीघ्रता से घिस जाती हैं। प्रायः हिमानी के शिलाखण्ड की रगड़ खाकर पतले तथा चिकने होते रहते हैं। कालान्तर में घिसते-घिसते ये गोल हो जाते हैं। इन शिलाखण्डों के विचित्र रूप तथा आकार बन जाते हैं। इन पर हिम द्वारा खरोंच के निशान इतने गहरे होते हैं कि अनेक सालों तक वे अमिट रहते हैं। हिम-शिलाखण्डों द्वारा घाटी के किनारे पर भी खरोंच बन जाती हैं। हिमनदी के अग्रसरित होने की परिस्थितियों में असहाय उभरे पड़े शिलाखण्डों को हिमनदी उखाड़ देती है। उदग्र सन्धि वाली तथा अवसादी शैलों में यह क्रिया अधिक होती है क्योंकि हिम के पिघलने से सन्धियों तथा छिद्रों में जल भर जाता है और शैलों को तोड़कर खोखला करता रहता है। कालान्तर में यह खोखला झील का रूप ग्रहण कर लेता है। अपरदन की यह क्रिया जो क्रमशः हिम के जमने तथा पिघलने से होती है, **कण-हिम-प्रभाव** या **निवेशन** (nivation) कहलाती है।

हिमनदियों का अपरदन निम्न तथ्यों पर आधारित होता है :

(1) हिमनदियों की मोटाई,

(2) हिमनदियों द्वारा परिवाहित चट्टानी पदार्थ की मात्रा,

(3) हिमनदियों का वेग,

(4) तलीय शैलों की बनावट।

(1) **हिमनदियों की मोटाई**—हिमनदियों द्वारा अपरदन में हिम की मोटाई का

बड़ा प्रभाव पड़ता है। जितनी अधिक हिम रहती है उतना ही अधिक कटाव होता है। हिमनदियों के मध्य भाग में कम अपरदन होता है। कभी-कभी इनकी पतली परत तलीय शैलों के ऊपर से बिना किसी प्रकार के अपरदन किये हुए निकल जाती है।

(2) **चट्टानी पदार्थ की मात्रा**—पाला-क्रिया से शिलाखण्ड हिमनदियों में मिल जाते हैं। कभी-कभी शिलाखण्ड हिम-दरार में घुसकर हिमनदियों के तले में आ जाते हैं। इनके घर्षण से तलीय शैलें टूट जाती हैं और सर्वदा घिसती रहती हैं। जहाँ हिमनदियों में शिलाखण्डों का जमाव कम होता है वहाँ अपरदन कम होता है, किन्तु जहाँ जमाव अधिक रहता है वहाँ अधिक अपरदन होता है। हिमनदियों के किनारे भी शिलाखण्डों की रगड़ से कटते रहते हैं और शिलाचूर्ण हिमनदी में सम्मिलित होता रहता है और हिमनदियों द्वारा परिवाहित होता रहता है। इस अपरदन के फलस्वरूप तलीय शैलें चिकनी, चमकदार, गोलाकार तथा सपाट हो जाती हैं।

हिमनदियों की घाटी में घर्षण के कारण हिम-रेखांकन (striae) बन जाती हैं। ये हिमनदियों के बहाव की दिशा इंगित करती हैं।

(3) **हिमनदियों का वेग**—हिमनदियों का जितना अधिक वेग होता है उनसे उतना ही अधिक अपरदन होता है। साधारणतः हिमनदियों की घर्षण-शक्ति उनकी गति के मान के अनुसार बदलती रहती है। अतः तीव्र ढाल का धरातल हिमनदियों द्वारा तीव्र अपरदन में सहायक होता है। मन्द गति से प्रवाहित होने वाली हिम-चादर तीव्रगामी घाटी-हिमनदियों से अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली होती है, इसी कारण कम अपरदन करती है।

(4) **तटीय शैलों की बनावट**—तटीय मुलायम शैलें शीघ्रता से कट जाती हैं किन्तु कठोर शैलों के कटने में समय लगता है। कठोर शैलें हिमनदियों के वहाव में अवरोध उपस्थित करती हैं और शृंग (crags) बनने लगते हैं। दूर-दूर सन्धि वाली शैलों की अपेक्षा निकट सन्धि वाली शैलें अधिक सुगमतापूर्वक टूट जाती हैं। ऐसे भागों में घाटी का तल अधिक गहरा हो जाता है और छोटी झीलों की एक शृंखला बन जाती है। गुरियों की तरह होने के कारण इन्हें सरोवरमाला
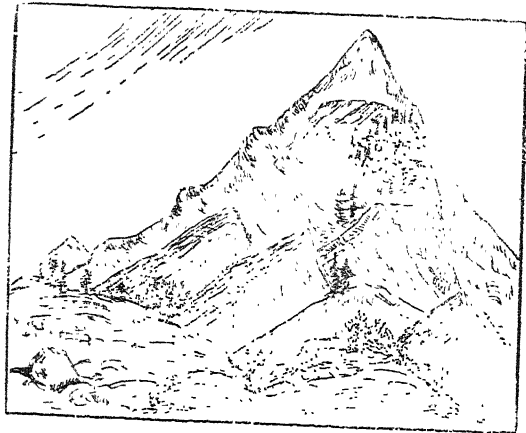
चित्र 197—हिमशृंग

(paternoster lakes) कहते हैं। इस प्रकार एक ही समय विभिन्न प्रकार का अपरदन हिमनदियों से प्रभावित घाटी में सीढ़ीनुमा आकृति उपस्थित कर देता है। इसको **हिमानी सोपान** (glacial staircase) की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह घाटी की पूरी चौड़ाई में फैली रहती है। इसकी ऊँचाई 30 मीटर से लेकर 300 मीटर तक होती है। इसका सुन्दर विकास **योसेमाइट** (सं० रा० अमरीका) की घाटी में पाया जाता है। कभी-कभी हिमनदी की घाटी में भ्रंशन से भी यह आकृति बन जाती है। इन्हें **भीम सोपान** (cyclopean staircase) भी कहते हैं।

चित्र 198—भीम सोपान

अपरदन-जनित अनुपम स्थलरूप

हिमनदी के अपरदन से पर्वतीय ढालों पर निम्न आकृतियाँ बन जाती हैं :

(1) हिमज-गह्वर (Cirque or Corrie or Chasm or Cwm);

(2) गिरिश्रृंग (Horn);

(3) यू-आकार की घाटी (U-shaped Valley) ;

(4) निलंबी घाटी (Hanging Valley);

(5) भेड़पीठ शैल या राशिमूटोने (Roches Mountonnees or Sheep Rock);

(6) फिओर्ड (Fiord)

(1) हिमज-गह्वर—हिमनदी उच्च पर्वतीय भागों से नीचे को उतरती है तो पर्वतीय ढालों पर बहुत गड्ढे बनाती है जो धीरे-धीरे बढ़कर गहरे गर्त हो जाते हैं। कालान्तर में ये गर्त इतने गहरे तथा चौड़े हो जाते हैं कि हिमनदियों का जन्म एवं पोषण इनसे होता है। यही हिमज-गह्वर कहलाता है। इसको स्काटलैण्ड में कोरी (corrie), जर्मनी में कारेन (karen), वेल्स में स्विम (cwm), फ्रांस में सर्क (cirque) तथा स्कैण्डेनेविया में केसेल (kassel) की संज्ञा प्रदान की गयी है। पीरेनीज पर्वत का **गोवरनी का गर्त** (Cirque de Governie) एक प्रसिद्ध हिमज-गह्वर है।

दूर से देखने पर हिमज-गह्वर अर्द्धगोल रंगशाला (amphitheatre) की भाँति घाटी प्रस्तुत करता है। यह तीव्र ढाल वाली ऊँची-नीची चोटियों से घिरा रहता है। हिमरिक्त हिमज-गह्वर की आकृति आरामकुर्सी की भाँति होती है।

इनकी उत्पत्ति के विषय में अमरीकी विद्वान् **मात्थेज तथा जानसन** ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। **जान्सन** ने सन् 1904 में बताया कि सर्क एक चौड़ी विदर या बर्गश्रंड के स्थान पर बनता है। यह हिमनदी के शीर्ष पर होता है। विदर में हिमनदी का जल प्रवेश करता है और आन्तरिक शैलों का रासायनिक अपरदन करता है। इसको **बर्गश्रंड सिद्धान्त** (Bergschrund Theory) कहा गया। किन्तु सर्क पर्याप्त ऊँचाई पर बर्गश्रंड रहित स्थानों पर मिलते हैं। इस आधार पर **डेविस** महोदय ने सन् 1940 में उपरोक्त परिकल्पना में संशोधन प्रस्तुत किया। इनके मतानुसार ग्रीष्मकाल में दिन में हिमनदी के पिघले हिम से प्राप्त जल शैलों की संधों एवं दरारों में प्रविष्ट हो जाता है और रात्रि में जम जाता है तो इसके आयतन में वृद्धि हो जाती है। यह क्रिया निरन्तर जारी रहती है। इस कारण शैलें टूट-फूट जाती हैं। यही विशाल गड्ढा सर्क कहलाता है। ये टुकड़े हिमनदी की धीमी गति द्वारा हटा दिये जाते हैं। इस क्रिया को **हिम-अधःखनन** (glacial sapping) कहते हैं।

चित्र 199—हिमज-गह्वर में हिमनदी का शीर्ष

इस प्रकार हिम-कटाव से खोखला बड़ा हो जाता है और इसमें हिम-शिलाएँ चोटियों से गिरकर एकत्र होने लगती हैं और गर्त के पेंदे को गहरा बना देती हैं। इस गह्वर से बहने वाली हिमनदी लटकी हुई ज्ञात होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि ये हिमज-गह्वर हिमनदियों के स्रोत स्थल हैं। जब ऊष्मा के बढ़ने पर हिमनदी पिघलकर नष्ट हो जाती है तो गड्ढा झील का
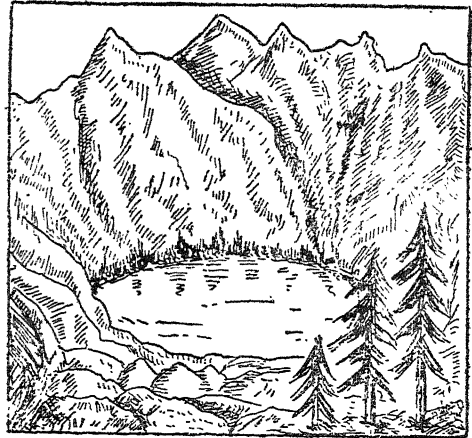
चित्र 200—गिरिताल

रूप धारण कर लेता है। इन्हें **गिरिताल** (tarn) कहते हैं। इनसे पर्वतीय दृश्य मनोरम तथा चित्ताकर्षक बन जाता है।

हिमज-गह्वर की दीवालों पर पाला के अपरदन से खड़ी पृष्ठ की दीवाल असमतल होती है किन्तु इसका पेंदा घिसाव से चिकना हो जाता है। फिनलैंड में गिरिताल मिलते हैं। कभी-कभी ये गड्ढे लम्बे हो जाते हैं तो इनकी झीलें अंगुली-झीलें (finger lake) कहलाती हैं।

(2) **गिरिश्रृंग**—दो हिमज-गह्वर जो समान कोण पर मिलते हैं और अपने शीर्ष की दीवार को तीव्रता से अपरदित करते हैं, एक ढालू शिखर वाली कटक का निर्माण करते हैं। इनको **तीक्ष्ण कटक** (arete) कहते हैं। यह शब्द फ्रेंच भाषा से लिया गया है। जब किसी पर्वत के विभिन्न पार्श्वों पर हिमज-गह्वर एक-दूसरे से
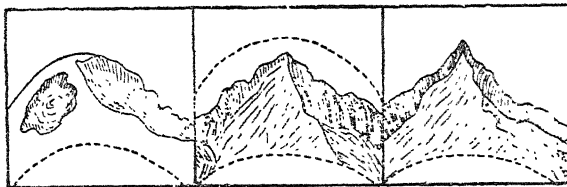
सामान्य स्थिति तीक्ष्ण-कटक श्रृंग

चित्र 201—तीक्ष्ण-कटक तथा श्रृंग

विपरीत बन जाते हैं और निरन्तर अभिशीर्ष अपरदन होता जाता है तो कालान्तर में एक ठोस पिरामिड की आकृति की चोटी बन जाती है। इसको **गिरिश्रृंग** (horn) कहते हैं। इसके उदाहरण आल्प्स पर्वत (स्विट्जरलैण्ड) पर मैटरहार्न (Matterhorn) तथा जंगफ्रा (Jungfrau) हैं। हिमालय पर्वत पर बद्रीनाथ के निकट का शिवलिंग भी इसी प्रकार बना है। गिरिश्रृंगों को तीक्ष्ण कटक मिलाती हैं।

जब अनवरत अभिशीर्ष अपरदन से तीक्ष्ण कटक कट जाती हैं तो एक विशाल खड्ड बन जाता है और आर-पार मार्ग खुल जाता है। यहाँ दोनों हिमनदियाँ जुड़ी प्रतीत होती हैं। इसको **हिम खड्ड** या **काल** (col) कहते हैं।

(3) **यू-आकार की घाटी**—हिमनदी नई घाटी का निर्माण नहीं करती है बल्कि पूर्व निर्मित नदी-घाटियों को ही परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करती है। नदी-घाटियों के **पर्वत-प्रक्षेप** (spur) हिम के अनवरत घिसाव एवं कटाव से नष्ट हो जाते हैं। फलतः घाटियाँ चौड़ी हो जाती हैं और किनारे लगभग खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार हिमज घाटियों का आकार
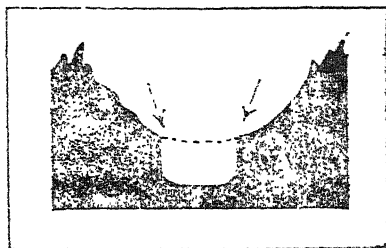
चित्र 202—यू-आकार की घाटी

अंग्रेजी के U अक्षर का सा बन जाता है। ये घाटियाँ गहरी बन जाती हैं और पेंदा चौड़ा तथा चौरस हो जाता है। इसके किनारे तीव्र ढालू तथा अवतल होते हैं। अतः इस घाटी का तल ऊपरी भाग से दृष्टिगोचर होता है।

घाटी का विकास शैलों की रचना तथा हिमानी का विकास-अवस्था पर निर्भर करता है। इस प्रकार की घाटी का विशिष्ट उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका में स्थित **योसेमाइट** घाटी है।

चित्र 203—निलम्बी घाटी का चित्र

ब्रिटिश भौतिकशास्त्रवेत्ता जान **टिण्डाल** के मतानुसार ये घाटियाँ पूर्णतः हिमनदियों द्वारा निर्मित होती हैं। इनके निर्माण में जल का कोई विशेष सहयोग नहीं होता है। किन्तु विद्वानों का एक दूसरा वर्ग **टिण्डाल** के मत को अस्वीकार करता है। दूसरे वर्ग के मतानुसार यू-आकार की घाटियों की प्रारम्भिक रचना प्रवाहित जल से होती है और बाद में हिमनदियों द्वारा उनका पूर्ण विकास हो जाता है।
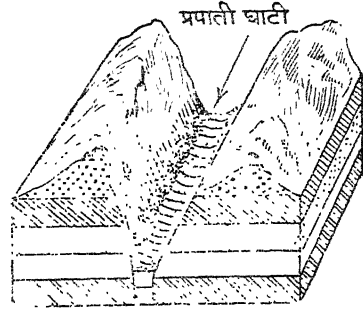
(4) **निलम्बी घाटी**—हिमनदी प्राचीन नदी-घाटियों से प्रवाहित होती है। मुख्य घाटी की विशाल हिमनदी सहायक घाटी की हिमनदियों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से अपनी तली को गहरा करती है। फलतः मुख्य नदी तथा सहायक नदी के संगम-स्थल पर तीव्र ढाल पैदा हो जाता है। जब हिम पिघल जाती है तो सहायक नदी का जल झरने के रूप में मुख्य नदी में गिरने लगता है। सहायक नदी की घाटी मुख्य नदी की घाटी के ऊपर लटकी हुई प्रतीत होती है। यह निलम्बी घाटी है। इस प्रकार की घाटी का सर्वोत्तम उदाहरण कैलिफोर्निया के सियरा नेवादा पर्वत की योसेमाइट घाटी है। नार्वे, चिली, एलास्का आदि देशों के फिओर्ड सम्भवतः इसी प्रकार की घाटियों के प्रवेश-द्वार हैं।

चित्र 204—निलम्बी घाटी में प्रवाहित नदियाँ
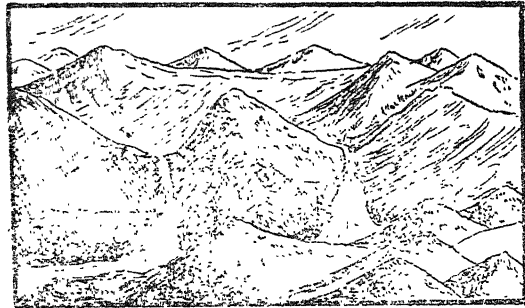
विद्वानों के एक वर्ग द्वारा मुख्य घाटी की तली के गहरा होने का कारण हिमनदी नहीं, बल्कि साधारण नदी बताया जाता

है। इनके अनुसार मुख्य घाटी को नदी तीव्रता से गहरा कर देती है जबकि सहायक घाटियाँ हिमनदी से ढकी रहती हैं और अपरदन से सुरक्षित रहती हैं। हिम के समाप्त हो जाने पर सहायक घाटियाँ लटकती-सी दिखायी देती हैं। आल्प्स पर्वत में सेण्ड गोथार्ड दर्रे के समीप र्‍यूस (Reuss) नदी की सहायक घाटी इसी प्रकार की है।

(5) **भेड़पीठ शैल**—हिमनदियाँ टेढ़े-मेढ़े मार्ग से प्रवाहित नहीं होती हैं। प्राय: मार्ग में अवस्थित अवरोधों को वे काट-पीट तथा घिसकर छोटे तथा चिकने बना देती हैं। इस प्रकार घाटी-तली में निम्न गोलाकार टीले बन जाते हैं। आल्प्स पर्वत की डोलोमाइट शैलों के घिस जाने के फलस्वरूप उनकी घाटियों में छोटी-छोटी पहाड़ियाँ बन गयी हैं। ये टीले दूर से देखने पर बैठी भेड़ की तरह दृष्टिगोचर होते हैं। अत: इनको **सोसर** महोदय ने भेड़पीठ शैल (roche mounton-nees) की संज्ञा प्रदान की। फ्रांसीसी भाषा के इस शब्द का अर्थ भेड़ के आकार की शैल होता है। घाटी-तल में मुलायम शैलों द्वारा कठोर शैलों के घिरे रहने पर भी भेड़-शिला का निर्माण होता है। इनका वह भाग जिससे हिमनदियाँ गतिशील होती हैं, साधारण ढाल का होता है और वाती पृष्ठ (stoss-side) कहलाता है और दूसरा अनुवात पृष्ठ (lee-side) कहलाता है। यह खड़ा तथा ऊबड़-खाबड़ होता है और जोड़ की शैलों के टूटने के कारण सोपान की भाँति बन जाता है।
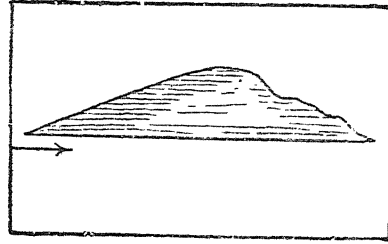
चित्र 205—भेड़पीठ शैल
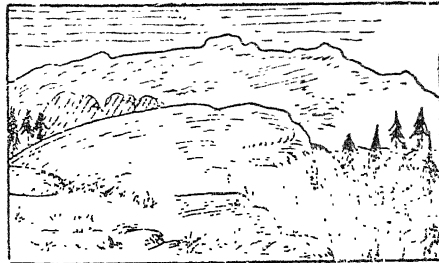
चित्र 206—भेड़पीठ शैल

भेड़पीठ शैल हिमाच्छादित घाटियों तथा मैदानों में मिलती हैं। उभड़े हुए शिलाफलक हिम के गतिशील होने से चिकने, धारीदार तथा गड्ढेदार बन जाते हैं। इनकी रचना का कारण शैलों का अधिक शक्तिशाली होना है, अर्थात् न तो शैलें कठोर हैं न वे आच्छादन के पूर्व के अवशिष्ट रूप हैं, जिनका हिमाच्छादन द्वारा रूप-परिवर्तन हुआ है।

ओटो पलकोजर महोदय का मत है कि हिमनदी के मार्ग में छोटे पहाड़ी टीले पड़ जाते हैं तो हिमनदी के सम्मुख पड़ने वाला पार्श्व घिसकर चिकना हो जाता है और इस पर धारियाँ (striae) भी बन जाती हैं। इस किनारे का ढाल सामान्य रहता है। किन्तु इन चट्टानी टीलों का दूसरा पार्श्व अत्यन्त ढालू तथा ऊबड़-खाबड़ रहता है।

इसका कारण यह है कि उतार के समय हिमनदी का घर्षण कम रहता है और कुछ अन्तर से हिमनदी की रगड़ पड़ती है। अतः संकीर्ण सोपानों की पंक्ति बन जाती है। ये भेड़शिलाएँ हिमनदी के प्रभाव में ऊँची उठी हुई लहरों के सदृश दिखायी देती हैं। स्विस आल्प्स की लाउटरब्रुनेन घाटी (Lauter-Brunnen Valley) में इसका प्रमुख उदाहरण मिलता है।
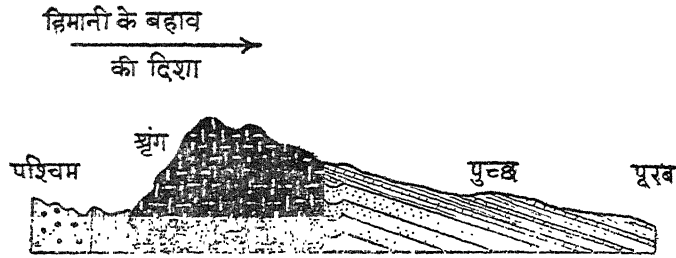
चित्र 207—बेसाल्ट की कड़ी शैल

जब मार्ग में कोई बहुत कड़ी शैल जैसे ज्वालामुखी शैल पड़ जाती है तो हिमनदी इसे काट नहीं पाती है और इसके दूसरी ओर शिला चूर्ण जमा कर देती है। इस आकृति को शृंग-पुच्छ अपरदन (crag and tail erosion) कहते हैं।

(6) **फिओर्ड**—हिमनदियों द्वारा अपरदन की एक विशेषता यह है कि हिमनदियाँ अपनी घाटी को समुद्र-तल से नीचे भी काटती हैं क्योंकि उच्च अक्षांशों में घाटियों का हिमाच्छादन समुद्र तक होता है। यह हिमनदियों द्वारा अतिखनन (over-deepening) कहलाता है। फिओर्ड हिमनदी के कटाव तथा भ्रंशन से बनता है। इनमें तट के सहारे अधिक गहराई मिलती है और दूर तक उथला समुद्र रहता है। ये खड़े ढाल के किनारों तक प्रक्षिप्त चट्टानी भाग के मध्य धँसे हुए घाटी गर्त हैं। नार्वे, ग्रीनलैण्ड, लैब्रोडोर, एलास्का, चिली तथा न्यूजीलैण्ड के समुद्र-तटों पर फिओर्ड विशेष रूप से मिलते हैं। हिमयुग में ये घाटियाँ और चौड़ी तथा गहरी बन गयी हैं। यह शब्द स्कैन्डिनेविया से मिला है।

चित्र 208—नार्वे का फिओर्ड

निक्षेपण एवं तत्सम्बन्धित रूप

हिमनदियाँ अपने साथ चट्टानी पदार्थों को बहा ले जाती हैं। इन पदार्थों में बारीक कण से लेकर 10 से 15 मीटर व्यास के विशाल शिलाखण्ड भी होते हैं। ये

सभी आकार के शिलाखण्ड एक साथ मिले रहते हैं। इनको हिमोढ़ (moraines) कहा जाता है। अपनी रचना की स्थिति के अनुसार ये हिमोढ़ कई प्रकार के होते हैं जिनमें मुख्य निम्न प्रकार हैं :

(1) पार्श्विक हिमोढ़ (Lateral Moraines),
(2) मध्यस्थ हिमोढ़ (Medial Moraines),
(3) तलस्थ हिमोढ़ (Ground Moraines),
(4) अन्तस्थ हिमोढ़ (Terminal Moraines)।

(1) **पार्श्विक हिमोढ़**—जब हिमनदी हिमरेखा के नीचे प्रवाहित होने लगती है तो हिम पिघलने लगती है और यह क्रिया किनारों पर अधिक प्रभावशाली होती है। इस प्रकार हिमनदी शिलाखण्डों के बोझ को किनारे पर छोड़ने लगती है। शिलाखण्डों की इस प्रकार एकत्र असम्बद्ध राशि पार्श्विक हिमोढ़ कहलाती है। यह जमाव कटक (ridge) के तुल्य होता है जिसकी ऊँचाई 30 मीटर या इससे भी अधिक होती है। ये अकेली कटक के रूप में होती है और शिलाखण्डों की राशि बिखरी हुई रहती है।
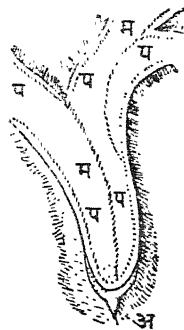
चित्र 209—विभिन्न प्रकार के हिमोढ़
प—पार्श्विक हिमोढ़
म—मध्यस्थ हिमोढ़
अ—अन्तस्थ हिमोढ़

(2) **मध्यस्थ हिमोढ़**—जब दो हिमनदियाँ मिलती हैं और मिलकर आगे बढ़ती हैं तो उनके संगम पर भीतरी किनारे के पार्श्विक हिमोढ़ भी मिल जाते हैं। इस प्रकार मिली हुई हिमनदियों की सतह के मध्य में हिमोढ़ के टीले बन जाते हैं। ये मध्यस्थ हिमोढ़ कहलाते हैं। ये सँकरी कटक के रूप में प्रवाह की अनुरूप दिशा में स्थिर होते हैं और कभी-कभी हिम-प्रवाह के नीचे दब जाते हैं।

(3) **तलस्थ हिमोढ़**—जब हिमनदियों का निचला भाग शिलाखण्डों की प्रचुरता से भारी पड़ जाता है और हिमनदियाँ उनको घसीट ले जाने में असमर्थ हो जाती हैं तो वे शिलाखण्ड तलीय भाग में मार्ग में ही छूट जाते हैं। हिमनदियों के पिघलने पर भी शिलाचूर्ण घाटी की तली में फैल जाते हैं। इन्हें तलस्थ हिमोढ़ कहते हैं। मोटाई की दृष्टि से ये टीले पतले तथा ऊबड़-खाबड़ होते हैं क्योंकि हिम-प्रवाहित शिलाखण्डों का घाटी की तली में असमान वितरण होता है। इनमें शैलों के बारीक कणों के साथ धारीदार तथा खरोंचपूर्ण शिलाखण्ड भी होते हैं। इन्हें गोलाश्म (boulders) भी कहते हैं।

(4) **अन्तस्थ हिमोढ़**—जब हिमनदियों के अन्तिम छोर पर हिम की मात्रा बहुत

कम रह जाती है तो हिमनदी द्वारा प्रवाहित शिलाचूर्ण-राशि एकत्र हो जाती है। इस प्रकार की शिलाचूर्ण-राशि को अन्तस्थ हिमोढ़ कहते हैं। जब हिमनदी कभी पीछे हटती है तो अन्तस्थ हिमोढ़ कुछ पीछे हटकर एकत्र हो जाते हैं। इस प्रकार निर्मित टीलों का मध्य भाग आगे प्रक्षिप्त रहता है क्योंकि मध्यवर्ती भाग में हिमनदियों की गति किनारे वाले भागों की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार अन्तस्थ हिमोढ़ ढाल की ओर उत्तल होते हैं। जर्मनी में इनकी बहुतायत है।

जब हिमनदी पीछे हटती है तो इसका अन्तिम छोर अलग-अलग स्थितियों में रुकता जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अवस्था में कुछ निक्षेप होता है। इनको प्रतिसारी हिमोढ़ (recessional or stadial moraines) कहते हैं। प्रतिसारी हिमोढ़ के अर्धचन्द्राकार रूप जिनके मध्य जल एकत्रित मिलता है उन्हें **केटली हिमोढ़** (kettle moraine) कहते हैं। प्रतिसारी हिमोढ़ प्रायः अन्तस्थ हिमोढ़ के समान्तर होते हैं। ये पतले तथा असम्बद्ध होते हैं।

जब हिमनदियों का प्रवाह-मार्ग बदलता है तो शिलाखण्ड हिमनदियों के अग्र भाग से फिसल कर गिर पड़ते हैं और किनारा इधर-उधर हट जाता है। इस दशा में गोलाकार कंकड़ तथा शिलाचूर्ण और वायु-प्रवाहित किलाखण्ड के निक्षेप पड़ जाते हैं। इनको अपक्षरण हिमोढ़ (ablation moraines) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त दो प्रकार के अन्य हिमोढ़ होते हैं—अन्तर्हिमानी हिमोढ़ (englacial moraines) तथा अधोहिमानी हिमोढ़ (sub-glacial moraines)। ये उन शिलाचूर्णों की ओर संकेत करते हैं जो हिमनदियों के हिम में संयुक्त होते हैं और उनका कोई निक्षेपीय रूप नहीं होता है। जो शिलाचूर्ण हिमनदियों के हिम में बन्द रहते हैं और जिनसे ठोस हिम में स्तर बन जाते हैं (ये धूलि-कण हिम-दरारों से होकर हिम में भी धँस जाते हैं) अन्तर्हिमानी हिमोढ़ कहलाते हैं। जो शिलाचूर्ण हिमनदियों की तली के निकट पाये जाते हैं, अधोहिमानी हिमोढ़ हैं।

अन्तरित निक्षेप (unstratified moraines) की हिमनदियाँ अपने साथ अनेक आकार-प्रकार के शिलाखण्डों को बहा ले जाती हैं और सुदूर जाकर इन टुकड़ों का निक्षेपण कर देती हैं और वहाँ की संरचना से इन पिण्डों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। ऐसे शिलाखण्डों के निक्षेप को विस्थापित शिलाखण्ड (erratic blocks) कहते हैं।

गोलाश्मी मृत्तिका—हिमनदियों के निक्षेप में भारी शिलाखण्ड तथा बारीक चूर्ण एक साथ निक्षेपित होते हैं। यह बिना स्तर का होता है और जल द्वारा प्रवाहित नहीं होता है। इसको गोलाश्मीमृत्तिका (till) कहते हैं। यह महाद्वीपीय हिमनदियों द्वारा निक्षिप्त सबसे साधारण तलीय हिमोढ़ होता है। इसमें गोलाश्म (boulders) छिटकी हुई होती हैं। इससे निर्मित शैलें बट्टड़ शैल या टिलाइट (*tillite*) कहलाती हैं। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग स्काटलैंड में होता था।

दु:स्थित शैलखण्ड—विस्थापित शैलखण्डों में से कुछ अस्थिर दशा में ऊँचाई पर छींट दिये जाते हैं। इनको दु:स्थित शैलखण्ड (perched blocks) कहते हैं। कभी-कभी ये बहुत बारीकी से हिमनदी के निक्षेप के ऊपर रुके रहते हैं। इस दशा में इन्हें फुन्सी पत्थर (pocking stones) कहते हैं।

हिमनदियों की ऊपरी तली पर स्थित धूलि-कण अधिक सूर्यातप ग्रहण करते हैं। अत: धूलि-कण से आच्छादित भाग के नीचे की हिम पिघल जाती है और छोटी घाटियाँ बन जाती हैं। इन्हें धूलि-कूप (dust-well) कहते हैं। किन्तु यदि शिला-खण्डों की मोटाई अधिक होती है तो इसके प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। ये शिलाखण्ड एक टोपी का कार्य सम्पन्न करते हैं और नीचे स्थित हिम को पिघलने से रोकते हैं। जैसे-जैसे चारों ओर की हिम पिघलने लगती है, हिमनदी के ऊपर बहुत बड़े-बड़े पिण्ड स्थिर रह जाते हैं और ये हिमानी पट्ट (glacial table) कहलाते हैं।

तापमान के बढ़ जाने पर हिमनदी की ऊपरी सतह पर पिघलाहट तथा वाष्पी-करण प्रारम्भ हो जाता है। यह कार्य अधिकतर ग्रीष्म ऋतु में होता है। इसकी उपज जल है। जहाँ ढाल अनुकूल होता है वहाँ यह हिम-जल हिमनदी की ऊपरी सतह पर छोटी धाराओं के रूप में परिणत हो जाता है। जहाँ ढाल इसके विपरीत होता है वहाँ झीलें बनती हैं। उपर्युक्त धाराएँ हिमनदी के हिम-दरारों में गिरती हैं और उन हिमनदियों द्वारा प्रवाहित शिलाखण्डों के भँवरदार कार्य से हिम में बेलनाकार खोखले बन जाते हैं। ये **हिमनदी-भँवर** (moulines) कहलाते हैं। ऐसे खोखले कभी तलीय शैलों तक पहुँच जाते हैं और उन पर जलगर्तिक चिह्न (pot-hole marks) छोड़ देते हैं। प्राय: ये भँवर हिमनदी के हिम में उपस्थित कन्दराओं में विलीन हो जाते हैं और अधोहिमानी सरिताएँ (sub-glacial streams) बनाते हैं। ये जलधाराएँ कन्दराओं से होकर हिमनदी के अगले भाग में नीचे से बाहर निकलती हैं तथा पर्याप्त मात्रा में सूक्ष्म घुलित पदार्थ लाती हैं। इन घुलित पदार्थों से जलधाराओं का जल दूधिया (milky) हो जाता है। इस प्रकार की जलधाराएँ हिमानी दूधिया (glacial milk) कहलाती हैं। हिमनदियों में स्वत: प्रवाहित होने वाली जलधाराएँ अन्तर्हिमानी सरिताएँ (englacial streams) कहलाती हैं। वे जलधाराएँ जो हिमनदियों के ऊपरी तल पर बहती हैं, अधिहिमानी सरिताएँ (super-glacial streams) कह-लाती हैं।

हिमनदियों द्वारा प्रवाहित क्षेत्र में हिम के पिघलने के बाद छोटे-छोटे खोखले बन जाते हैं जिनका व्यास कई किलोमीटर तक होता है। प्राय: इनमें जल भरा रहता है। ये खोखले जलगर्तिका (kettle holes) कहलाते हैं। जब ये गड्ढे छोटी-छोटी झीलों का रूप ग्रहण कर लेते हैं तो इन्हें जलगर्तिका तड़ाग (kettle ponds) कहते हैं।

हिमनदोढ़ टिब्बा—कतिपय हिमानी क्षेत्रों में गोलाश्म तथा लसीली मिट्टी के टीले मिलते हैं जिनमें कभी तलीय शैलों के टुकड़े भी पाये जाते हैं। इनकी आकृति लम्बाई में दो भागों में विभक्त अण्डे की होती है। इसीलिए इनको अंडों की टोकरी (basket of eggs) भी कहते हैं। इनकी तुलना उल्टी नाव या उल्टे चम्मच से भी की जाती है। इसको हिमनदोढ़ टिब्बा (drumlin) की संज्ञा प्रदान की गयी है। इनमें गोलाश्म मृत्तिका का अंश अधिक होता है, किन्तु तली में कठोर

चित्र 210—अंडों की टोकरी की स्थलाकृति

शिलाखण्ड भी मिल जाते हैं। इनकी लम्बी पूँछ हिम-प्रवाह के समान्तर होती है। इनकी ऊपरी सतह भद्दी होती है और ढाल की सतह चिकनी तथा साधारण ढाल की होती है। ये आकार एवं ऊँचाई में अनेक प्रकार की होती हैं। इनके बड़े आकार लम्बाई में एक किलोमीटर से अधिक तथा ऊँचाई में 60 मीटर तक होते हैं। इनकी ऊपरी सतह ऐसी होती है कि हिम-प्रवाह में न्यूनतम अवरोध उत्पन्न होता है। भेड़शिलाओं के विपरीत इनके सामने के किनारे खड़े होते हैं और पृष्ठ के किनारे हल्के ढाल के होते हैं।

इनका निर्माण मोटी हिम की तह तथा तली में तलछट के अधिक भार के क्षेत्रों में होता है। इनमें स्तर नहीं पाये जाते हैं। बहुधा इनके समूह के समूह पाये जाते हैं। दक्षिणी-पूर्वी विसकोंसिन (सं० रा० अमरीका) में इसके अनेक उदाहरण हैं। बोस्टन के समीप बंकर पहाड़ी भी एक ड्रमलिन है।

इन टिब्बों की रचना के सम्बन्ध में दो धारणायें हैं। प्रथम धारणा के अनुसार हिमनदी के पीछे लौटने के पश्चात् दोबारा आगे बढ़ने से इनकी रचना होती है। यह आगे बढ़ने वाली हिम नदी प्रतिसारी हिमोढ़ के ऊपर से पार करती है और उसकी आकृति का निर्माण कर देती है। हिमनदी की प्रवाह दिशा में इस टिब्बे का ढाल सामान्य होता है।

दूसरी धारणा के अनुसार जब हिमनदी पर्याप्त भारयुक्त होकर आगे बढ़ती है तो हिमनदी में विदर तथा छिद्र बन जाते हैं और भार के पदार्थ इन्हीं विदरों से तली में एकत्र हो जाते हैं। हिमनदी के आगे बढ़ने के पश्चात् वापस लौटने पर ये टिब्बे दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

सरिता हिमी निक्षेप
(Fluvio-Glacial Deposits)

हिमनदी के हिम के पिघलने पर जलधाराएँ बह निकलती हैं। हिमनदी तथा

उससे प्राप्त जल के सामूहिक प्रभाव से बहुत-सी निक्षेप आकृतियाँ बन जाती हैं जिनमें प्रमुख अवक्षेप मैदान (outwash plain), हिमनद मृदकटक (eskers), तथा कंकत गिरि (kames) हैं।
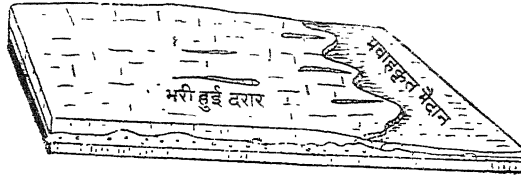
चित्र 211—अवक्षेप मैदान

अवक्षेप मैदान—अन्तिम हिमोढ़ के पश्चात् हिमजल अनेक धाराओं में बह निकलता है। ये बारीक कणों को बहा ले जाती हैं और स्थल भाग पर जमा करके जलोढ़ पंखा (alluvial fan) का निर्माण करती हैं। इसको हिमानी नदी कृत अवक्षेप मैदान कहते हैं। यह परतदार निक्षेपण से बनता है। इसके किनारे पर बारीक मृत्तिका से लेकर बीच में बालू तथा सिरे पर खुरदरे छोटे-छोटे टुकड़ों वाली पथरीली मिट्टी तक होती है। घाटियाँ पथरीली मिट्टी से कुछ भर जाती हैं जिन्हें घाटी-हिमोढ़ (valley train) कहते हैं, क्योंकि ये निक्षेप घाटी तक ही सीमित रहते हैं। हिमजल द्वारा निर्मित मैदान के ऊपर हिम के टुकड़े फैले रहते हैं जो वर्फ के पिघलने के पश्चात् इन भागों में छोटे-छोटे टीलों का निर्माण करते हैं।

हिमनद मृदकटक—पर्वतीय भागों में हिमनदी तथा उससे निर्मित जलधाराओं से निक्षेपित बालू-बजरी के लम्बे एवं साँप की भाँति टेढ़े-मेढ़े और दूर तक फैले टीले बन जाते हैं। इन्हें हिमनद मृदकटक (eskers) कहते हैं। यह शब्द स्कैन्डिनेविया से प्राप्त है। ये पर्याप्त ऊँचे नहीं होते जिससे इनको कटक की संज्ञा मिल सके। एस्कर शब्द आइरिश भाषा के एक ऐसे शब्द से बना है जिसका अर्थ पथ होता है। यह इस बात की ओर संकेत करता है कि ये लहरदार कटकें हिम-प्रभावित क्षेत्र में आवागमन के साधन के रूप में प्रयोग होती हैं। ये टेढ़े-मेंढ़े बाँध की तरह की प्रतीत होती हैं। ये लम्बी किन्तु ऊँचाई में कम होती हैं। इनकी लम्बाई 8 किलोमीटर से भी अधिक हो सकती है। इनकी चौड़ाई कुछ मीटरों से अधिक नहीं होती है। प्रायः ये 6 मीटर से 15 मीटर तक चौड़ी होती हैं। सम्पूर्ण
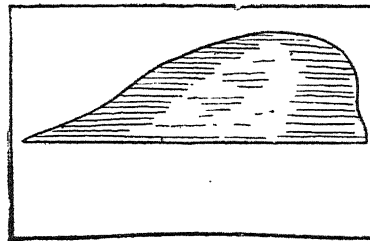
चित्र 212—हिमनद मृदकटक

भूदृश्य लहरदार बन जाता है और कभी-कभी ढाल के ऊपर चढ़ती कटक दिखायी देती है और प्राय: नीचे की ओर उतरती प्रतीत होती है। स्वीडन में इन्हें ओसार (osar) कहते हैं।

हिमनदियों के नीचे बहने वाली जल-धाराएँ हिम को पिघला कर अपने लिए सुरंग बना लेती हैं। इन्हीं सुरंगों में मृदकटक का निक्षेप होता है। ये जलधाराएं वेगवती होती हैं। हिम के किनारे से निकल कर जब ये जलधाराएँ बाहर निकल आती हैं तो इनका वेग और बढ़ जाता है। अत: मृदकटक नही बनती है।
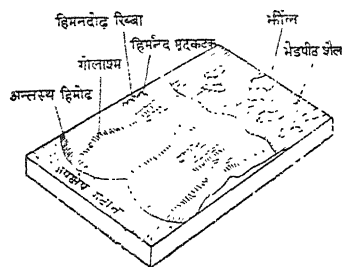
चित्र 213—हिमनदन क्षेत्र

मृदकटक की बनावट परतदार होती है। घर्षण से उपलब्ध शिलाचूर्ण से इनका निर्माण होता है। हिमनदियों के पीछे हटने की प्रकृति के अनुसार इनकी भिन्न-भिन्न आकृतियाँ होती हैं।

जो मृदकटक मृत्तिकामय पंख के समान अन्तस्थ हिमोढ़ के समीप बनी होती है, मृदकटक पंखा (esker's fan) कहते हैं। इसके पीछे हिम की दीवारें पायी जाती हैं और वे पंखे की भाँति भूमि पर ढालू होती हैं। जब कगारें एक के बाद दूसरी बहुत दूर तक फैली होती हैं तो ऐसे सामान्य रूप को मृदकटक पथ (esker's trail) कहते हैं। कभी-कभी मृदकटक पथ में दो मृदकटकों के मध्य एक टीला बन जाता है जो उन्हें सम्बन्धित करता है और सम्पूर्ण आकृति एक माला के सदृश दृष्टिगोचर होने लगती है। इन्हें मालारूप मृदकटक (garland eskers) कहते हैं। विसकोंसिन में अनेक मृदकटक हैं।

जब निक्षेप स्थायी जल के नीचे होता है तो सभी मृदकटकों का समूह इस प्रकार बनते हैं कि इनके सामने खड़े तीव्र ढाल और ऊपर सपाट एवं चौरस रहता है। इसको मृदकटक डेल्टा (esker's delta) कहते हैं।

हिमनदियों द्वारा प्रवाहित शिलाचूर्ण हिम-दरारों में भर जाते हैं और कालान्तर में इनसे छोटी-छोटी कगारें बन जाती हैं। इनकी कोई भी दिशा हो जाती है। इनको हिम-विदर आपूर्णन (crevasse-infilling) कहते हैं।

हिम-झीलों के निकट एक सर्वविख्यात निक्षेप होता है जिसको अनुवर्षिका निक्षेप (varve deposit) कहते हैं। यह परतदार निक्षेप होता है जिसमें बड़े एवं बारीक तलछट का क्रमिक विकास रहता है। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतुओं में हिम पिघलती है और बड़े रवेदार बालू तथा मृत्तिका की तह पड़ जाती है। शीत ऋतु में बारीक काले रंग की चिकनी मिट्टी की पतली तह जम जाती है। इस प्रकार निक्षेप के दो स्तर हिमानी निर्मित झीलों में वार्षिक निक्षेप को प्रदर्शित करते हैं। यह क्रिया

प्रतिवर्ष तव तक दुहरायी जाती है जब तक झील रहती है। इन परतों की गणना से ऐसे क्षेत्रों की आयु निर्धारित की जाती है।

कंकत गिरि—हिमनदी के अन्तिम छोर से निकली हुई जलधाराओं द्वारा मार्ग में बाधा उपस्थित होने पर बालू तथा कंकड़ के टीले बन जाते हैं। इनका निर्माण पार्श्विक तथा तलस्थ हिमोढ़ से होता है। ये बहुधा तलस्थ दरारों के भराव से बनते हैं। इनका निर्माण असमान रूप से होता है जिसमें बालू तथा बजरी का क्रमिक जमाव होता है। इनका ढाल तिरछा होता है। इनकी ऊँचाई 30 मीटर से 60 मीटर तक होती है। इनका प्रमुख उदाहरण दक्षिणी स्काटलैण्ड की ड्रिफ्ट कटक है। प्राय: तीव्र नति के मध्य संस्तर पाये जाते हैं।

हिम-क्रिया के चिन्ह

वे आकृतियाँ जिनका निर्माण हिमनदियों के द्वारा अपरदन, हिमस्राव, परिवहन तथा निक्षेपण के फलस्वरूप होता है, भूमण्डल पर पूर्वकालीन हिमनदियों की उपस्थिति एवं उनके प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं। यद्यपि निरीक्षण के समय हिमनदियों का हिम वर्तमान नहीं था, फिर भी निरीक्षण के आधार पर हिम-क्रिया के प्रदर्शक रूपों में चिकनी एवं खुरचाव वाली विखण्डित शैलें, चिकने, गोलाकार एवं खुरचाव वाले शिलाखण्ड 'U' के आकार की घाटियाँ, निलंबी घाटियाँ, हिमज-गह्वर, गोलाश्म मृत्तिका शैल, अपरिवर्तित फेल्सपार इत्यादि प्रमुख हैं।

हिमनदियों द्वारा जल-अपवाह में परिवर्तन

हिमनदियों के आगे बढ़ने या पीछे हटने से हिमाच्छादन से पूर्व बहने वाली कुछ नदियों के अपवाह-क्षेत्र प्रभावित होते हैं और अनेक प्रकार के बड़े परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। हिमाच्छादन से पहले की नदियाँ या तो बिलकुल दब जाती हैं या उनकी अपवाह-दिशा में परिवर्तन हो जाता है या वर्तमान जल-प्रवाह के रुकने से झीलें बन जाती हैं। जब किसी हिमनदी का आच्छादन नदी की घाटी पर जल-विभाजक अथवा उद्गम की ओर होता है तो उसमें बाढ़ें आ जाती हैं और वह नदी किनारे से होकर बहने लगती है। बाढ़ के कारण हिम-सीमान्त के निकट हिमोढ़ की श्रेणियाँ बन जाती हैं जिससे जल-प्रवाह की दिशा में स्थानीय परिवर्तन हो जाता है क्योंकि हिमजल श्रेणियों को काटकर अपना मार्ग बनाता है। अत: हिमाच्छादन के जल-प्रवाह से कोई सम्बन्ध नहीं रखने वाली नवीन नालियों की रचना हो जाती है जिसके द्वारा जल प्रवाहित होता रहता है। निचले प्रदेशों में प्रवाह की दिशा भिन्न प्रकार से परिवर्तित होती है। इसमें प्रारम्भिक घाटी हिमनदी के निक्षेप से पट जाती है और हिमान्त के समान्तर नदी का प्रवाह होने लगता है।

जब किसी नदी की घाटी में हिमनदी मुहाने की तरफ से प्रवेश करती है तो नदी का जल हिमनदी रूपी बाँध द्वारा अवरुद्ध हो जाता है और झीलों की रचना होती है। इस प्रकार की झीलें आल्प्स पर्वतीय प्रदेशों एवं नार्वे में बहुत पायी जाती

हैं। बाद में बाँध के टूट जाने पर इन झीलों की निम्न तल की नालियों द्वारा जल बाहर निकलने लगता है। इस प्रकार झीलें तो नष्ट हो जाती हैं, उनके जल से बनी नदियाँ भी जल-प्रवाह को बिलकुल उलट देती हैं। जब कई नदियों का जल हिम द्वारा रुककर झील के रूप में हो जाता है तो इनका जल एक-दूसरे में प्रवाहित होने लगता है और नदियाँ खुद जाती हैं तो स्थायी जल-अपवाह से असम्बन्धित होती हैं।

जल-अपवाह के उलटने से महत्त्वपूर्ण जल-अपवाह में मोड़ पैदा हो जाता है। इसमें उत्तर की तरफ ढाल वाली नदी की घाटियों का ढाल दक्षिण की ओर हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन हिमनदी या हिमनदी-जल के प्रभाव से जल-विभाजन के निम्न हो जाने से होता है अथवा मूल नदी की घाटी की तलहटी में तलछट के जमा हो जाने से होता है। उत्तरी अमरीका में इस प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है। यहाँ सेण्ट लारेन्स नदी की बहुत-सी सहायक धाराएँ अब दक्षिण की ओर मुड़कर मिसीसीपी नदी में बहती हैं।

इनके अतिरिक्त हिमनदी-निक्षेप से नदी की घाटियाँ पूर्णत: या आंशिक रूप में दब जाती हैं जिसके फलस्वरूप पुराना जल-अपवाह तन्त्र नष्ट हो जाता है और कालान्तर में नवीन जल-अपवाह व्यवस्था कायम हो जाती है। निलम्बी घाटियाँ, संकीर्ण हिम-कन्दराएँ तथा जल-प्रपात आदि कुछ और परिवर्तन हैं जो हिमनदी द्वारा जल-अपवाह-प्रणाली में पैदा हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के कारण भूतकालीन हिमाच्छादित प्रदेशों में जल-विद्युत विकास की विशेष सुविधाएँ रहती हैं। स्विट्-जरलैण्ड और स्कैण्डेनेविया इसके सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हिमाच्छादित प्रदेशों की विशेषताएँ

हिमाच्छादित प्रदेशों में कुछ ऐसी विशेषताएँ तथा नवीन आकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जो अन्य प्रदेशों से भिन्न होती हैं। ये विशेषताएँ उनकी प्राकृतिक बनावट, जल-अपवाह, चट्टानी धरातल तथा भू-आवरण से सम्बन्ध रखने वाली होती हैं। इनके कारण भू-दृश्य एक विचित्र प्रकार का हो जाता है जिसकी समता अन्य क्षेत्रों से नहीं की जा सकती है।

प्राकृतिक बनावट—प्राय: किसी प्रदेश की प्राकृतिक बनावट में विध्वंस के चिह्न मिलते हैं, किन्तु हिमाच्छादित प्रदेशों की भू-रचना में निर्माण का स्थान मुख्य होता है। सारी ऊबड़-खाबड़ रेखाएँ सपाट बना दी जाती है। पर्वत एवं पहाड़ियाँ चिकनी एवं गोलाकार बन जाती हैं। हिमनदियों द्वारा अपरदन केवल पर्वतीय प्रदेशों में ही दृष्टिगोचर होता है। उच्च प्रदेशों में हिमज-गह्वर, 'U' के आकार की घाटी, निलम्बी घाटी, कटकें इत्यादि पाये जाते हैं।

अपवाह—हिमानी प्रदेशों में जल-अपवाह में बड़ा परिवर्तन हो जाता है जिसका वर्णन किया जा चुका है। बहुत-सी झीलें, नवीन नदियाँ तथा नये दलदलों का प्रादुर्भाव हो जाता है। हिम-अपवाह से जलनिकास-तन्त्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

चट्टानी धरातल—हिमाच्छादित प्रदेशों का चट्टानी धरातल अन्य प्रदेशों की भाँति ऊँचा-नीचा तथा ऊबड़-खाबड़ नहीं होता, बल्कि चौरस, चिकना तथा सपाट होता है। ऐसे धरातलों में हिमनदियों की प्रगति से खुरचाव पड़ जाता है।

भूपर्पटी—अन्य प्रदेशों के भूपर्पटी में समान रचना वाले शिलाखण्ड तथा जल सोखने वाली मिट्टी पायी जाती है। सम्पूर्ण धरातल विखण्डित तथा विघटित होता है। उसके विपरीत हिमाच्छादित प्रदेशों की भूपर्पटी न तो विखण्डित होती है और न विच्छेदित ही। चारों तरफ धरातल पर असम्वद्ध कंकड़-पत्थर तथा शिलाखण्ड पाये जाते हैं जो किसी दूर प्रदेश से लाये गये होते हैं तथा दूर प्रदेशों में उनकी उत्पत्ति मानी जाती है। इनका विस्तार भी एक प्रकार का नहीं होता बल्कि भिन्न होता है, जिसका वर्णन किया जा चुका है।

हिमनदीय धरातलीय लक्षण की उपयोगिता—

(1) गोलाश्म मृत्तिका मैदान कभी-कभी बड़े उर्वर होते हैं जैसे संयुक्त राज्य अमरीका का दुग्ध उद्योग पेटी तथा ग्रेट ब्रिटेन का पूरबी एंग्लिया।

(2) प्राचीन हिमनदीय झीलों के क्षेत्र प्रायः उर्वर होते हैं जैसे कनाडा का प्रेयरी क्षेत्र।

(3) हिमनदीय झीलें प्राकृतिक परिवहन-मार्ग का कार्य सम्पादित करती हैं जैसे उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलें।

(4) निलम्बी घाटियों के जलप्रपातों से विद्युत का उत्पादन होता है जैसे नार्वे एवं स्विटजरलैण्ड में।

(5) हिमाच्छादित पर्वतीय प्रदेश पर्यटकों को आकर्षित करते हैं जहाँ विभिन्न शेलें होती हैं।

(6) इन पर चरागाह मिलते हैं जहाँ ग्रीष्मकाल में मवेशी रखे जाते हैं।

हिमनदन के कारण

पृथ्वी पर हिमानी जलवायु के कारण मुख्यतया सूर्यातप की कमी तथा उसका असमान वितरण है। किन्तु अन्य तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। हिमनद के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :

(1) **खगोलीय तथ्य** (Astronomical Factors)

(क) पृथ्वी के भ्रमण-पथ की उत्केन्द्रता में भिन्नता (Variation in the eccentricity of the earth's orbit)।

(ख) कक्षा-तल पर पृथ्वी के अक्षीय झुकाव में परिवर्तन (Change in the inclination of the earth's axis to the plane of orbit)।

(ग) सूर्यातप के विकिरण की मात्रा में भिन्नता (Variation in the amount of solar radiation of heat)।

(2) **पार्थिव तथ्य** (Terrestrial Factors)

(क) महाद्वीपीय पिण्ड का उत्थापन (Elevation of the continental masses)।

(ख) ध्रुवीय परिभ्रमन (Wandering of poles)।

(3) **वायुमण्डलीय तथ्य** (Atmospheric Factors)

(क) कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा में भिन्नता (Variation in the amount of carbon dioxide)।

(ख) ज्वालामुखीय धूलि-कण की मात्रा में भिन्नता (Variation in the amount of volcanic dust)।

(ग) आर्द्रता की मात्रा में भिन्नता (Variation in the amount of moisture)।

(1) **खगोलीय तथ्य**—जर्मन ऋतु-विज्ञानवेत्ता **केपलर** ने विचार व्यक्त किया है कि पृथ्वी के परिक्रमण-पथ की उत्केन्द्रता में भिन्नता आ जाती है। कभी-कभी पथ गोलाकार और कभी लम्बा अण्डाकार हो जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में शीत ऋतु में पृथ्वी सूर्य से अधिकतम दूरी पर रहती है जबकि ग्रीष्म ऋतु में उसी गोलार्द्ध में पृथ्वी सूर्य से कम से कम दूरी पर हो जाती है। इस भिन्नता के कारण हिमानी जलवायु को प्रोत्साहन मिलता है। इससे समान अन्तरकाल पर हिमनदन का निष्कर्ष भी निकलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में उपलब्ध लेख-सामग्रियों में इस प्रकार समान अन्तराल पर हिमनद का वर्णन नहीं मिलता है। यदि यह परिकल्पना ठीक होती तो पृथ्वी पर सैकड़ों हिमयुग हो गये होते।

(2) **पार्थिव तथ्य**—सूर्य-कलंक का भी सूर्यातप पर प्रभाव पड़ता है। सूर्य कलंक के बढ़ने से सूर्य-विकिरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। किन्तु इससे तापमान बढ़ता नहीं, बल्कि कम होता है क्योंकि इस समय बहुत अधिक तूफान उठते हैं जिससे बहुत अधिक ताप-विकिरण होता है। अत: अमरीकी भूगोलवेत्ता **हंटिंगटन** के मतानुसार बढ़ते हुए सूर्य-कलंकों से कम तापमान होता है और हिमानी जलवायु को प्रोत्साहन मिलता है। ऊँचाई पर तापमान कम होता है। ऊँचाई पर स्थित हिम-क्षेत्रों में बहने वाली वायु आसपास के क्षेत्रों के तापमान को भी कम कर देती है। हिम-क्षेत्र का धरातल बड़ी मात्रा में सूर्यातप को परावर्तित कर देता है। इससे हिम-क्षेत्र का विस्तार बढ़ जाता है।

पर्वतों की रचना के समय तापमान कम हो जाता है। हिमयुगों की क्रियाएँ पर्वतीय उत्थापन के काल में ही हुई हैं। पर्वतों का उत्थापन आकस्मिक हिमानी जलवायु को प्रदर्शित करता है किन्तु अन्तरा हिमनदीयकोष्ण जलवायु (inter-glacial warm climate) के सम्बन्ध में कुछ नहीं ज्ञात होता है।

महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना के अनुसार ध्रुवों का सर्पण सिद्ध होता है। किन्तु इस विचार में कुछ दोष हैं।

(3) **वायुमण्डलीय तथ्य**—वायुमण्डल के कार्बन डाइ-ऑक्साइड, ज्वालामुखीय धूलि तथा आर्द्रता की भिन्नता का प्रभाव ऊष्मा की मात्रा पर पड़ता है। हिमनदन ऊष्मा की कम मात्रा का फल होता है।

हिमनदन-चक्र
(Cycle of Glaciation)

धरातल के अनेक भागों में गोलाश्म मृत्तिका (till) की कई तहें बिछी हुई मिलती हैं। इन स्थानों पर पुराने घिसे हुए और नये हिमोढ़ भी मिलते हैं। गोलाश्म मृत्तिका तथा हिमनदी के निक्षेप की विभिन्न तहों में वनस्पति से अवशेष तथा पीट का जमाव मिलता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि किसी काल में धरातल हिम से आच्छादित था और हिममण्डित युगों के मध्य में वह भाग हिममुक्त था। इस प्रकार हिमयुग तथा हिममुक्त युग क्रमिक चक्र के रूप में आते रहते हैं। इसी को हिमनदन-चक्र कहते हैं। वर्तमान युग हिमयुग तथा भविष्य में आने वाले हिमयुग के मध्य का युग है। ये युग कहे हजार वर्षों के होते हैं।

हिमनदन से हिमनदियाँ आगे बढ़ती हैं। ज्योतिषीय, पार्थिव तथा वायुमण्डलीय तथ्यों के परिवर्तनों के कारण हिमयुग आया। पहले घाटियों में, तब पहाड़ों के ऊपर और बाद में विस्तृत क्षेत्र में हिम का विस्तार हो गया। कालान्तर में हिमनदियाँ पीछे हटने लगती हैं और उनकी प्रगति उल्टी होने लगती है और पीछे हटता हुआ हिमचक्र पूर्ण हो जाता है। ये परिवर्तन साधारण रूप से कई बार होते हैं। अतः एक हिमनदन में कई आगे बढ़ते हुए तथा पीछे हटते हुए हिमचक्र होते हैं।

हिमकार्यों का आर्थिक महत्त्व

हिमनदियों द्वारा भूपटल के परिवर्तन बड़े आर्थिक महत्त्व के होते हैं। हिमनिक्षेप जैसे मृदकटक तथा गोलाश्म बट्टिकाओं पर बसने योग्य भूमि सुलभ हो गयी है। कृषि-उत्पादन के लिए भी इनका अपना महत्त्व है। प्रायः हिमनदियों द्वारा कंकड़-पत्थर का निक्षेप हुआ है, किन्तु दक्षिणी इंगलैण्ड तथा पूर्वोत्तर फ्रांस में हिमनदियों द्वारा उपजाऊ मिट्टी का विस्तार भी हुआ है। हिमनदियों द्वारा निर्मित निलम्बी घाटियों में जल-प्रपात बन गये हैं जिनसे जल-विद्युत् का विकास करने में सुविधा मिलती है। संयुक्त राज्य अमरीका के पूरबी भाग में ऐसे अनेक जल-प्रपात हैं। इनसे विशाल झीलों की रचना हुई है जो व्यापार के प्रयोग में आती हैं। इन झीलों से जल भी सुलभ होता है। हिमनदियों के निक्षेप से सीमेंट, चीनी मिट्टी के वर्तन आदि बनाने में सहायता मिलती है। हिमनदियों द्वारा निर्मित फिओर्ड श्रेष्ठ मत्स्याखेट स्थल तथा मनमुग्धकारी दृश्य प्रदान करते हैं। ये नदियों के स्रोत-स्थान बनते हैं।

हिमयुग
(Ice Ages)

भूतत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार दो महान हिमयुग व्यतीत हो चुके हैं—कोयला हिमयुग तथा अत्यन्त नूतन हिमयुग। अत्यन्त नूतन हिमयुग नवीनतम है। इस युग

में उत्तरी अमरीका तथा उत्तरी यूरोप में हिमावरण छा गया था। कहा जाता है कि इस युग के हिमावरण को लुप्त हुए लगभग 10 हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

प्रत्येक युग में कई बार हिमावरण आगे बढ़ता तथा पीछे हटता है। दो अग्र-सारित होने की घटनाओं की मध्यावधि को अन्तरा हिमनदीय अवस्था (inter-glacial stage) कहते हैं। यदि भविष्य में पुनः हिमावरण आगे बढ़ा तो वर्तमान काल अन्तरा हिमनदीय अवस्था ही कहा जायगा।

उत्तरी अमरीका में अत्यन्त नूतन हिमयुग चार कालों में विभक्त किया जाता है :

(1) जर्सियन या नेब्रास्कन हिमकाल, (2) कांसन हिमकाल,
(3) इलीनोइयन हिमकाल, (4) विसकांसिन हिमकाल।

हिमयुगों का श्रीगणेश

हिमयुगों के आविर्भाव के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि हिमयुग के आविर्भाव के कारण जलवायु से सम्बन्धित हैं जिनमें मुख्य नीचे अंकित हैं :

ऐसा अनुमान है कि ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट से आकाश में धूल तथा राख छा गयी। फलतः सूर्यातप बहुत अल्प मात्रा में पृथ्वी को प्राप्त हुआ तथा वायु तापमान के कम होने से इन कणों ने संघनन के केन्द्र का कार्य किया और अधिक वृष्टि को प्रोत्साहन दिया। फलतः जलवायु में शीत की प्रधानता हो गयी।

पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं के कारण पृथ्वी में उत्थापन हुआ जिससे तापमान में कमी आ गयी और जलवृष्टि अधिक हुई जिससे हिमयुगों का आविर्भाव हुआ। इसको **सौर-धरातलाकृतिक सिद्धान्त** (solar-topographical theory) कहते हैं।

वायुमण्डल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की कमी के कारण पृथ्वी को कम ऊष्मा की प्राप्ति हुई। साथ ही महाद्वीप उत्थान भी था, फलतः शीत की प्रधानता हो गयी।

हैम्फ्रीज के अनुसार सूर्य पर विशाल धब्बे आ जाने से पृथ्वी को कम ऊष्मा उपलब्ध होती है तो जलवायु शीतल हो जाती है। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा है कि ध्रुव अपनी मूल्य स्थिति से हट गये जिससे जलवायु में भयंकर परिवर्तन हुए और हिमयुग का आविर्भाव हुआ। इस सम्बन्ध में रूसी वैज्ञानिक **नजरोव** ने बतलाया है कि भौगोलिक ध्रुव विषुवत रेखा की ओर पलायन कर रहे हैं। इसके अनुसार कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड की जलवायु ठंडी और साइबेरिया, चीन, जापान तथा अर्जेन्टाइना की जलवायु अधिक उष्ण हो जाने की सम्भावना है। महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना के अनुसार महाद्वीपों के निर्माण-काल में जलवायु में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिससे हिमयुगों का प्रादुर्भाव हुआ।

पृथ्वी के अक्ष का पुरस्सरण (precession of earth's axis) के कारण जलवायु में परिवर्तन हुए हैं। पृथ्वी घूर्णन एवं परिक्रमा दोनों क्रियाएँ साथ-साथ

करती है इसके अलावा पृथ्वी की धुरी कक्षा तल (plane of orbit) के अक्ष की परिक्रमा करती है जिससे पृथ्वी के अक्ष का पुरस्सरण कहते हैं। पृथ्वी के अक्ष के पुरस्सरण के अतिरिक्त पृथ्वी की कक्षा भी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसे कक्षा का पुरस्सरण कहते हैं। इन दोनों क्रियाओं से पृथ्वी पर जलवायु परिवर्तन होते हैं। पृथ्वी की उत्तरायण अवस्था तथा उसकी धुरी का पुरस्सरण अत्यन्त ठंडक प्रदान करती है जिससे हिम-प्रवाह होता है।

यूगोस्लाविया के भू-भौतिकी विद्वान् **मिलनकोविच** ने भी इसी आधार पर जलवायु का लेखा तैयार किया है।

नवीनतम हिमयुग के कई परोक्ष प्रभाव अनुमानित हैं। इन में समुद्रतल का नीचा होना, स्थल का उत्थापन एवं अवतलन और हिमराशि द्वारा जल का आकर्षण प्रमुख हैं। अनुमान है कि स्थल पर हिमसंचय से समुद्रतल 90 मीटर से 150 मीटर तक नीचा हो गया। उन दिनों समुद्री तरंगों से जो तटीय कटाव बने थे वे हिमयुग के समाप्त होने पर समुद्र-जल में डूब गये। इसी आधार पर वैज्ञानिक **डैली** ने प्रवालभित्तियों में वृद्धि का कारण भी समुद्रतल का उन्मज्जन तथा निमज्जन बताया है।

अत्यन्त नूतन युग में हिम के अपार भार से पृथ्वी की सतह दब गयी और हिमावरण से मुक्ति मिलने पर स्थल भाग फिर ऊँचा उठ गया। इस उत्थापन एवं अवतलन से नदियों का पुनर्युवन हो गया। जहाँ सेंट लारेंस नदी बहती है, वहाँ तक समुद्र का प्रसार था। लारेंशियल प्रदेश पर से महाद्वीपीय हिमावरण के समाप्त होने पर स्थल भाग ऊँचा उठ गया और समुद्र पीछे हट गया।

ऐसे स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि हिम-क्षेत्रों ने समुद्र-जल को आकर्षित किया। इसी कारण अत्यन्त नूतन हिमयुग में दक्षिणी अमरीका के चिली तट पर प्रशान्त महासागर का जल-तल ऊपर उठ गया और उन्हीं अक्षांशों में एटलाण्टिक महासागर तट पर जल-तल नीचा हो गया।

अत्यन्त नूतन नवजीव युग
(Pleistocene Epoch)

पृथ्वी के इतिहास के अन्तिम भाग में अत्यन्त नूतन हिमयुग (pleistocene ice age) आता है। भूगर्भशास्त्र के विद्वानों ने दो हिमयुगों का होना प्रमाणित किया है जिनमें से प्रथम गिरि-कोयला (परमो-कार्बोनिफेरस) हिमयुग कहलाता है जिसमें दक्षिणी गोलार्द्ध हिमावरण के नीचे ढका हुआ था और द्वितीय अत्यन्त नूतन हिमयुग कहलाता है। यह हिमयुग आज से लगभग 1 करोड़ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और 10,000 वर्ष पूर्व तक रहा। कुछ वैज्ञानिक इसका प्रारम्भ मध्य नूतन (miocene) युग के बाद से ही बतलाते हैं। सन् 1840 में **लुइस एगासिस** नामक वैज्ञानिक ने हिमयुग का होना प्रमाणित किया था। मध्य-नूतन युग के पश्चात पृथ्वी पर धीरे-धीरे

हिम बढ़ता गया। फलतः अत्यन्त नूतन युग में पृथ्वी का एक विस्तृत भाग हिमाच्छादित हो गया जिसे अत्यन्त नूतन हिमयुग कहते हैं। इस हिमयुग की उत्पत्ति का ठीक-ठीक कारण अज्ञात है। कुछ विद्वानों का कहना है कि तृतीय कल्प में पर्वतों के निर्माण ज्वालामुखी के उद्भेदन एवं कासमिक किरण के सम्मिलित प्रभाव से पृथ्वी का सन्तुलन भंग हो गया जिसके फलस्वरूप जलवायु के परिवर्तन एवं हिमयुग की उत्पत्ति हुई।

अत्यन्त नूतन हिमयुग में कभी हिम आगे बढ़ता था तो कभी पीछे हटता था, अर्थात् कभी ध्रुव-प्रदेश की तरफ से विषुवत रेखा की तरफ हिम का फैलाव अधिक हो जाता था तो कभी कम। इस प्रकार हिम के आगे बढ़ने और पीछे हटने की क्रिया कई बार हुई। हिम के आगे बढ़ने और पीछे हटने के मध्य के युग को अन्तरा हिमनदीय युग (inter-glacial period) कहते हैं। इस युग में हिम के कई बार आगे बढ़ने एवं पीछे हटने से पृथ्वी के धरातल में भिन्न-भिन्न परिवर्तन हुआ। जीव-जन्तु एवं वनस्पतियों में अन्तर आ गया। एक अन्तरा हिमनदीय युग का धरातल, जीव-जन्तु एवं वनस्पति पुनः हिम के प्रभाव से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता था और दूसरे अन्तरा हिमनदी युग में नया रूप पाया जाता था। वर्तमान युग अन्तरा हिमनदी-युग कहा जा सकता है क्योंकि इस समय हिम पीछे हट चुकी है। केवल ग्रीनलैण्ड और ऐण्टार्कटिका में ही इसका प्रभाव है। हो सकता है, भविष्य में यह आगे बढ़कर पृथ्वी के विस्तृत भाग में फैल जाय।

अन्तरा हिमनदी युग कई हजार वर्षों का होता है। अन्तिम दो हिमयुगों का अन्तरा हिमनदी युग 70,000 वर्षों का माना जाता है। इसके विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। **चेम्स गीकी** नामक स्काटलैण्ड के एक भूगर्भशास्त्र के विद्वान ने अपनी पुस्तक 'ग्रेट आइस एज' (Great Ice Age) में भी चार अन्तरा हिमनदी युगों का होना सिद्ध किया है।

पृथ्वी पर हिम के विस्तार के विषय में भी मतभेद चलता रहा। किसी-किसी विद्वान् का कहना था कि हिमयुग में हिम का फैलाव सम्पूर्ण पृथ्वी पर था। परन्तु कुछ विद्वान् इसके विपरीत हिम का विस्तार पृथ्वी के कुछ ही भागों पर बतलाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में हिम के आगे बढ़ने एवं पीछे हटने के कालों में हिम का प्रसार विभिन्न विस्तार में रहता था। आगे बढ़ने के समय हिम मध्यवर्ती अक्षांशों तक फैल जाता था। तृतीय महाकल्प में निर्मित पहाड़ों के अधिक भागों पर भी हिम का विस्तार था। कभी-कभी हिम का आगे बढ़कर फैलाव उत्तरी अमरीका के मध्य तक यूरोप के आल्प्स पर्वत तक, एशिया में गोंडवाना लैण्ड की उत्तरी सीमा तक, दक्षिणी अमरीका में मध्य चिली तक एवं आस्ट्रेलिया तक माना जाता है।

सम्पूर्ण अत्यन्त नूतन हिमयुग को चार उप हिमयुगों में विभाजित किया गया है। इनके विभाजन का आधार दो अन्तरा हिमनदी युगों के मध्य में हिम के आगे बढ़-

कर एक विस्तृत भाग में फैल जाना है। यह धरातल में परिवर्तन ला देता है। अभी तक चार बार हिम का आगे बढ़ना सिद्ध हुआ है। सम्भवत: यह युग अन्तरा हिमनदी युग है। इसके पश्चात् पुन: हिम का विस्तार पृथ्वी पर बढ़ने और भविष्य में पाँचवें हिमयुग के होने की भी सम्भावना है, यद्यपि इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, केवल अनुमान किया जा सकता है। अभी तक निम्न चार उप-हिमयुग माने गये हैं :

(क) गुंज (Gunj), (ख) मिण्डेल (Mindel),
(ग) रिस (Riss), (घ) वर्म (Wurm)।

इनमें सबसे प्राचीन गुंज है, इसके पश्चात क्रमशः मिण्डेल, रिस एवं वर्म हैं। इन युगों में हिमोढ़ निक्षेप में भिन्नता पाई जाती है, जिसके आधार पर इन उपर्युक्त हिमयुगों का होना तथा इनमें वर्फ का आगे बढ़कर एक विस्तृत भाग में फैलना सिद्ध होता है। किसी-किसी भाग में केवल दो ही प्रकार की हिमनिर्मित शैलें दृष्टिगोचर होती हैं, जिसके आधार पर दो ही उप-हिमयुगों का होना माना जाता है। उत्तरी यूरोप के एक विस्तृत भाग में ब्रिटेन से लेकर पोलैण्ड तक नवीन हिमोढ़ दिखाई पड़ता है। जर्मनी में चार प्रकार के हिमोढ़ पाये जाते हैं जिनके नाम इलस्टर (elster), सोला (sola), फ्लेमिंग (flaming) एवं वीशेल (weichsel) हैं। यही क्रम हालैण्ड एवं डेनमार्क में भी पाया जाता है।

पृथ्वी के धरातल के एक विस्तृत भाग पर हिमयुगों में हिम का विस्तार था। हिम समुद्री जल से बना था और हिम के समाप्त होने पर जल के रूप में परिणत हो गया। इस क्रिया के अन्तर्गत धरातल एवं समुद्र के विस्तार में अन्तर तो हुआ ही, साथ ही धरातल का वह भाग जिस पर हिम का फैलाव था, धँस गया और हिम के हटने पर ऊपर उठ गया। यह पृथ्वी के समस्थितिक के सिद्धान्त (isostasy) के अनुसार सही सिद्ध होता है। सन् 1865 में मिसन नाम के एक वैज्ञानिक ने सन्तुलन सिद्धान्त की खोज के पूर्व ही हिम के भार से हिमाच्छादित भाग का धँसना एवं हिम के पिघलने पर भारहीन धरातल का ऊँचा उठना सिद्ध किया था। डब्ल्यू० बी० राइट ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया। इस प्रकार इस युग में हिम पिघलने पर कई बार समुद्र के तल का लगभग 90 मीटर तक ऊँचा होकर पृथ्वी के धरातल का विस्तार कम कर देना सिद्ध होता है और हिम के बनने में समुद्री धरातल के कम होने पर पृथ्वी के धरातल का उठना भी सिद्ध होता है।

ए० पेन्क महोदय ने हिमयुगों तथा अन्तरा हिमनदीय युगों को एक वक्र रेखा से प्रदर्शित किया। हिम की औसत ऊँचाई शून्य द्वारा प्रदर्शित है। इस रेखा का नीचे झुका भाग हिमयुगों तथा ऊपर उठा भाग अन्तरा हिमनदीय युग को प्रदर्शित करता है।

हिमयुग में, जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, धरातल का विस्तृत भाग हिमाच्छादित था और हिमनदियाँ उक्त धरातल पर अधिक संख्या में थीं। इनके

प्रभाव से उस धरातल में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। धरातल के जल-अपवाह में अन्तर हो गया। वनस्पति एवं जीव-जन्तु बदल गये। उत्तरी अमरीका तथा उत्तरी यूरोप में धरातलीय परिवर्तन का प्रत्यक्ष स्वरूप वहाँ की झीलों एवं नदियों में निहित है। उक्त भागों की असंख्य झीलें एवं नदियाँ हिम के पीछे हटने के साथ-साथ हिमोढ़ (moraines) के एकत्र होने से बनती गईं। यही नहीं, स्कैण्डेनेविया प्रायद्वीप का पश्चिमी तट, स्काटलैण्ड का उत्तर-पश्चिमी तट, उत्तरी अमरीका का पश्चिमी तट और दक्षिणी चिली का पश्चिमी तट अधिक कटा-फटा होने का कारण भी हिमयुग
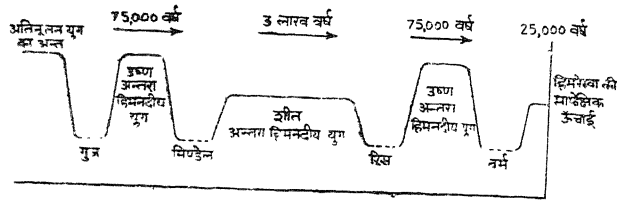
चित्र 214—उप-हिमयुग

की हिमनदियों का प्रभाव ही है। क्योंकि हिमयुग में इन भागों में हिमनदियाँ बहती थीं जिनके अपरदन के कारण उक्त धरातल पर 'U' आकार की घाटियाँ बन गईं। हिम के पिघलने पर समुद्रतल ऊँचा उठ जाने से समुद्री जल घाटियों में पहुँच गया। घाटी की तलेटी के पानी में छिप जाने से ऊपरी भाग ही दिखाई देता है। इन क्षेत्रों में ही 'U' के आकार का कटाव हिमयुग में हिमनदियों का अपरदन सिद्ध करता है। इस प्रकार के कटाव वाले किनारे को फियोर्ड्स (fiords) कहते हैं।

उत्तरी यूरोप में भी हिमनदियों ने उत्तरी अमरीका की भाँति प्रधानत: दो कार्य किये हैं—उत्तर की ओर स्थित पर्वत पर से मिट्टी को काटा तथा अपनी सीमा के दक्षिण की ओर अर्थात् उत्तरी मैदान में फैला दिया। इस प्रकार कटाव वाले क्षेत्र में खड्ड बन गये जो नदी की घाटी या झील के रूप में परिणत हो गये थे, तटीय भागों में फियोर्ड कहलाये और जिस भाग में हिमोढ़ इकट्ठा हुआ वहाँ की भूमि ऊसर (barren) हो गई। नदियों के बहाव के रुकने से झीलों एवं दलदलों का निर्माण हुआ। ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, डेनमार्क, उत्तरी जर्मनी एवं उत्तरी पोलैण्ड में इस प्रकार के हिमोढ़ का फैलाव अधिक हुआ जिसके फलस्वरूप उक्त भागों में बड़े कण वाली अनुपजाऊ बलुई मिट्टी दृष्टिगोचर होती है। यूरोप के उत्तरी मैदान का वह भाग जो जर्मनी एवं पोलैण्ड में पड़ता है, मध्य की अपेक्षा उत्तर की ओर ऊँचा है।

प्लीस्टोसीन हिमयुग में हिमालय एवं आल्प्स पर्वतों पर भी हिमनदियाँ बहुत बड़ी हो गई थीं, उनका विस्तार भी बढ़ गया था। आल्प्स पर्वत की हिमनदियों के प्रभाव एवं काँट-छाँट से तथा हिमोढ़ के जमाव से स्विटजरलैण्ड एवं उत्तरी इटली में भी अनेक झीलों का निर्माण हुआ। भारत में गोंडवाना लैण्ड भी हिमन का केन्द्र

कहा जाता है। राजस्थान एवं हरियाणा में गोलाश्ममृत्तिका के जमाव मिलते हैं। चांदा जनपद की ईराह नदी की घाटी में हिमनदी के चिह्न मिलते हैं।

हमारे धार्मिक ग्रन्थों एवं बाइबिल में भी एक जल-प्लावन का वर्णन मिलता है। यदि अन्तिम उप-हिमयुग की हिम के पिघलने के कारण समुद्र का तल ऊपर उठने से धरातल का जलमग्न होना मानें तो हिमयुग का होना इस आधार से भी सिद्ध होता है।

उत्तरी अमरीका में हिम-जमाव के तीन केन्द्र थे—एक लैब्रेडोर का पठार और दूसरा हडसन की खाड़ी के पश्चिम का निचला मैदान, जिसको कीवाटिनिआ हिम-गुम्बज (Keewatinia ice-dome) कहते हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया की कार्डिलियरा श्रेणी हिमाच्छादन का तीसरा केन्द्र थी। इन केन्द्रों से हिम चतुर्दिक को विस्तृत हुआ। दक्षिण में हिम का विस्तार ओहियो तथा मिसौरी नदियों के संगम तक था।

यूरोप में हिम का केन्द्र बाल्टिक सागर तथा स्कैण्डेनेविया में था। इसकी दक्षिणी सीमा इंगलैण्ड की टेम्स नदी का उत्तरी तट था और वह सीमा बेल्जियम, हालैण्ड, जर्मनी तथा रूस होती हुई चली गयी थी। आल्प्स पर एक अलग हिमकेन्द्र था जहाँ से हिमनदियाँ नीचे खिसक आयी थीं। यही क्रिया हिमालय में भी हुई।

हिमटोप के उपरान्त एवं दूर स्थित क्षेत्रों पर हिमनदन का प्रभाव (Periglacial Effects)

लाजिन्स्की महोदय ने सन् 1909 में पेरिग्लैशियल (periglacial) शब्द को प्रयोग में लिया। इस शीर्षक का तात्पर्य प्लीस्टोसीन हिमचादर के किनारों के निकटवर्ती क्षेत्र, उनकी जलवायु की विशिष्टताएँ तथा इस परिस्थिति से उत्पन्न घटनाएँ हैं। इस क्षेत्र की जलवायु में निम्न तापमान (हिमांक से तनिक ऊपर तथा नीचे) तथा कतिपय मौसमों में प्रबल वायु मिलती है। इस जलवायु के प्रमुख लक्षण मृदा-संरचना (soil structures) हैं। इनके विकास की दशाएँ हिम-जमाव की तीव्रता एवं बारम्बारता तथा स्थायी हिमाच्छादित भूमि हैं। ये घटनाएँ उच्च अक्षांशों में उत्तरी ध्रुवीय जलवायु या ऊँची तुंगता पर पाई जाती हैं। इस जलवायु के क्षेत्रों में अनेक धरातलाकृतिक लक्षण प्राप्त होते हैं जो प्लीस्टोसीन हिमयुग में हिमनदन क्षेत्रों के उपान्त एवं निकटवर्ती भागों में मिलते थे। इस श्रेणी में पाषाण-जाल (stone nets), पाषाण-वलय (stone ring), पाषाण-पट्टी (stone stripes), मृदा-पट्टी (earth stripes), मृदा-टेकरी (earth humvascks) तथा खण्डाश्म पुंज (felsenmeer) प्रमुख धरातलाकृतिक लक्षण हैं।

त्रि-विस्तारीय मृदा-संरचना जिसके केन्द्र में मृत्तिका, गाद तथा बजरी प्राप्त होती है **पाषाण-जाल** कहलाती है। एकत्र रहने पर इसको **पाषाण-वलय** कहते हैं। ये समतल भूमि पर मिलते हैं। 5° से 15° के ढाल पर इनका आकार जीभ तुल्य या दीर्घ वृत्ताकार हो जाता है तो इनको **पाषाण मालाएँ** (stone garlands) कहते हैं। इनमें

बारीक पदार्थ केन्द्र में और घटिया पदार्थ किनारे पर रहता है। इससे अधिक ढाल पर इन्हें **पत्थर-पट्टी** (stone strip) कहते हैं। ये समान्तर, पथरीली तथा मिट्टी की पट्टियाँ होती हैं।

पाषाण-पट्टी की तरह मृदा-पट्टियाँ होती हैं, किन्तु मृदा-पट्टी में इससे अधिक बारीक गठन (texture) होती है। ये मृत्तिका एवं गाद की निम्न कटकें होती हैं जो मृत्तिका-पट्टियों से ऊँची उठी होती हैं। टुण्ड्रा वनस्पति के धरातल पर निम्न गोल टीले मिलते हैं जो बारीक पदार्थों से निर्मित होते हैं। इन्हें **मृदा-टेकरी** (KNOLL) कहते हैं। इनके केन्द्र में बारीक पदार्थ होता है और ये वनस्पति से ढके होते हैं।

पेरिग्लैशियल क्षेत्र में हिमनदीय क्षेत्र से भिन्न भू-आकृतिक प्रक्रम होते हैं। **मैथीज** ने (सन् 1900) भू-आकृतिक प्रक्रम में निवेशन (nivation) को प्रमुखता प्रदान की। **कैरनीज** ने (सन् 1912) पाला फटन (frost riving) को भूदृश्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण बताया। इन्होंने उन प्रक्रमों को सपाटीकरण (equiplanation) की संज्ञा प्रदान की जिनके द्वारा उच्च अक्षांशों में भूमि समतल की जाती है। **ब्रयान** ने (सन् 1946) घोर पाला-क्रिया से भूमि के निम्नीकरण व्यक्त करने के निमित्त निम्न समतलीकरण (cryoplanation) शब्द का उपयोग किया है। उन्होंने तुषार पाला-क्रिया द्वारा विक्षुब्ध पदार्थ समूह को कांजीलिटरबेट (congeliturbate) शब्द से सम्बोधित किया है। तुषार पाला क्रिया द्वारा शैलखण्डन (rock fragmentation) के प्रक्रम को **ब्रयान** ने कांजीलिफ्रैक्शन (congelifraction) कहा है और इस प्रकार प्राप्त पत्थर के टुकड़ों के ढेर को कांजीलिफ्रैक्टेट (congelifractate) की संज्ञा प्रदान की गई।

हिमटोप के उपान्त क्षेत्रों में सरिता क्रम पर हिमनदन तथा अन्तराहिमनदीय परिस्थितियों का प्रभाव मिलता है। अधिकतम हिमनदन में घाट-अधिवृद्धि (valley aggradation) तथा अल्पतम हिमनदन में घाटी-खोदन (valley trenching) होता है। इसके उदाहरण ऊपरी मिसीसीपी नदी के उत्तल (terraces) हैं। **पेल्टियर** महोदय ने सस्क्वीहन्ना नदी के उत्तलों तथा उसके पत्थरमय ढालों का विवरण प्रस्तुत किया है। उसके मतानुसार पत्थरमय ढाल की उत्पत्ति हिमटोप के उपान्त क्षेत्र में कांजीलिटरबेशन से हुई है।

हिमटोप के उपान्त क्षेत्रों में झीलों के प्रसार एवं संकुचन के भी प्रमाण मिलते हैं। उत्तरी अमरीका की बोन्नेविले, दक्षिणी अमरीका की टिटिकाका झील तथा यूरेशिया की कास्पियन झील के पूर्ण अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि हिमनदन युग में ये झीलें बड़े आकार की थीं और इनका तल अधिक ऊँचा था। कास्पियन झील तो काला सागर तथा अरल सागर से मिली हुई थी। कालान्तर की उष्ण अवस्था में इनका आकार छोटा हो गया। इनकी त्यक्त सीमाएँ आज भी परिलक्षित होती हैं।

समुद्रतल में भी परिवर्तन होता है। हिमनदन युग में समुद्रीतल नीचा हो जाता है और अन्तराहिमानीयुग में ऊँचा हो जाता है। समुद्रीतटों पर स्थित उत्तल इसके

प्रमाण हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के ऐटलाण्टिक तट पर ऐसे उत्तलों की व्याख्या कूक महोदय ने सन् 1945 में प्रस्तुत की थी।

प्रश्न

1. Give a graphical account of the work of glaciers with regard to erosion, transportation and deposition. (*Gorakhpur 1969*)
   हिमनदी के अपरदन, अपनयन तथा निक्षेपण कार्यों का सुचित्रित विवरण लिखिए।
2. Give an illustrative account of the typical features of a glaciated landscape and show how it differs from non-glaciated topography. (*Meerut 1970*; *Varanasi 1965*)
   हिमानी भू-दृश्य की विशिष्टताओं की व्याख्या कीजिए और बताइए कि हिम-रहित भू-दृश्यों से इसमें क्या अन्तर होता है ?
3. Describe the process by which glaciers build erosional forms of relief. (*Patna 1970*; *Bhopal 1971*)
   उस प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए जिसके द्वारा हिमनदी उच्चावचन के अपरदन-कारी दृश्यों का निर्माण करती है।
4. What is the law of glacial erosion ? What kind of topography results from this erosion ? (*Kanpur 1969*)
   हिमानी अपरदन के नियम से क्या तात्पर्य होता है ? इस प्रकार के अपरदन से किस तरह की स्थलाकृति का निर्माण होता है ?
5. Describe the formation of valley glaciers. Describe the special features associated with them. (*Bhagalpur 1970 ; Meerut 1971*)
   घाटी-हिमनदी की रचना का वर्णन कीजिए और इससे सम्बन्धित विशेष धरातलीय आकृतियों का वर्णन कीजिए।
6. Account for the characteristic features of a glaciated region or mountain region. (*Gorakhpur 1971* ; *Agra 1966*)
   हिमनदन क्षेत्र की विशिष्ट धराकृतियों का कारण सहित विवरण दीजिए।
7. Discuss the depositional forms due to glacial activity. (*Gorakhpur 1966*)
   हिमनदी के द्वारा बनने वाली निक्षेप आकृतियों की व्याख्या कीजिए।
8. Explain the formation of Cirque and Esker. (*Gorakhpur 1971*; *Agra 1971*)
   हिमज गह्वर तथा मृद कटक के निर्माण की व्याख्या कीजिये।

पानी वायु के धक्के से वायु की दिशा में थोड़ी दूर तक बहा चला जाता है। यदि तरंगों में बल का स्थान-परिवर्तन होता तो उस पर तैरने वाली वस्तु जल के साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती। **मान्क टाउस** महोदय के अनुसार पवन के विविध सत्वर एवं मन्द थपेड़ों से तरंगें प्रतिफलित होती हैं।

तरंगों का आकार

तरंगें बहुत छोटी भी होती हैं और बहुत विशाल भी। समुद्र-यात्रा करने वाले व्यक्ति ही भली-भाँति समझ सकते हैं कि समुद्री तरंगें कितनी विशाल एवं भयंकर होती हैं। 'स्काटिश लाइट-हाउस बोर्ड' ने ऐटलाण्टिक महासागर की तरंगों के दबाव का अध्ययन करके बताया है कि ग्रीष्म ऋतु में समुद्री तरंगों की भारवहन शक्ति 3,400 किलोग्राम प्रति वर्ग मीटर होती है किन्तु शीत ऋतु के चक्रवातों के समय इनकी भारवहन शक्ति 33,000 किलोग्राम प्रति वर्ग मीटर तक हो जाती है।

तरंगों का सबसे ऊँचा उठा हुआ भाग तरंग-शृंग (crest) और सबसे नीचे दबा भाग तरंग-गर्त (trough) कहलाता है। समुद्री सतह पर तरंगों के अनेक शृंग तथा गर्त पाये जाते हैं। वायु की शक्ति पर ही तरंगों की लम्बाई तथा ऊँचाई निर्भर करती है। तरंगों की लम्बाई तक शीर्ष से दूसरे शीर्ष तक या एक गर्त से दूसरे गर्त
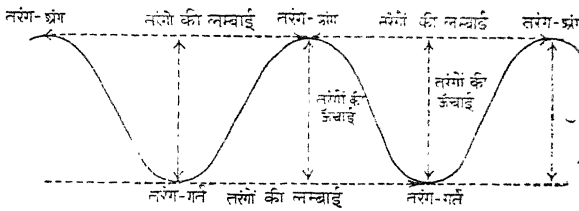
चित्र 215—तरंगों की लम्बाई तथा ऊँचाई

तक मानी जाती है। शृंग से गर्त तक की लम्बवत् दूरी को तरंग की ऊँचाई कहते हैं। वायु के तेज या धीमी होने पर तरंग का आकार भी बड़ा या छोटा होता है। महासागरों में तरंगों की लम्बाई 180 मीटर से 210 मीटर तक होती है और ऊँचाई 6 मीटर से 10 मीटर तक होती है। प्रचण्ड आँधियों के कारण तरंगों में अधिक कम्पन होती है। तरंग का शृंग जितना भी आगे बढ़ता है, गर्त उतना ही पीछे को हटता है। तूफान का वेग जितना अधिक होता है, तरंगें उतनी ही ऊँची उठती हैं।

किसी तरंग की ऊँचाई वायु की गति, वायु की अवधि तथा तरंग-परास (fetch) पर निर्भर करती है। सर्वाधिक ऊँचाई की तरंगें दक्षिणी महासागरों में मिलती हैं क्योंकि यहाँ समुद्र विस्तृत है, वायु अबाध रूप से चलती है और तूफान अधिक समय तक टिकते हैं। खुले समुद्रों में सबसे ऊँची तरंगें पायी गयी हैं।

तरंगों में जल की गति

तरंगों के साथ जल प्रवाहशील नहीं होता है बल्कि वह अपने स्थान पर ही

ऊपर-नीचे तथा आगे-पीछे चलता है। गहरे समुद्र में जल की गति चक्राकार होती है। तरंग-श्रृंग पर जल-कण आगे बढ़ते हैं, विपरीत ढाल पर नीचे की ओर, तरंग-गर्त में पीछे की ओर तथा सम्मुख ढाल पर ऊपर की ओर। तरंगों में
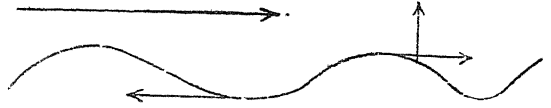
चित्र 216—तरंगों की वक्र-दिशा

जल के इस प्रकार वृत्ताकार उछाल को दोलन (oscillation) कहते हैं। गहरे जल में यह क्रिया अधिक होती है, किन्तु समुद्र-तट के निकट उथले जल में सागर-तल इस दोलन को नीचे से रोकता है। चक्राकार जल की गति नीचे के जल की गति से अधिक होती है जो चक्राकार जल को अण्डाकार बना देती है। इस प्रकार ऊपर का
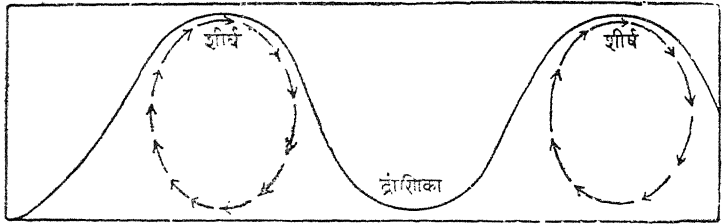
चित्र 217—तरंगों में जल का दोलन
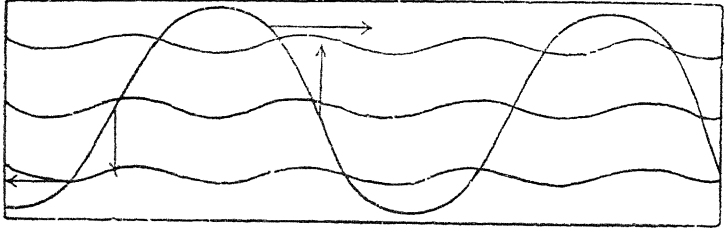
चित्र 218—तरंगों में जल की गति
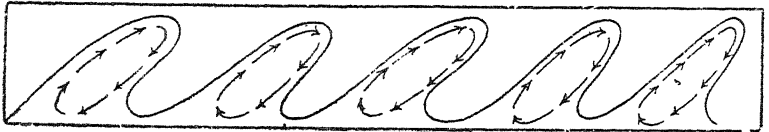
चित्र 219—अण्डाकार भग्नोर्मि

जल नीचे के जल से आगे बढ़कर उसके ऊपर चढ़ा हुआ प्रतीत होता है। इस आकृति को **भग्नोर्मि** (breakers) कहते हैं। पवन के थपेड़ों के कारण उथले समुद्रों का पानी फट जाता है तो तरंग को भग्नोर्मि कहते हैं।

जब पानी की गहराई तरंगों की ऊँचाई के बराबर हो जाती है तो तरंगें टूट

जाती हैं। इसी कारण सभी तरंगें समुद्र के तटवर्ती भाग में छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। तरंगों की लम्बाई के बराबर गहरे समुद्रों में जल की गति धरातल के विस्तार का पाँचसौवाँ होती है। फलस्वरूप उथले समुद्र-तट के अतिरिक्त अन्य भागों में तरंगों का कम प्रभाव पड़ता है। यह कार्य 180 मीटर की गहराई तक ही होता है।

तरंगों की गति

तरंगों की गति उनकी लम्बाई तथा जल की गहराई पर निर्भर करती है। जब तरंगों की लम्बाई की तुलना में जल गहरा होता है तो इनकी गति केवल उनकी लम्बाई के ऊपर आधारित रहती है। यदि जल की गहराई तरंगों की लम्बाई की आधी से कम होती है तो तरंग की गति जल की गहराई पर निर्भर करती है। खुले सागरों में तरंगों की गति इनकी लम्बाई पर निर्भर करती है, किन्तु उथले तटों पर तरंगों की गति जल की गहराई पर निर्भर करती है। यदि तट अधिक ढालू रहता है और जल की गहराई अधिक रहती है तो तरंगें टूटती नहीं और अन्त तक प्रारम्भिक गति तथा दिशा कायम रहती है।

तरंगों का टूटना

जब तरंगें समुद्र-तट तक पहुँच जाती हैं तो इनका ऊपरी भाग आगे को गिरता है और तरंगें टूट जाती हैं। इस प्रकार का झुकाव उथले जल में तरंगों की कम गति के कारण होता है क्योंकि उथले जल में तरंगों का अग्र भाग पृष्ठ भाग की अपेक्षा कम गति से चलता है और तरंगें टूट जाती हैं।
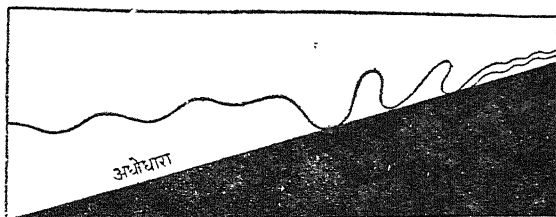
चित्र 220—ऊर्मि भंग

भग्नोर्मि की तीन परिस्थितियाँ होती हैं। उथले जल से होकर जैसे-जैसे तरंग अग्रसर होती है उसका जल किनारे पर एकत्र हो जाता है। इसको तरंग का **अवनमन** (plunge) कहते हैं। इसके पश्चात् जल आगे की ओर दौड़ता है। इसको **उद्धावन** (swash) कहते हैं। प्रक्षिप्त शिलाखण्ड के दोनों ओर से तरंग की टक्कर लगती है, किन्तु खाड़ियों तथा अन्य कटानों में जल शान्त रहता है। दूसरी ओर चढ़ाव में तरंगों का पानी किनारे पर तिरछा होकर तेजी से आगे बढ़ता है। जब तरंगों का जल तटों से टकराकर पीछे लौटता है तो अदृश्य रूप में ऊपरी
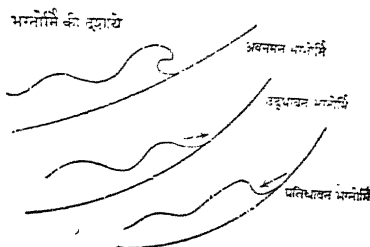
चित्र 221—भग्नोर्मि की दशाएँ

जल के नीचे ही बहता हुआ समुद्र की ओर लौटता है। इसको तरंग का **प्रतिधावन** (backwash) कहते हैं।

गहरे जल के तटों पर तरंगें भिन्न रूप से टूटती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि तरंगें भृगु से टकराती हैं और भृगु की विपरीत दिशा में जल ऊँचाई तक उठ जाता है और तरंगें नष्ट हो जाती हैं।

तरंगों द्वारा अपरदन

तरंगों का समुद्र-तटों पर अपरदन होता है। यह अपरदन निम्न चार प्रक्रियाओं के अन्तर्गत होता है :

(1) **अपघर्षण क्रिया** (Corrasive Action)—तटवर्ती शैलों पर शक्तिशाली तरंगों के जल का भीषण प्रहार होता है। गोलाश्म गुंटिका तथा बालू के प्रहारों से भृगु में अन्तःखनन होती है।

(2) **जलीय क्रिया** (Hydrolic Action)—तरंगों के उतार-चढ़ाव पर दरारों में वायु के दबने तथा फैलने पर शिलाखण्ड विश्रृंखल हो जाते हैं। साथ ही, रासायनिक विघटन होता है।

(3) **संनिघर्षण क्रिया** (Attrition)—दरारों में प्रविष्ट जल दीवारों को तोड़ता है।

(4) **अपघर्षण क्रिया** (Abrasion)—एक शिलाखण्ड के साथ दूसरे शिलाखण्ड का आघात-प्रतिघात होता है और वे टूटकर महीन हो जाते हैं।

तरंगों द्वारा तटीय अपरदन कई तथ्यों पर आधारित रहता है। इनमें तरंगों की तीव्रता एवं दिशा तथा तरंग-परास (fetch) तट की रचना, तटीय शैलों की संरचना, स्तर-क्रम तथा उनका झुकाव, तरंगों का भार आदि उल्लेखनीय हैं। तरंगों द्वारा अपरदन उसी ऊँचाई तक होता है जहाँ तक उनका शीर्ष पहुँच जाता है।

तट पर स्थित कोमल शैलें शीघ्रता से कट जाती हैं और कठोर शैलों के कटने में विलम्ब होता है। तीव्र तरंगों द्वारा भी अपरदन शीघ्रता से होता है। यदि तरंगों में शिलाखण्ड बड़े एवं अधिक होते हैं तो किनारे पर अधिक तोड़फोड़ होती है।

क्षैतिज स्तर की शैलों का अपरदन शीघ्रता एवं सुगमता के साथ होता है किन्तु खड़ी शैलें विलम्ब से अपरदित होती हैं। यदि इन शैलों का ढाल समुद्र की ओर होता है तो तरंगों की चोट से निचला भाग कटता है और बोझ से ऊपरी भाग टूट कर गिर जाता है। यदि तरंगों के थपेड़े सीधे लगते हैं तो तोड़फोड़ अधिक होती है किन्तु तिरछी तरंगों के द्वारा कम अपरदन होता है। यदि आक्रान्त तट नग्न होता है तो अधिक अपरदन होता है।

तरंगों द्वारा अपरदन से निर्मित तटीय आकृतियाँ

समुद्री तरंगों द्वारा अपरदन से अनेक तटीय आकृतियाँ बन जाती हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(1) **खाड़ियाँ और समुद्राभिमुख कगारों का क्रम** (Bays and Promontaries)—जब किसी तटीय कगार में कोमल तथा कठोर शैल-स्तर एक के पश्चात् दूसरा

तट पर लम्बरूप में स्थित होते हैं तो समुद्र की तरंगों के थपेड़ों से कोमल शैलें शीघ्र कट जाती हैं और कठोर शैलें बहुत कम घिस पाती हैं। इस प्रकार कठोर शैलों के कगार समुद्र में निकल जाते हैं और कोमल शैल-स्तर में खाड़ियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार खाड़ियों तथा समुद्राभिमुख कगारों के क्रम की रचना हो जायगी।

(2) **लघु निवेशिका**—जब किसी समुद्रतट पर कोमल एवं कठोर शैलों की स्थिति तट के समान्तर होती है तो समुद्र की तरंगें सामने पड़ने वाली कठोर शैलों की सन्धियों से भीतर जाकर कोमल शैलों को शनैः शनैः काटने लगती हैं। इस प्रकार कोमल शैलों में बड़े खोखले बन जाते हैं जिनका आकार प्रायः अण्डाकार होता है। ऐसी कटानों को लघु निवेशिका (cove) कहते हैं। जब समीपवर्ती अण्डाकार कटानों के मध्य की कोमल शैल भी घुलकर बह जाती है तो कठोर शिलाएँ टापुओं की भाँति समुद्र में पड़ी रह जाती हैं। प्रस्तुत चित्र में चूने की शैल समुद्र की ओर स्थित है और उसके पृष्ठ भाग में कोमल जलोढ़ शैल-स्तर है। तरंगें चूने की शैलों की सन्धियों में होकर जलोढ़ भूमि के पास तक पहुँच जाती हैं और उसको सरलता से काट लेती हैं। किन्तु तरंगों के काटने की क्रिया सीमित रहती है। अतः अण्डाकार कटान ही बनती है। इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर ऐसी आकृतियाँ मिलती हैं।
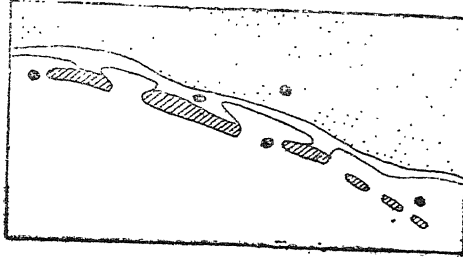
चित्र 222—लघु निवेशिका

(3) **समुद्रतटीय गुहाएँ**—तरंगों की क्रिया एक ऊँचाई तक सीमित है। इनके द्वारा अपरदन की ऊपरी सीमा दीर्घ ज्वार के समय की तरंगों की पहुँच है। नीचे की सीमा जल-स्तर से 60 मीटर की गहराई तक होती है। अस्तु, यदि किसी तटीय कगार की निचली शैलें कोमल हैं तो उस निर्बल स्थान को समुद्र की तरंगें खोखला बना देती हैं। तरंगों के प्रहार के समय उस खोखले के भीतर की वायु दब जाती है और तरंगों के पीछे हटने पर वायु फैल जाती है। इस प्रकार
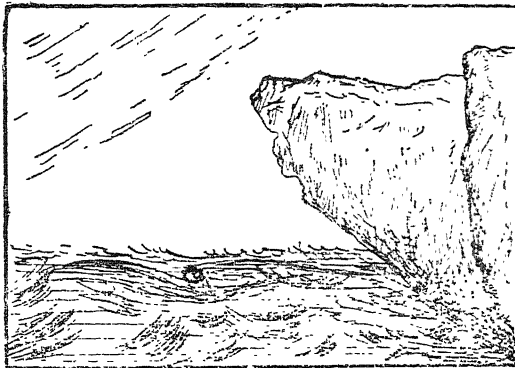
चित्र 223—समुद्रतटीय गुहा

बार-बार वायु के संकुचन एवं प्रसारण द्वारा यह खोखला टूट-टूट कर गहरा होता जाता है और एक गुहा का आकार धारण कर लेता है। इन समुद्री गुहाओं (sea caves) की रचना तटीय शैलों की स्थिरता एवं तरंगों की शक्ति पर निर्भर करती है।

धीरे-धीरे तरंगों के थपेड़ों से कट कर समुद्रतटीय गुहा स्थल की ओर दूर तक चली जाती है तो इन गुहाओं की छत नीचे से सहारा न पाकर टूट जाती है और गुहा छत-विहीन हो जाती है। इस **प्रकार** की छतविहीन गुहा ज्यो (geo) कहलाती है। ज्यो का अर्थ सँकरी खाड़ी (creek) होना है। स्काटलैण्ड तथा फेरो द्वीप के समुद्री किनारों पर ज्यो मिलती हैं।

(4) **भृगु**—तरंगों के प्रहार से समुद्रतटों पर निर्मित खड़े किनारों को भृगु (cliff) की संज्ञा प्रदान की जाती है। तरंगों के प्रहार से मुलायम शैलें धीरे-धीरे कट जाती हैं और ऊपरी भाग लटक जाता है। ऐसी स्थिति में नीचे से सहारा न पाने के कारण ऊपर का लटका हुआ भाग टूटकर गिर जाता है और खड़े किनारे के रूप में बच जाता है। इस प्रकार की बनावट को भृगु कहते हैं। इसके निर्माण में तरंग की तीव्रता और तटीय शैलों के प्रतिरोध का महत्त्व होता है :

(5) **वात-छिद्र**—कभी-कभी गुहा के भीतर तरंगों द्वारा दबी वायु निकलने का प्रयास करती है और गुहा की छत को फाड़कर किसी निर्बल संधि (joint) के सहारे छिद्र बनाने में समर्थ हो जाती है। ऐसे छिद्रों को वात-छिद्र (blow holes) कहते हैं। ऐसे छिद्र कभी-कभी सैकड़ों मीटर लम्बे होते हैं। जब ज्वार आते हैं तो तरंगों द्वारा इन छिद्रों में ढकेली हुई हवा छिद्रों से सीटी बजाती हुई निकलती है।

(6) **उगलने वाले छिद्र**—समुद्रतटों पर तरंगों के टकराने से समुद्री जल नन्हें-नन्हें सूराखों में प्रवेश कर जाता है और शीघ्र ही दूसरे छिद्रों से निकल जाता है। यह जल अपने साथ वायु को भी बाहर निकाल देता है जिससे छिद्र और भी बड़े बन जाते हैं। ऐसे छिद्र टोंटीदार तूर्य (spouting horns) कहलाते हैं। इंगलैण्ड के वाइट टापू के किनारे ऐसा दृश्य मिलता है।

(7) **महराब**—किसी समुद्रतट की शैलों का कुछ भाग समुद्र के भीतर तक फैला रहता है जिसके मध्य में किसी निर्बल शैल का अंश होता है। पार्श्व से तरंगों के निरन्तर प्रहार से शैल का कोमल भाग कट जाता है और उस शैल के आर-पार छिद्र बन जाता है। कालान्तर में ऐसे छिद्र चौड़े होकर बड़े द्वार का रूप ग्रहण कर लेते हैं। अस्तु, इन्हें महराब (arch) कहते हैं। इंगलैण्ड के डन्कन्सबी के प्राचीन लाल बलुआ पत्थर (old red sandstone) में महराब मिलते हैं।

(8) **अलग्न चट्टा**—जब महराब की छत अपरदन द्वारा या स्वयं किसी कारणवश टूट कर गिर जाती है तो शैल का एक अंश मुख्य शैल से अलग खड़ा बच

जाता है। इसको अलग्न चट्टा (stack and skarries) कहते हैं। चट्टों के विभिन्न आकार होते हैं। ये आकार स्थान विशेष की शैलों की बनावट पर निर्भर करते हैं। कहीं-कहीं कठोर शैलों के चट्टे समुद्र-जल से घिरकर टापू बन जाते हैं। किन्तु इस प्रकार के द्वीप भी स्थायी नहीं होते बल्कि तरंगों के अनवरत प्रहार से कालान्तर में अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं। वाइट द्वीप (Isles of Wight) के पश्चिमी सिरे की खाड़ियों की नुकीली चोटियाँ इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

चित्र 224—समुद्री घर्षण से बने चट्टा

(9) तरंग-घर्षित महावेदी—तरंगों के निरन्तर प्रहार से तटीय कगारों में कटान बन जाती है। कटान के बड़ा हो जाने पर ऊपरी भाग निराश्रित होकर टूट कर गिर जाता है और लहरें शिलाखण्डों को प्रवाहित कर ले जाती हैं। इस प्रकार तरंगों द्वारा विरदित वेदिका की रचना हो जाती है। इसको तरंग-घर्षित वेदी (wave-cut platform) कहते हैं। इसका ढाल समुद्र की ओर होता है। इसका ऊपरी भाग लघु ज्वार के समय खुला रहता है। इसको अग्रतट (fore shore) कहते हैं। टूटे हुए शिलाखण्ड तरंगों के प्रहार से बारीक हो जाते हैं जो तरंगों के साथ वेदिका को खुरचते हैं।

(10) अपतटीय सोपान—समुद्रतट के उथले किनारों पर तरंगों के अनवरत प्रहारों से समान्तर कटाव होता रहता है। यह कटाव क्रमशः बढ़ता रहता है। इस प्रकार सीढ़ीनुमा कटाव बन जाता है जिसको अपतटीय सोपान या वेदिका (off-shore benches or terraces) कहते हैं।

तरंगों द्वारा निक्षेपण

तरंगें अपने साथ अपरदित पदार्थों, जैसे शिलाखण्ड, रेत, रोड़ें, कंकड़, बजरी आदि को परिवाहित करके समुद्री मार्ग से ले जाती हैं। इस कार्य में सागरीय धाराओं से सहायता मिलती है। जैसे-जैसे लहरों की शक्ति कम होती जाती है, शिलाखण्ड समुद्रतल पर बैठते जाते हैं। पहले भारी शिलाखण्ड जमा हो जाते हैं और बाद में छोटे-छोटे शिलाखण्ड। इस पर तरंगों के निक्षेप-कार्य के फलस्वरूप अनेक आकृतियाँ बन जाती हैं। ये निक्षेप की आकृतियाँ निक्षेप की स्थिति तथा ज्वार-भाटा एवं जलधाराओं की परिस्थिति पर निर्भर करती हैं।

(1) तरंगनिर्मित वेदी—तरंगें समुद्रतट की काट-छाँट से जो पदार्थ प्राप्त

करती हैं उन्हें समुद्र के उथले तट पर इकट्ठा कर देती हैं। इसका कुछ अंश समुद्र के भीतरी भाग में बहकर चला जाता है। इस प्रकार समुद्रीतट पर वेदियाँ बन जाती हैं जो जलमग्न रहती हैं और कालान्तर में जल की सतह के ऊपर भी निकल आती हैं।
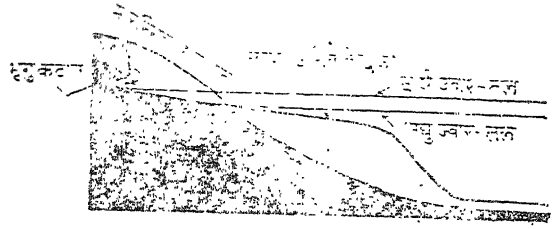
चित्र 225—तरंगनिर्मित वेदिका

यह तरंगनिर्मित वेदिका (wave-built platform) कहलाती है।

(2) पुलिन—समुद्री तरंगों द्वारा अपरदन के पदार्थ अधिकांश में तट के समीप ही एकत्र हो जाते हैं जिससे तटीय सागर उथला होता जाता है। जलमग्न तट का यह उथला भाग पुलिन (beach) कहलाता है। इस पर ऊँची तरंगों के समय ही पानी पहुँचता है। तरंगों द्वारा इन पर एकत्रित पदार्थों का श्रेणीकरण होता है। तट के निकट
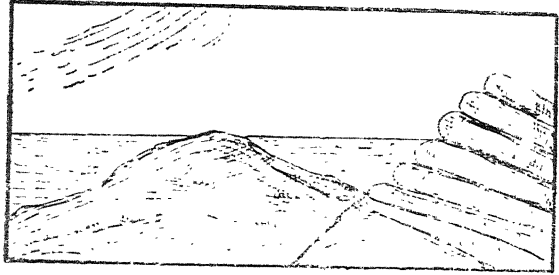
चित्र 226—बलुहातट पुलिन

मोटा तथा भारी पदार्थ रहता है जिसे तरंगें दूर तक नहीं ले जा सकती हैं। यह निक्षेपण तटीय कगारों के ठीक समीप होता है। पुलिन रेत तथा कंकड़-पत्थरों से बनती हैं। इनकी आकृति प्रायः अर्द्धचन्द्राकार हो जाती है क्योंकि तरंगों के मध्य अधिक और किनारों पर कम शक्ति रहती है जिससे पुलिन भी चन्द्राकार बन जाती है। पुलिन अस्थायी होती है। समुद्र की शक्तिशाली तरंगें कुछ ही घंटों में उन्हें समाप्त कर देती हैं। यदि ऐसा न होता तो जलमग्न तट पुलिनों की वृद्धि से संकुचित हो जाते। चट्टानी तटों में निर्मित खाड़ियों तथा कटानों के चारों ओर कंकड़ तथा रोड़े

चित्र 227—(क) अवरोधक, (ब) अनूप, (इ) महाद्वीपीय सागर

की पुलिन स्थापित हो जाती है जिसको कोटरमय पुलिन (pocket beaches)

कहते हैं। इनकी रचना पश्चगतिक समुद्रतट (retrograde coast) पर होती है। संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू जर्सी राज्य में इसके उदाहरण मिलते हैं।

कुछ निचले तटीय प्रदेशों में जब पुलिन समुद्रतट के समान्तर बनती हैं तो इनको रोधी-पुलिन (barrier beach) कहते हैं। इस प्रकार की पुलिन जब केवल बालू से निर्मित होती है तो उसे बालू-भित्ति (sand-wall) कहते हैं। इस प्रकार की दीवारें संयुक्त राज्य अमरीका के समुद्रीतट पर न्यूयार्क से दक्षिण तथा भारत के पश्चिमी घाट के तट पर पायी जाती हैं। यह बालू समुद्र में गिरने वाली छोटी-छोटी नदियों द्वारा लायी जाती है और तरंगों द्वारा एकत्र की जाती है। यदि नदियाँ निक्षेप कार्य सम्पन्न करती हैं तो रोधी पुलिनें समुद्र की ओर बढ़ जाती हैं। ऐसी
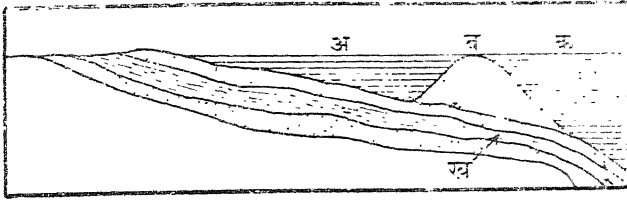
चित्र 228—(अ) अनूप, (ब) रोधिका, (क) महासागर, (ख) महाद्वीपीय सागर

दशा में रोधी पुलिनों तथा तट के मध्य में झीलें बन जाती हैं जिन्हें अनूप (lagoon) कहते हैं। इस प्रकार की झीलें भारत के पश्चिमी घाट के तट पर अधिक मिलती हैं। तटीय पुलिनें उसी दशा में बन पाती हैं जब तलछट का परिवहन तट के समान्तर होता है।

जब तट से अधिक तलछट आती है तो इन पुलिनों द्वारा खाड़ियों के मुँह बन्द हो जाते हैं। कभी-कभी तट के समीप द्वीपों की श्रृंखला उपस्थित हो जाती है। इन्हें श्रृंखला या सहबद्ध द्वीप (tied islands) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में टैक्सास राज्य के समीप इस प्रकार की द्वीप-श्रृंखला पायी जाती है। जिब्राल्टर इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

(3) भूजिह्वा तथा बलुई रोधिका—कभी-कभी समुद्री तरंगें तट के तोड़े गये पदार्थों की एक भित्ति के रूप में जमा कर देती हैं। कभी-कभी यह रोधिका समुद्रतट से दूर बनती है और इसका ऊपरी भाग जल की सतह के ऊपर निकलता हुआ दिखाई देता है। इसकी रचना तभी होती है जब शिलाराशि अधिक मात्रा में तट से दूर बहाकर ले जायी जाय।

कभी-कभी इस रोधिका का एक सिरा स्थल से संलग्न रहता है और दूसरा सिरा समुद्र की ओर निकला होता है। इसको भूजिह्वा (spit) कहते हैं। कभी-कभी इनका समुद्राभिमुख सिरा नुकीला होता है तो इन्हें उभयाग्र (cusp) कहते हैं। इनके निर्माण का कारण तरंगों द्वारा समुद्र की ओर प्रक्षिप्त स्थल का अपरदन तथा

खाड़ियों में निक्षेपण होता है। जब प्रक्षिप्त स्थल पर तरंगों का आघात होता है तो अपरदन अनिवार्य हो जाता है। इन अपरदित पदार्थों का परिवहन खाड़ी की ओर
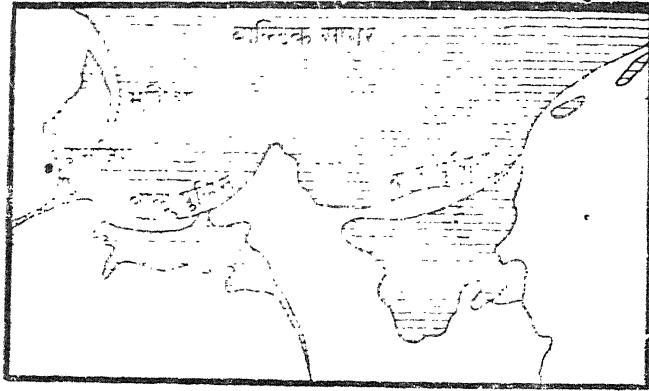
चित्र 229—भूजिह्वा तथा बालू पुलिन

होता है और तरंगों के शक्तिहीन हो जाने पर ये पदार्थ एकत्र हो जाते हैं। जब तिरछी तरंगें बहती हैं तो ये पदार्थ खाड़ी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जाते हैं। इस प्रकार लम्बी बलुई रोधिका (bar) बन जाती है। बालू-रोधिका के बीच में छोटे-छोटे खुले भाग होते हैं जिनसे होकर खाड़ी का जल सागर में और सागर का जल खाड़ी में आता-जाता रहता है।
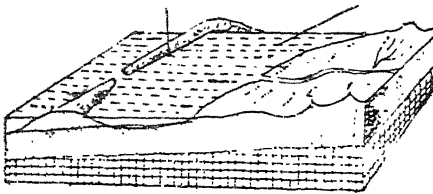
चित्र 230—कुण्डलित रोधिका तथा अनूप

चित्र 231—भूजिह्वांकुश

कभी-कभी दो भूजिह्वा का निर्माण सम्भव होता है। एक स्थलखण्ड से प्रारम्भ होकर समुद्र की ओर खुली रहती है और दूसरी किसी द्वीप से प्रारम्भ होकर स्थलखण्ड की ओर प्रक्षिप्त रहती है। जब इस प्रकार की दो भूजिह्वा आपस में मिल जाती हैं तो इन्हें **कुण्डलित रोधिका** (looped bar) कहते हैं। अलास्का का शपका टापू इसका उदाहरण है। इटली में इस प्रकार की कुण्डलित रोधिका को संयोजी भित्ति (tombolo) कहते हैं।

जब किसी भूजिह्वा का एक सिरा टेढ़ा हो जाता है तो इनको **भूजिह्वांकुश**

(hook) कहते हैं। कभी-कभी एक ही भूजिह्वा में कई टेढ़े सिरे बन जाते हैं। इसको **बहुमुखी भूजिह्वांकुश** (compound hook) कहते हैं। इंगलैण्ड के पश्चिमी तट पर स्थित क्राइस्ट चर्च खाड़ी का हर्स्ट कैसिल स्पिट (Hurst castle spit) अपनी अनुपम आकृति के लिए प्रसिद्ध है।

प्रश्न

1. What are waves ? How do they cause erosion and deposition ? Give an account of the features formed by the wave action.
(Meerut 1968; Vikram 1969; Calcutta 1970)
लहरें क्या हैं ? इनके द्वारा अपरदन एवं निक्षेपण कैसे होता है ? लहर-क्रिया द्वारा निर्मित आकृतियों का विवरण लिखिए।
2. The weathering in dry and humid land is different from one another. Discuss. *(Nagpur 1971; Bihar 1969)*
शुष्क एवं आर्द्र प्रदेशों में अपक्षय की प्रक्रियाएँ बिलकुल भिन्न होती हैं। विवेचना कीजिए।

20

मुख्य स्थलरूप–पर्वत

[MAJOR LANDFORMS—MOUNTAINS]

पृथ्वीतल पर गगनचुम्बी, हिमाच्छादित, वनाच्छादित, सौन्दर्यशाली, मनमुग्धकारी एवं तीव्रगामी कलकलनिनादिनी नदियों के अमोघ स्रोत पर्वत हमारे लिए रहस्य एवं आश्चर्य के केन्द्र हैं। ये अज्ञात भूतल के अभ्यन्तर की एक अनोखी झाँकी उपस्थित करते हैं। ये आकर्षक, मनमोहक तथा डरावने होते हैं। ये पृथ्वी के इतिहास में प्रगति-सूचक चिह्न (milestones) हैं।

पृथ्वी की रचना में पर्वतों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण दृष्टि में पृथ्वीतल की वह उच्च भूमि जो सामान्य सतह से ऊपर उठ जाती है और प्रायः 600 मीटर से कम ऊँचाई की नहीं होती और कम से कम उसका आधा धरातल तीव्र ढाल का होता है, पर्वत की संज्ञा प्राप्त करती है। वेल्स के विद्वान् सैलिसबरी के अनुसार पर्वत उच्च स्थलीय भाग हैं जिनमें कुछ चोटियाँ भी होनी हैं।

सामान्य विशेषताएँ

सभी पर्वत अवसादी शैलों के बने होते हैं। इन शैलों की उत्पत्ति समुद्र के अवसाद से होती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पर्वत समुद्र के अवसाद से निर्मित होते हैं। आल्प्स पर्वत में चूने का पत्थर विशाल महराबों में मुड़ गया है। हिमालय पर्वतमाला में स्लेट पत्थर आंशिक रूप में रूपान्तरित होकर पड़ा हुआ मिलता है।

संसार के प्रमुख पर्वतों की स्थिति समुद्रतट के समान्तर दिखायी पड़ती है। दोनों अमरीका की रॉकी तथा एण्डीज पर्वतश्रेणियाँ उत्तर से दक्षिण प्रशान्त महासागरीय तट के समान्तर विस्तृत हैं। यूरेशिया की पर्वतमालाएँ पूरब से पश्चिम को फैली हुई हैं। इन पर्वतों की आकृति पुरा भूखण्डों की आकृति से पूर्णतः मिलती है। उदाहरण के लिए, हिमालय की आकृति तलवार की तरह है। यह दक्षिणी भारत की उत्तरी आकृति के अनुकूल है।

निरीक्षण एवं परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि पर्वतीय प्रदेशों में परतों की मोटाई

मैदानों की अपेक्षा अधिक होती है । ये पर्वत लम्बाई में अधिक और चौड़ाई में सँकरे होते हैं । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि अवसाद से पूर्ण भू-अभिनति में ही पर्वतों का निर्माण होता है । इसका प्रमाण भी पर्वतों की शैलों के स्वभाव एवं अवशेषों से प्राप्त होता है ।

भू-अभिनति
(Geosynclines)

पर्वत-रचना के शोध-कार्य में ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे स्पष्ट ज्ञात हुआ है कि पर्वतों का निर्माण लम्बे किन्तु संकीर्ण द्रोणी में अवसादों के भरते रहने के कारण होता है । अमरीकी भू-विज्ञानी **डाना** नामक वैज्ञानिक ने सन् 1873 में इस निरन्तर दीर्घ अवसादन एवं अवतलन की लम्बी पेटी को भू-अभिनति की संज्ञा प्रदान की । बाद में **हाग** ने इस विशिष्ट प्रक्रिया को विकसित किया और मानचित्र-रचना द्वारा पर्वतों एवं भू-अभिनतियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला । **हाग** के अनुसार सागर के लम्बे, सँकरे क्षेत्र जिनमें अवसाद नियमित रूप से एकत्र होते रहते हैं, भू-अभिनति है । अमरीकी भू-गर्भशास्त्री **रोजर्स बन्धुओं** द्वारा अपेलेशियन पर्वत के व्यापक अध्ययन से इस परिकल्पना को समर्थन प्राप्त हुआ । **इवान्स** ने तो यह कह डाला है कि इसकी कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं है । यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है ।

भू-अभिनति की परिकल्पनाएँ

गगनचुम्बी पर्वतों की परतदार शैलों की विशाल मोटाई की कल्पनामात्र से प्रतीत होता है कि पर्वतों की रचना गहरे महासागर में हुई होगी । हिमालय पर्वत की शैलों में उपलब्ध जीवाश्म से प्रमाणित होता है कि पर्वतों का निर्माण उथले सागरों में हुआ है । एक प्रश्न अवश्य ही स्पष्ट समाधान की अपेक्षा करता है कि इतना विशाल अवसाद किस प्रकार उथले सागरों में एकत्र हुआ होगा । इसके उत्तर में भूगर्भशास्त्री **हाग** ने बताया है कि जैसे-जैसे अवसाद उथले सागरों में जमता गया त्यों-त्यों समुद्र-तल धँसता गया और भू-अभिनति लम्बे एवं सँकरे द्रोणी का रूप धारण करती गई । **हाग** की इस धारणा को समस्थितिक के सिद्धान्त से अधिक बल प्राप्त होता है । इस सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि केवल सागर-तल ही नहीं धँसता, बल्कि अपरदन एवं निक्षेप के फलस्वरूप एक विस्तृत क्षेत्र में समस्थितिक क्रिया घटित होती है और एक विशाल प्रदेश ऊँचा-नीचा होता रहता है ।

भू-अभिनति-निमज्जन के कारण

भूपृष्ठ का अभिनति-तल निम्न कई कारणों से निरन्तर नीचे धँसता जाता है :

(1) कुछ विद्वानों का मत है कि धरातल पर तनाव के कारण भूपृष्ठ की शैलों में प्रसार हो जाता है और उनकी लम्बाई बढ़ जाती है और मोटाई कम

हो जाती है। इस प्रकार कालान्तर में परतदार शैलें इतनी पतली पड़ जाती हैं कि वे लचककर अभिनति का निर्माण करती हैं।

(2) विद्वानों के दूसरे वर्ग की धारणा है कि सम्पीडन द्वारा भूपटल का कुछ भाग धँस जाता है और कुछ ऊँचा उठ जाता है। इस प्रकार अभिनति का निर्माण हो जाता है। सम्पीडन के बढ़ाव के साथ धँसता हुआ भाग अधिकाधिक नीचे को धँसता जाता है।

(3) **सर आर्थर होम्स** नामक भूगर्भशास्त्री के मतानुसार अधःस्तर (subtratum) से संवहन-धाराएँ ऊपर की ओर चलती हैं। ये धाराएँ ठोस ऊपरी परत के नीचे एक कन्दरा का निर्माण करती हैं और वहाँ के पदार्थों को अन्यत्र बहा ले जाती हैं जिससे वहाँ एक गड्ढा बन जाता है।

भू-अभिनति के प्रकार

शुशर्ट नामक जर्मन भूगर्भशास्त्री ने भू-अभिनति को तीन प्रकार का माना है :

(1) एकाकी-भू-अभिनति (Mono-Geosynclines),

(2) बहु-भू-अभिनति (Poly-Geosyncline),

(3) मध्य-भू-अभिनति (Meso-Geosyncline)।

(1) **एकाकी भू-अभिनति**—ये महाद्वीपों के बीच या किनारे पर लम्बे तथा सँकरे सागर हैं। इनमें कई बार धसान हो चुकी है। अपेलेशियन की वृहद् मोटाई से इसका प्रमाण मिलता है। स्काटिश भू-विज्ञानी **सर जेम्स हाल** तथा अमरीकी भू-विज्ञानी **जे० डी० डाना** ने इसी प्रकार की भू-अभिनति की कल्पना प्रस्तुत की है। **होम्स** के अनुसार तस्मान तथा वेडेल सागर इसके उदाहरण हैं।
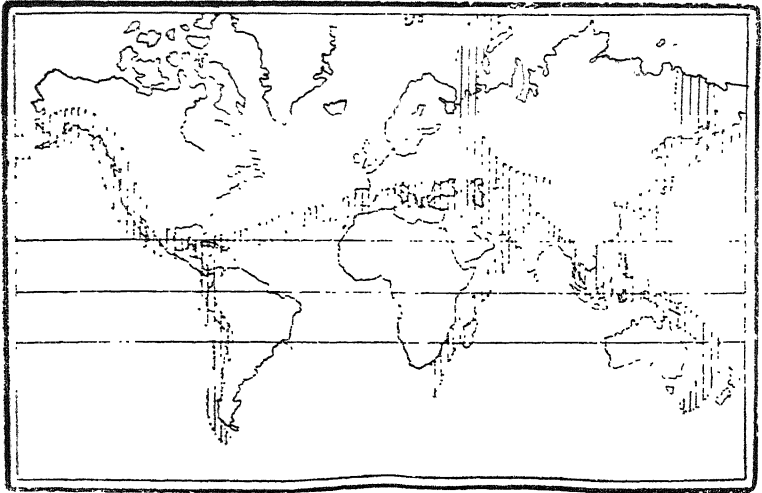
चित्र 232—संसार में भू-अभिनतियों का वितरण

(2) **बहु-भू-अभिनति**—एकाकी भू-अभिनति की अपेक्षा यह अधिक चौड़ी तथा दीर्घावधि की होती हैं। इनकी रचना का विकास भी बहुत पेचीदा होता है। इनमें एक या अधिक भू-अपनतियाँ (geo-anticlines) मिलती हैं। रॉक तथा हिमालय पर्वत की भू-अभिनतियाँ इसी कोटि में आती हैं।

(3) **मध्य भू-अभिनति**—उपर्युक्त भू-अभिनतियों की अपेक्षा ये भी लम्बे, सँकरे तथा गतिशील समुद्र होते हैं जो दो विशाल भूखण्डों के मध्य स्थित रहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है और इनके विकास का इतिहास भी लम्बा और जटिल होता है। भूमध्यसागर जिसका पुरातन नाम टेथिस है, इस प्रकार की सर्वोत्तम भू-अभिनति है। वास्तव में **हाग** की अवधारणा इसी प्रकार की भू-अभिनति से है। ऐसी भू-अभिनतियों का विश्व में वितरण चित्र 227 में दर्शाया गया है।

जे० डब्ल्यू० इवान्स की अवधारणा

प्रसिद्ध ब्रिटिश भू-विज्ञानी **इवान्स** ने अवसादन-अवनलन (sedimentation-subsidence) की कल्पना के द्वारा भू-अभिनति के विकास की व्याख्या प्रदान की है। इनके मतानुसार उथले समुद्री भाग में निरन्तर अवसाद एकत्र होता रहता है और भारवृद्धि के साथ समुद्र-तल धँसता जाता है। इसके अनुसार भू-अभिनति की विभिन्न आकृतियाँ सम्भव होती हैं। कभी ये धनुपाकार, कभी अव्यवस्थित गड्ढेनुमा और कभी सपाट तल की हो सकती हैं।

यह अन्तर भू-अभिनतियों की स्थिति के अनुसार होता है। इनकी स्थिति निम्न स्थानों पर हो सकती है :

(क) किसी बड़ी नदी के मुहाने के समीप,
(ख) दो महाद्वीपों के मध्य में,
(ग) किसी महासागर के पर्वतीय तट के निकट,
(घ) किसी पर्वत या पठार के समीपवर्ती मैदान में।

इवान्स के विचार में भू-अभिनतियों के विकास-चक्र को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है :

(1) अवसादन तथा अवतलन की अवस्था,
(2) तनाव एवं संपीडन से सिमै-प्रवाह द्वारा व्यतिक्रम की अवस्था,
(3) भू-ऊष्मा से भू-अभिनति की अन्तिम व्यवस्था।

होम्स के विचार

होम्स के मतानुसार अवसादन से भू-अभिनति प्रदेश का तल नहीं धँसता है। इसके तल का धँसाव स्वतः होता है। भू-अभिनति प्रदेश की उत्पत्ति भूसंचलनों से होती है जिनके तीव्र रूप के फलस्वरूप पर्वतों की रचना होती है। उन्होंने अवसादन की गति के आधार पर परिकलन किया है कि **हाग** के तर्क को मान्य करने पर समुद्र

की प्रारम्भिक गहराई कई सौ मीटर अनुमानित करनी पड़ेगी जब वास्तव में प्रारम्भिक भू-अभिनति प्रदेश छिछले थे।

अमरीकी भू-वैज्ञानिक **सर आर्थर होम्स** ने भी तीन प्रकार के भू-स्तरों की कल्पना की है और इन्हीं स्तरों के आधार पर भू-अभिनतियों के भी तीन भेद किये गये हैं।

भू-स्तर के भेद

(क) **ग्रेनो-डायोराइट स्तर**—यह भूपृष्ठ की ऊपरी परत होती है जो 10-12 मीटर मोटी होती है।

(ख) **एम्फिबोलाइट स्तर**—ग्रेनो-डायोराइट स्तर के नीचे 20-25 किलोमीटर मोटी यह परत होती है।

(ग) **एक्लोजाइट स्तर**—यह सबसे निचली परत होती है, जिसका ऊपरी भाग रवेदार तथा निचला भाग शीशे के समान होता है।

इन तीन स्तरों वाले भूपटल पर तीन प्रकार की भू-अभिनतियाँ पायी जाती हैं :

(1) प्रथम प्रकार की भू-अभिनति में एम्फिबोलाइट स्तर से द्रव पदार्थ अन्य दिशाओं में खिसक गया होता है जिसके फलस्वरूप भूपटल में अवतलन होता है। वर्तमान रोसा सागर तथा सयान सागर इसके उदाहरण हैं।

(2) दूसरे प्रकार की भू-अभिनति में सिएल की परत तनाव के कारण पतली हो जाती है। इस प्रकार से निर्मित यूराल की भू-अभिनति है। कभी-कभी अधःस्तर में संवहनीय धाराओं का प्रवाह भी होता है जिसके कारण सिएल के दो स्थलखण्ड पृथक हो जाते हैं। अतीत का टेथिस समुद्र इसी प्रकार बना था।

(3) तीसरे प्रकार की भू-अभिनति का निर्माण भीतरी शिलाखण्डों के कायान्तरित होकर आयतन में बढ़ या घट जाने के कारण होता है। इसी के फलस्वरूप अवतलन की क्रिया होती है। दो अग्रप्रदेशों के मध्य का क्षेत्र इस अभिनति के अन्तर्गत आता है। पश्चिमी भूमध्यसागर तथा वण्डा सागर इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

पर्वत-निर्माण की अवस्थाएँ

वैज्ञानिकों के अनुसार पर्वत-निर्माण की तीन अवस्थाएँ ज्ञात होती हैं :

(1) शैलजनन अवस्था (Lithogenesis),
(2) पर्वतन अवस्था (Orogenesis),
(3) विकास अवस्था (Cliptogenesis)।

(1) **शैलजनन अवस्था**—इतना निश्चित प्रतीत होता है कि उथले समुद्र में अवसाद का एकत्रीकरण होता रहा और यह समुद्रतल शनैः शनैः नीचे धँसता गया जिससे और अवसाद के जमा होने का स्थान मिल सके। भू-अभिनति के निर्माण का

क्रम वाद-विवाद का विषय है जैसा ऊपर बताया गया है। किन्तु भू-अभिनति का होना नितान्त सत्य है। इसमें सन्देह की तनिक भी गुंजाइश नहीं है।

चित्र 233—अवसाद निक्षेप की संतुलन प्रतिक्रिया

उथले निम्न समुद्री भाग में अवसाद एकत्र होता रहता है और इसके भाराधिक्य से इस क्षेत्र में अवतलन होती रही है जिसको वैज्ञानिक **इवांन्स** ने अवसादन-अवतलन (sedimentation-subsidence) की संज्ञा प्रदान की है। कुछ भूगर्भशास्त्रियों का मत है कि सम्पीडन एवं तनाव के बलों (forces of compression and tension) द्वारा पृथ्वी का ऊपरी पपड़ा पतला होकर ऊपर उठ जाता है और दाब के बढ़ाव के साथ अधिक धँसता जाता है। यह सम्पीडन या तनाव का अवतलन कहलाता है। कुछ विचारक इस मत के भी हैं कि संवहन-धाराओं के कारण भू-पृष्ठ के भीतर एक कन्दरा बन जाती है और आन्तरिक ऊष्मा के कारण पर्वतों के मूल में प्रसार हो जाता है और पर्वत ऊपर उठ जाते हैं। इसको उष्मीय प्रसार (thermal expansion) कहते हैं।
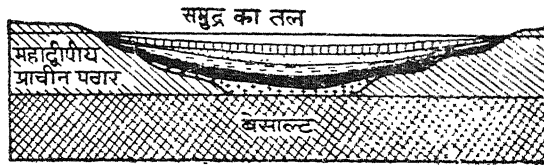
समुद्र का तल
महाद्वीपीय प्राचीन पठार
बेसाल्ट

चित्र 234—शैलजनन अवस्था

(2) **पर्वतन अवस्था**—अवसाद के जमाव की एक सीमा होती है जिसके पश्चात् अवसाद का निक्षेप रुक जाता है और पृथ्वी की क्षैतिज हलचल के कारण अभिनति प्रदेश वलन के क्रम में मुड़ जाता है। इस दशा की व्याख्या के लिए वैज्ञानिकों ने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। इतना स्पष्ट ज्ञात होता है कि संतुलन-क्रिया
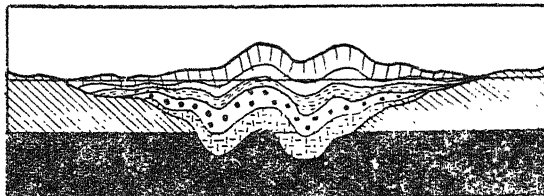
चित्र 235—पर्वत-निर्माण अवस्था

के फलस्वरूप सम्पीडन या तनाव उत्पन्न होता है और अध:स्तर में समस्थिति के पुन: स्थापन-क्रम में वलन पड़ जाती हैं तथा तटीय प्रसार-क्रिया सम्पन्न होती है। इस काल में ज्वालामुखी उद्भेदन तथा कायान्तरण भी होता है।

अग्रभूमि तथा पश्चभूमि—उपर्युक्त वलों से एक समस्थितिक (isostatic) क्षेत्र का निर्माण होता है और यह उस समय तक विकसित होता है जब तक कोई कठोर पिण्ड अवरोध उपस्थित नहीं करता है। रुकावट पड़ते ही धक्के की तरगें दोनों ओर बिखरने लगती हैं किन्तु इस अवस्था में मुलायम शैलों में वलन या भ्रंशन उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी-तल पर इस प्रकार के अवरोध पिण्ड लारेंशिया या गोंडवाना के कठोर पिण्ड हैं जिनमें वलन का निर्माण असम्भव है। इन अवरोध-पिण्डों को अग्रभूमि और धक्का देने वाले भाग को पश्चभूमि (hinterland) की संज्ञा प्रदान की जाती है। **कोबर** के अनुसार भू-अभिनति के दोनों ओर अग्रभूमि स्थित रहती है और दोनों भूमि भू-अभिनति की ओर खिसकती हैं। **ई० सुइस** ने सन् 1888 में एक विचार प्रस्तुत किया जिसके अनुसार अग्रभूमि स्थिर रहती है और पश्चभूमि की ओर से दबाव पड़ता है और यही भाग आगे बढ़ता है। जिसमें भू-अभिनति में मोड़ पड़ जाते हैं। सन् 1922 ई० में प्रस्तुत **आरगैन्ड** का विचार **सुइस** का समर्थक था। आल्प्स के निर्माण में केन्द्रीय यूरोपीय गिरिपिण्ड अग्रभूमि था और अफ्रीका पश्चभूमि। हिमालय के निर्माण में भारत का दक्षिणी पठार अग्रभूमि और मध्य एशिया पश्चभूमि का कार्य सम्पन्न करता है। **आरगैन्ड** के अनुसार टिथिस की ओर अफ्रीका की पश्चभूमि खिसकने लगी, जब योरप की अग्रभूमि स्थिर थी। इस प्रकार आल्प्स पर्वत बना। इस प्रकार से मुख्यत: एक पर्वत श्रेणी बनती है जो अग्रभूमि पर झुकी रहती है।
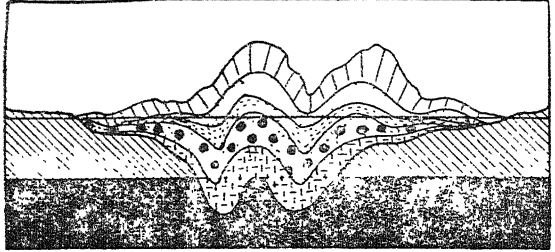
चित्र 236—पर्वत-उत्थान अवस्था

(3) **विकास-अवस्था**—जब पर्वतों का निर्माण हो जाता है तो पर्वतों पर अनाच्छादन (denudation) की क्रिया प्रारम्भ होती है और इस क्रिया के फलस्वरूप धरातल के विशेष रूप बन जाते हैं।

गिरि-निर्माण काल

अनुभव से ज्ञात हुआ है कि किसी निश्चित एवं सीमित क्षेत्र में ही दीर्घकालीन अन्तर पर पर्वत-निर्माण होता रहा है और पृथ्वी के इतिहास में इस प्रकार की घट-

नाओं का विशेष महत्त्व रहा है। **कोबर** के मतानुसार पर्वत-निर्माण के छः काल आये जिनमें एक ही प्रकार की घटनाओं का क्रम मिलता है। इनमें तीन लारेन्शियन, अल्गोमन तथा किलेरनियन तो आद्य-महाकल्प के हैं जिनके सम्बन्ध में अल्प ज्ञान प्राप्त है। निम्न तीन विख्यात हैं :

कैलेडोनियन पर्वतन (Caledonian orogenesis)—यह सबसे पुरानी गिरि-निर्माणकारी घटना है। इसका श्रीगणेश पुराजीव महाकल्प के प्रवाल कल्प में हुआ था जिसको लगभग 32 करोड़ वर्ष हुए। इस क्रान्ति में निर्मित पर्वतों का रुख उत्तर-पूरब से दक्षिण-पश्चिम को है। यूरोप से लेकर ग्रीनलैण्ड तथा उत्तरी अमरीका तक के पर्वतों के अवशेष इसी प्रकार के हैं। स्कैण्डेनेविया, स्काटलैण्ड, उत्तरी वेल्स, दक्षिणी आयरलैण्ड, न्यूफाउंडलैण्ड, न्यूब्रेजविक तथा नोवास्कोशिया के पर्वत इसी काल में बने हैं। नियाग्रा प्रपात की शैलें इसी काल की हैं।

चित्र 237—गिरि-निर्माणकारी पर्वतनें

वैरिस्कन या हरसीनियन पर्वतन (Variscan or Hercynian Orogenesis)—यह पर्वतन कोयला कल्प से प्रारम्भ हुई। इसको घटित हुए लगभग 22 करोड़ वर्ष हुए। इस पर्वतन से प्रभावित क्षेत्र कैलेडोनियन क्षेत्र के दक्षिण में स्थित हैं। इसी काल में मध्य जर्मनी, उत्तरी-पूरबी फ्रांस तथा अमरीका के अपेलेशियन पर्वत बने थे। भारत का अरावली पर्वत भी इसी काल का है।

अल्पाइन पर्वतन (Alpine Orogenesis)—यह परवर्तन भूगर्भशास्त्र द्वारा प्रतिपादित तृतीय महाकल्प (tertiary era) में हुई है। इसको हुए अभी केवल 6 करोड़ वर्ष हुए। कहा जा सकता है कि यह आधुनिक पर्वतीकरण अभी तक समाप्त नहीं हुआ है। आल्प्स, हिमालय, रॉकी, एण्डीज आदि संसार के विशाल पर्वत इसी क्रान्ति के अन्तर्गत हैं।

गिरि-निर्माणकारी पर्वतनें कालान्तर पर आती रहती हैं। इनके मध्य दीर्घकालीन शान्ति भी रहती है जिसमें पर्वतों का निर्माण रुक जाता है और कुछ समय पश्चात् पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

पर्वतों का वर्गीकरण

पर्वतों का वर्गीकरण कई आधार पर किया जाता है जिनमें मुख्य निम्न हैं :

(1) उत्पत्ति के विचार, (2) आयु के विचार, (3) भौगोलिक व्यवस्था के विचार।
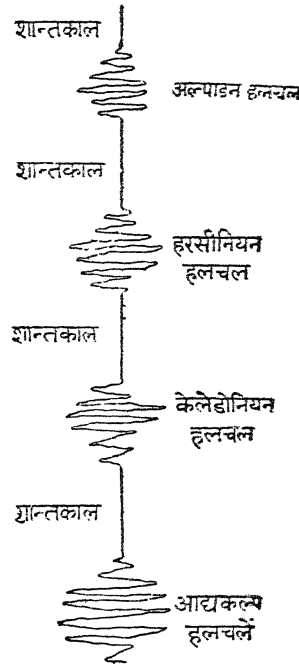
पर्वतों की उत्पत्ति सम्पीडन एवं तनाव की बलों, अपरदन की विभिन्नता तथा ज्वालामुखी के उद्भेदन के सामूहिक प्रभाव से होती है किन्तु इनमें किसी प्रभाव का विशेष हाथ रहता है। पर्वत इसी प्रभावशाली क्रिया के वर्ग में गिने जाते हैं।

(1) उत्पत्ति के विचार से पर्वतों का वर्गीकरण

उत्पत्ति के विचार से पर्वतों के निम्न भाग किये गये हैं :

(1) संचयवृत्त पर्वत (Mountains of Accumulation),

(2) वलित पर्वत (Folded Mountains),

(3) गुम्बदाकार पर्वत (Dome Mountains),

(4) भ्रंशोत्थ पर्वत (Block Mountains),

(5) अवशिष्ट पर्वत (Residual Mountains) ।

(1) **संचयवृत्त पर्वत**—ज्वालामुख के निःसृत लावा, राख तथा शिलाखण्डों के जमाव से शंक्वाकार ऊँचे टीले बन जाते हैं। अधिक ऊँचे हो जाने पर इन्हें पर्वत कहते हैं। विसूवियस, एटना, कोनिया तथा किलीमंजारो इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

(2) **वलित पर्वत**—विश्व की सभी विशाल पर्वतमालाएँ इस कोटि में आती हैं। अनेक अवशिष्ट पर्वत भी वलित पर्वत से बने हैं। इनका निर्माण महाद्वीपों के किनारे या दो महाद्वीपों के मध्य में स्थित उथले विस्तृत भाग में अवसाद के जमाव एवं धसान से हुआ है। इस भाग को भू-अभिनति (geosyncline) कहते हैं। पार्श्विक सम्पीडन एवं तनाव से अभिनति (syncline) एवं अपनति (anticline) का क्रम बन जाता है। किन्तु इन पर्वतों में अभिनति एवं अपनति साधारण रूप में नहीं मिलती हैं। धक्के के कारण ये टूट जाती हैं या अपरदन से नष्ट हो जाती हैं। हिमालय वलित पर्वत है।

वलित पर्वतों के प्रमुख लक्षण—यह लक्षण निम्नलिखित हैं :

(क) ये अवसादी शैलों से निर्मित होते हैं। इनकी तहें नदियों द्वारा निक्षेपित होती हैं।

(ख) इनमें समुद्री जीवों के जीवाश्म मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इनका निर्माण समुद्र-तल में हुआ है।

(ग) इनकी आकृति बहुधा चाप के आकृति की होती है। इससे ज्ञात होता है कि पार्श्व की ओर से इन पर खिंचाव पड़ा है।

(घ) इन पर्वतश्रेणियों का विस्तार लम्बाई में अधिक तथा चौड़ाई में कम होता है।

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट व्यक्त होता है कि वलित पर्वतों की रचना उथले, सँकरे किन्तु लम्बे समुद्रों में होती है। इनको भू-अभिनति कहते हैं।

इसी आधार पर कहा जाता है कि पर्वतों का जन्म भू-अभिनति में हुआ है (Out of geosyncline have come the mountains)।

वलित पर्वतों की अवस्थाएँ—वलित पर्वतों की रचना में निम्न तीन अवस्थाएँ होती हैं :

(अ) प्रारम्भिक अवस्था (Initial Stage),

(ब) युवावस्था (Youth Stage),

(स) प्रौढ़ावस्था (Mature Stage)।
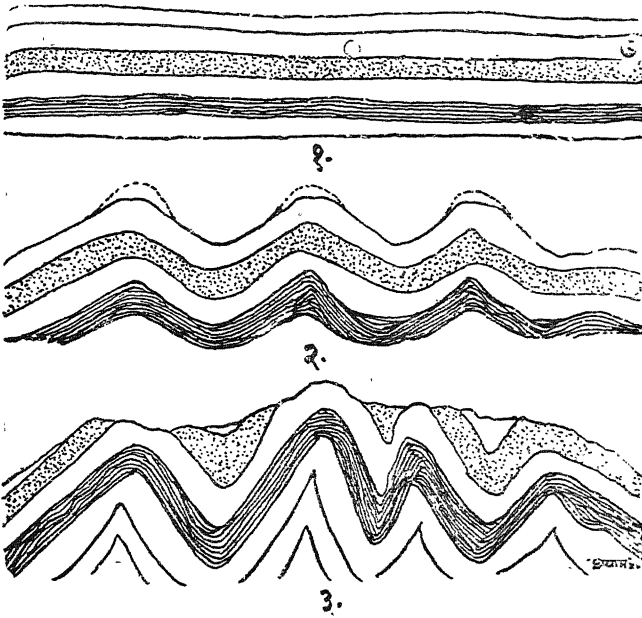
चित्र 238—वलित पर्वतों की रचना का क्रम

(अ) **प्रारम्भिक अवस्था**—इस अवस्था में उथले सागरों में अवसाद का एकत्रीकरण होता है और भू-अभिनति का निर्माण होता है। शनैः शनैः यह धँसती जाती है और एक समय आता है जब ऊपर का हल्का पदार्थ अध:स्तर के भारी पदार्थ में डूबने में असमर्थ हो जाता है।

(ब) **युवावस्था**—इस अवस्था में भू-अभिनति का निमज्जन बन्द हो जाता है और भू-अभिनति के धरातल के छोटे हो जाने से इसके अवसादों में वलन पड़ जाती है। इस प्रकार मोड़ एवं भ्रंशन के फलस्वरूप वलित पर्वतक्रम की रचना होती है।

इसका उत्थापन भू-अभिनति के पदार्थों की साम्यावस्था, सम्पीडन शक्ति तथा तापज-विस्तार के कारण होता है।

चित्र 239—विभिन्न प्रकार के पर्वत

(स) प्रौढ़ावस्था—इस अवस्था में अपरदन-कारक द्वारा वलित पर्वत काट-छाँट दिये जाते हैं। किन्तु कालान्तर में पृथ्वी की हलचल के कारण पुनः पर्वत-निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इसी को पर्वत-रचना चक्र (mountain building cycle) कहते हैं।
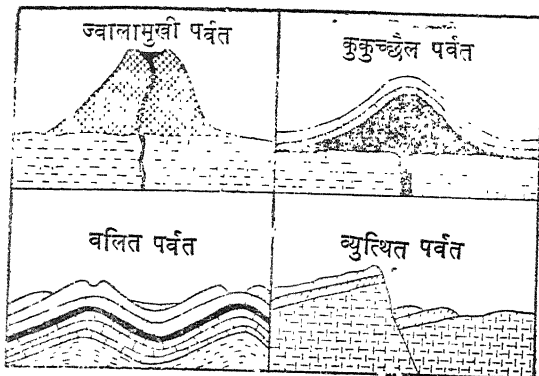
(3) **गुम्बदाकार पर्वत**—(इनकी चर्चा ज्वालामुखी के वर्णन में की गयी है।)

(4) **भ्रंशोत्थ पर्वत**—ये पर्वत भूपटल में दरार फटने पर बनते हैं। दरार के समीप ऊँचे उठे भाग भ्रंशोत्थ पर्वत कहलाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ग्रेट बेसिन की पर्वत-श्रेणी इसी प्रकार की है। दो भ्रंशोत्थ पर्वतों के मध्य का धँसा भाग द्रोणिका (garben) कहलाता है। जब दो दरारों के मध्य का भाग ऊपर उठ जाता है तो उसे भ्रंशोत्थ (horst) कहते हैं। नर्मदा की घाटी, राइन नदी की घाटी, लाल सागर आदि विभ्रंश घाटियों के उत्तम उदाहरण हैं।
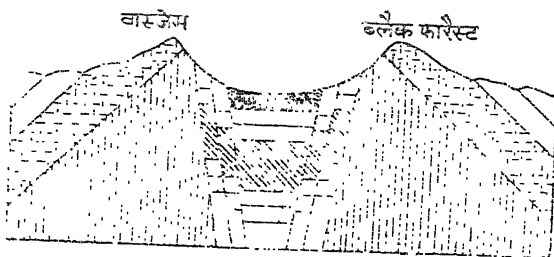
चित्र 240—विभ्रंश घाटी

इस प्रकार के पर्वतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में **भ्रंश परिकल्पना** तथा **अपरदन परिकल्पना** प्रस्तुत की गई हैं। प्रथम परिकल्पना के समर्थक **गिलबर्ट, लूडरबैक** तथा **डेविस** हैं। दूसरी परिकल्पना **जे० इ० स्पर** द्वारा प्रतिपादित है।

(5) **अवशिष्ट पर्वत**—ये पर्वत पुराने पठारों तथा पर्वतों के अवशेष भाग हैं।

अपरदनकारकों द्वारा दीर्घकाल तक अपरदित होने के कारण पठार तथा पर्वत घिसकर निम्न श्रेणियों के रूप में बदल जाते हैं। पठारी अवशिष्ट पर्वत की तहें लगभग समान्तर होती हैं। न्यूयार्क का **कैटस्किल** पर्वत एक पठार का अवशिष्ट भाग है। भारत के विन्ध्य तथा कैमूर पर्वत भी पठार के अपरदन के फलस्वरूप बने हैं।
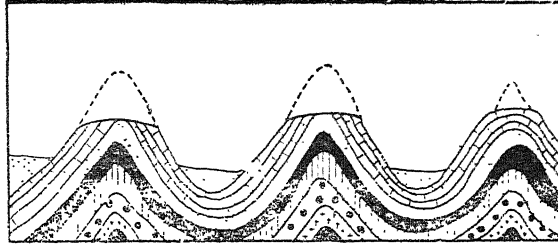
चित्र 241—अवशिष्ट पर्वत

अपरदन से निर्मित पर्वत भारत में पारसनाथ की पहाड़ी, अरावली तथा पूरबी घाट के पहाड़ अवशिष्ट पर्वत के उदाहरण हैं।

(2) आयु के विचार से पर्वतों के भेद

विश्व के पर्वतों का निर्माण पृथ्वी के विशाल इतिहास के कई कल्पों में हुआ है। इनके मूल में पर्वत-निर्माणकारी हलचलें (orogenic revolutions) हैं। ये हलचलें मानव इतिहास में विप्लवों की तरह अल्पकालिक रही हैं। इनके बाद एक लम्बी अवधि तक शान्ति का युग रहा है।

(1) **चर्नियन पर्वत**—4,000 लाख वर्ष पूर्व कैम्ब्रियन तथा प्राक-कैम्ब्रियन कल्प में एक हलचल हुई जिसको चर्नियन पर्वतन (Charnian orogenesis) कहते हैं। इसके फलस्वरूप भारत में दिल्ली-क्रम, कड़प-क्रम तथा धारवाड़-क्रम के पर्वतों की रचना हुई।

(2) **कैलिडोनियन पर्वत**—प्रवाल कल्प (silurian period) तथा मत्स्य कल्प (devonian period) में कैलिडोनियन पर्वतन हुई। यह 32 करोड़ वर्ष पूर्व घटित हुई। उत्तरी आयरलैण्ड, स्काटलैण्ड, स्कैण्डेनेविया तथा अपेलेशियन पर्वत इसी श्रेणी के हैं।

(3) **हरसीनियन पर्वत**—यह पर्वतन कोयला कल्प में 22 करोड़ वर्ष पूर्व के निकट हुई थी। इस पर्वतन को आरमोरिकन (armorican), अपेलेशियन (appalachian) अथवा अल्टाइड (altoid) नामों से भी पुकारते हैं। जर्मनी के हार्ज (Harz) पर्वत के नाम पर यह नाम रखा गया है। इस काल में पेनाइन, हार्ज, वास्जेज तथा ब्लैक फारेस्ट पर्वतों की रचना हुई है। अनाच्छादन-क्रिया से ये पर्वत घिस गये हैं। जो पर्वत घिसकर नष्ट नहीं हुए हैं, उन्हें प्राचीन वलित पर्वत (old fold mountains) कहते हैं।

(4) **अल्पाइन पर्वत**—आज के सर्वोच्च पर्वत हिमालय, आल्प्स, राकीज आदि

नवजीव महाकल्प के बने हुए हैं। इनकी रचना 6 करोड़ वर्ष पूर्व के लगभग अनुमानित है। यह पर्वतीकरण मध्य नूतन युग में प्रारम्भ हुआ और अब तक जारी है।

(3) भौगोलिक व्यवस्था के विचार से पर्वतों के वर्ग

प्रसिद्ध ब्रिटिश भूगर्भशास्त्री **वारसेस्टर** ने भौगोलिक व्यवस्था तथा विस्तार के आधार पर पर्वतों के निम्न भाग किये हैं :

(1) कार्डिलेरा (Cordillera),
(2) पर्वत समूह (Mountain System),
(3) पर्वत श्रेणी (Mountain Range),
(4) पर्वत-श्रृंखला (Mountain Chain),
(5) पर्वत-वर्ग (Mountain Group),
(6) पर्वत-कटक (Mountain Ridge),
(7) एकल पर्वत (Isolated Mountain),
(8) पर्वत-शिखर (Mountain Peak)।

(1) **कार्डिलरा**—यह एक उच्च भूमि का प्रदेश होता है जिसमें विभिन्न कल्प की अनेक विधियों से निर्मित पर्वतमालाएँ, पर्वतक्रम तथा पर्वतश्रेणियाँ विद्यमान रहती हैं। इसका उदाहरण संयुक्त राज्य अमरीका का कार्डिलेरा पर्वत है।

(2) **पर्वत-समूह**—इसमें एक ही युग तथा एक ही प्रकार से निर्मित पर्वत-श्रेणियाँ तथा पर्वत-वर्ग रहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका का अपेलेशियन पर्वत-समूह इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इनमें श्रेणियों के मध्य तलहटियाँ होती हैं और ये श्रेणियाँ एक दूसरे के लगभग समान्तर, एकान्तर पर पायी जाती हैं।

(3) **पर्वत-श्रेणी**—एक ही कल्प में तथा एक ही प्रकार से निर्मित अनेक पर्वत एक लम्बी तथा सँकरी पट्टी में निश्चित क्रम से व्यवस्थित रहते हैं तो उन्हें पर्वत-श्रेणी कहते हैं। इनकी शिलाओं की संरचना में अन्तर हो सकता है। हिमालय तथा शिवालिक पर्वत-श्रेणियाँ हैं।

(4) **पर्वत-श्रृंखला**—अनेक युगों में तथा भिन्न-भिन्न प्रकार से निर्मित असमान पर्वत जब एक लम्बी तथा सँकरी पट्टी में मिलते हैं तो उन्हें पर्वत-श्रृंखला कहते हैं। यह शब्द ज्वालामुखी पर्वतों के लिए प्रयुक्त होता है। एलुशियन पर्वत-श्रृंखला सर्वोत्तम उदाहरण है।

(5) **पर्वत-वर्ग**—यह पर्वतों का एक उच्च स्थलखण्ड होता है। इसमें पर्वतों का कोई निश्चित क्रम नहीं होता है। संयुक्त राज्य अमरीका के कोलोरेडो राज्य का सानजुआन पर्वत-वर्ग कई हजार किलोमीटर में विस्तृत है। इसमें अनेक ऊँचे पर्वत हैं किन्तु उनमें कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

(6) **पर्वत-कटक**—वलन या भ्रंशन के फलस्वरूप निर्मित महराव को पर्वत-कटक कहते हैं। ये अपेक्षाकृत एक लम्बे और सँकरे पर्वतीय भाग होते हैं जैसे अपेलेशियन

पर्वत की नीली पर्वत-कटक (blue ridge)। इनमें अनेक पर्वत-शिखर तथा उभरे शंक्वाकार भाग होते हैं।

(7) **एकल पर्वत**—इनकी उत्पत्ति ज्वालामुखी के उद्गार या अधिक विस्तृत अपरदन से होती है। ये अकेले अपवाद रूप में पाये जाते हैं। गुजरात की चांदुवा पहाड़ी इसका उदाहरण है।

(8) **पर्वत-शिखर**—पर्वतों पर उठे हुए गुम्बद, पिरामिड तथा नुकीले आकार में भाग पर्वत-शिखर कहलाते हैं। इनका आकार शैलों की बनावट तथा उनकी संधियों पर निर्भर करता है।

कोबर की भू-अभिनति पर्वतित-संहति परिकल्पना
(Kober's Geosynclinal Orogen Hypothesis)

कोबर की इस परिकल्पना के मूल में पृथ्वी के शनैः शनैः सिकुड़ने की **अवधारणा** है। **कोबर** ने उत्पत्ति-काल से पृथ्वी के संकुचन को मानकर पृथ्वी-तल पर कठोर शैलों के ऊँचे स्थलपिण्ड और मुलायम शैलों के गहरे जलपिण्ड या भू-अभिनतियों की कल्पना की है। कठोर पिण्डों में बाल्टिक शील्ड, साइबेरियन शील्ड (अंगारालैण्ड), कनाडियन शील्ड, गोंडवाना शील्ड (भारतीय टेबुल, चीनी टेबुल, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा ब्राजील के पठार) तथा ऐण्टार्कटिका शील्ड प्रमुख हैं। **एल० कोबर** ने इस कल्पना को सन् 1923 में प्रस्तुत किया।
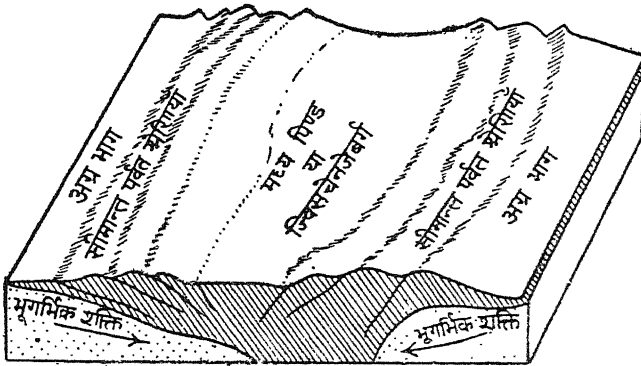
चित्र 242—मध्यपिण्ड सिद्धान्त (कोबर के अनुसार)

कोबर ने लम्बी और चौड़ी भू-अभिनतियों की कल्पना की है जो अमरीकी वैज्ञानिक **हाग** की सँकरी भू-अभिनति की कल्पना के विपरीत है। **कोबर** के अनुसार पर्वत-निर्माण के छः युगों में से प्रत्येक युग में भू-अभिनति की उत्पत्ति हुई जिसमें तलछट एकत्र होती रही। जब दो अग्र प्रदेश एक-दूसरे की ओर खिचते गये तो भू-अभिनति की काँप मुड़ती गयी और अग्र प्रदेशों के किनारों पर पर्वत-श्रेणियों की रचना हुई जिन्हें कोबर ने रेण्डकेटेन (randketten) या सीमान्त श्रेणियों (Border ranges)

की संज्ञा प्रदान की। जब सम्पीडन अधिक गम्भीर होता है तो सम्पूर्ण तलछट मुड़ जाती है और दोनों अग्र प्रदेश सम्पर्क में आ जाते हैं और एक दुरूह रेण्डकेटेन का निर्माण हो जाता है। इन्हें नार्ब (narbe) की संज्ञा प्रदान की गयी है। स्विस आल्प्स में यही घटना हुई है।

किन्तु जब मोड़-क्रम तीव्र होता है तो रेण्डकेटेन के मध्य में एक क्षेत्र छूट जाता है जिसको मध्यपिण्ड या मध्य द्रव्यमान (median mass) कहा जाता है। **कोबर** ने इसके लिए जुइसचेनजेबर्ग (zwischengebirg) शब्द का प्रयोग किया है। यह स्थलाकृति तिब्बत, ईरान एवं तुर्की के पठारों के दोनों ओर पाये जाने वाले पर्वतों में
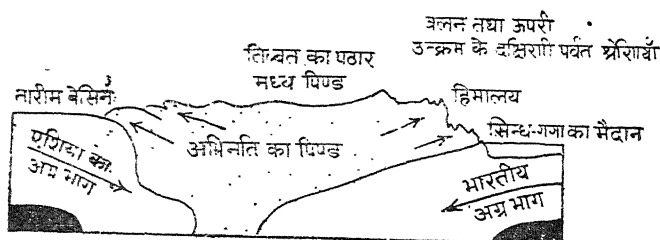
चित्र 243—मध्यपिण्ड सिद्धान्त (कोबर के अनुसार)

स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। मध्यपिण्ड मैदान या समुद्र हो सकता है। हंगरी का मैदान एक मध्यपिण्ड है जो वलित पर्वत कारपेथियन तथा डिनारिक आल्प्स के मध्य स्थित है। इसी प्रकार बालकन प्रायद्वीप में रोडोप का पठार और तुर्की में अनातोलिया का पठार मध्यपिण्ड हैं। आल्प्स और ऐटलस पर्वतों के बीच पश्चिमी भूमध्यसागर में भी एक मध्यपिण्ड डूब गया है जिसके अवशिष्ट भाग कोर्सिका और
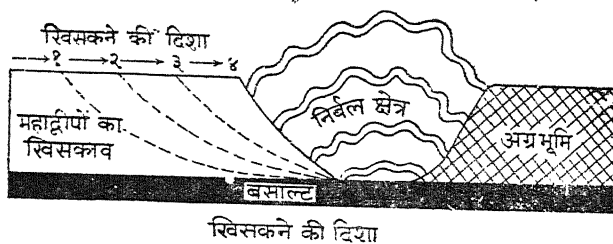
चित्र 244—पर्वत-रचना (सुइस के अनुसार)

सार्डिनिया के टापू हैं। **कोबर** की सम्मति में सभी पर्वतमालाओं में इस प्रकार के मध्यपिण्ड मिल सकते हैं। **कोबर** की इस परिकल्पना में सत्य का आभास मिलता है। इसी कारण इसको मान्यता मिल रही है।

कोबर की यह परिकल्पना **सुइस** की कल्पना से बिलकुल भिन्न है। **सुइस** ने अग्र एवं पश्च प्रदेशों को मान्यता दी है, जिसमें पश्च प्रदेश से दबाव-शक्ति कार्य

करती थी और अग्र प्रदेश के अवरोध मे वलन बनती थी। उसने केवल एक ही ओर पर्वत-निर्माण की व्याख्या की। किन्तु **कोबर** ने दो कठोर पिण्डों के पारस्परिक खिचाव से भू-अभिनति की तलछट में वलन-क्रिया को मान्यता दी है। इनकी भू-अभिनति दो पक्षों की है और रेण्डकेटेन एकतरफा हैं। इन गिरि-निर्माणकारक कारणों में पृथ्वी की आन्तरिक उथल-पुथल तथा उच्च कोटि का कायान्तरण (metamorphism) कार्य करता है। इन हलचलों के फलस्वरूप भ्रंशन पैदा हुई जिससे विभ्रंश घाटियाँ जैसे राइन नदी (जर्मनी) तथा पूरवी अफ्रीका की विभ्रंश घाटी और मध्य यूरोप के भ्रंशोत्थ पर्वत बने।

पर्वत-निर्माणकारी पातालीय हलचल के विपरीत कठोर पिण्डों की ऊपरी हलचल के लक्षण **कोबर** की इस परिकल्पना के मुख्य तत्त्व हैं। इस हलचल का क्रेटोजेन (kratogen) नाम पड़ा है। इसमें भ्रंश तल तथा विभ्रंश घाटियों की अधिकता मिलती है। केवल ऊपरी तलछट में हल्का मोड़ मिलता है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण **जूरा** पर्वत है। **कोबर** ने अपने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में महाद्वीपों एवं महासागरों की बनावट का भी पूर्ण ध्यान रखा है।

कोबर की निश्चित धारणा है कि पर्वत उसी क्षेत्र में बनते हैं जिसके नीचे पदार्थ का घनत्व कम होता है। इस प्रकार समस्थितिक-शक्ति पूर्णतया कार्य करती है।

कोबर, सुइस, आरगैण्ड तथा जेफरी द्वारा भूपृष्ठ संकुचन के आधार पर प्रतिपादित परिकल्पनाओं को रुढ़िवाद कहकर वैज्ञानिकों ने घोर आपत्ति की है।

(1) संकुचन द्वारा भूपृष्ठ पर वलन होती तो पृथ्वी के समस्त भाग में पर्वतों का वितरण होना चाहिए। भू-अभिनतियों का भी वितरण क्रमानुसार होना चाहिए किन्तु तथ्य इसके विपरीत मिलते हैं।

(2) संकुचन द्वारा पूरब-पश्चिम में फैली विशाल पर्वत-श्रेणियों की रचना सम्भव नहीं प्रतीत होती है।

(3) विघटानाभिक पदार्थों की उपस्थिति के फलस्वरूप पृथ्वी का ताप कम नहीं होना चाहिए। अतः संकुचन-क्रिया ही सम्भव नहीं प्रतीत होती है।

पर्वत-रचना के सम्बन्ध में महाद्वीपीय विस्थापन के आधार पर **वेगनर, टेलर, होम्स** आदि वैज्ञानिकों ने परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें **एच० होम्स** (सन् 1933) की परिकल्पना सबसे ग्राह्य है।

होम्स की संवहन-धारा परिकल्पना
(Home's Convection Current Hypothesis)

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् गिरि-निर्माण की क्रिया के मूल में समस्थितिक की क्रिया की कल्पना मूर्तरूप ग्रहण कर सकी है और यह मान्य हो चला है कि संतुलन में कोई व्यतिक्रम ताप के कारण होता है। फलतः गिरि-रचना का मूल कारण ताप सम्बन्धी परिवर्तन ही समझ में आ रहे हैं।

विघटनाभिक पदार्थों जैसे यूरेनियम, रेडियम, थोरियम आदि की खोज के पश्चात इस कल्पना को बहुत बल प्राप्त हो गया है।

अमरीकी भूविज्ञानी सर आर्थर होम्स के मतानुसार पृथ्वी आरम्भिक अवस्था में तप्त एवं तरल थी और जब उसके ठण्डा होने की क्रिया प्रारम्भ हुई होगी तब उसके अधःस्तर में संवहन-धाराओं का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ होगा और इन धाराओं के फलस्वरूप कतिपय क्षेत्रों का उष्ण एवं हल्का पदार्थ ऊपर उठ गया होगा और कहीं-कहीं उसका कुछ भाग ऊपर धरातल पर भी प्रक्षिप्त हो गया होगा। ऊपर आने पर संवहनी-धाराएँ चारों ओर को प्रसारित हो गयी होंगी। जब दो धाराओं का सम्मिलन एवं टक्कर हुई होगी तो वे नीचे की ओर प्रवाहित हुई होंगी, जैसा चित्र में प्रदर्शित है।
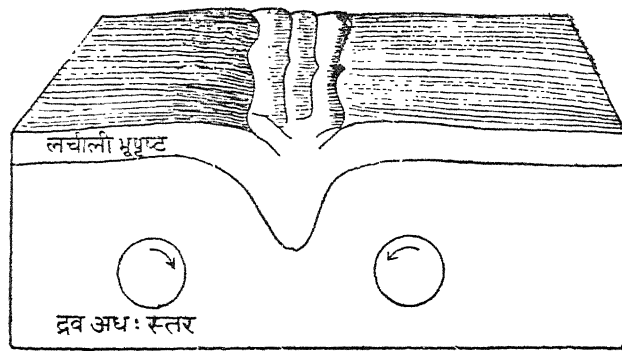
चित्र 245—द्रव अधःस्तर (ग्रिग के अनुसार)
[तरल निम्न स्तर संवहन-धाराओं के दबाव के कारण]

नीचे को प्रवाहित होने वाली धाराओं में अपेक्षाकृत ठण्डा और भारी कण होता है। मध्यवर्ती तथा किनारों के स्तम्भों के घनत्व में अन्तर होता है। घनत्व में भिन्नता के कारण प्रवाह-क्रिया में बल प्राप्त होता है। इस प्रकार का क्रम चलता रहता है जब तक पदार्थ गलनांक तक नहीं पहुँच जाता है।

जब तक विघटनाभिक तत्वों का पता नहीं चला था तब तक ऐसा प्रतीत होता था कि संवहन-क्रिया अधिक समय तक नहीं चली होगी क्योंकि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में संचालन, विकिरण तथा आग्नेय क्रिया से निःसृत ताप की पूर्ति का कोई सतत् साधन नहीं था। किन्तु अब निश्चित है कि विघटनाभिक पदार्थों के विघटन से उक्त ताप की पूर्ति हो जाती है। विघटनाभिक पदार्थों के बाहुल्य के कारण पेरिडोटाइट परत में इतनी ऊष्मा उत्पन्न होती है कि वह आज भी ठोस नहीं हो पायी है और अभी तक काँच की अवस्था में है जिससे निरन्तर संवहन-धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। यह परत भूकम्प तरंगों पर ठोसवत् व्यवहार करती है और इसमें परिदृढ़ता भी पर्याप्त है। किन्तु जब कभी भूपृष्ठ पर दाब में अन्तर पड़ता है

तो संतुलन स्थापित हो जाता है। इसकी एकमात्र व्याख्या यही है कि अधःस्तर में प्रवाहशील पदार्थ हैं और ऐसे लसदार पदार्थों की तह संवहन-धाराओं को रोक नहीं पाती।

अधःस्तर की संवहन धारायें भूपृष्ठ पर पहुँच कर दो भागों में विभक्त हो जाती हैं। प्रायः ये धाराएँ भूमध्यरेखीय पेरिडोटाइट परत के नीचे से ऊपर की ओर चलती हैं। एक धारा भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर और दूसरी दक्षिण की ओर जाती है। किन्तु ये धाराएँ जब सिमै में होकर गुजरती हैं तो सिमै में धँसे हुए सिएल (महाद्वीप) के भाग इन धाराओं के मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं और इन धाराओं के धक्के से महाद्वीपीय भाग खिसकते हैं। फलतः महाद्वीपीय भाग के भीतर समुद्र की उत्पत्ति होती है और तटीय क्षेत्र में परतों की विभिन्न प्रवाह-गति के कारण सिएल की परत मोटी हो जाती है।

सिमै की बेसाल्ट परत में स्थानीय संवहन धाराएँ प्रवाहित होती हैं और उन भागों में ये अधिक शक्तिशाली होती हैं जहाँ सिमै में सिएल खण्ड गहराई तक धँसे हुए रहते हैं। इसका कारण यह है कि सिएल मे विघटनाभिक पदार्थों की मात्रा अधिक है, अतः गहराई में पहुँचे सिएल-खण्ड से अधिक ताप प्रसारित होता है और निकटस्थ सिमै अत्यधिक तप्त हो जाता है जिससे शक्तिशाली संवहन-धाराओं का उद्भव होता है। जब ये धाराएँ भूपृष्ठ के निकट आकर अपसारित (diverge) होती हैं तो तनाव पैदा होता है और जहाँ ये धाराएँ अभिसरित (converge) होती हैं वहाँ सम्पीडनता उत्पन्न होती है। इस प्रकार जहाँ सम्पीडनता उत्पन्न होगी वहाँ गिरिरचना प्रारम्भ हो जाती है। तनाव के स्थान पर विभ्रंश घाटियाँ बनेंगी।

होम्स की परिकल्पना के अनुसार लारेंशिया तथा गोंडवाना स्थल-खण्डों के नीचे से उत्पन्न आरोही (ascending) संवहन-धारायें प्रशान्त की धाराओं से तटीय क्षेत्र में मिलकर अवरोही (descending) हुई। फलतः इन स्थल-खण्डों के चतुर्दिक पर्वत श्रेणियों का जन्म हुआ। उत्तरी ऐटलांटिक तथा आर्कटिक महाद्वीपों के टूटने के फलस्वरूप सागर बने। टिथिस की उत्पत्ति भूमध्यरेखा के निकट स्थित भूखण्ड के नीचे आरोही धाराओं के तनाव के कारण हुई। कालान्तर में दोनों स्थल-खण्डों के नीचे धारायें उत्पन्न हुईं और टिथिस की ओर चलने लगीं जिससे हिमालय, आल्प्स आदि पर्वतों का जन्म हुआ।

इन संवहन धाराओं का प्रभाव समस्त भूपृष्ठ पर पड़ता है, किन्तु पेरिडोटाइट परत में स्थानीय संवहन-धाराएँ भी उत्पन्न होती हैं और इनका प्रवाह ग्रहीय धाराओं (planetary currents) से अधिक होता है।

इस परिकल्पना से किन्हीं विशिष्ट भागों में गिरि-रचना की क्रिया की स्पष्ट व्याख्या मिल जाती है। संवहन-धाराओं की विशिष्ट अवस्थाओं से टेथिस सागर में तथा प्रशान्त महासागर के तटों पर गिरि-रचना स्पष्ट हो जाती है।

संवहन के प्रवाह का वेग सदैव एकसा नहीं रहता। उसमें वृद्धि या कमी होती रहती है। संवहन-धारा की क्रिया एक चक्र में होती है। इस चक्र के अन्त में संवहन-धाराओं के केन्द्र बदल जाते हैं।

पृथ्वी के भीतर से पहले उष्ण पदार्थ पृथ्वी के ऊपरी भाग की ओर आयेगा और ठण्डा पदार्थ भीतर की ओर जायेगा। धाराओं का वेग धीरे-धीरे अधिक होगा, किन्तु कालान्तर में सतह के नीचे उष्ण पदार्थ फैल जायेगा और ठण्डा पदार्थ भीतर की ओर जायेगा। इस समय धाराओं का वेग कम होने लगेगा, धाराएँ शान्त हो जायेंगी और नये प्रकार का धारा-क्रम उत्पन्न होगा।

पक्ष में प्रमाण

(1) होम्स की कल्पना के आधार पर कोयला कल्प के हिम-प्रवाह के प्रमाण दक्षिणी गोलार्द्ध के लगभग सभी स्थल भागों पर पाये जाते हैं।

(2) इससे हिन्द महासागर की उत्पत्ति तथा आस्ट्रेलिया, ऐन्टार्कटिका एवं दक्षिणी अमरीका के किनारों पर पर्वतों की रचना की व्याख्या मिल जाती है।

(3) ऐटलांटिक महासागर की उत्पत्ति तथा राकी पर्वत की रचना भी स्पष्ट हो जाती है।

इस परिकल्पना की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इससे गोंडवाना स्थल-खण्ड पर पाये जाने वाले वनस्पति-चिह्नों की उपस्थिति अफगानिस्तान और साइबेरिया में प्रमाणित नहीं हो पाता है। अधः स्तर में संवहन धाराओं की उपस्थिति सिद्ध नहीं हो सकी है। साथ ही यह पुष्ट नहीं है कि इनमें महाद्वीपों के खण्डित करने की शक्ति है जिसमें महाद्वीप विस्थापित हो सकें।

अमरीकी विद्वान् **एच० एच० हेस** तथा **डॉ० आर० एस० डीज** ने सन् 1962 में अधः स्तर में उत्पन्न होने वाली संवहन-धाराओं की पुष्टि की है। पौराणिक शैलों का जीवाश्मी चुम्बकत्व तथा महासागर-तलों की रचना के आधार पर किये गये नवीन अन्वेषणों द्वारा महाद्वीप-विस्थापन को समर्थन मिल रहा है।

संवहन चक्र (convection cycle) तथा पर्वतन चक्र (orogenic cycle) में घनिष्ठ सम्बन्ध भी होता है जैसा आगे उल्लिखित है :

संवहन-तरंग-चक्र	पर्वतन-चक्र
प्रथम अवस्था—संवहन-धारा-वेग की शनैः शनैः दीर्घकाल में वृद्धि।	नीचे प्रवाहित होने वाली धाराओं के ठीक ऊपर भू-अभिनति का दीर्घकाल तक निमज्जन।
द्वितीय अवस्था—अपेक्षाकृत वेग-वती धाराओं का लघु युग।	पर्वतों की रचना का लघु युग।
तृतीय अवस्था—संवहन धाराओं के क्षीण होने का लघु युग।	क्रमिक ऊर्ध्व गति का लम्बा काल और कालान्तर में समस्थितिक की क्रिया।

अमरीकी भूविज्ञानी आर० एफ० ग्रिग्स ने घूर्णी नगाड़ों (rotating drums) के माध्यम से प्रयोग किया है कि किसी तरल के निम्न भाग में संवहनीय तरंगों के कारण दाब पड़ने पर किनारों पर उत्थान होता है और नीचे की परतों में तहें नीचे की ओर धँसती हैं। इस नीचे की ओर के उभार को मूल (root) कहते हैं। जैसे-जैसे संवहन-धाराओं का परिभ्रमण-वेग घटता है, अर्थात् जड़ों की शैलें गरम होकर पिघलती तथा बह जाती हैं, धँसी हुई परत पुनः ऊपर उठ जाती है। इस प्रकार वैथोलिथ का निर्माण होता है। स्मरण रखना चाहिए कि जब सरदी के कारण संवहन-धाराएँ लुप्त हो जाती हैं तब दाब-शक्ति भी लुप्त हो जाती है और मुड़ी हुई परत का हल्का भाग ऊपर उठ जाता है।

यह परिकल्पना अभी अपूर्ण किन्तु नवीनतम है और इसको पुष्ट करने के प्रयास चल रहे हैं।

भूगर्भिक शक्तियों की व्याख्या

पृथ्वी के अभ्यन्तर में घटित होने वाली रहस्यमय घटनाओं की प्रामाणिक व्याख्या अभी सम्भव नहीं हो सकी है किन्तु कतिपय विद्वानों ने कुछ परिकल्पनाएँ (hypotheses) प्रस्तुत की हैं जिनके आधार पर पृथ्वी के अन्तरंग के सम्बन्ध में लाभदायक विज्ञप्ति प्रकाश में आती है। मुख्य परिकल्पनाएँ निम्न प्रकार हैं :

जेफरी की तापीय संकुचन परिकल्पना
(Jeffrey's Thermal Contraction Hypothesis)

प्रारम्भ में पृथ्वी एक उष्ण द्रव का गोला थी। शनैः शनै इसका ऊपरी बाहरी भाग ऊष्मा-विकिरण (radiation) के द्वारा ठण्डा तथा ठोस होता गया। परिक्रमण गति एवं संकुचन से भूपृष्ठ पर झुर्रियाँ पड़ गयीं। कालान्तर में पृथ्वी का भीतरी द्रव-पदार्थ भी धीरे-धीरे ठण्डा होकर सिकुड़ता गया तथा ऊपर की ठोस पपड़ी से अलग हो गया। इसका कारण यह था कि ऊपरी भाग से अधिक ताप के बाहर निकलने के कारण ऊपरी भाग अधिक सिकुड़ गया इसलिए ऊपरी स्तर का आयतन कम हो गया किन्तु व्यास में अन्तर कम हुआ। अतः ऊपरी स्तर पतला हो गया। नीचे का स्तर बाद को ठण्डा हुआ। इस कारण नीचे का स्तर बड़ा रह गया और भूपृष्ठ के बाहरी ठोस भाग के नीचे खोखलापन पैदा हो गया। ऐसी दशा में गुरुत्वाकर्षण बल के कारण पपड़ी लचक गयी और उसमें मोड़ बन गये। दूसरी ओर निचली परत को ऊपरी परत से सटे रहने के लिए फैलना पड़ा जिससे दरारें बन गई। इसी से पर्वतों की उत्पत्ति के निमित्त पर्याप्त बल प्राप्त हो गया। इस कल्पना का प्रतिपादन न्यूटन के समय में हुआ। उस समय विघटनाभिक पदार्थों की जानकारी कम थी। जेफरी महोदय ने सन् 1930 ई० में इस परिकल्पना को प्रस्तुत किया।

परिकल्पना के दोष—पृथ्वी के अभ्यन्तर में विघटनाभिक (radio-active) पदार्थ हैं, इसका ध्यान इस परिकल्पना में नहीं रखा गया है। इनके विच्छेदन से ताप

विकसित होता है जिसकी मात्रा विकिरण द्वारा नि:सृत ताप से अधिक होती है। इस आधार पर भूपृष्ठ के संकुचन का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है।

यदि धरातल की सिकुड़न के आधार पर पर्वत-रचना होती तो पर्वतों का निर्माण निरन्तर होता रहता। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। पर्वतों का निर्माण निश्चित है और कुछ समय के अन्तर से होता है। इस कारण यह परिकल्पना अस्वीकृत कर दी गयी है।

जेफरी के तर्क—स्काटिश गणितज्ञ जेफरी महोदय ने गणित के द्वारा एक दूसरी व्याख्या प्रदान की है। उनका मत है कि भूपृष्ठ के ठण्डा एवं ठोस होने के समय से आज तक पृथ्वी का अभ्यन्तर कभी भी ठण्डा नहीं हुआ। पृथ्वी के केन्द्रीय पिण्ड पर कभी भी ताप-विकिरण का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा है। धरातल के ऊपरी भाग में ताप-विकिरण की क्रिया से प्रत्येक स्तर अपने नीचे वाले स्तर की अपेक्षा अधिक ठण्डा हो जाता है और सिकुड़ने का प्रयास करता है। निचली तह में अपेक्षाकृत अधिक उष्णता रहती है। अत: यह ऊपरी तह से कम सिकुड़ती है। फलत: ऊपरी सतह को फैलकर तथा पतली होकर नीचे की सतह के उपयुक्त होना पड़ता है। एक समय आता है जब ऊपरी सतह पूर्णतया ठण्डी हो जाती है और उसमें सिकुड़ने की क्रिया समाप्त हो जाती है और कालान्तर में शनै: शनै: सिकुड़ने वाले भीतरी पिण्ड के आवरण के अनुपयुक्त ऊपरी स्तर बन जाता है। इस प्रकार ऊपरी स्तर निचले ठण्डे होने वाले स्तर से बड़ा हो जाता है। इस प्रकार स्थल-मण्डल में प्रतिबल-अवस्था (state of stress) उत्पन्न हो जाती है। भूपृष्ठ के स्तरों में दबाव तथा भीतरी निर्बल पिण्डों में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। इन दोनों स्थितियों के मध्य प्रतिबलहीन स्तर (level of no strain) मिलता है जिसमें संकुचन की मात्रा ऐसी होती है कि सिकुड़ते हुए पिण्ड पर आवरण ठीक रहता है। इस क्षेत्र में न तनाव रहता है न दबाव। यह ऊपर तथा नीचे के स्तरों में सामंजस्य पैदा करता है। भूपृष्ठ के क्रमश: ठण्डा हो जाने पर प्रतिबलहीन स्तर भी अभ्यन्तर की ओर अवश्य बढ़ता है।

तनाव एवं दबाव की शक्ति संचित होती जाती है, जब तक इनकी सामूहिक शक्ति शिलाओं की परिदृढ़ता से बढ़ जाती है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही पर्वतों की रचना प्रारम्भ हो जाती है। तनाव के ढीले पड़ जाने पर पृथ्वी की हलचल शान्त हो जाती है और गिरि-रचना बन्द हो जाती है। पुन: तनाव-शक्ति के संचित हो जाने पर पर्वत-निर्माण-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार निरन्तर चक्र चलते रहते हैं।

समुद्रों के नीचे सिमै की शैलें शीघ्रता से ठंडी हुईं। अत: शनै: शनै: ठंडी होने वाली महाद्वीपीय शैलों पर क्षैतिज दबाव पड़ा और स्थली तटों पर पर्वत श्रेणियाँ बन गईं।

आपत्तियाँ—(1) जेफरी ने संकुचन की गणितीय विवेचना में चमकीली शैलों के

रवेदार होने तथा पृथ्वी के अभ्यन्तर से गैसों एवं वाष्पों के निष्कासन से होने वाली संकुचन-क्रिया पर विचार नहीं किया है। (2) साधारण संकुचन से इतनी विशाल मोड़ें तथा दरारें नहीं बन सकती हैं जिसकी कल्पना जेफरी ने की है। (3) यदि पृथ्वी की भीतरी सिकुड़न के फलस्वरूप पर्वतों की रचना हुई तो पर्वत-निर्माण निरन्तर होते रहना चाहिए। किन्तु दीर्घ अध्ययन से पता चला है कि पर्वत-निर्माण कुछ निश्चित समय के अन्तर से होता है। (4) जेफरी के अनुसार, पृथ्वी के भीतर की उष्णता सदैव कम होती जा रही है। किन्तु इसकी असत्यता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं। (5) ग्रेनाइट को पृथ्वी के बाह्य स्तर की शिलाओं का प्रतिनिधि मानकर जेफरी ने पर्वत-निर्माण के पाँच युगों की कल्पना की है। यह निष्कर्ष सही भी है, किन्तु इस परिकल्पना के अनुसार ज्यों-ज्यों पृथ्वी ठण्डी होती गयी, त्यों-त्यों गिरि-निर्माण के युगों का अन्तर बढ़ता जाना चाहिए। किन्तु यह अन्तर सर्वदा एक समान रहा है। (6) भूमि-संकुचन के कारण से ही यदि पर्वत-निर्माण हुआ तो यह क्रिया धरातल के सभी भागों में होनी चाहिए, किन्तु कतिपय निश्चित क्षेत्रों में ही पर्वतों का निर्माण हुआ। (7) यह असम्भव ज्ञात होता है कि पिछले बीस करोड़ वर्षों में पृथ्वी इतनी ठण्डी हो गयी कि उसमें हिमालय जैसे उच्च पर्वत बन सके। जेफरी के विचार से ऊँचे पर्वत समूह समुद्रतटों पर होंगे, तो हिमालय की स्थिति नहीं समझाई जा सकती है। (8) जेफरी का कथन कि घूर्णन में कमी आने से संकुचन हुआ और पर्वत-निर्माण में सहायता मिली, सम्भव नहीं प्रतीत होता है। आपत्तियों से मुक्ति पाने के निमित्त जेफरी महोदय उच्चावचन की उत्पत्ति के लिए अन्य कारण खोजने में संलग्न हैं। इनका प्रयास निम्न संम्भावनाओं पर आधारित है :

(1) पृथ्वी के अक्ष का झुकाव कक्षा-तल पर बदलता है।

(2) ध्रुव परिभ्रमित हुए हैं।

(3) महाद्वीप भी परिभ्रमित हुए हैं।

(4) चुम्बकीय आकर्षण के कारण पृथ्वी के धरातल पर ग्रेनाइट की गैलें कुछ क्षेत्रों में एकत्र हो सकीं, जिससे महाद्वीप बने। जहाँ ग्रेनाइट एकत्र न हो सका, वहाँ तल नीचा रहा और महासागर बने।

(5) जी० एफ० एस० हिल महोदय ने सन् 1947 में ग्रेनाइट के क्षैतिज वितरण की व्याख्या प्रदान की जिसके आधार पर जेफरी का विचार है कि द्रव अवस्था से ठोस होते समय भूपृष्ठ पर ग्रेनाइट कुछ स्थानों पर एकत्रित हो गया।

जोली की तापीय-चक्र परिकल्पना
(Joly's Thermal Cycle Hypothesis)

इस परिकल्पना के जन्मदाता प्रसिद्ध वैज्ञानिक जोली के विचार में सिएल का पिण्ड सिमै पर बह रहा है। इस परिकल्पना में विघटनाभिक द्वारा अधःस्तर (subtratum) के पिघलने के परिणामस्वरूप आयतन की वृद्धि और पृथ्वी-तल पर

तनाव के पैदा होने की कल्पना की गयी है। उनके मतानुसार कालान्तर में एक ऐसा समय आया कि अध:स्तर की गरमी महासागरों से होकर निकलने लगी और अध:स्तर धीरे-धीरे ठण्डा होने लगा, सिकुड़ने लगा और फलत: आयतन में छोटा हो गया। पृथ्वी की ऊपरी ठोस पपड़ी सिकुड़ नहीं सकती, इसलिए वह सिकुड़ते हुए अध:स्तर से बड़ी रह जाती है। इस प्रकार ऊपरी ठोस पपड़ी और अध:स्तर के मध्य खोखला पड़ जाता है। फलत: ऊपरी पपड़ी पर गुरुत्वाकर्षण बल का खिचाव पड़ने लगता है। इस खिचाव के कारण महासागरों का बेसाल्ट-तल महाद्वीपों के किनारे से टकराता है। जिस गति से अध:स्तर ठण्डा होता जाता है उससे सम्पीडन (compression) भी बढ़ता जाता है। उत्तप्त बेसाल्ट के सम्पर्क में आने से महाद्वीपों के किनारों की शैलें मुलायम हो जाती हैं और अधिक दबाव पड़ने पर ये किनारे मोटे और ऊँचे बन जाते हैं।

अवसादी शैलें भी सम्पीडन के कारण टेढ़ी-मेढ़ी बन जाती हैं और अधिक खिचाव पड़ने पर टूट भी जाती हैं।

जोली ने मत व्यक्त किया है कि जब अध:स्तर में विघटनाभिक पदार्थों से अजित उष्णता का संचयन होता रहता है तो सिमै पिघल जाता है और उसका घनत्व घट जाता है। इस दशा में सिएल-पिण्ड पिघले हुए सिमै में धँस जाता है। जब सिमै में इस संचित उष्णता का ह्रास होता है तो फिर ऊपरी ठोस सिएल-पिण्ड ऊपर उठता जाता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इस चक्र की आधार शिला विघटनाभिक ऊष्मा है, इसीलिए इसको तापीय-चक्र कहते हैं। सिमै तथा सिएल तहों को पारस्परिक अनुकूलता के लिए मोड़ें प्राप्त करनी पड़ती हैं और इसी से पर्वतों का निर्माण होता है। संकुचन के आधार पर **जोली** एवं **जेफरी** महोदयों ने अपनी परिकल्पना सन् 1929 में प्रस्तुत की।

डैली का सर्पी महाद्वीप का सिद्धान्त
(Daly's Theory of Sliding Continents)

यह ज्ञात हो गया है कि अतीत में पैंजिया के टूटने पर पृथ्वी पर कठोर पिण्ड की तीन पेटियाँ थीं। दो पेटियाँ दोनों ध्रुवों पर और एक भूमध्यरेखा के सहारे विस्तृत थीं। इन स्थल-खण्डों के मध्य गहरे सागर स्थित थे जिन्हें टेथिस (Tethys) की संज्ञा प्रदान की गयी है। दक्षिणी गोलार्द्ध के सागर के सम्बन्ध में कम ज्ञान प्राप्त है किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में टेथिस का वृहद् विस्तार था जिसका वर्णन हमें उपलब्ध है। ऐसा अनुमान था कि पृथ्वी के केवल आधे भाग में स्थल गोलार्द्ध था और आधे भाग में विस्तृत प्रशान्त महासागर था। इस प्रकार अतीत से ही स्थल एवं जल दो गोलार्द्ध थे।

यह भी निश्चय हो चुका है कि आदि अवस्था में द्रव पदार्थ से पृथ्वी का पपड़ा निर्मित हुआ। इसी पपड़े पर ध्रुवीय तथा भूमध्यरेखीय गुम्बद, मध्य-अक्षांशीय

भू-अभिनति विशाल प्रशान्त-तल का निर्माण हुआ। इस प्रकार स्थलमण्डल प्रशान्त मण्डल में ऊँचा स्थित था और टेथिस एवं प्रशान्त की दिशा में स्थलमण्डल का ढाल था।

अमरीकी भू-विज्ञानी **डैली** (सन् 1926) का मत है कि अतीत के ऊँचे उठे स्थल-पिण्डों पर अपरदन का चक्कर चलता गया और गहरे समुद्री भागों में सभी काट-छाँट के पदार्थ जमते गये तथा प्रथम अभिनति (syncline) की उत्पत्ति हुई। जैसे-जैसे चूर-चार का भार बढ़ता गया, भू-अभिनति (geosyncline) में धँसान पैदा होती गयी। इस नीचे की धँसान से पार्श्ववर्ती स्थल-खण्डों पर भी खिचाव पड़ने लगा। फलतः स्थल-पिण्ड का रूप अधिक गुम्बदनुमा होता गया। इस गुम्बद का भार भी कम होता गया जिसकी पूर्ति समस्थितिक शक्ति के द्वारा होती रही और निकटवर्ती अधिक भार के सम्पीडित क्षेत्रों से अधिक घनत्व के पदार्थ गुम्बदों के नीचे बह आये। इस क्रम के दीर्घ काल तक जारी रहने पर गुम्बद ऊपर उठते गये और यह क्रिया उत्पादन-केन्द्र की अपेक्षा किनारों पर अधिक हुई।
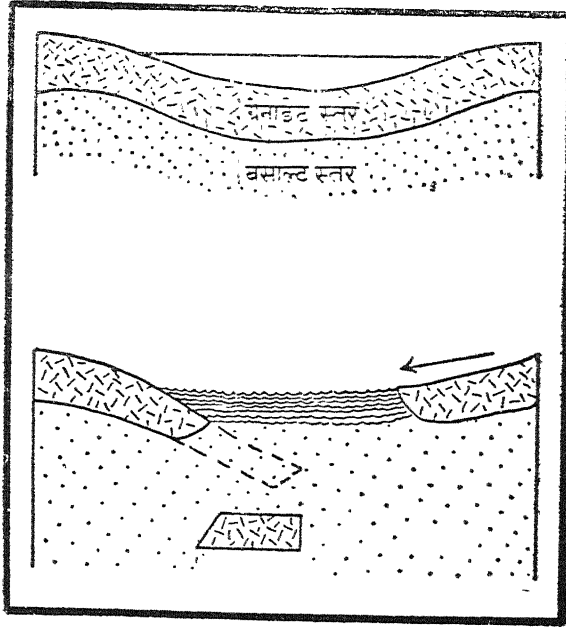
चित्र 246—भू-स्तर के निम्न पतन से अभिनति के अवसाद की ऐंठन
[डैली की गिरि-रचना परिकल्पना]

उपर्युक्त गुम्बदाकार स्थलमण्डल के चतुर्दिक भू-अभिनति का अवसाद (sediment) होगा जो गुम्बद के क्रमशः ऊँचे उठने पर बढ़ता जायगा और भू-अभिनति के अवसादन पर दबाव की वृद्धि हो जायगी। एक ऐसा समय आयगा जब भू-अभिनति इस तनाव को सहन नहीं कर सकेगी और तब भू-अभिनति की तली टूट-फूट जायगी और ये टुकड़े नीचे तप्त शीशावत बेसाल्ट में धँस जायेंगे। चूँकि नीचे ऊष्मा की मात्रा अधिक होती है अतः ये टुकड़े गरम होकर आयतन में बढ़ जाते हैं। इसके

साथ ही भू-अभिनति की तली की शैलें गरम होकर फैल जाती हैं और स्थल-खण्ड की शैलें ऊपरी को उठती हैं।

जब भू-अभिनति में कटान पैदा होती है तो गुम्बदाकार स्थलमण्डल के आधार में निर्बलता आ जाती है और तनाव के कारण महाद्वीपीय भाग भू-अभिनति की ओर खिसकने लगते हैं जिसके कारण भू-अभिनति के अवसाद में मोड़ें पड़ जाती हैं और अपनति (anticline) के निर्माण के साथ पर्वतों की रचना का श्रीगणेश हो जाता है।

इस परिकल्पना से वर्तमान पर्वत-शृंखलाओं की व्याख्या हो जाती है। आल्प्स हिमालय वृत्त भूमध्य टेथिस की ओर और प्रशान्त-वृत्त पर्वत प्रशान्त महासागर की ओर सरकाव के कारण बने प्रतीत होते हैं। एशिया के पूर्वी तट पर स्थित द्वीपमालाओं की आकृति एशिया महाद्वीप के प्रशान्त महासागर की तरफ सरकने से बनी है। इनके सम्मुख गहरे गर्त हैं जो इस द्वीपीय चाप के दबाव से निर्मित हैं। ये अग्र गर्त (fore deep) पृथ्वी के पपड़े के सरकाव के कारण मौजूद हैं।

डैली ने पृथ्वी-तल की विषमताओं की व्याख्या इसी प्रकार के महाद्वीपीय सरकाव से की है। **जीन्स** तथा **जेफरी** की परिकल्पनाओं की त्रुटियों का समाधान **डैली** की इस कल्पना से हो जाता है। **जीन्स** और **जेफरी** के अनुसार, आकर्षण-शक्ति तथा घूर्णन के फलस्वरूप पृथ्वी-तल को समतल होना चाहिए किन्तु वास्तव में धरातल विषम होता है।

डैली ने जल एवं थल-खण्डों की उत्पत्ति करने वाली भू-परिक्रमण तथा संकुचन की शक्तियों की विवेचना नहीं की है। किस प्रकार मध्य अक्षांशों में दो भू-अभिनतियों तथा भूमध्यरेखा एवं ध्रुवों पर तीन गुम्बद बन गये, इन तथ्यों की भी व्याख्या नहीं है।

पृथ्वी के भीतरी भाग की संरचना के सम्बन्ध में **डैली** के विचार आधुनिक वैज्ञानिक विचारों से मेल नहीं खाते हैं। **डैली** के अनुसार पृथ्वी के पपड़े का घनत्व पृथ्वी की भीतरी शैलों से अधिक है, किन्तु वर्तमान भूगर्भिक विचार इसके बिलकुल प्रतिकूल हैं। अधिक घनत्व के अधःस्तर में कम घनत्व के सिएल खण्डों का स्खलन स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

डैली की यह परिकल्पना सुझावात्मक है किन्तु इसमें भू-अभिनति की तली के टूटने की व्याख्या उपलब्ध नहीं है। इस परिकल्पना से ऐटलांटिक तथा अन्य समुद्रों के चारों ओर स्थित पर्वतों की दिशा नहीं प्रमाणित हो सकी है।

महाद्वीपीय विस्थापन परिकल्पना
(Hypothesis of Continental Drift)

वेगनर ने महाद्वीपों के विस्थापन की कल्पना करते हुए बताया है कि स्थल-खण्डों के अग्रभाग महासागरों की ऊँची उठी हुई अवरोधी तली से टकराते हैं जिससे सागर नितल में मोड़ें पड़ जाती हैं। **वेगनर** महोदय ने महाद्वीपों का विस्थापन

पश्चिम दिशा तथा भूमध्यवर्ती रेखा की ओर बताया। इन दिशाओं में विस्थापन के द्वारा ही संसार की वर्तमान विशाल पर्वत श्रेणियाँ बनीं। इटली के वैज्ञानिक **आरगैण्ड** के अनुसार उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिम की ओर विस्थापित होने से प्रशान्त महासागर की कठोर तली में टक्कर लगी जिससे रॉकी तथा एण्डीज पर्वतों का निर्माण हुआ।

इटली के भू-विज्ञानी **आरगैण्ड** तथा ब्रिटिश भू-विज्ञानी **स्टोस** ने विचार प्रकट किया है कि अफ्रीका के उत्तर में प्रवाहित होने से टेथिस के अवसाद मुड़ गये जिससे आल्प्स पर्वतमाला का निर्माण हुआ। इसी प्रकार अंगारालैण्ड के कठोर पिण्डों के दक्षिण में प्रवाहित होने से हिमालय पर्वत की रचना हुई।

इस परिकल्पना में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें अमरीका का पश्चिम की ओर विस्थापना प्रमाणित नहीं हो पाता है। जिस ज्वार-शक्ति के द्वारा इस परिवहन की कल्पना **वेगनर** ने की है उस शक्ति से महाद्वीपीय विस्थापन असम्भव है। साथ ही, भौतिकशास्त्रियों का मत है कि सिमै की लसलसाहट के कारण महाद्वीप विस्थापित नहीं हो सकते हैं। (इस परिकल्पना की विस्तृत व्याख्या के लिए अध्याय 8 देखें।)

समस्थितिक पुनर्समंजन की परिकल्पना
(Hypothesis of Isostatic Re-adjustment)

भूपटल के उच्चतम भागों से अपरदित पदार्थ निम्न भागों में एकत्र होते रहते हैं जिससे ऊँचे भागों का भार घटता जाता है और निम्न भागों का भार क्रमशः बढ़ता जाता है। महासागरों में सर्वाधिक निक्षेप होता है। इस प्रकार सन्तुलन के अव्यवस्थित हो जाने पर भारी भूखण्ड नीचे की ओर और हल्के भूखण्ड ऊपर की ओर सरकते हैं। इस प्रकार उत्थापन-अवतलन के कारण भूतल पर परिवर्तन होते हैं और पर्वतों की रचना होती है।

इस परिकल्पना में अनेक दोष हैं जिससे पर्वत-निर्माण की व्याख्या नहीं हो पाती है। प्रथम, पर्वत-निर्माण के लिए क्षैतिज शक्ति आवश्यक होती है, लम्बवत् गतियों से पर्वत-रचना सम्भव नहीं है। दूसरे, समस्थितिक का सिद्धान्त पर्वत-निर्माण को आंशिक रूप से समझाता है। इसका केवल पर्वतों की उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है, किन्तु इससे पर्वतों की रचना नहीं होती है।

हिमालय पर्वत की उत्पत्ति

भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार पुराजीव महाकल्प में दो विशाल महाद्वीप—गोंडवाना दक्षिणी गोलार्द्ध में और लारेंशिया उत्तरी गोलार्द्ध में—थे और उनको टेथिस नामक सागर अलग करता था। टेथिस का विस्तार पूरब से पश्चिम को था जिसका अवशेष आज भूमध्यसागर है। इसमें दोनों महाद्वीपों के अवसाद एकत्र होते रहे।

सुइस के विचार—भूगर्भवेत्ता **सुइस** का विचार है कि हिमालय की रचना टेथिस के अवसादों की ढेर के ऊपर उठ जाने से हुई। इसके बनाने के लिए उत्तर

के निकट किनारे लगभग 30 मीटर ऊँचे हो जाते हैं। यहाँ पर उनकी ऊँचाई में वृद्धि का एकमात्र कारण हिमालय का धीरे-धीरे उठना है।

इसका दूसरा प्रमाण अरुण नदी की दूसरी सहायक **यारचू** से मिलता है। थोड़े समय पहले इस नदी का अधिकतर भाग उथली झील था। आज झील सूख गयी है क्योंकि पहाड़ों के ऊपर उठ जाने से पानी बह गया।

बुराडं का मत—ब्रिटिश भू-विज्ञानी **एस० बुराडं** ने सन् 1912 में अपना मत व्यक्त किया। उनके विचार में पृथ्वी के धरातल के नीचे एक दूसरी तह है जो शीतल हो रही है। शीतल होने पर वह तह फट जाती है और उसके टुकड़े इधर-उधर हट जाते हैं। नीचे की तह के हटने से ऊपरी तह में सिकुड़न पड़ जाती है। इसी प्रकार हिमालय भी बने हैं। नीचे के टुकड़ों के मध्य के रिक्त स्थान में नदियों द्वारा लाया गया पदार्थ भर जाता है। थोड़े दिनों के बाद वह पदार्थ भी मुड़ जाता है। इसी प्रकार **शिवालिक** की रचना की कल्पना है।

इस मत के विरोध में कहा जाता है कि यदि पृथ्वी की भीतरी सतह इतनी मुलायम है कि 120 किलोमीटर की गहराई के भीतर ही पदार्थ का संतुलन हो जाता है तो क्या उसमें गंगा-सिन्धु की भू-अभिनति गहरी बनी रह सकती थी ?

दूसरी आपत्ति दबाव आने की दिशा से है। दबाव आने की वास्तविक दिशा **बुराडं** के विरुद्ध है जिसके वितरण निम्न प्रकार हैं :

(क) असममित वलन का अक्षीय झुकाव (inclination of the axis of asymmetrical fold)—इस झुकाव से ऐसा प्रतीत होता है कि मोड़ का ऊपरी भाग उसके निचले भाग से अधिक झुक गया है।

(ख) शैलों की अनुप्रस्थ दिशा में खिसकाव—यह निश्चित बात है कि शैलें पीछे की अपेक्षा आगे की ओर अधिक खिसकती हैं।

(ग) जिस दिशा से दबाव आता है, उस ओर अवतलन ढाल होता है।

कोबर का मत—वैज्ञानिक **कोबर** के मतानुसार तिब्बत का पठार मध्यपिण्ड है और इसके दोनों किनारों पर कुनलून तथा हिमालय के पर्वत हैं। इसके निर्माण का कारण एशिया के पश्च प्रदेश का भारतीय अग्र भाग की ओर गतिशील होना है। प्रसिद्ध भारतीय भू-वैज्ञानिक **डी० एन वाडिया** महोदय ने कश्मीर हिमालय के अध्ययन से बताया है कि भारतीय प्रायद्वीप स्थायी है और सम्पीडन तिब्बत की दिशा से है। इसी प्रकार **दिलग्रिम** तथा **वेस्ट** महोदय ने शिमला हिमालय और **आडेन** महोदय ने गढ़वाल हिमालय का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

हिमालय पर्वत के भाग

भारत के उत्तर में स्थित पर्वत श्रेणियाँ हिमालय कहलाती हैं। इनकी श्रेणियों की चौड़ाई 160 किलोमीटर से 320 किलोमीटर तथा लम्बाई लगभग 1,920 किलोमीटर है। विभिन्न आधारों पर हिमालय के कई विभाग किये जाते हैं :

(1) भौगोलिक विभाग (Geographical Division),

(2) भू-वैज्ञानिक विभाग (Geological Division)।

(1) भौगोलिक विभाग

वैज्ञानिक बुरार्ड ने हिमालय की अनुप्रस्थ काट (transverse section) निम्न प्रकार की है :

(1) पंजाब हिमालय—गिलगिट से सतलज नदी तक का 560 किलोमीटर लम्बा भाग पंजाब हिमालय कहलाता है। इसकी सबसे ऊँची चोटी नंगापर्वत 8,120 मीटर ऊँची है। इसी की एक शाखा पीरपंजाल पर्वत है।

(2) कुमायूँ हिमालय—सतलज नदी से काली नदी तक 320 किलोमीटर लम्बा पर्वतीय भाग कुमायूँ हिमालय के नाम से पुकारा जाता है। इसमें नन्दादेवी, केदारनाथ, बदरीनाथ आदि ऊँची चोटियाँ हैं।

(3) नेपाल हिमालय—काली नदी से तिस्ता नदी तक का 800 किलोमीटर पर्वतीय भाग नेपाल हिमालय है। संसार की सर्वोच्च चोटी एवरेस्ट 9,010 मीटर ऊँची इसी श्रेणी में है। यह नाम भारत के डाइरेक्टर जनरल एवरेस्ट के नाम पर पर रखा गया था। कंचनजंगा भी इसी भाग की चोटी है।

(4) असम हिमालय—तिस्ता नदी से ब्रह्मपुत्र नदी तक 720 किलोमीटर लम्बा पर्वतीय भाग नमचा वर्वा के पास झुक जाता है। यह असम हिमालय है।

हिमालय का भौगोलिक अनुदैर्ध्य विभागीकरण इस प्रकार किया गया है :

(क) वाह्य हिमालय या शिवालिक पर्वत, (ख) लघु या मध्य हिमालय,
(ग) महान् या केन्द्रीय हिमालय, (घ) तिब्बत हिमालय।

(2) भू-वैज्ञानिक विभाग

भू-वैज्ञानिक अनुदैर्ध्य विभाग भौगोलिक अनुदैर्ध्य विभाग से पूर्णतया नहीं मिलते हैं।

(क) बाह्य या शिवालिक हिमालय, (ख) लघु या उपहिमालय,
(ग) केन्द्रीय या मुख्य हिमालय, (घ) तिब्बती हिमालय।

हिमालय की संरचना

हिमालय की संरचना का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं है। पूरबी हिमालय की जानकारी बिलकुल नहीं है क्योंकि इसकी जलवायु अनुपयुक्त है और पर्वतीय भागों में पहुँच दुष्कर है। केवल पश्चिमी हिमालय के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान उपलब्ध है जिसके लिए ब्रिटिश भू-विज्ञानी डॉ० पिलग्रिम, डॉ० वेस्ट, ओल्डम, डॉ० बुरार्ड तथा भारतीय भू-विज्ञानी डॉ० डी० एन० वाडिया धन्यवाद के पात्र हैं।

पश्चिमी हिमालय में बाह्य हिमालय नवजीव कल्प की शैलों का क्षेत्र है जिसमें शिवालिक तथा सिरमुर की दो पट्टियाँ हैं। शिवालिक पट्टी मध्यनूतन युग से अत्यन्त नूतन युग के निक्षेप से बनी है। इसमें साधारण वलन की क्रिया हुई है। सिरमुर पट्टी नैनीताल के पश्चिमोत्तर में बनी है। यह अनूप विक्षेपों से बनी है। इसमें समनत वलन (isoclinal folding) मिलती है। इसके बाद प्रमुख सीमा भ्रंश (main boundary fault) है। तत्पश्चात् हिमालय की मुख्य शैल पड़ती है।

मुख्य सीमान्त भ्रंशन के बाद स्वस्थानिक मण्डल (autochthonous belt) मिलता है जो कोयला युग से आदिनूतन युग (eocene period) तक बना है। इसमें शयान वलन (recumbent fold) मिलती है किन्तु शैलें यथास्थान मौजूद मिलती हैं। इसके बाद क्रोल भ्रंशन (kroll fault) मिलती है जो क्रोल शैलों को स्वस्थानिक पट्टी से अलग करती है। इसके पश्चात् प्राचीन प्रच्छद पेटी (nappe belt) मिलती है। इसमें जीवाश्म रहित स्लेट शैलों के कई क्षेप (thrust) हैं। शिमला क्षेत्र में इस प्रच्छद के दोनों ओर गिरि तथा जुनोघ भ्रंशनें मिलती हैं।

अन्त में रवेदार प्रच्छद पट्टी मिलती है जो कायान्तरित शैलों द्वारा निर्मित है। यही प्रच्छद का मूल क्षेत्र है।

तिब्बती हिमालय टेथिस में समुद्री जीवाश्मपूर्ण शैलों से बना है। यह सामान्य वलन को प्रकट करता है। इनमें क्षेप से शैलों में बड़ी उथल-पुथल हो गयी है।

पर्वतों का मानवीय महत्त्व

पर्वतों का महत्त्व सर्वविदित है। इनकी अनिश्चित बनावट, सँकरी घाटियाँ तथा मिट्टी की पतली तह कृषि-उद्यम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। यातायात के साधनों का अभाव, कृषि-उद्योग का नगण्य स्थान, जलवायु की विषमता तथा समतल भूमि की कमी के कारण इन प्रदेशों में आबादी भी बहुत कम होती है। फिर भी पर्वत मनुष्य के लिए लाभप्रद हैं। यहाँ प्राकृतिक साधनों के भव्य भण्डार भरे हैं।

पर्वत प्राय: देशों की सीमाओं पर होते हैं। पर्वतों को देश की सीमा निर्धारित करने में सुरक्षा का दृष्टिकोण निहित रहता है। इनको पार करके विदेशियों को देश में प्रवेश करना कठिन होता है। अत: विदेशी आक्रमणों से बचाने में ये किले का कार्य करते हैं।

किसी देश की जलवायु के निर्धारण में भी पर्वतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये स्थिति के अनुसार गरम एवं ठण्डी वायु को एक देश से दूसरे देश में प्रवेश करने से रोकते हैं। नम वायु को रोककर पवनाभिमुख ढाल (windward slope) की ओर के प्रदेश में वर्षा होने के साधन बनते हैं।

पर्वत अनेक नदियों के उद्गम स्रोत होते हैं जिनसे सिंचाई होती है तथा जल-शक्ति उत्पन्न की जाती है। इनके ढालों पर इमारती लकड़ियों के घने वन पाये जाते हैं जिनसे लकड़ी उद्योग तथा तत्सम्बन्धी अन्य उद्योग-धन्धों को कच्चा माल प्राप्त होता है। प्राय: ढालों पर चरागाह भी पाये जाते हैं, जहाँ मवेशियों के चराने का कार्य होता है।

विश्व के पर्वत अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के भण्डार हैं। लोहा, ताँबा, सोना इत्यादि बहुमूल्य खनिज पर्वतों में ही पाये जाते हैं।

इन प्रदेशों का निम्न तापमान, स्वास्थ्यवर्धक एवं मनोरम जलवायु तथा आकर्षक दृश्य ग्रीष्म ऋतु में आकर्षण का कारण बन जाते हैं और विभिन्न भागों से लोग मनोविनोद तथा मनोरंजन के लिए ऐसे केन्द्रों की ओर आकर्षित होते हैं। स्विट्जरलैण्ड, कश्मीर इत्यादि इसके अच्छे उदाहरण हैं।

पर्वत अलगाव का भी काम करते हैं। इनके बीच में उपस्थित रहने से एक तरफ के लोगों का दूसरी ओर के लोगों से परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। उनके खानपान, व्यवहार, रहन-सहन एवं बोली तथा रंग-रूप में भी भिन्नता पायी जाती है।

प्रश्न

1. 'The concept of Geosyncline is due to Hall and Dana, but the theory of its development is really due to Haug.' Elaborate the statement and describe briefly the three types of Geosynclines as distinguished by Schuchert. (*Sagar 1969*; *Bihar 1968*)
   'भू-अभिनति की परिकल्पना का श्रेय हाल तथा डाना को है किन्तु इसके विकास का श्रेय वास्तव में हाग को है।' इन वक्तव्य की व्याख्या कीजिए और शुशर्ट की तीनों प्रकार की विस्तीर्ण भू-अभिनतियों का वर्णन कीजिए।
2. Discuss fully the origin of Geosynclines in the light of Evans' term 'Sedimentation-subsidence.' (*Aligarh 1971*; *Agra 1966*)
   इवेन्स की अवसादन-अवतरण अवधारणा के प्रकाश में भू-अभिनति की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए।
3. Explain the Geosynclinal Orogen hypothesis of Kober. (*Bhagalpur 1968*; *Raipur 1970*)
   कोबर की भू-अभिनति पर्वतित संहित परिकल्पना की व्याख्या कीजिए।
4. Write a short essay on Geosyncline. (*Bhagalpur 1965*)
   भू-अभिनति पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
5. Discuss the origin of folded mountains and give examples. (*Udaipur 1971*; *Gorakhpur 1965*; *Sagar 1966*)
   वलित पर्वतों की उत्पत्ति का वर्णन कीजिए और उदाहरण भी दीजिए।
6. What do you understand by mountain-building ? Describe the chief type of mountains giving account of the cause to which they are due. (*Jabalpur 1969*; *Udaipur 1968*)
   पर्वत-निर्माण-क्रिया से क्या समझते हैं ? पर्वत के विभिन्न वर्गों का सकारण वर्णन कीजिए।
7. What are the main types of mountains ? How are they formed ? Give an example of each type. (*Varanasi 1969*; *Sagar 1971*)
   पर्वतों के मुख्य प्रकार कौन हैं ? ये कैसे बने हैं ? प्रत्येक का एक उदाहरण दीजिए।
8. Define a geosyncline and show how it is associated with mountain building. (*Allahabad 1969*; *Ranchi 1970*)
   भू-अभिनति की परिभाषा दीजिए और दर्शाइए कि किस प्रकार यह पर्वत-निर्माण से सम्बन्धित हैं।

21

मुख्य स्थलरूप—पठार

[MAJOR LANDFORMS—PLATEAUX]

स्थल के विभिन्न स्वरूपों में पठार का कम महत्त्व नहीं है। ये स्थल के एक विस्तृत क्षेत्र को ढँके हुए हैं। ये मैदानों से ऊँचे भाग हैं। इनकी ऊँचाई 3,660 मीटर तक होती है। तिब्बत का पठार तो 6 100 मीटर ऊँचा है। इनके ऊपरी भाग का आकार मेज की तरह सपाट होता है, किन्तु इनके किनारे का ढाल तीव्र होता है। पठारों में नदियों की सँकरी घाटियाँ मिलती हैं और यत्र-तत्र चौड़ी एवं सपाट सिरे वाली श्रेणियाँ मिलती हैं। इस कारण पठार लहरदार प्रतीत होते हैं। प्रायः पर्वतों एवं पहाड़ियों से घिरे हुए पठार ऊँचे होते हैं और मैदानों से आवृत्त पठार नीचे तथा सपाट होते हैं। वास्तव में पठार की परिभाषा कठिन है, किन्तु प्रयोग में पठार वह विस्तृत भूखण्ड होता है जो समुद्रतल से पर्याप्त ऊँचाई पर स्थित रहता है। प्लेटो फ्रेंच भाषा का शब्द है जिसका अर्थ सपाट होता है।

पठारों का वर्गीकरण

पठारों का वर्गीकरण निम्न आधारों पर किया जाता है :

(1) उत्पत्ति के विचार से, (2) स्थिति के विचार से,
(3) जलवायु के विचार से, (4) आकृति के विचार से।

(1) उत्पत्ति के विचार से पठारों के वर्ग

उत्पत्ति के विचार से पठारों के निम्न वर्ग किये गये हैं :

(1) सरल पठार (Simple Plateaux),

(2) संयुक्त पठार (Composite Plateaux)।

(1) सरल पठार—इसकी उत्पत्ति एक ही प्रकार के शैलों से होती है। इसकी रचना किसी एक ही कारक से होती है। कारक के अनुसार इसके चार भेद होते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

(क) हिम्य पठार (Plateaux of Glacial Origin),

(ख) जलीय पठार (Plateaux of Acqueous Origin),

(ग) वातोढ़ पठार (Plateaux of Aeolian Origin),

(घ) निःसृत पठार (Plateaux of Effusive Origin)।

(क) हिम्य पठार—हिमनदियों के अपरदन तथा हिमोढ़ों के निक्षेप से पठार बन गये हैं। महाद्वीपीय हिमनदियों ने ग्रीनलैण्ड तथा एण्टार्कटिका को घिस-घिसाकर पठार बना दिया है। भारत में गढ़वाल का पठार भी इसी प्रकार निर्मित है, ऐसा हिन्दू विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष **डॉ० एस० एल० छिब्बर** का मत है।

हिमोढ़ के एकत्र होने से जर्मनी का प्रशिया पठार बना हुआ है। कश्मीर में पाये जाने वाले भाग, जिनकी रचना हिमोढ़ से हुई है, इसी कोटि में गिने जाते हैं।

(ख) जलीय पठार—जल द्वारा निक्षेपित अवसाद के शिलारूप ग्रहण करने पर कभी-कभी पृथ्वी हलचल के कारण शिलास्तर पठार का रूप धारण कर लेते हैं। बालुका पत्थर से निर्मित विन्ध्य पठार, चेरा पत्थर से निर्मित चेरापूँजी पठार तथा चूने के पत्थर से निर्मित शान पठार (ब्रह्मा) इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उत्तरी अमरीका में कोलोरेडो पठार भी इसी प्रकार का है। ये पठार जल में डूबे धरातल के ऊपर उठने से बनते हैं।

(ग) वातोढ़ पठार—वायु द्वारा निर्मित पठार इस कोटि में आते हैं। चीन का विशाल लोएस पठार तथा पश्चिमी पाकिस्तान का पोटवार पठार इसके उदाहरण हैं।

(घ) निःसृत पठार—ये पठार धरातल पर लावा-प्रवाह से बनते हैं। दक्षिणी भारत का लावा पठार, संयुक्त राज्य अमरीका का कोलम्बिया पठार तथा पूरबी अफ्रीका के पठार इसी प्रकार के हैं। इनमें बेसाल्ट की प्रधानता होती है।

कोलम्बिया पठार मध्य नूतन युग में बेसाल्ट लावा से ढक गया और 3 लाख वर्ग किलोमीटर में समतल पठार बन गया। समस्त घाटियाँ तथा पर्वत हजारों मीटर मोटे लावा के आवरण से ढक गये। पर्वतीय ऊँचे उठे भाग द्वीप की तरह दिखायी देने लगे।
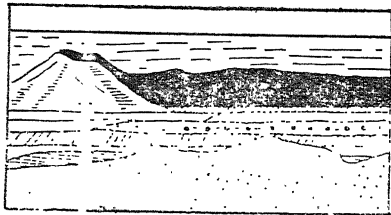
चित्र 247—लावा निर्मित पठार

दक्षिण भारत का लावा प्रदेश भी खटी (cretaceous) युग के अन्त में बना है। इसकी ऊँचाई सीढ़ियों जैसी है। इसी से इसको सोपान-पठार (step-like plateaux) कहते हैं।

कभी-कभी लावा के धक्के से भूपृष्ठ ऊपर उठ जाता है और जब ऊपरी पृष्ठ का अपरदन होता है तो अन्तर्वेधी पठार (intrusive plateaux) प्रकट होते हैं। छोटा नागपुर का पठार भी इसी प्रकार का है।

(2) मिश्रित पठार—इन पठारों की उत्पत्ति कई प्रकार की शैलों के मिश्रण से होती है। दक्षिणी भारत का पठार इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यह पठार कई बार

समुद्री अतिक्रमण से डूब गया और कालान्तर में फिर बाहर निकल आया। फलतः यह पठार विभिन्न युगों की आग्नेय, अवसादी तथा कायान्तरित शैलों से बना हुआ है।

अपरदन से कतिपय पठारवत् आकृतियाँ बन जाती हैं। जब एक समान्तर मुलायम शैल के आधार पर कठोर शैल का ढक्कन होता है तो अपरदन के फलस्वरूप एक मेज की आकृति बन जाती है जिसके चतुर्दिक तीव्र ढाल होता है (बेसाल्ट लावा से निर्मित पठार में यह आकृति मिलती है)। इस प्रकार की वेदी को मेसा (mesa) कहते हैं। यह स्पेन की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'मेज' होता है। दक्षिणी अफ्रीका के केपटाउन नगर के पृष्ठ भाग में टेबुल पर्वत इसका उदाहरण है। पश्चिमी
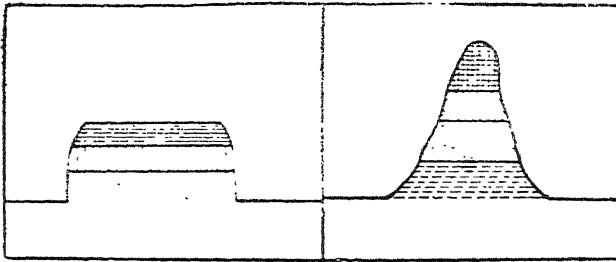
चित्र 248—मेसा एवं ब्यूटे

राँची (बिहार) में ऐसे दृश्य मिलते हैं जो वहाँ पैट्स (pats) कहलाते हैं। मेसा के निर्माण में बालू के पत्थर तथा संपिण्ड ऊपरी तह का कार्य करते हैं। निरन्तर अपरदन से मेसा सपाट शिखर की एकाकी छोटी पहाड़ी बन जाता है जो एक किनारे की वेदिका (terrace) की तरह ज्ञात होती है। ऐसे पहाड़ी टीले को ब्यूटे (butte) कहते हैं। यह अमरीकी नाम है जिसका अर्थ 'वृक्ष स्कन्ध' होता है। दक्षिणी अफ्रीका में इसी प्रकार की आकृति को 'कोपीज' (kopies) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के न्यूमैक्सिको प्रान्त में शिपराक ब्यूटे इसका उदाहरण है।

(2) स्थिति के विचार से पठारों के वर्ग

स्थिति के विचार से पठार चार प्रकार के होते हैं :

(1) अन्तर-पर्वतीय पठार (Intermontane Plateaux),

(2) पर्वतपदीय पठार (Piedmont Plateaux),

(3) महाद्वीपीय पठार (Continental Plateaux),

(4) तटीय पठार (Coastal Plateaux)।

(1) अन्तर-पर्वतीय पठार—ये पठार चारों ओर से पर्वतों द्वारा घिरे होते हैं। इनकी रचना वलित पर्वतों के साथ हुई होती है। ये पठार प्रायः दो अभिनतियों अथवा सीमा श्रेणियों के बीच के विस्तृत मध्यपिण्ड (median mass) हैं। संसार के सर्वोच्च पठार इसी श्रेणी में आते हैं। 6,100 मीटर उच्च तिब्बत का पठार हिमा-

लय तथा क्यूनलुन पर्वतों के बीच स्थित है। बोलिविया, कोलम्बिया तथा तारिम के पठार इसी प्रकार के हैं।

(2) **पर्वतपदीय पठार**—ये पठार पर्वतों के आधार पर बने होते हैं। इनके एक ओर ऊँचे पर्वत और दूसरी ओर मैदान या समुद्र रहते हैं। इनका विस्तार अत्यन्त सीमित होता है। ये मैदानों की तरफ कगार (escarpment) बनाते हैं जिनकी ऊंचाई 90 मीटर से 180 मीटर तक होती है। पैटोगोनिया का पठार सबसे सुन्दर उदाहरण है। यह एण्डीज पर्वत तथा आन्ध्र महासागर के मध्य में स्थित है।

(3) **महाद्वीपीय पठार**—ये पठार स्थल के विशाल एवं विस्तृत उच्च प्रदेश हैं। मैदान या समुद्र-तट से ये स्पष्टत: ऊँचे उठे होते हैं। इनके किनारे पर ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ कदाचित् ही होती हैं। दक्षिणी अफ्रीका का पठार, दक्षिणी भारत, अरब तथा स्पेन इस वर्ग के पठार हैं। ये पठार बहुत पुराने हैं, किन्तु ग्रीनलैण्ड तथा एण्टार्कटिका नवीन पठार बतलाये जाते हैं।

चित्र 249—अन्तर-पर्वतीय, पर्वत-पदीय तथा महाद्वीपीय पठार

(4) **तटीय पठार**—ये समुद्र-तट पर स्थित पठार हैं। भारत में कारोमण्डल का पठार इसी श्रेणी का है।

(3) जलवायु के विचार से पठारों के वर्ग

जलवायु के आधार पर पठारों के तीन वर्ग हैं :

(1) मरुस्थली या शुष्क पठार (Arid Plateaux),

(2) आर्द्र पठार (Humid Plateaux),

(3) हिम पठार (Ice Plateaux)।

चित्र 250—तटीय पठार
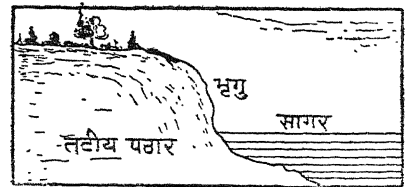
मरुस्थलों में शुष्क पठार मिलते हैं क्योंकि वहाँ वर्षा का अभाव रहता है। पश्चिमी पाकिस्तान का पोटवार पठार इसी श्रेणी का है। अधिक वर्षा वाले पठार आर्द्र पठार हैं जैसे असम का पठार। ध्रुवीय जलवायु के प्रदेशों में हिमाच्छादित पठार पाये जाते हैं जैसे ग्रीनलैण्ड का पठार।

(4) आकृति के विचार से पठारों के वर्ग

आकृति के अनुसार पठार तीन प्रकार के होते हैं :

(1) गुम्बदाकार पठार (Dome-shaped Plateaux).

(2) विच्छेदित पठार (Dissected Plateaux).

(3) सोपान तुल्य पठार (Step-like Plateaux)।

गुम्बदाकार पठार का बाह्य पृष्ठ गोलाकार होता है। छोटा नागपुर का पठार इसका उदाहरण है। विच्छेदित पठार नदियों द्वारा कटे-बँटे होते हैं। दक्षिणी भारत का पठार विच्छेदित पठार है। जिन पठारों की रचना सोपान तुल्य प्रतीत होती है उनको सोपान तुल्य पठार कहते हैं। विंध्य पठार इसका सुन्दर उदाहरण है।

चित्र 251—विच्छेदित पठार

पठारों का आर्थिक महत्त्व

उष्ण कटिबन्धीय पठारों पर मैदानों की अपेक्षा अधिक ठण्डक रहती है जहाँ निवास के लिए सुन्दर स्थान मिलते हैं। इनमें उपयोगी धातुएँ तथा खनिज उपलब्ध होते हैं। भारत की खनिज सम्पत्ति मैंगनीज पठार की देन है। दक्षिणी अफ्रीका का हीरा, कोलम्बिया का टिन, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एवं कनाडा का सोना जगत् प्रसिद्ध है।

कहीं-कहीं पठारों से इमारती पत्थर भी निकलते हैं। विषम पठारों पर बिजली की शक्ति पैदा की जाती है।

कम वर्षा तथा निम्न ताप के कारण पठार प्रायः कृषि योग्य नहीं होते हैं। जिन पठारों पर जंगल मिलते हैं वे आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनसे लकड़ी के उद्योग का विकास होता है। काली मिट्टी के पठारी भागों में कृषि अच्छी होती है। ऊँचे, विच्छेदित तथा सूखे पठार मानव के लिए अनुपयोगी होते हैं।

प्रश्न

1. Discuss the various classifications of Plateaux with special reference to India and adjacent countries.
(*Gorakhpur 1969; Hyderabad 1965; Agra 1966*)
भारत तथा इसके समीपवर्ती देशों के प्रसंग में पठारों के विभिन्न वर्गों की व्याख्या कीजिए।

2. How do you distinguish a plateaux from a plain and an old relict mountain ? What are the main distinguishing features of a plateaux ? (*Poona 1960; Rajasthan 1969*)
प्राचीन अवशिष्ट पर्वत, पठार तथा मैदान में क्या अन्तर होता है ? पठार की मुख्य विभेदक धरातलीय आकृतियाँ क्या हैं ?

3. Discuss the economic importance of plateaux.
(*Kathmandu 1968; Gwalior 1971*)
पठारों के आर्थिक महत्त्व की व्याख्या कीजिए।

22

मुख्य स्थलरूप—मैदान

[MAJOR LANDFORMS—PLAINS]

पृथ्वी पर अनेक प्रकार के विचित्र रूप हैं। धरातल के इन रूपों में मैदान महत्त्व-पूर्ण हैं। धरातल के विस्तृत क्षेत्र मैदान कहलाते हैं। ये सामान्यत: समतल होते हैं। इनका ढाल क्रमशः होता है। ये शनैः शनैः नीचे या ऊँचे होते हैं। इनकी ऊँचाई समुद्रतल से 150 मीटर तक होती है। सभी मैदान समुद्रतल से समान ऊँचाई पर

चित्र 252—संसार का धरातल : पर्वत, पठार और मैदान

नहीं होते और न बिलकुल ही समतल होते हैं। कुछ मैदान ऊबड़-खाबड़ और लहर-दार भी होते हैं। बहुत-से मैदान समुद्र-तल से बहुत ऊँचे होते हैं जैसे उत्तरी अमरीका का बड़ा मैदान, और बहुत-से मैदान समुद्र-तल से नीचे भी होते हैं जैसे जार्डन नदी की घाटी। वास्तव में मैदानों की पहचान ऊँचाई-नीचाई से नहीं बल्कि उनके क्रमिक

ढाल से होती है। प्रायः एक ही प्रकार की शैलों का होना, कम ढाल तथा नीचा धरातलीय आकार इनकी विशेषताएँ हैं।

मैदानों का महत्त्व

धरातल पर मैदानों का बड़ा महत्त्व होता है। आज भी संसार की घनी आबादी मैदानी भागों में ही है। क्षेत्रफल के विचार से भी मैदानों का स्थान सर्वप्रथम है क्योंकि स्थल के अधिकांश भाग पर इनका विस्तार है। मैदान अतीत से ही मानव के क्रीड़ास्थल रहे हैं। विश्व की सभी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों ने मैदानों में जन्म लिया और मैदानों में ही वे पल्लवित हुईं। भोजन एवं आवागमन की सुख-सुविधा के कारण ही मैदान मानव के प्रधान आकर्षण-केन्द्र रहे हैं।

मैदान के प्रकार

उत्पत्ति एवं स्थिति के आधार पर मैदान तीन प्रकार के होते हैं :

(1) निक्षेप-निर्मित मैदान (Depositional plains),

(2) विध्वंसित मैदान (Destructional plains),

(3) तटीय मैदान (Coastal plains)।

(1) निक्षेप-निर्मित मैदान

अपरदन के मुख्य साधन जैसे नदी, वायु, हिमनदी आदि कहीं धरातल को काटते-छाँटते रहते हैं और कहीं इन पर निक्षेप एकत्र कर देते हैं। इस प्रकार निक्षेपण से बड़े-बड़े मैदान बन जाते हैं। ये निक्षेप-निर्मित मैदान कहलाते हैं। गंगा-सिंधु-ब्रह्मपुत्र का मैदान, मिसीसीपी का मैदान, ह्वांगहो का मैदान इसी प्रकार के मैदान हैं। इन मैदानों में निम्न मैदान मुख्य हैं :

(1) सरोवरीय मैदान (Locustrine plairs),

(2) लावा मैदान (Lava plains),

(3) लोएस मैदान (Loess plains),

(4) हिमानी मैदान (Glacial plains),

(5) जलोढ़ मैदान (Alluvial plains)।

(1) सरोवरीय मैदान—झीलों में गिरने वाली नदियाँ प्रतिवर्ष अधिक मात्रा में तलछट को झीलों के पेटे में जमा कर देती हैं। धीरे-धीरे झीलें भर जाती हैं और मैदान के रूप में परिणत हो जाती हैं। झीलों के सूख जाने पर भी मैदान बन जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा यूरोप में ऐसे मैदान बिखरे पड़े हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनकी सतह सपाट होती है। तलछट परतों में जमा रहती है। कुछ भाग जलपूर्ण तथा दलदली होते हैं। मिट्टी उपजाऊ होती है।

(2) लावा मैदान—दरार-उद्भेदन से बाहर निकले हुए लावा द्वारा नीची भूमि के भर जाने पर मैदान अस्तित्व में आ जाते हैं। विसूवियस ज्वालामुखी के द्वारा नेपुल्स के निकट एक मैदान बना हुआ है, यद्यपि ऊँचाई के कारण इसे पठार की संज्ञा प्रदान की गयी है।

लावा-निक्षेप की काट-छाँट के जमाव से भी लावा मैदान बनता है। मिस्र में नील नदी का मैदान ऐसा ही है क्योंकि अबीसीनिया के लावा क्षेत्र का अपरदन करके नदी ने मिस्र के मैदान का निर्माण किया है। गोदावरी एवं इसकी सहायक नदियों ने महाराष्ट्र के लावा मैदान की रचना की है।
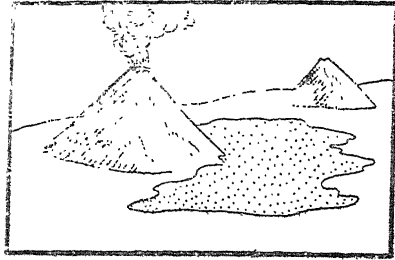
चित्र 253—लावा मैदान

(3) **लोएस मैदान**—वायु द्वारा बारीक धूलि-कणों के निक्षेप से निर्मित मैदान लोएस मैदान कहलाता है। इसका सबसे उत्तम उदाहरण उत्तरी चीन का लोएस का मैदान है। यूक्रेन (रूस) का मैदान भी लोएस से प्रभावित है। इन मैदानों में हजारों किलोमीटर दूर शुष्क प्रदेशों से उड़कर आयी बारीक धूल जमती है। यह बहुत उपजाऊ होता है।

सहारा तथा आस्ट्रेलिया के बालू के मैदान भी वायु द्वारा निक्षेपण से बने हैं। ये लहरदार होते हैं। इनकी उपयोगिता जल-प्राप्ति पर निर्भर करती है। जहाँ कहीं जल मिलता है, ये उपयोगी होते हैं।

(4) **हिमानी नदी**—हिमनदियों के निक्षेपण से निर्मित मैदान अपोढ़ मैदान (drift plain) कहलाते हैं। ये मैदान उस समय के बने हैं जब महाद्वीपों के हिमाच्छादित भाग से हिम पीछे हटने लगी और हिमनदियों के पिघले हुए जल-प्रवाह से तलछट यत्र-तत्र फैल गयी और मैदान बन गये। इस प्रकार के मैदान उत्तरी-पश्चिमी यूरोप तथा कनाडा में अधिक पाये जाते हैं। रचना के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :
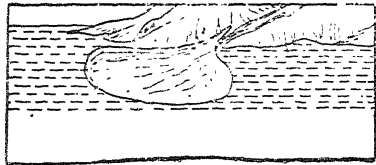
चित्र 254—हिमानी मैदान

(क) गोलाश्मी मृत्तिका मैदान (Till plains),

(ख) हिमोढ़ मैदान (Moraine plains),

(ग) अपक्षेप मैदान (Outwash plains)।

(क) **गोलाश्मी मृत्तिका मैदान**—हिमनदियों द्वारा बहुत दूर तक लाये गये शिला-खण्डों के निक्षेप से इस प्रकार के मैदान बनते हैं। इनमें लम्बे-चौड़े कम ऊँचाई वाले टीलों के मध्य उथले गड्ढे पाये जाते हैं। ये लहरदार होते हैं। ऐसे मैदान न्यू इंगलैण्ड (सं० रा० अमरीका) में मिलते हैं।

(ख) **हिमोढ़ मैदान**—हिमनदियों द्वारा हिमोढ़ के निक्षेप से मैदान बन जाते हैं। इनको हिमोढ़ मैदान कहते हैं। ये ऊबड़-खाबड़ होते हैं।

(ग) **अपक्षेप मैदान**—हिमनदियों के पिघलने पर प्रवाहित जलधाराओं द्वारा

बालू, बजरी तथा मिट्टी की तहें जम जाती हैं। इनमें केटली की आकृति के बहुत-से गड्ढे पाये जाते हैं। इसकी मिट्टी उपजाऊ नहीं होती है। इनमें जड़ वाली पैदावार बहुत होती है। इसी से इनमें आलू तथा चुकन्दर की खेती बहुत होती है। ये मैदान विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न ऊँचाई के होते हैं। उत्तरी जर्मनी और पोलैण्ड के मैदान इसी प्रकार के हैं।

(5) **जलोढ़ मैदान**—ये मैदान नदियों द्वारा निक्षेपित अवसाद से बनते हैं। इन्हें **नदी-घाटी मैदान** भी कहते हैं। ये मैदान बहुत उपजाऊ होते हैं। इनका ढाल क्रमशः होता है। ऐसे मैदानों में टीले या अन्य ऊँची-नीची भूमि दृष्टिगोचर नहीं होती है। संसार में ये घनी जनसंख्या के भाग हैं। संसार के सभी बड़े मैदान प्रायः इसी कोटि के हैं। फिंच नामक ब्रिटिश वैज्ञानिक के अनुसार इन मैदानों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है :

(क) ऊपरी घाटी के मैदान,
(ख) मध्य घाटी के मैदान,
(ग) निम्न घाटी के मैदान।

(क) **ऊपरी घाटी के मैदान**—ऊपरी घाटी के मैदानों में नदियों का प्रवाह तीव्र रहता है। अतः परिवाहित बजरी, कंकड़-पत्थर आदि का निक्षेपण पर्वतों के आधार पर पंखे के आकार में हो जाता है। इसे पर्वतपादी जलोढ़ पंखा (piedmont alluvial fan) कहते हैं। इनका ढाल पर्वतों की ओर तीव्र और मैदानों की ओर हल्का होता है। यह भूभाग उपजाऊ नहीं होता, अतः कृषि के अयोग्य होता है। इस भाग में प्रायः जंगल पाये जाते हैं। भारत में इस प्रकार के मैदान भाबर' कहलाते हैं। पश्चिमी बंगाल राज्य के दुआर पर्वतपादी पिडमांट मैदान हैं।
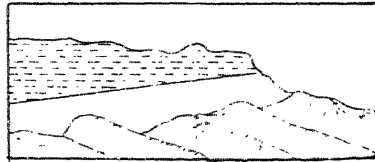
चित्र 255—पर्वतपदीय मैदान

(ख) **मध्य घाटी के मैदान**—मध्यवर्ती भाग में नदियों की गति मन्द पड़ जाती है। इनका प्रवाह-मार्ग सर्पिल हो जाता है। दूर तक यात्रा में शैलों के टुकड़े घिसते-घिसते बारीक बालू के कण अथवा मिट्टी के रूप में बदल जाते हैं। नदी की घाटी की चौड़ाई के अनुसार इस प्रकार के निक्षेप का विस्तार होता है। यह मैदान बहुत उपजाऊ होता है। ये सपाट तथा क्रमशः ढाल वाले मैदान हैं। अन्तर-नदीय मैदान को दोआब कहते हैं। इस भाग में कछारी मैदान तथा छाड़नें बनती हैं।
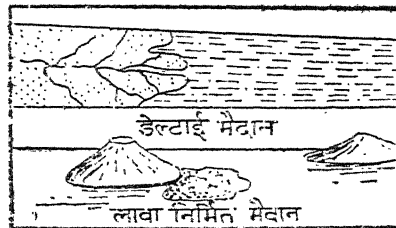
चित्र 256—डेल्टाई तथा लावा निर्मित मैदान

(ग) **निचली घाटी के मैदान**—नदी की निचली घाटी में नदी का प्रवाह बिलकुल मन्द पड़ जाता है और परिवहन की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। मुहाने पर निक्षेप पड़ जाता है और भूमि का भाग जिह्वा की तरह समुद्र में निकल जाता है। त्रिभुज की आकृति का यह मैदान डेल्टा कहलाता है। यह आकृति ग्रीक लिपि के एक त्रिभुजाकार अक्षर से मिलती-जुलती है जिसका नाम डेल्टा है। ग्रीक निवासियों ने नील नदी के मुहाने पर डेल्टा वर्ण की आकृति का स्थलखण्ड देखा और उसका नाम डेल्टा रख दिया। उसी समय से नदी के मुहाने के सभी मैदानों को डेल्टा कहने लगे।

ये मैदान प्राय: सपाट होते है। इनकी ऊँचाई समुद्रतट से 15 मीटर से भी कम होती है। इनमें यत्र-तत्र कम गहराई की झीलें तथा दलदल मिलते हैं। इन्हें बील (beel) कहते हैं। कहीं-कहीं पूरतट भी मिलते हैं। ये बहुत उपजाऊ होते हैं। इनमें जनसंख्या का घनत्व भी अधिक होता है। इनके निचले भागों में समुद्र का जल प्राय: ज्वार के साथ आता है। गंगा तथा नील नदियों के डेल्टा के मैदान उल्लेखनीय हैं।

(2) विध्वंसित मैदान

इन मैदानों की रचना अपक्षय तथा अपरदन से होती है। इनके निर्माण में मुख्यतया प्रवाहित जल, हिमनदी, वायु तथा भूमिगत जल का विशेष प्रभाव रहता है। इसी कारण इनके निम्न चार वर्ग बनाये जाते हैं :

(1) नदी-घर्षित मैदान, (2) हिम-अपरदित मैदान,
(3) मरुस्थली मैदान, (4) कार्स्ट मैदान।

(1) **नदी-घर्षित मैदान**—नदियाँ पर्वतीय एवं पठारी भागों को काटकर उन्हें लहरदार मैदान के रूप में परिवर्तित कर देती हैं। यह कार्य एक लम्बी अवधि में सम्पन्न होता है। इन मैदानों में अवसादी शैलें मिलती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में ये मैदान समुद्रतल से पर्याप्त ऊँचे होते हैं। इन मैदानों में प्रवाहित होने वाली नदियों
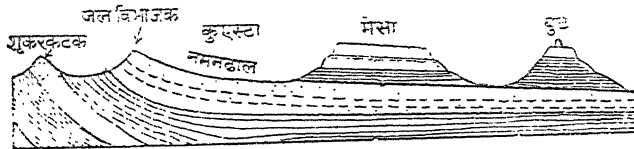
चित्र 257—भूपृष्ठ स्तर की संरचना एवं ढाल का अपरदन के आकारों से सम्बन्ध

की घाटियाँ सँकरी और तट सपाट होते हैं। नदी की घाटियों के दोनों किनारे सीधे खड़े होते हैं। सँकरी घाटी होने से ये नदियाँ बाढ़ में उबल पड़ती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के डकोटा राज्य में उत्खात भूमि (bad lands) अपरदन की प्रारम्भिक अवस्था में हैं।

अपरदन की मध्य अवस्था में नदियों की घाटियाँ चौड़ी हो जाती हैं। जल-विभाजक का कटना प्रारम्भ हो जाता है। मध्य में कहीं-कहीं कठोर शैलों के टीले अवशेष रह जाते हैं जो अवशिष्ट शैल या मोनैडनाक्स (monadnocks) कहलाते हैं। इस अवस्था में नदी की घाटियों में ही मनुष्य के निवास स्थान होते हैं। इस प्रकार से बने हुए मैदान समप्राय मैदान (peneplains) कहलाते हैं। दिल्ली के पश्चिम का अरावली प्रदेश (भारत), मास्को का मैदान (रूस), मिसीसीपी की ऊपरी घाटी (उत्तरी अमरीका) तथा अमेजन बेसिन का दक्षिणी भाग (दक्षिणी अमरीका) इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इस अवस्था में नदियाँ अपने चरम स्तर पर पहुँच जाती हैं।

मैदान की अन्तिम अवस्था में नदियों की घाटियाँ पूर्णतया विस्तृत हो जाती हैं। ऊँचे जल-विभाजक जो कठोर-मुलायम शैलों की झुकी सतह से निर्मित होते हैं, धीरे-धीरे कटकर ध्वस्त हो जाते हैं और सपाट मैदान बन जाते हैं। इनके एक दिशा में तीव्र तथा दूसरी दिशा में मन्द ढाल होते हैं। ये मैदान **कुएस्टा मैदान** (cuesta plains) कहे जाते हैं। 'कुएस्टा' स्पेनिश भाषा का शब्द है जिसका तात्पर्य पहाड़ी या पठार होता है जो एक ओर तीव्र ढाल और दूसरी ओर मन्द ढाल का होता है।
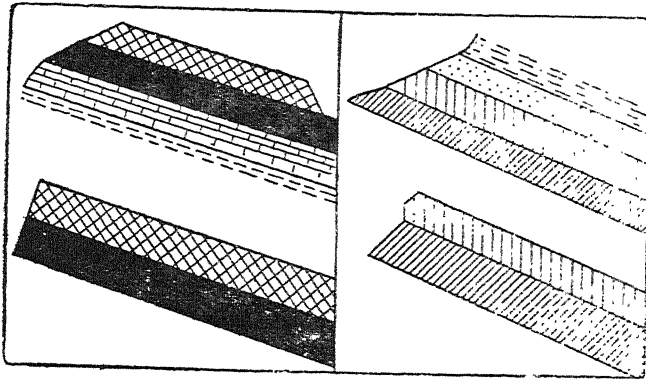
चित्र 258—शूकर कटक और कुएस्टा मैदान

इनका निर्माण अनुनति संरचना (dipping formations) के अपरदन के फलस्वरूप होता है। पेरिस तथा लन्दन के मैदान इसके उत्तम उदाहरण हैं। इनमें कुएस्टा पहाड़ी मिलती हैं जिनका नदियों के निकास की ओर तीव्र ढाल और बहाव की ओर साधारण ढाल होता है। जब नति ढाल (dip slope) बहुत अधिक होता है तो इसे कटक या शूकर पृष्ठ (ridge or hogsback) कहते हैं। शूकर पृष्ठ का अनुनति ढाल 45° से अधिक होता है। कुएस्टा में यह कुछ ही अंश होता है। दिल्ली के समीप अरावली श्रेणी शूकर पृष्ठ के समान है।

(2) हिम-अपरदित मैदान—हिमनदियाँ अपने प्रवाह में स्थल के मूलरूप में भारी परिवर्तन ला देती हैं। इनमें प्रवाहित शिलाखण्डों से पहाड़ियाँ तथा घाटियाँ घिसकर बदल जाती हैं। इन्हें हिम-अपरदित अथवा हिमनदी-घर्षित मैदान कहते हैं। इनमें गोलाकार चिकनी पहाड़ियाँ तथा टीले और चौड़ी खुली घाटियाँ मिलती हैं। घाटियों में खड्ड तथा खुरचन के चिह्न भी मिलते हैं। बड़े गड्ढे दलदल या झील के रूप में मिलते हैं। नदियों में जल-प्रपात मिलते हैं जिनसे जल-विद्युत् शक्ति पैदा की जाती है। ऐसे मैदान फिनलैण्ड, स्वीडन तथा कनाडा के पूरबी भाग में उपलब्ध होते हैं।

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व महाद्वीपीय हिमनदियों के द्वारा उत्तरी अमरीका तथा उत्तर-पश्चिमी यूरोप का रूप परिवर्तित हो गया। हिमशिलाओं के घर्षण से ये मैदान बन गये। बहुत-सी झीलें बन गयीं। विभिन्न प्रकार के हिमोढ़रूप बन गये।

(3) मरुस्थली मैदान—मरुस्थलों में कम वर्षा और कम वनस्पति के कारण वायु द्वारा बहुत अपरदन होता है। तीव्रगामी अस्थायी नदियों से भी अपरदन हो जाया करता है। इस प्रकार मरुस्थली मैदान बन जाते हैं। इनमें अपक्षय प्रबल होती है। ऐसे मैदानों में अन्त: स्थलीय अपवाह होता है जिनमें लवणपूर्ण झीलें मिलती हैं।

(4) कार्स्ट मैदान—ये मैदान भूमिगत जल के प्रभाव से बनते हैं। इनमें सतह पर जल-प्रवाह नहीं होता है। जब कार्स्ट मैदान वृद्धावस्था में पहुँच जाते हैं तब धरातल पर जल-प्रवाह हो जाता है। इनका धरातल ऊबड़-खाबड़ होता है। कहीं-कहीं बिखरे हुए टीले भी मिलते हैं। इनका निर्माण चूने के पत्थर वाली भूमि में होता है। विशेष विवरण के लिए अध्याय 15 देखिए। ऐसे मैदान युगोस्लाविया में अधिक विस्तृत हैं। दक्षिणी फ्रांस तथा भारत में चित्रकूट, रामगढ़ तथा अलमोड़ा के निकट चूने के मैदान पाये जाते हैं।

(3) तटीय मैदान

समुद्र के किनारे स्थित मैदान तटीय मैदान कहे जाते हैं। इनकी रचना भूगर्भ-वर्ती शक्तियों की हलचल तथा समतल-स्थापक बहिर्जात शक्तियों के कारण होती है। वास्तव में ये तरंग-रचित महावेदी (wave-cut platform), नदी-निक्षेप-निर्मित मैदान तथा भूगर्भवर्ती शक्तियों से उत्थापित महाद्वीपीय निमग्न तट होते हैं। इस प्रकार तटीय मैदान काट-छाँट, निक्षेप तथा भूगर्भिक हलचल द्वारा बनते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं :

(1) नवीन उत्थापित तटीय मैदान, (2) पट्टीदार तटीय मैदान।

(1) नवीन उत्थापित तटीय मैदान—भूगर्भ की शक्तियों की उथल-पुथल के फलस्वरूप जब महाद्वीपीय निमग्न तट समुद्र-जल से बाहर निकल कर महाद्वीप का अंग बन जाता है तो यह नवीन उत्थापित तटीय मैदान कहलाता है। संयुक्त राज्य अमरीका का दक्षिणी-पूरबी तटीय मैदान इसी प्रकार का है। ये मैदान बालू के दल-

दल होते हैं और इनका ढाल समुद्र की ओर होता है। इनमें जल-प्रवाह अविकसित होता है। उच्च ज्वार के समय इनमें जल भर आता है। धीरे-धीरे ये ऊँचे उठ जाते हैं। यदि प्राचीन थल भाग असमतल होता है तो तटरेखा भी कटीपिटी होती है। जो टापू पहले समुद्र में थे वे इस मैदान में पहाड़ी बन जाते हैं। इन्हें मेंडिप (mendip) कहते हैं। ब्रिस्टल (इंगलैण्ड) के पास ऐसी पहाड़ी है।

(2) **पट्टीदार तटीय मैदान**—ये मैदान नदी-निक्षेप से निर्मित होते हैं। तटीय भागों की मुलायम शैलें मौसम-क्रिया तथा अपरदन से कट-पिट जाती हैं और कठोर शैलें कगारों के रूप में खड़ी रह जाती हैं। इनमें जल-प्रवाह पूर्ण रूप से विकसित होता है। अनेक तटीय मैदानों में समुद्री निक्षेप भी मिलता है। दक्षिणी भारत का दक्षिण-पश्चिमी तट, अमरीका का खाड़ीतट और बेल्जियम के तटीय मैदान इस प्रकार के हैं।

धरातलीय रूप के अनुसार ट्रेवार्था ने मैदानों को चार भागों में विभक्त किया है :

(क) **सपाट मैदान** (Flat Plain)—जिसमें उच्चतम तथा निम्नतम स्थानों का अन्तर 15 मीटर से अधिक नहीं होता है, जैसे यूक्रेन (सोवियत रूस) का मैदान।

(ख) **तरंगित मैदान** (Undulating Plain)—जिसमें समान उतार-चढ़ाव होता है किन्तु उच्चतम एवं न्यूनतम स्थानों का अन्तर 15 मीटर से 45 मीटर तक होता है।

(ग) **उर्मिल मैदान** (Rolling Plain)—जिसमें उच्चतम तथा निम्नतम स्थानों का अन्तर 45 मीटर से 90 मीटर तक होता है। तेलंगाना पठार (आन्ध्र प्रदेश) का दक्षिणी भाग इसी प्रकार है।

(घ) **विच्छेदित मैदान** (Dissected Plain)—जिसमें उच्चतम तथा निम्नतम स्थानों का अन्तर 90 मीटर से 150 मीटर रहता है। यह कटापिटा मैदान होता है। दक्षिणी साइबेरिया का मैदान इसका उदाहरण है।

मैदानों का मानवीय महत्त्व

मैदान स्थल के समतल रूप हैं। इनमें कृषि की पूर्ण सुविधा रहती है। इनमें आवागमन की पर्याप्त सुविधा होती है। नदियों से निकाली गयी नहरें भी यातायात के काम आती हैं। यहाँ अनेक उद्योग-धन्धे चलते हैं जिनका आधार कृषि-उपज होता है। संसार की समस्त प्राचीन सभ्यताओं का विकास मैदान में हुआ है। आर्य-सभ्यता का केन्द्र सिंधु-गंगा का मैदान था।

मध्य अक्षांशों में स्थित मैदान जलवायु की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक हैं। भूमध्यरेखा तथा ध्रुवों के समीप के मैदान क्रमशः उष्णता एवं शीतलता से असुविधा पैदा कर देते हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से मैदान अनुपयुक्त होते हैं।

प्रश्न

1. Describe the formation of plains and give the types formed under various conditions. Give their uses also.
(*Meerut 1971*; *Jabalpur 1971*; *Bihar 1968*)
मैदान की रचना का वर्णन कीजिए और विभिन्न परिस्थितियों में निर्मित वर्गों का उल्लेख करते हुए उनके उपयोग बताइए।

2. Classify plains according to their mode of origin and discuss the characteristics of each type. Give examples.
(*Agra 1971*; *Gorakhpur 1969*; *Ranchi 1968*)
उत्पत्ति के आधार पर मैदानों का वर्गीकरण कीजिए तथा प्रत्येक की विशेषताओं की व्याख्या उदाहरण सहित कीजिए।

23
झीलों की उत्पत्ति
[ORIGIN OF LAKES]

भूपटल के आन्तरिक जलाशय जो विभिन्न आकार-विस्तार एवं गहराई की चट्टानी तलहटियों में बन जाते हैं, झील कहलाते हैं। इन झीलों का अस्तित्व निम्न दशाओं पर आधारित होता है :

(1) जलराशि के लिए चट्टानी गड्ढा,
(2) जल की पर्याप्त प्राप्ति,
(3) धरातल पर ही संतृप्त तल की स्थिति।

यदि किसी क्षेत्र का संतृप्त तल धरातल पर नहीं होता है, तो झीलों का जल भाप बनकर या जमीन में सूखकर नष्ट हो जाता है। इसी कारण शुष्क प्रदेशों में झीलें शीघ्र सूख जाती हैं। झीलों की चट्टानी तलहटी में जल अन्दर नहीं समाता और वर्षा, नदियों तथा हिमनदियों के द्वारा पर्याप्त जल प्राप्त होने पर झीलों से नदियों का निकास हो जाता है। इस प्रकार की झीलों का जल मीठा तथा ताजा होता है जैसे मानसरोवर। इसके विपरीत जिन झीलों के जल का निकास नहीं होता उनका जल खारा हो जाता है क्योंकि उनमें नमक का एकत्रीकरण हो जाता है जैसे राजस्थान की **साँभर झील**। झीलों की गहराई या उथलापन भी जल की प्राप्ति या तलहटी की बनावट पर निर्भर करता है।

झीलों का निर्माण

भूपटल पर स्थित झीलों की उत्पत्ति की तीन अवस्थाएँ होती हैं—अन्तर्जात हलचल, निक्षेप कार्य तथा अपरदन कार्य। किन्तु झीलों के वर्गीकरण के विभिन्न आधार अपनाये गये हैं।

चित्र 259—झील

अमरीकी भूगर्भशास्त्री **डेविस** के अनुसार नवीन झीलें भूमि के उत्क्षेप, नदी घाटी के सामान्य विकास तथा आकस्मिक घटनाओं के फलस्वरूप बन जाती हैं।
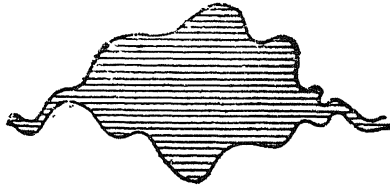
कुछ विद्वानों ने निर्माणकारी साधनों के आधार पर झीलों को छः वर्गों में विभक्त किया है—भूगर्भिक हलचल से निर्मित झीलें; ज्वालामुखी के विस्फोट से विरचित झीलें; नदी-क्रिया, तरंग-क्रिया, वायु-क्रिया तथा हिमनदी-क्रिया द्वारा निर्मित झीलें।

एक अन्य वर्गीकरण का आधार झीलों की स्थिति होती है। इस प्रकार के मुख्य तीन वर्ग ज्वालामुखी झीलें, मैदानी व पठारी झीलें और घाटी झीलें हैं।

उपर्युक्त सभी वर्गीकरण सीमित हैं किन्तु ब्रिटिश दार्शनिक एवं भौतिकशास्त्री हाब्स ने एक विस्तृत तथा व्यापक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जिसका आधार झीलों की रचना और विशेषता है। यहाँ पर झीलों की उत्पत्ति के तीन प्रधान कारणों के आधार पर तीन वर्गों में सभी प्रकार की झीलों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

निक्षेप द्वारा निर्मित झीलें

(1) नदी-निक्षेप द्वारा

(1) जलोढ़ पंखा झीलें या कछारी व्यंजन (Alluvial-fan lakes)—जब नदियाँ पर्वतीय प्रदेश छोड़कर मैदानों में प्रवेश करती हैं तो इनकी गति अपेक्षाकृत धीमी पड़ जाती है और साथ में आयी सामग्री जलोढ़ पंख के रूप में जमा हो जाती है। कभी-कभी इस निक्षेप से नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। कैलिफोर्निया की **ओवेन्स झील** इसी प्रकार निर्मित है।

(2) घाटी झीलें (Raft lakes)—वन-प्रदेश में नदी की घाटी के आरपार पेड़ों के गिर जाने पर उनके सहारे रोड़े, मिट्टी तथा बालू रुकते जाते हैं और कालान्तर में यह एक बाँध का रूप ग्रहण कर लेता है और झीलें बन जाती हैं। ये अस्थायी होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की लाल नदी और अफ्रीका की श्वेत नदी की घाटी में ऐसी झीलें मिलती हैं। सन् 1950 में ब्रह्मपुत्र की असम घाटी में एक झील बाढ़ के समय बन गयी।
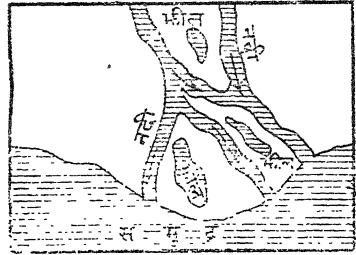
चित्र 260—डेल्टा झील

(3) डेल्टा झीलें—कभी-कभी दो नदियों के डेल्टा के मध्य में नीचा उथला भाग पड़ जाता है। इसमें पानी भर जाने पर झीलें अस्तित्व में आ जाती हैं। नाइजर नदी की मेरीगोट (Marigot), मिसीसीपी नदी की बेवोन (Bavoun), नील नदी की मायेह (Mayeh), गंगा नदी की बील (Beels) और कृष्णा-गोदावरी नदियों की कोलेयर झीलें इसी श्रेणी में आती हैं।

जब नदियों का डेल्टा समुद्र में आगे निकल जाता है तो वायु, ज्वारभाटा, या लहरों के प्रभाव से बालू के टीले बन जाते हैं और उनके मुड़ जाने पर झीलें बन जाती हैं जिन्हें अनूप या लैगून (lagoon) कहते हैं। नील नदी के डेल्टा में मेजाला झील इसी प्रकार बनी है। भारत की पुलिकट और चिल्का झील भी अनूप हैं। दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट तथा फ्रांस की बिस्के खाड़ी के तट पर ऐसी अनेक झीलें मिलती हैं। डेल्टा-पार्श्ववर्ती झील का चित्र नीचे दिया गया है।
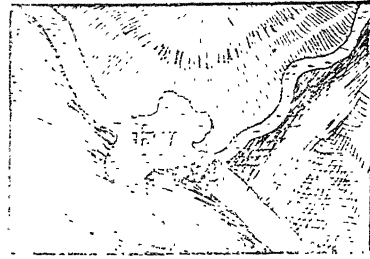
चित्र 261—सागर-निक्षेपण द्वारा निर्मित झील

(4) **नदी-संगम झीलें**—जब सहायक नदी का डेल्टा मुख्य नदी में अधिक फैलकर मुख्य नदी के प्रवाह में अवरोध उपस्थित कर देता है तो अवसाद की कगार के पीछे पानी एकत्र होकर झील बन जाती है। मिनिसोटा (सं० रा० अमरीका) की वारेन नदी की **ट्रावर्स** एवं **विगस्टोन** झीलें और मिसीसीपी की सहायक नदी चिपेवा के संगम की **पेपिन** झील तथा कश्मीर की **पैंगकांग** झील इसी प्रकार बनी है।
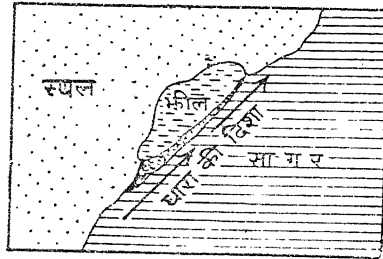
चित्र 262—डेल्टा-पार्श्ववर्ती झील

(5) **बाढ़ प्रदेश की झीलें** (Flood plain lakes)—बाढ़ के मैदानों में निक्षेप के फलस्वरूप तश्तरी स्वरूप उथले भाग बन जाते हैं। बाढ़ के समय पानी भर जाने पर ये झील का रूप धारण कर लेते हैं। आस्ट्रेलिया की मरे नदी की **बिलिबांग** (Bilibong) झील इसी प्रकार बनी है।

(2) हिमनदी-निक्षेप द्वारा

(1) **घाटी-हिमोढ़ झीलें** (Valley moraine lakes)—हिमनदियों द्वारा निक्षिप्त हिमोढ़ के कारण टेढ़े-मेढ़े गड्ढे बन जाते हैं जिनमें हिमनदी के पिघलने पर पानी भर जाता है। आल्प्स की **कोमो**, **गार्डा** झीलें इसी श्रेणी की हैं।
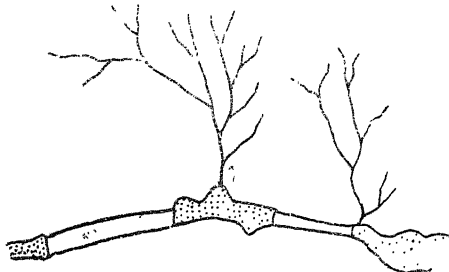
चित्र 263—घाटी हिमोढ़ झील

(2) **हिमजल-गर्त झीलें**—हिमनदियों के सीमान्त से निःसृत जलधारा द्वारा बालू बजरी के

अपक्षेप मैदान (outwash plain) बन जाते हैं। इन मैदानों में निर्मित गड्ढों को गर्तझील (pit lakes) कहते हैं। उत्तरी अमरीका की **पैचन** झील इस प्रकार की झील का एक अच्छा उदाहरण है।

(3) **हिम-बाँध झीलें**—जब मन्द गति की हिमनदी किसी नदी के मार्ग में पहुँच जाती है तो नदी का बहाव अवरुद्ध हो जाता है और एक झील बन जाती है। स्विट्ज़रलैण्ड में **मार्जेलेन सागर** नामक झील इसी प्रकार बनी है।
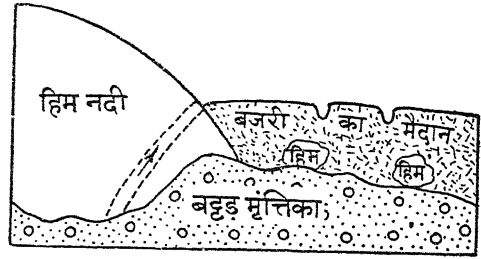
चित्र 264—हिमजल-गर्त झील

(3) ज्वालामुखी-निक्षेप द्वारा

(1) **लावा झीलें**—ज्वालामुखी उद्-भेदन से प्रवाहित लावा द्वारा नदी का प्रवाह रुक जाता है और झील बन जाती है। अबीसीनिया पठार की **टाना** झील तथा मध्य अमरीका की **निकारागुआ** झील इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।
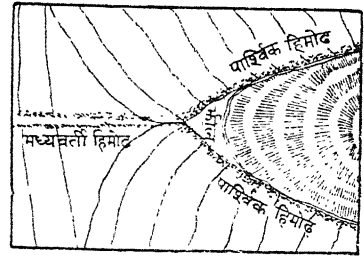
(2) **लावा प्रदेश की झीलें**—ज्वाला-मुखी द्वारा प्रवाहित लावा के विषम निक्षेप से भी यत्र-तत्र गड्ढे बन जाते हैं और जल भर जाने पर झीलें बन जाती हैं। दक्षिणी भारत के लावा प्रदेश में ऐसी झीलें मिलती हैं।

चित्र 265—हिमोढ़-निर्मित झीलें

(3) **दरार झीलें**—शांत ज्वाला-मुखी के मुख (crater) में जल भर जाने पर झीलें निर्मित हो जाती हैं। इनकी आकृति वृत्ताकार तथा गहराई पर्याप्त होती है। दक्षिणी भारत की बुलडाना जिले की **लोनार** झील, फ्रांस की **पेबिल** झील (आबर्न पठार), इटली की **एलबेडो** तथा **नेमी** झीलें, मेक्सिको की **ग्रस्टाविला** झील तथा संयुक्त राज्य अमरीका के **ओरेगन** की दरार झीलें मुख्य हैं।
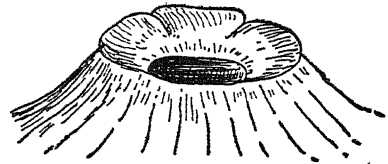
चित्र 266—ज्वालामुखी झील

अपरदन की झीलें

(1) नदी निर्मित झीलें

(1) **नदी निर्मित झीलें**—नदियाँ अपने प्रवाह-क्षेत्र की घुलनशील शैलों को

बहा ले जाती हैं। कालान्तर में वहाँ गड्ढा बन जाता है जो झील का रूप ग्रहण कर लेता है। इसमें नदी एक ओर से जल लाती है और दूसरी ओर से बहा ले जाती है। उत्तरी आयरलैण्ड की **लोनी** तथा **डर्ग** झीलें इसी प्रकार की हैं।

(2) **छाड़न झीलें**—मैदान में नदियाँ सर्पिल मार्ग से बहती हैं। जब कभी नदी सीधा मार्ग बना लेती है तो मोड़ का मार्ग झील का रूप धारण कर लेता है। यह झील अर्द्ध-चन्द्राकार होती है। यह लम्बी तथा सँकरी होती है। इसकी गहराई उत्तल किनारे के पास होती है। मिसीसीपी के डेल्टा के भाग में ऐसी अनेक झीलें हैं। भारत में बलिया (उ० प्र०) में **सनियर झील** इसी प्रकार बनी है।

(2) **हिमानी निर्मित झीलें**

(1) **पाषाण-पात्र झीलें** (Rock-basin lakes)—हिमनदियाँ **घर्षण द्वारा** अपनी तलहटी को काट-छाँटकर गड्ढा बना देती हैं। हिमनदी का पानी भर जाने पर ये गड्ढे झीलें बन जाते हैं। इस प्रकार की झीलें कनाडा तथा फिनलैण्ड में पायी जाती हैं। इनकी रूपरेखा तथा आकृति हिमोढ़ झीलों से मिलती जुलती है। ये गोलाकार, किन्तु कई शाखाओं से युक्त होती हैं। कभी-कभी अपरदन एवं निक्षेप कार्यों के साथ-साथ सम्पन्न होने पर इनकी बनावट डोरे में पिरोये मोती की तरह प्रतीत होती है। इसका उदाहरण यूरोप की **पेटरनोस्टर** झील है।

चित्र 267—पाषाण-पात्र झील

(2) **कोरी झीलें**—हिमनदियों द्वारा नरम शैलों को खरोंच देने से गड्ढे बन जाते हैं जो पानी भरने पर झील का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन्हें गिरि झील (tarn) कहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में कोलोरेडो राज्य की **बास झील** (Boss lake) तथा भारत की **नैनीताल झील** इसी प्रकार बनी है।

(3) **काक झीलें**—कभी-कभी महाद्वीपीय हिमनदी के पथ में विशाल शिलाखण्डों के आ जाने पर सतह पर हिम की गति धीमी हो जाती है किन्तु नीचे की परतों में अपेक्षाकृत अधिक गति रहती है। फलतः पेटी में गड्ढे बन जाते हैं। हालैण्ड में ये **काक** (cock) झीलें कहलाती हैं।

(4) **चमकीली झीलें** (Glint lakes)—जब हिमनदियाँ किसी सँकरे मार्ग से बहती हैं तो उनकी गति अपेक्षाकृत तीव्र रहती है और सँकरा निकास शनैः शनैः गहरा तथा चिकना हो जाता है। इस प्रकार चमक पैदा हो जाती है। पानी भर जाने पर इनमें झीलें बन जाती हैं। स्वीडन की **टोर्नेट्रास्क झील** (Tornetrask lake) ऐसे ही बनी है।

(5) **भूमिगत जलगर्त झीलें**—चूने के प्रदेशों में जलप्रवाह से कन्दराएँ बन जाती हैं। इन कन्दराओं के धँसने तथा इनमें जल भर जाने पर झीलों का निर्माण होता है। ये छोटे आकार की होती हैं। असम की खासी या जैन्तिया पहाड़ियों पर इस प्रकार की कई झीलें हैं।

कार्स्ट प्रदेशों में जब कभी बाढ़ आती है तो पोलीज में जल भर जाता है और मौसमी कार्स्ट झीलें बन जाती हैं। यूगोस्लाविया की **जिकोर्नज** झील इसका अच्छा उदाहरण है।
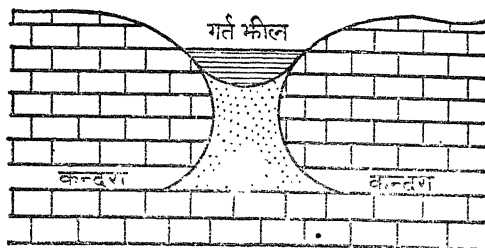
चित्र 268—भूमिगत जलगर्त झील

(6) **मरुस्थली झीलें**—शुष्क प्रदेशों में जल के एकत्र हो जाने पर उथली तथा अस्थायी झीलें बन जाती हैं। प्राय: ये दलदली होती हैं और इनके सूखने पर क्षारमय क्षेत्र (alkaline flats) बन जाते हैं। इनको **प्लाया** झीलें कहते हैं। अध्याय 17 में प्लाया झील प्रदर्शित है।
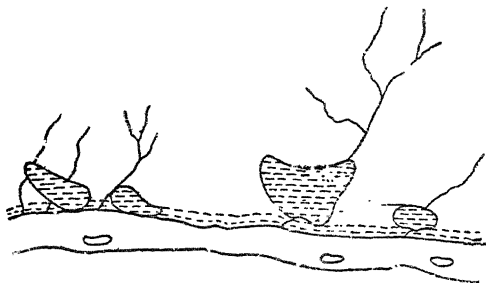
मरुस्थली प्रदेशों में खारे पानी की झीलें बन जाती हैं। ये प्लाया से अधिक स्थायी होती हैं।

चित्र 269—बालुका-स्तूप झीलें

अभिविवर्तनिक घटनाओं द्वारा निर्मित झीलें

पृथ्वी में सर्वदा हलचल रहती है। जब यह हलचल वृहद् रूप धारण कर लेती है तो धरातल का भाग कहीं ऊपर उठ जाता है और कहीं धँस जाता है, कहीं मोड़ पड़ जाते हैं तो कहीं भ्रंशन तथा चटकन आ जाती है। इस कारण झीलें बन जाती हैं।

(1) **नवीन उत्थापित झीलें**—भूगर्भ की हलचल से कभी-कभी समुद्र का कुछ भाग उठकर जल के बाहर निकल जाता है और झीलें बन जाती हैं। ये लम्बी, उथली, टेढ़ी-मेढ़ी और निम्न कगार की अस्थायी झीलें होती हैं। वनस्पति के उग आने पर ये दलदल बन जाती हैं। इस प्रकार की झीलें भारत में कारोमण्डल तट पर मिलती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के फ्लोरिडा के दक्षिणी भाग में भी इसी प्रकार की बहुत झीलें हैं।

(2) **पात्रक्रम झीलें**—तनाव के कारण भूपृष्ठ में भ्रंशन पैदा हो जाती है और सीढ़ियों का रूप उपस्थित हो जाता है। निचले भाग में जल भर जाता है। ये झीलें क्रम में मिलती हैं। उत्तरी अमरीका की ओरेगन प्रदेश की झीलें इसी प्रकार की हैं।
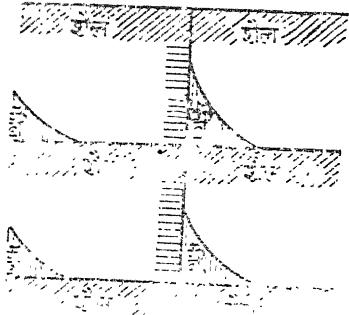
चित्र 270—पात्रक्रम झीलें
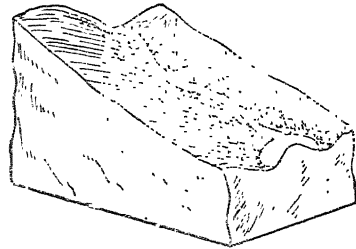
चित्र 271—भूकम्प-निर्मित झील

(3) **भूकम्प झीलें**—भूकम्प के प्रभाव से जलप्रवाह के मार्ग के उलट-पुलट जाने से झीलें बन जाती हैं। उत्तरी अमरीका की टेनेसी घाटी में रील फुट झील इसका प्रतीक है।

कभी-कभी भूकम्प के कारण भूमि के धँस जाने पर झीलें बन जाती हैं। भारत में कच्छ की खाड़ी सन् 1815 के भूकम्प से बनी। सन् 1934 के बिहार के भूकम्प से मुंगेर (बिहार) में एक झील बन गयी।

(4) **विभ्रंश घाटी झीलें**—भूगर्भ की आकस्मिक घटनाओं के फलस्वरूप कतिपय भूभाग में उठान एवं धँसान पैदा हो जाती है। इस प्रकार बनी हुई दरारों में पानी भर जाने पर लम्बी, सँकरी, गहरी तथा तीव्र ढालुवाँ किनारे की झीलें बन जाती हैं। अफ्रीका की टैंगानिक, साइबेरिया की बेकाल, पश्चिमी एशिया का मृत सागर तथा उत्तरी अमरीका की ग्रेट साल्ट लेक इसी प्रकार की झीलें हैं।

(5) **मोड़ झीलें**—धरातल पर कई दिशाओं में एक साथ मोड़ पड़ने पर भू-अभिनति का निर्माण होता है जिनमें पानी भरने पर झीलें बन जाती हैं। स्विटजरलैण्ड की **जीनेवा** झील इसी प्रकार बनी है।

झीलों में लवणता

विश्व की अधिकांश झीलें मीठे पानी की हैं। खारी पानी की झीलों की भी कमी नहीं है। संसार की सबसे बड़ी झील कैस्पियन सागर खारी पानी की है। अन्य खारी पानी की झीलें अरल सागर, मृतक सागर और यूटा (सं रा० अमरीका) की ग्रेट साल्ट लेक हैं। ग्रेट साल्ट लेक में समुद्र के जल से लगभग पाँच गुना नमक है। इसी कारण इसमें डुबकी लगाना कठिन होता है। खारी पानी की झीलों में नदियाँ गिरती हैं, किन्तु निकलती नहीं हैं, जिससे नदियों द्वारा लाया हुआ विभिन्न प्रकार

का नमक एकत्र होता जाता है और वाष्पीकरण की अधिकता से पानी उड़ता रहता है, किन्तु नमक का भण्डार जमा होता रहता है और पानी में लवणता की क्रमशः वृद्धि होती जाती है।

भारत की झीलें

हमारे देश में राजस्थान प्रदेश में खारी पानी की अधिक झीलें हैं—जयपुर में साँभर झील, जोधपुर में फलौड़ी एवं डिडवाना और बीकानेर में लुनकरन सर झीलें हैं। अनेक अन्य छोटी-छोटी झीलें भी हैं। इनके खारीपन के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं। **सर एस० टी० हालैण्ड** तथा **डॉ० क्रिस्टी** का मत है कि कच्छ की तरफ से आने वाली आँधियों से नमकीन धूलिकण या समुद्र के खारे पानी के कण उड़ आते हैं। राजस्थान के गर्म भाग में जलवाष्प के सूख जाने पर नमकीन धूल यत्र-तत्र गिर पड़ती है। वर्षा के जल से घुलकर नमक झीलों में बहकर एकत्र हो जाता है। इस प्रकार खारी झीलें बन जाती हैं।

भारतीय वैज्ञानिक **डॉ० गोडबोले** ने राजस्थान की झीलों के पानी का परीक्षण किया है। उनके विचार में इन झीलों में विभिन्न प्रकार के क्षार मिलते हैं; साँभर झील में सोडियम सल्फेट, सोडियम कार्बोनेट आदि क्षार मिलते हैं और पंचभद्रा में मैगनेशियम क्लोराइड और मैगनेशियम सल्फेट नामक क्षार मिलते हैं। ये क्षार साँभर झील में बिलकुल नहीं मिलते हैं। इस प्रकार **डॉ० क्रिस्टी** तथा **हालैण्ड** के मत असत्य ज्ञात होते हैं। **डॉ० गोडबोले** की राय में इन झीलों के खारीपन के अनेक कारण हैं। इनकी सम्मति में झील क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की नमक की शैलें हैं। जो नमक ऊपर आ जाता है उसी से झीलों का पानी खारा हो जाता है।

झीलों से लाभ

झीलें बहुत लाभदायक होती हैं। इनसे पीने, सिंचाई तथा कल-कारखानों के लिए जल प्राप्त होता है। इनका पानी जल-विद्युत शक्ति पैदा करने में प्रयोग होता है। जापान की बीवा झील जलविद्युत शक्ति के उत्पादन में सहायक हो रही है। झीलों से बाढ़ का नियन्त्रण होता है। फ्रांस की रोन नदी में जीनेवा झील तथा हिन्द चीन की मीकांग नदी में टानले झील के कारण बाढ़ें नहीं आती हैं।

झीलें यातायात के सुगम एवं सस्ते मार्ग हैं। उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलें इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमें सुस्वाद मछलियाँ मिलती हैं। नमकीन झीलों से नमक भी अधिक मात्रा में मिलता है।

झीलों के सुहावने दृश्य मनोरंजन एवं जीविका के साधन बन जाते हैं। झीलों के कारण स्विट्जरलैण्ड तथा कश्मीर कितने आकर्षक बन गये हैं।

झीलें जलवायु को प्रभावित करती हैं। वायुमण्डल की आर्द्रता बढ़ाने, वर्षा को प्रभावित करने तथा मौसम के शीघ्र परिवर्तन की रोकथाम करने में इनका विशेष हाथ रहता है।

झीलों का पानी पीने तथा सिंचाई के लिए उत्तम होता है। इंगलैण्ड में लेक डिस्ट्रिक्ट की झीलों से लंकाशायर के नगरों को जल प्राप्त होता है। ये मानव के निवास गृह हैं और इनके तैरते खेतों पर खेती होती है। कश्मीर में अधिकांश लोग डल झील की नौकाओं पर ही निवास करते हैं।

झीलों के निकट बड़े पोताश्रय, उद्योग-केन्द्र तथा व्यापारिक नगर बस जाते हैं। अमरीका के शिकागो, डुलुथ तथा बफेलो इसके उत्तम उदाहरण हैं।

झीलों का विलयन

नदियों द्वारा निक्षेप से झीलें पट जाती हैं। स्विट्जरलैण्ड में वेगवान चट्टानी नाले झीलों को भर देते हैं। जीनेवा झील भी रोन नदी की अवसाद से पट रही है। कभी-कभी झीलों के उथला हो जाने पर पानी का निकास अधिक हो जाता है और झीलें सूख जाती हैं। वाष्पीकरण तथा जलस्राव से भी मरुस्थली प्रदेश की झीलें सूख जाती हैं। आयरलैण्ड की कुछ झीलें इसी प्रकार पट गयी हैं और उनके तल की वनस्पति से पीट कोयला बन गया है। इस प्रकार झीलों का जीवन अस्थिर तथा अस्थायी होता है।

प्रश्न

1. Discuss the formation of various types of lakes giving examples preferably from India. (*Bhagalpur 1970*; *Udaipur 1969*)
   भारत से उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विभिन्न प्रकार की झीलों की रचना की व्याख्या कीजिए।
2. What are the chief causes for the formation of lake basins? Classify different kinds of lakes and give their economic uses. (*Rajasthan 1969*; *Vikram 1971*)
   झीलों की रचना के प्रधान कारण क्या हैं? झीलों का वर्गीकरण कीजिए और उनकी आर्थिक उपयोगिता लिखिए।
3. What are different types of lakes? Discuss them with examples. (*Mysore 1971*; *Nagpur 1968*, *Gorakhpur 1966*)
   झीलों के कौन-कौन से विभिन्न प्रकार हैं? उनका उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।

24

समुद्र-तट एवं तट-रेखाएँ

[SEA-COAST AND SHORE-LINES]

समुद्र एवं स्थल की सम्पर्क रेखा को **तट-रेखा** (shore-line) की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह स्थल का उपान्त होता है। तट-रेखा के समीपस्थ स्थली भाग का सीमान्त क्षेत्र **समुद्र-तट** (sea-coast) कहलाता है। समुद्र-तट की बनावट पर ही तट-रेखा का प्राथमिक रूप निर्भर करता है। तट-रेखा का बड़ा व्यापारिक महत्त्व होता है क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों एवं विदेशों की वस्तुओं का विनिमय होता है।

तट-रेखा का प्रादुर्भाव स्थल भागों के निमज्जन (submergence) तथा उन्मज्जन (emergence) पर निर्भर करता है। किन्तु समुद्री तरंगें, तटीय धाराएँ, तट की संरचना एवं ढाल, समतल व्यापक बाह्य शक्तियों जैसे वायु, नदी तथा हिम के निक्षेप द्वारा भी तट-रेखा का स्वरूप प्रभावित होता है। उपर्युक्त साधनों में भी जल-थल की गति तथा समुद्री तरंगों का विशिष्ट हाथ तट-रेखा के रूप-विन्यास में प्रकट होता है।

जानसन के अनुसार तट-रेखाओं का वर्गीकरण

वैज्ञानिक डेविस ने तट-रेखाओं पर विचार किया और अमरीकी भूगोलविद् **जानसन** महोदय ने उत्पत्ति के आधार पर इनका वर्गीकरण किया। बनावट के कारणों के आधार पर तट-रेखाओं के निम्न वर्ग हैं :

(1) उन्मग्न या निर्गमन तट-रेखा (Shore-lines of Emergence),

(2) निमग्न या निमज्जन तट-रेखा (Shore-lines of Submergence),

(3) तटस्थ या नकारात्मक तट-रेखा (Neutral Shore-lines),

(4) संश्लिष्ट तट-रेखा (Compound Shore-lines)।

(1) **निर्गमन तट-रेखा**—भूगर्भिक शक्तियों की हलचल के कारण स्थल तट पर उत्थापन पैदा होती है। साथ ही, समुद्री अतिक्रमण-काल में तथा उसके समाप्त होने पर समुद्र-तल के स्तर में अन्तर पैदा हो जाता है। इन घटनाओं का गहरा प्रभाव तट-रेखा पर पड़ता है। उन्मज्जन के फलस्वरूप एक नवीन समतल पट्टी बन जाती है

और तट-रेखा एक नवनिर्मित मैदान के आगे बढ़ जाती है। यह समुद्र एवं स्थल की मिलन-रेखा उन्मज्जित तट-रेखा (emerged coast-line) कहलाती है।

स्थल की ओर एक समतल मैदान प्रसारित होता है जिसमें सोतों की उथली घाटियाँ मिलती हैं। यह तट-रेखा काफी सीधी होती है। इसका ढाल क्रमिक एवं रूपरेखा व्यवस्थित होती है। इसमें खाड़ियों का अभाव रहता है, फलतः अच्छे पोताश्रय नहीं मिलते हैं। उत्तरी अमरीका का अन्य महासागरीय तट इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। फिनलैण्ड एवं नार्वे के समुद्र-तट पर यत्र-तत्र इस प्रकार की तट-रेखा मिलती है। दक्षिणी भारत का पूरबी तट (नेलूरू, तमिलनाडु, मदुरा, तिनेलवेली के पास) तथा कठियावाड़ का समुद्र-तट इसी प्रकार का है।

इस तट-रेखा की बाद की रूप-रेखा समुद्री तरंगों, समुद्री धाराओं तथा अन्य प्रकार के निक्षेप से बदलती रहती है। इस प्रदेश में अपरदन सबसे तीव्र होता है और निक्षेप क्रिया का भी प्राबल्य रहता है। फलतः अवरोधक पुलिन तथा अनूप बन जाते हैं जो तरंगों के प्रहार से स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं। अवरोधक पुलिन स्थल की ओर खिसक जाते हैं और अनूप दलदल में बदल जाते हैं।

चित्र 272—उत्तरी कैरोलिना (सं० रा० अमरीका) तट के अवरोधक पुलिन तथा दलदल

उन्मज्जित पर्वतीय तट-रेखा साधारण एवं सम होती हैं। उत्तरी अमरीका के ओरेगन राज्य से दक्षिणी अमरीका के चिली राज्य की 40° दक्षिणी अक्षांश रेखा अपनी समता के लिए प्रसिद्ध है। इस लम्बी दूरी में इने-गिने स्थान पर ही अच्छे पोताश्रयों के लिए तट-रेखा उपयुक्त है। दक्षिणी भारत में कावेरीपुरम के निकट की तट-रेखा भी उन्मज्जन से निर्मित है।

(2) **निमज्जन तट-रेखा**—स्थल भाग के शनैः-शनैः अवतलन से टेढ़ी, अव्यवस्थित तथा तीव्र ढाल की तट-रेखाएँ बनती हैं। समुद्र-तट की निम्न घाटियाँ, खाड़ी

तथा नदमुख (estuary) बन जाती हैं और उच्च प्रदेश अन्तरीप या टापू का रूप ग्रहण कर लेता है। इस तट-रेखा पर तरंगों का प्रभाव बड़ा परिवर्तनकारी होता है और वलय रन्ध्र, गुफाएँ, तरंग-घर्षित तथा तरंग-निर्मित वेदिकाएँ (terraces), भूजिह्वांकुश, टिव्बा आदि बन जाते हैं।

साधारणतः इस तट-रेखा पर कटानों एवं द्वीपों की भरमार रहती है। कटी-फटी होने से यह तट-रेखा व्यापारिक दृष्टि से लाभदायक होती है। नार्वे, लैब्रेडोर, दक्षिणी चिली तथा ब्रिटिश कोलम्बिया इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। संयुक्त राज्य अमरीका का पूरबी तट तथा पश्चिमी वाशिंगटन और इंगलैण्ड के कार्नवाल क्षेत्र में भी इस तट-रेखा के चिन्ह मिलते हैं। दक्षिणी भारत का पश्चिमी तट भी इसी प्रकार का है।

इस तट-रेखा को धरातलाकृति के अनुसार कई वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। जो क्षेत्र सरिताओं द्वारा घाटी प्रणालियों तथा विभाजकों में विच्छेदित रहता है वहाँ **रीया तट-रेखा** की रचना होती है। यह तट-रेखा अत्यन्त अव्यवस्थित एवं लघु खाड़ियों (embays) से पूर्ण होती है। रीया तट पर पर्वत श्रेणियाँ तथा नदी घाटियाँ समानान्तर होती हैं। वास्तव में रीया कीप के आधार की चौड़ी खाड़ी है जो स्थल की ओर सँकरी होती जाती है। इन खाड़ियों के शीर्ष पर नदियाँ गिरती हैं। वास्तव में धँसने के पूर्व नदी की घाटी सम्पूर्ण खाड़ी में स्थित थी। खाड़ी के दोनों ओर पर्वत श्रेणियाँ फैली रहती हैं और इन श्रेणियों के धँसे भाग के शिखर द्वीपों में परिणत हो गये होते हैं।

जिन समुद्रतटीय भागों में हिमनदी के द्वारा अपरदन हुआ रहता है वहाँ तट के लम्बरूप में स्थित घाटियाँ गहरी व लम्बी खाड़ियों में निमज्जन के फलस्वरूप परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार **फिओर्ड तट-रेखा** की रचना हो जाती है। खाड़ियों के पार्श्व में खड़ा ढाल, रुंडित चट्टानी संरचना, हिमनद रेखांकन (striation) तथा निलंबी घाटियाँ मिलती हैं। इन खाड़ियों के मुहाने पर अन्तिम हिमोढ़ का निक्षेप मिलता है।

डालमेशियन तट-रेखा भी इसी कोटि में आती है। इसका विवरण इसी अध्याय में अन्यत्र दिया गया है।

(3) **तटस्थ तट-रेखा**—कुछ तट-रेखाएँ न उन्मज्जन क्रिया से बनती हैं और न निमज्जन क्रिया से। इस प्रकार की तट-रेखा की रचना नदियों के डेल्टा ज्वालामुखी के उद्गार तथा प्रवाल कीड़ों द्वारा होती है। इस प्रकार की तट-रेखा प्रशान्त महासागर के टापुओं तथा आस्ट्रेलिया के पूरबी भाग में मिलती है। महानदी तथा गोदावरी के डेल्टा प्रदेश की तट-रेखाएँ इसी कोटि में हैं। इस तट-रेखा में डेल्टा तट-रेखा, जलोढ़ मैदान की तट-रेखा, ज्वालामुखी तट-रेखा, प्रवाल तट-रेखा, जलोढ़ पंख तथा भ्रंश तट-रेखाएँ सम्मिलित हैं।

(4) **संश्लिष्ट तट-रेखा**—इन तट-रेखाओं पर उन्मज्जन एवं निमज्जन दोनों

क्रियाओं का प्रभाव रहता है और दोनों की विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में कैरोलिना-न्यूजर्सी तट-रेखा पर ये विशेषताएँ मिलती हैं। उन्मज्जन काल में इन तट-रेखाओं पर अपतट रोधिका (off-shore bars) तथा विस्तृत अनूपों की रचना हो गयी और निमज्जन होने पर नदियों के मुहानों पर नदमुख बन गये। सं० रा० अमरीका के पूरबी तट के चेस्पीक खाड़ी की तट-रेखा निमज्जित है।

जानसन द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण में अनेक दोष पाये जाते हैं। अत्यन्त नूतन हिमयुग में हुए समुद्र-तल के परिवर्तनों से स्पष्ट है कि अनेक तट हिमाच्छादन की अवस्था में ऊपर उठ गये और हिम के द्रवित होने पर नीचे धँस गये। इस प्रकार असमान तट-रेखाओं का निर्माण हो जाता है।

ब्रिटिश भूगोलवेत्ता **एफ० पी० शेपर्ड** ने एक दूसरा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है जो तट की विशेष स्थलाकृतियों की उत्पत्ति-विधि पर आधारित है। ये तटीय स्थलाकृतियाँ उन्मज्जन एवं निमज्जन की क्रियाओं से मुक्त हैं। किन्तु **शेपर्ड** के वर्गीकरण का स्वागत नहीं है।

सुइस के अनुसार तट-रेखाओं का वर्गीकरण

सुइस महोदय ने तट के पृष्ठ-प्रदेश की संरचना के आधार पर तट-रेखाओं का निम्नलिखित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है :

(1) प्रशान्त प्रकार तट-रेखा (Pacific-type shore-lines),

(2) ऐटलांटिक प्रकार तट-रेखा (Atlantic-type shore-lines)।

(1) प्रशान्त प्रकार तट-रेखा—इस प्रकार की तट-रेखाएँ वलित पर्वतों के समान्तर समुद्री-तटों पर उपलब्ध होती हैं। चूँकि इस प्रकार के तटों का अधिक विस्तार राकी पर्वत-शृंखला तथा जापान एवं अन्य द्वीपों पर है, अतः इन्हें प्रशान्त प्रकार तट-रेखा कहते हैं। दक्षिणी स्पेन, उत्तरी अफ्रीका, इटली तथा युगोस्लाविया के तट भी इसी प्रकार के हैं जिनके किनारे क्रमशः कैण्टेब्रियन, ऐटलस, एपीनाइन तथा दिनारिक आल्प्स स्थित हैं। प्रसिद्ध अमरीकी भूविज्ञानी डॉ० बुशर ने ऐसी तट-रेखाओं को सुसंगत तट-रेखा (concor-

चित्र 273—प्रशान्त प्रकार तट-रेखा (युगोस्लाविया)
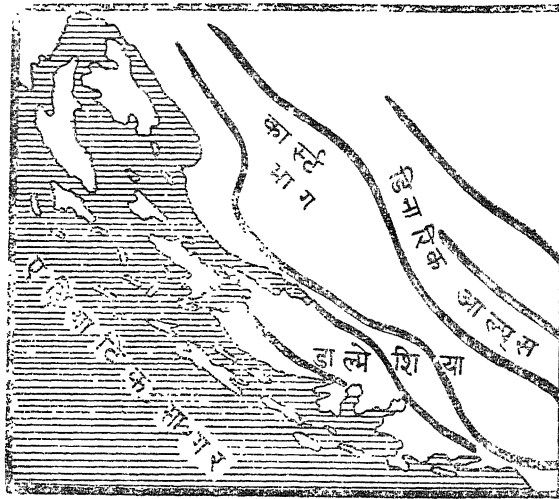
dant coast-line) तथा वान रिश्टाफन ने अनुदैर्घ्य तट-रेखा (longitudinal coast-line) नामकरण किया है।

प्रशान्त तट प्रायः सपाट तथा चौरस होते हैं। तट के समान्तर द्वीप एवं श्रेणियाँ रहती हैं और इनके पीछे छिछले लम्बाकार समुद्र स्थित हैं। निमग्न तटों के ऊपर तट-रेखाएँ असमान हो जाती हैं। निमग्न श्रेणियों के शिखर द्वीपों के समान दिखाई पड़ते हैं। डालमेशियन तट इसी प्रकार का है।

(2) **ऐटलांटिक प्रकार तट-रेखा**—इस तट के पृष्ठ-प्रदेश में पठार, मैदान और अविशिष्ट पर्वत प्राप्त होते हैं। तट पर पर्वत श्रेणियाँ लम्बवत् होती हैं। अतः कहीं कठोर और कहीं कोमल शैलें मिलती हैं। इस कारण ऐसे तटों पर घाटियाँ तथा कगारें मिलती हैं। इस प्रकार के तट को रीया तट (ria coast) कहते हैं। फिओर्ड भी इसी प्रकार का तट है। आन्ध्र तथा हिन्द महासागर के सभी तट इसी प्रकार के हैं। **डॉ० बुशर ने** इन तटों को विसंगत तट-रेखा (discordant coast-line) और **वान रिश्टाफन** ने अनुप्रस्थ तट-रेखा (transverse coast-line) कह कर पुकारा है। यह तट-रेखा बहुत कटी-फटी होती है।
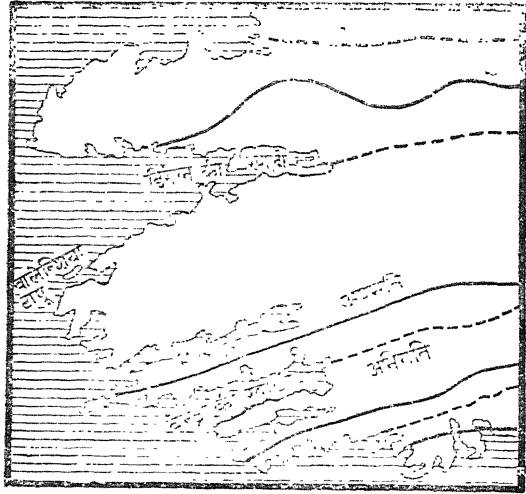
चित्र 274—ऐटलांटिक प्रकार तट-रेखा (आयरलैण्ड के दक्षिण-पश्चिमी भाग)

उन्मज्जित तट-रेखाओं का विकास-चक्र

उन्मज्जित तट-रेखाओं के विकास का एक निश्चित क्रम होता है और विभिन्न अवस्थाओं में उनकी अपनी विशिष्टताएँ होती हैं। इन तट-रेखाओं का विकास निम्न चार अवस्थाओं में होता है :

(1) प्रारम्भिक अवस्था (Initial Stage),

(2) युवावस्था (Youth Stage),

(3) प्रौढ़ावस्था (Mature Stage),

(4) वृद्धावस्था (Old Stage)।

(1) **प्रारम्भिक अवस्था**—उन्मग्न तट-रेखाएँ प्रारम्भिक अवस्था में लगभग सपाट होती हैं। क्योंकि इनकी रचना महासागरीय निमग्न तट के उत्थापन के

फलस्वरूप होती है। इनमें खाड़ियों का अभाव होता है। इनके किनारे पर निमग्न टिब्बा मिलते हैं। इन टिब्बों के समुद्र-तल से ऊपर निकल आने पर तट-रेखा की अवस्था बदल जाती है और वे युवावस्था में प्रवेश कर जाती हैं। प्राय: नदियाँ निलंबी घाटी का निर्माण करती हैं। तरंगों द्वारा तट पर छोटी भृग तथा तट से दूर अन्त: समुद्री रोधिका (submarine bar) की रचना होती है।

(2) **युवावस्था**—इस अवस्था से तट-रेखाओं के निकट रोधिकाएँ बन जाती हैं और तटों पर अनूप दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ये अनुतटीय रोधिकाएँ शक्तिशाली तरंगों के थपेड़ों से टूट जाया करती हैं और अनूप तथा खुले समुद्रों के जल में ज्वारीय तरंगों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हो जाता है। ज्वारीय तरंगों के इस प्रवेश मार्ग को ज्वारीय निवेशिका (tidal inlets) कहते हैं। इस अवस्था के अन्तिम चरण में रोधिकाएँ स्थल की ओर खिसकने लगती हैं।
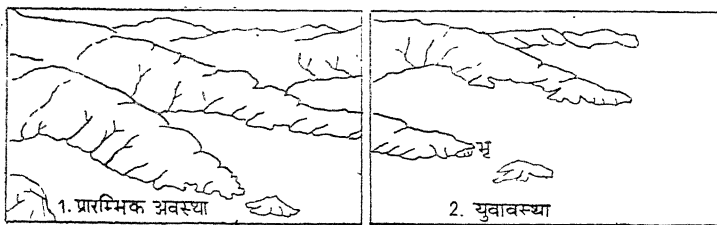
चित्र 275 (अ)
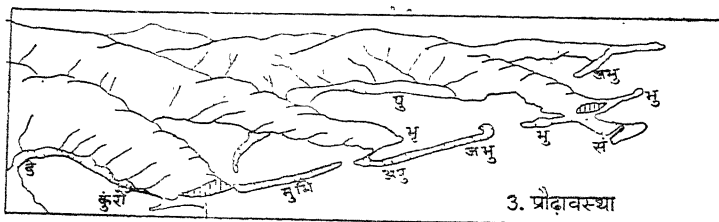
चित्र 275 (ब)

(3) **प्रौढ़ावस्था**—नदियों द्वारा प्रवाहित मिट्टी का निक्षेप अनूपों को पाटता रहता है और कालान्तर में ये झीलें दलदल बन जाती हैं। अनूप सँकरे हो जाते हैं। अनूपों को पाटने में समुद्री तरंगें भी सहायक होती हैं। ये भी बहुत-सा पदार्थ अनूपों

भृ=भृगु अन्तरीप	कुं रो=कुंडलित रोधिका
भु=भुजिह्वा	जभु=जटिल भुजिह्वा
ज सं=जटिल संयोजीभित्ति	सं=संयोजीभित्ति
डे=डेल्टा	कुं डे=कुंडलित डेल्टा
नि=निवेशिका	
मु भि=खाड़ी मुहाना भित्ती	अपु=अन्तरीपीय पुलिन

में उड़ेल देती हैं। तरंगों से कटकर रोधिकाएँ भी तट की ओर सरकती जाती हैं। इस समय तट-रेखा समतल हो जाती है और रोधिका का चिह्नमात्र भी नहीं रह जाता है। पुनः तटों पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है।

(4) **वृद्धावस्था**—समुद्री तरंगों के निक्षेप से अनूप समाप्त हो जाते हैं और रोधिकाएँ खिसककर तट-रेखा से जा मिलती हैं। अपरदन के समस्त निक्षेप समुद्र-तल में जमा होते हैं।
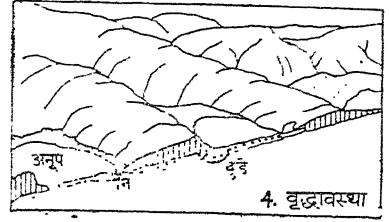
चित्र 275 (स)

निमज्जित तट-रेखाओं का विकास-चक्र

उन्मज्जित तट-रेखाओं की भाँति निमज्जन तट-रेखाओं की रचना का भी एक क्रम होता है। प्रारम्भिक अवस्था में ये तट-रेखाएँ कटी-फटी रहती हैं। तटों की धँसान के फलस्वरूप तटीय स्थल भागों पर समुद्र का अतिक्रमण हो जाता है जिससे निचले भाग जलमग्न हो जाते हैं और केवल ऊँचे भाग ही जल के ऊपर दृष्टिगोचर होते हैं। गहरी खाड़ियाँ, छोटे-छोटे द्वीप-अन्तरीप, तरंग-रदित वेदिकाएँ तथा लम्बे भृगु पाये जाते हैं। ऐसी तट-रेखाएँ सर्वश्रेष्ठ पोताश्रय होती हैं।

युवावस्था में तटों पर ऊँचे टिब्बे, गुफाएँ, महरावें, तटीय पुलिन, तरंग-रदित वेदिकाएँ, भूजिह्वांकुश आदि पाये जाते हैं। खाड़ियों में नदियों के डेल्टा का विस्तार होता रहता है और समुद्री भाग दलदल में परिवर्तित होने लगता है। इस अवस्था के प्रथय चरण में तट-रेखा उल्टी होती है जिसको सूक्ष्मदंती (crenulate) कहते हैं।

प्रौढ़ावस्था में नदियों के निक्षेप से खाड़ियाँ उथली हो जाती हैं और तटीय भूदृश्य दिखायी देता है। खाड़ी के मुख पर निर्मित पुलिनों का विस्तार होता रहता है। कालान्तर में खाड़ियों का मुख बन्द हो जाता है और समुद्र से सम्पर्क टूट जाता है।

वृद्धावस्था में खाड़ी-तट पर निर्मित वालुका-पुलिनें टूट जाती हैं और तट पर कोई भूदृश्य बच नहीं जाता है और तट-रेखा लगभग सपाट हो जाती है। इस अवस्था में तट-रेखा बहुत कम प्राप्त होती है क्योंकि यह अवस्था अस्थायी होती है।

प्रश्न

1. What are shore-lines ? Explain the different types of shore-lines and their commercial importance. (*Chandigarh 1969*)
   तट-रेखाओं की व्याख्या कीजिए और उनके प्रकार एवं व्यापारिक महत्ता पर प्रकाश डालिए।
2. Explain the various types of coast-lines, giving examples. (*Jodhpur 1971*; *Raipur 1968*; *Jabalpur 1969*)
   विभिन्न प्रकार के समुद्र-तटों का उदाहरण सहित विश्लेषण कीजिए।

वायु-मण्डल
(ATMOSPHERE)

पृथ्वी को वायुमण्डल का एक विशाल आवरण परिवेष्ठित किये हुए है। आधुनिक वैज्ञानिक शोधों द्वारा वायु-मण्डल की मोटाई 16 हजार से 29 हजार किलोमीटर अनुमानित है। वायु-मण्डल तथा ग्रहों की खोजबीन अमरीकी तथा रूसी वैज्ञानिक अदम्य उत्साह एवं अप्रतिम प्रतिद्वन्द्विता से कर रहे हैं। कृत्रिम ग्रहों तथा स्पुतनिकों द्वारा मंगल, शुक्र तथा चन्द्रमा की यात्राओं के प्रयोग चल रहे हैं। रूसी अन्तरिक्ष यात्री मेजर गागरिन एवं टिटोव तथा अमरीकी ग्रहप-थीय उड़ाकू कर्नल जानग्लीन एवं कमाण्डर कारपेन्टर ने वायुमण्डल के ऊपरी स्तर का रहस्योद्घाटन करके संसार को चकित कर दिया है।

संसार ने 'अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष' तथा 'अन्तरराष्ट्रीय शान्त सूर्य वर्ष' मनाया है। अमरीकी 'यूरुरो' तथा यूरोपीय 'इलडो' द्वारा अन्तरिक्ष के अभियान चल रहे हैं। 17 मई 1963 को प्रशान्त महा-सागर में उतरने वाले अमरीकी 'कूपर' ने फेथ-7 द्वारा 22 ग्रह एवं 105 देशों के ऊपर से उड़ान की। 22 जुलाई, 1964 को अन्तिम रेंजर-7 छोड़ा गया। अमरीकी जेमिनी-11 द्वारा भी 'चार्ल्स कोनार्ड' तथा 'रिचर्ड गार्डनर' ने चन्द्रमा की यात्रा की। भारत भी शिवालिक पहाड़ियों के नारायणगढ़ स्थान से (चण्डीगढ़ से 40 किलोमीटर दूर) दो ईंधन युक्त राकेट सफलतापूर्वक छोड़ चुका है। विशालकाय राकेटों के छोड़ने की भी योजना चल रही है। चन्द्रमा की खोजबीन के लिए

चन्द्र अनुसंधान सर्वेयर तथा रूसी लूना छोड़े जा रहे हैं।

अमरीकी अपोलो-14 तथा 15 तथा रूसी उपग्रह वेनस एवं सोयूज ने वायु-मण्डल के अज्ञात रहस्यों को उद्घाटित किया है।

इस प्रकार वायुमण्डल के नवीन तत्व प्रकाश में आ रहे हैं।

25

वायुमण्डल की रचना

[COMPOSITION OF ATMOSPHERE]

वायुमण्डल पृथ्वी को चारों तरफ से परिवेष्ठित करने वाला एक भारी ढक्कन है।

यह पृथ्वी से लगभग 3,200 किलोमीटर की ऊँचाई तक विस्तृत है। ऊँचाई पर वायुमण्डल क्रमश: विरल होता गया है। फिंच तथा ट्रेवार्था महोदयों ने इसी गैसीय ढक्कन को वायुमण्डल की संज्ञा प्रदान की है। यह आकर्षण शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी के साथ ही सूर्य की परिक्रमा करता है। पृथ्वी पर स्थल अथवा जल लगातार नहीं है। परन्तु वायुमण्डल पृथ्वी के सम्पूर्ण स्थल और जलमण्डल को चारों ओर से घेरे हुए है।

वायुमण्डलीय अध्ययन के साधन

वायुमण्डल का अध्ययन वायुयान, राकेट, उच्च पर्वत-शिखर, पतंग और परिज्ञापी गुब्वारों इत्यादि के आधार पर किया जाता है। इसके अन्तर्गत (1) मौसम-विज्ञान (meteorology), (2) सूक्ष्म मौसम-विज्ञान (micro-meteorology), (3) वायु-विज्ञान (aerology) के अलग-अलग अध्ययन किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त सांध्य-प्रकाश या गोधूलि प्रकाश तीक्ष्ण कटक (twilight aretes), उल्का (shooting stars), ध्रुवीय ज्योति (aurora), विद्युत-प्रकाश आदि प्राकृतिक तथा स्पुतनिक (sputniks), अन्वेषक (explorers), वैनगार्ड (vangard), रेडियोसान्ड तथा राडार आदि मानवनिर्मित यंत्रों की क्रियाओं के आधार पर भी इसका अध्ययन किया जाता है। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात किया गया है कि वायुमण्डल कई प्रकार

वायुमण्डल में गैसों की मात्रा (गटैनबर्ग के अनुसार)

	मात्रा (प्रतिशत में)
भारी गैसें	
नाइट्रोजन	78·03
ऑक्सीजन	20·99
आर्गान	0·932
कार्बन डाइ-ऑक्साइड	0·03
हाइड्रोजन	0·01
हल्की गैसें	
हीलियम, नियोन, क्रिपटोन, जेनोन, ओषोण	0·01

जल-वाष्प
(Water-Vapour)

वायुमण्डल की ऊपरी तह की गैसों में प्रतिबिम्बित सतह होती है। परन्तु नीचे की तह की गैसों में यह गुण नहीं पाया जाता है। वायुमण्डल की निचली तह में जल-वाष्प पायी जाती है। यह निचली तह में 8,000 मीटर की ऊँचाई तक ही पाया जाता है। इसकी मात्रा वायुमण्डल के तापमान पर निर्भर करती है। जहाँ ताप अधिक रहता है वहाँ की हवा गरम रहती है और वह जल-वाष्प को अधिक मात्रा में ग्रहण कर सकती है। भूमध्यरेखा के आस-पास के वायुमण्डल में अधिक गरमी के कारण वाष्प की मात्रा अधिक होती है। परन्तु ध्रुवों के पास वायुमण्डल में वाष्प की मात्रा इसके प्रतिकूल होती है।

तत्त्व प्रतिशत

अक्षांश	नाइट्रोजन	ऑक्सीजन	आर्गान	जल-वाष्प	कार्बन डाइ-ऑक्साइड
भूमध्यरेखा	75·99	20·44	0·92	2·63	0·02
50° उत्तरी	77·32	20·80	0·94	0·92	0·02
70° उत्तरी	77·87	20·94	0·94	0·22	0·03

हवा में जब वाष्प की मात्रा किसी तापमान पर इतनी अधिक हो जाय कि हवा उससे अधिक वाष्प न सोख सके तो संतृप्त वायु कही जाती है। वायुमण्डल में ऊँचाई के अनुसार जल-वाष्प की मात्रा कम होती जाती है। इस प्रकार वाष्प की कमी 5 किलोमीटर की ऊँचाई तक होती जाती है और पुनः 11 किलोमीटर से 80 किलोमीटर तक बढ़ती है। धरातल पर बर्फ, वर्षा, ओस, पाला, कुहरा और हिम आदि के बनने का कारण वायुमण्डल का जल-वाष्प ही होता है। वैज्ञानिक हम्फ्रीज ने एक तालिका प्रस्तुत की है जिसके अन्य तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं :

(1) अधिकतर जल-वाष्प वायुमण्डल की निचली सीमाओं में ही रहता है। किन्तु इसका अनुपात 11 किलोमीटर से 80 किलोमीटर तक बढ़ने लगता है।

(2) वायु का दाब 11 किलोमीटर के ऊपर तेजी से घट जाता है।

(3) हाइड्रोजन ऊपर की ओर बढ़ती है; यहाँ तक कि 100 किलोमीटर पर वायुमण्डल में इसका अनुपात 95·5 प्रतिशत होता है।

धूलि-कण
(Dust Particles)

वायुमण्डल में धूलि-कण का भी महत्त्व होता है। ये धूलि-कण धरातल की हवा, सागर से नमक के सूक्ष्म कण, ज्वालामुखी के उद्भेदन तथा उल्कापात से उपलब्ध होते हैं। ये प्रकाश को फैलाने में सहायक होते हैं। पानी वाष्प के रूप में इन्हीं धूलि-कणों पर जमा होता है। इनकी उपस्थिति के ही कारण अवकाश का रंग नीला दिखायी पड़ता है। कुछ धूलि के कण दिखाई नहीं पड़ते हैं। परन्तु उनमें पानी सोखने की शक्ति होती है। इससे वाष्प केन्द्रित होकर पानी के रूप में बदलता है। धरातल के समीप वायुमण्डल में धूलि-कण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और ऊँचाई के अनुसार इनकी मात्रा कम होती जाती है। इन्हीं धूलि-कणों की सहायता से कुहरा, धुंध, इन्द्रधनुष की सीमाएँ, सांध्यप्रकाश आदि बनते हैं। ये कण आर्द्रताग्राही नाभिक (Hygroscopic Nuclei) होते हैं। ये समुद्रों के ऊपर अधिक पाये जाते हैं। विल्सन महोदय के अनुसार किसी आर्द्रता पर भी इनके बिना संघनन नहीं हो सकता है।

ओषोण

धरातल के समीप इस गैस की मात्रा कम है। ये गैसें सूर्य की परावैंगनी (ultra-violet) किरणों का बहुतांश सोख लेती हैं। यदि सूर्य की ये किरणें धरातल पर पहुँच जातीं तो अधिक उष्णता से प्राणिमात्र समाप्त हो जाते। इसकी मात्रा मौसम के अनुकूल परिवर्तनशील होती है। इसकी मात्रा के अनुसार पृथ्वी की आकर्षण शक्ति में भी परिवर्तन होने के वैज्ञानिक निष्कर्ष प्राप्त हो रहे हैं। 90 किलोमीटर से ऑक्सीजन आण्विक रूप में प्राप्त होती है। विघटनाभिक गैस (रैडन, थोरोन, ऐक्टिनन) तथा समस्थानिक कार्बन (isotope carbon) भी ऊपरी वायुमण्डल में उपलब्ध हैं।

जीव-जन्तु

वायुमण्डल में कुछ जीव-जन्तु भी होते हैं जो सूक्ष्म आकार के होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। ये भी वायुमण्डल की निचली तहों में धरातल के समीप होते हैं।

वायुमण्डल की परतें

वायुमण्डल में हवा की अनेक तहें पाई जाती हैं। गत 150 वर्षों में अनेक वैज्ञानिकों ने वायुमण्डल की साहसपूर्ण यात्राएँ की हैं। इनमें **मेजर फ्राडनी, डॉ० पिकार्ड, कप्तान स्थीनस** तथा **बेंसको** विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके आविष्कारों के आधार पर वायुमण्डल के कई प्रमुख भाग किये जाते हैं। वायुमण्डल का यह विभाजन पाई जाने वाली वायु के दाब पर निर्भर करता है। समुद्र-तल का वायु-दाब लगभग 1,000 मिलीबार होता है। सर्वप्रथम **गेरिक** नामक विद्वान ने सिद्ध किया कि वायुमण्डल में दाब है। ऊँचाई के अनुसार वायुमण्डल का वायु-दाब कम होता जाता है। निरीक्षण के आधार पर यह ज्ञात किया गया है कि 6 किलोमीटर की ऊँचाई पर वायु-दाब आधा, 11 किलोमीटर पर तिहाई और 16 किलोमीटर की ऊँचाई पर दसवाँ भाग ही रह जाता है।

प्रस्तुत तालिका से औसत वायु-दाब प्रदर्शित है। इसमें समुद्र-तल से ऊँचाई तथा समुद्र-तल के वायु-दाब के प्रतिशत में वायु-दाब को परिकलित किया गया है।

ऊँचाई (किलोमीटर)	वायु-दाब (प्रतिशत)	ऊँचाई (किलोमीटर)	वायु-दाब (प्रतिशत)
0	100	16	10
1·5	85	30	1
3	70	50	0·1
6	50	80	0·001
10	30	160	0·0000005
12	20		

धरातल पर वायुमण्डल के निम्न पाँच भाग माने गये हैं जिनको ऊँचाई के साथ तापमान में परिवर्तन की दृष्टि से किया गया है।

(1) क्षोभ मण्डल (Troposphere), (2) क्षोभ सीमा (Tropopause),
(3) समतापी मण्डल (Stratosphere), (4) ओषोण मण्डल (Ozonosphere),
(5) आयन मण्डल (Ionosphere)।

(1) क्षोभ मण्डल—वायुमण्डल की निचली तह कुछ किलोमीटर तक, जिसमें सभी हवाएँ एकत्र रहती हैं, क्षोभ मण्डल कहलाता है। ग्रीक भाषा में ट्रोपोज का

अर्थ परिवर्तन होता है। इसकी औसत ऊँचाई 12 किलोमीटर है। भूमध्यरेखा पर इसकी ऊँचाई ध्रुवों पर की ऊँचाई की अपेक्षा अधिक है। ज्यों-ज्यों भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर जाते हैं, इसकी ऊँचाई घटती जाती है। भूमध्यरेखा पर लगभग 16 किलोमीटर, मध्यवर्ती अक्षांशों पर 11 किलोमीटर तथा ध्रुवों पर $6\frac{1}{2}$ किलोमीटर इस मण्डल की ऊँचाई रहती है। इसकी हवा गरम होती है। इसकी गरमी का कारण केवल यही नहीं है कि यह ताप-स्रोत पृथ्वी के धरातल के निकट है, बल्कि जल-

चित्र 277—वायुमण्डल के स्तर तथा ऊँचाई पर तापमान का वितरण
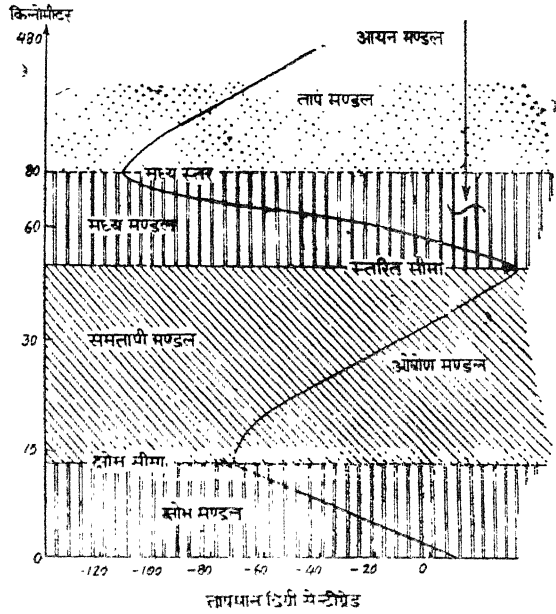
वाष्प, जल-कण, धूलि-कण से परिपूरित होना भी है जो पार्थिव विकिरण (terrestrial radiation) को सोखने का कारण बनता है। इस मण्डल में संचालन (conduction), विकिरण (radiation) तथा संवहन (convection) का ऊष्मा-वितरण पर प्रभाव पड़ता है। इसमें ऊँचाई के अनुसार ऊष्मा 6° सेग्रे प्रति किलोमीटर के हिसाब से कम होती जाती है। धरातल का औसत तापमान लगभग 18° सेग्रे रहता है। इसमें अधिक मात्रा में धूलि-कण, जल-वाष्प एवं बादलों की उपस्थिति के कारण सभी मौसमी घटनाओं (weather phenomena) का स्थल है। क्षोभ मण्डल की ऊपरी सीमा पर वायु-दाब भी धरातल की तुलना में चौथाई रह जाता है। इस पेटी में तापमान, वायुवेग, वायुदिशा, बादल, वृष्टि आर्द्रता आदि में महान् विभेद मिलते हैं। आँधी, तूफान, घन-गर्जन, विद्युत-प्रकाश इसी मण्डल में होता है। इस भाग में संवहनीय हवाएँ चलती हैं। अत: इस प्रदेश को विक्षुब्ध संवहन-स्तर (turbulent convective stratum) कहते हैं। यह परत मानव के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसी परत में मानव का कार्य-कलाप सीमित है।

(2) क्षोभ सीमा—यह वायुमण्डल की वह पेटी है जिसमें क्षोभ मण्डल की पेटी का गुण विलीन हो जाता है तथा समतापी मण्डल की नवीन पेटी प्रारम्भ हो

जाती है। तात्पर्य यह है कि यह पेटी वायुमण्डल में क्षोभ मण्डल तथा समताप्मी मण्डल की पेटियों का संक्रमण भाग है। यह पेटी लगभग $1\frac{1}{2}$ किलोमीटर चौड़ी है। इस पेटी में प्रवेश करते ही क्षोभ मण्डल की संवहनीय हवाएँ समाप्त हो जाती हैं। इस पेटी के बाद समतापी मण्डल की पेटी प्रारम्भ हो जाती है। इस निश्चित ऊँचाई पर उठने वाली तथा ठंडी होने वाली वायुधाराएँ एक ऐसे तापमान पर पहुँच जाती हैं जहाँ तापमान वही होता है जो ऊपर हवा में होता है। क्षोभ सीमा पर उष्ण कटिबन्धीय तापमान -80° सेग्रे तक गिर जाता है। उच्च अक्षांशों में क्षोभ सीमा कोष्णतर होती है। ध्रुवीय प्रदेशों में क्षोम सीमा का तापमान -55° सेग्रे रहता है। इसी मण्डल के निचले भाग में मौसम के प्रभाव से बचने के लिए वायुचालक अपने वायुयान को ले जाते हैं। यहाँ वायुमण्डल की दशा शान्त होती है।

(3) **समतापी मण्डल**—क्षोभ सीमा के ऊपर वायुमण्डल का 50 किलोमीटर या इससे भी कुछ अधिक ही भाग समतापी मण्डल कहलाता है। यह स्तरित परत है और इसमें ऊर्ध्वाधर मिश्रण निर्बल होती है। इस भाग में तापमान समान रहता है। इस खोज का श्रेय यूरोपीय विद्वान् तिसरां डि बोर्ट को है जिन्होंने सन् 1818 की अप्रैल में इस तथ्य को प्रकाश में लाया। इस कटिबन्ध के अन्दर ग्रहण की हुई विकिरण भी प्रसृत-विकिरण के बराबर होती है अथवा थोड़ा अन्तर हुआ ज्ञात होता है। इसीलिए इस भाग को समतापी मण्डल (isothermal zone) कहते हैं। इस भाग का ताप बहुत कम होता है। कर्क और मकर रेखाओं पर तापमान -80° सेग्रे तथा मध्यवर्ती अक्षांशों पर -55° सेग्रे रहता है। इस भाग में बादल ही नहीं होते हैं। धूलि-कण तथा जल-वाष्प बहुत कम पाया जाता है। इस भाग में संवहनीय वायु नहीं चलती है, अपितु क्षैतिज प्रकृति की हवाएँ चलती हैं। इस भाग में वायु-दाब धरातल की तुलना में $\frac{1}{1500}$ रह जाता है। वायु-दाब क्षीण हो जाने से गुब्बारे नहीं उड़ पाते हैं। किन्तु विस्फोटन के द्वारा जेट विमान पहुँच सके हैं। संक्षेप में, इस मण्डल में हल्की वायु, न्यूनतम परन्तु सम तापमान और बादलों का अपेक्षाकृत
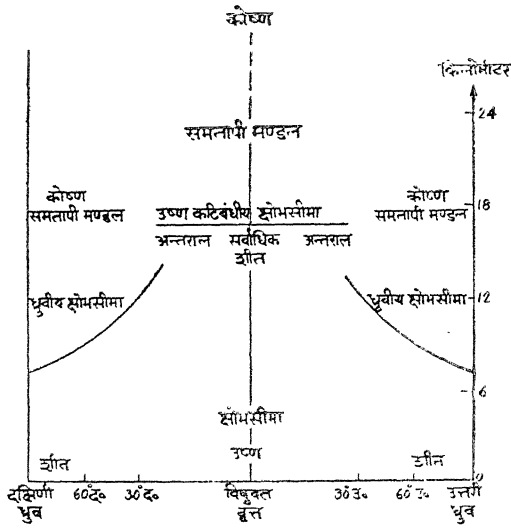
चित्र 278—दोनों ध्रुवों के मध्य वायुमण्डल की ऊर्ध्वाधर अनुप्रस्थ काट

अभाव होता है। आँधी, तूफान एवं घन-गर्जन नहीं होते हैं। साधारण तापमान —80° सेग्रे तथा समशीतोष्ण में तापमान —50° सेग्रे से —60° सेग्रे तक रहता है। अक्षांश रेखाओं तथा ऋतुओं के साथ इसकी ऊँचाई बदलती रहती है। ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा ऊँचाई अधिक होती है। ऊँचाई की तरह तापमान भी अक्षांश रेखाओं पर निर्भर करता है।

(4) **ओषोण मण्डल**—ओषोण मण्डल 40 किलोमीटर से 50 किलोमीटर ऊँचाई तक है। यह सूर्य की किरणों द्वारा अधिक गरम रहता है। यहाँ ओषोण गैस की अधिकता रहती है, जो 50 किलोमीटर तक पराबैंगनी (ultra-violet) किरणों को सोख लेती है। इसी कारण यह मण्डल अत्यन्त गरम रहता है। यह सूर्य के हानिकारक प्रभाव से बचने की मुख्य रक्षा-पंक्ति है। वास्तव में ओषोण गैस की उत्पत्ति परावैंगनी किरणों द्वारा ऑक्सीजन गैस का वियोजन होता है। इस मण्डल में एक किलोमीटर ऊँचाई पर बढ़ने पर 16° सेग्रे तापमान अधिक होता है। ओषोण गैस की मात्रा भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ती जाती है। इसमें मुक्ता-मेघ-जननी (mother of pearl cloud) पाये जाते हैं।

पृथ्वी के अतिरिक्त ओषोण मण्डल भी वायुमण्डल के ताप का दूसरा स्रोत है। इसीलिए इस मण्डल से नीचे की ओर तापमान क्रमशः घटता है, अतः क्षोभ सीमा पर तापमान न्यूनतम पाया जाता है जो पृथ्वी तथा ओषोण मण्डल के मध्य स्थित है।

समताप मण्डल तथा ओषोण मण्डल की ऊपरी सीमा स्तरित सीमा (stratopause) कहलाती है। यह अधिकतम तापमान की परत होती है। यहाँ का तापमान पृथ्वी की सतह के तापमान से भी अधिक हो सकता है क्योंकि यह ओषोण मण्डल के ऊपरी भाग का संपाती होता है। इसके नीचे 99·9 प्रतिशत वायुमण्डल पड़ता है।

स्तरित सीमा के ऊपर 80 किलोमीटर की ऊँचाई तक तापमान पुनः ऊँचाई के अनुसार क्रमशः घटता है। 50 किलोमीटर से 80 किलोमीटर के मध्य की वायुमण्डलीय परत को मध्यमण्डल (mesosphere) कहते हैं। ग्रीक भाषा में मेसो का अर्थ मध्य होता है। यह भी क्षोभ मण्डल की तरह विक्षुब्ध वायु की परत होती हैं। इसका ऊपरी भाग मध्यस्तर (mesopause) कहलाता है। इस मण्डल में न्यूनतम तापमान —110° सेग्रे मिलता है। इसके नीचे वायुमण्डल का 99·999 प्रतिशत पड़ता है। मध्यस्तर में निशादीप्ति मेघ मिलते हैं। (60 किलोमीटर पर स्थित परत रेडियो तरंगों को दिन के समय सोख लेती है। अतः रात्रि में रेडियो अधिक साफ सुनाई देता है।)

(5) **आयन मण्डल**—आयन मण्डल 80 किलोमीटर से ऊपर 320 किलोमीटर का वायुमण्डलीय स्तर है। इस मण्डल में पराबैंगनी किरणों की अधिकता के फलस्वरूप सूर्य-विकिरण द्वारा वायुमण्डल की गैसें आयनित (ionised) हो जाती हैं। इसी कारण इस मण्डल का यह नामकरण हुआ है। आयन गैस की कई परतें वायुमण्डल के ऊपरी भाग में उपस्थित हैं, किन्तु उनमें से D तथा E परतों का अध्ययन

ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। रेडियो तरंगों के अतिरिक्त ध्वनि तरंगें, उल्काओं का वायुघर्षण में चमक, उत्तरी ध्रुव की सुमेरु ज्योति, दक्षिणी ध्रुव की सुमेरु ज्योति, रात्रि में आकाश का वर्णपट, अन्तरिक्ष-किरणों (cosmic rays) आदि की सहायता से आयन मण्डल का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। रेडियो तरंगों के आविष्कार ने वैज्ञानिकों को इस रहस्य के उद्घाटन के लिए प्रेरित किया कि विपरीत दिशाओं में स्थित दो स्थानों की रेडियो तरंगें इन दोनों विपरीत स्थानों तक कैसे पहुँच जाती हैं, जब रेडियो तरंगें सीधी रेखा में चलती हैं। (इस प्रयास के क्रम में पता चला कि वायुमण्डल में ऐसी एक परत है जो आयन द्वारा निर्मित है और इस परत में विद्युत-चालकता (electrical conductivity) अत्यधिक प्रबल है। यही कारण है कि यह परत रेडियो-तरंगों को पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है।)

वायुमण्डल की इस परत में तापमान का वितरण असमान एवं अनिश्चित है। प्राय: ऊँचाई के साथ तापमान बढ़ता है, किन्तु कभी-कभी तापमान घटता भी है। कूपे महोदय ने इन परतों को D, E, F_1 तथा F_2 नामों से बताया है।

इस मण्डल की पहली परत D है जो 80 से 100 किलोमीटर तक सीमित है। यह मध्यस्तर (mesopause) के नीचे स्थित है। यह सूर्य-विकिरण से अत्यधिक प्रभावित है और यह परत रात्रि के समय लुप्त हो जाती है। यह परत 80 किलोमीटर पर निम्न बारम्बारता की 400 मीटर से अधिक लम्बी रेडियो-तरंगों को पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है, किन्तु मध्यम तथा उच्च बारम्बारता की तरंगों का शोषण कर लेती है। इसके 100 किलोमीटर के स्तर को E स्तर या केनेली हीविसाइड स्तर कहते हैं। क्योंकि इसकी खोज सन् 1902 में अमरीका के केनेली तथा इंगलैंड के हीविसाइड नामक वैज्ञानिकों ने की थी। इस परत की उत्पत्ति पराबैंगनी फोटोंस (ultra-violet photons) के नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन परमाणुओं (molecules) पर क्रियाशील होना ही अनुमानित है। यह परत भी रात्रि में लुप्त हो जाती है। यह परत 120 किलोमीटर पर मध्यम बारम्बारता की 300 मीटर लम्बी रेडियो-तरंगों को पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है। यह लम्बी रेडियो तरंगों की पेटी है। यह निम्नतम स्थायी स्तर है। D तथा E परतों के मध्य निशादीप्ति मेघ (noctilucent cloud) मिलते हैं जो सूर्यास्त के पश्चात दिखाई देते हैं। इन मेघों में प्रवेश करने पर उल्का अदृश्य हो जाते हैं। 160 किलोमीटर से 480 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थित स्तरों को जो अपेक्षाकृत छोटी तरंगों को परावर्तित करते हैं, एप्लेटन (appleton) या F स्तर कहते हैं। इसकी खोज अप्लेटन नामक वैज्ञानिक ने की है। यह स्तर काल तथा ऋतु के अनुसार खिसकता रहता है और इसके सम्बन्ध में भविष्यवाणी सम्भव नहीं है। यह परत 200 किलोमीटर तथा 300 किलोमीटर पर उच्च बारम्बारता की रेडियो-तरंगों को जिनकी लम्बाई 300 मीटर से कम होती है, पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है। किन्तु रेडियो वीक्षण तरंगें (television waves) इस परत को भी पार कर जाती हैं।

आयन मण्डल की E तथा F परतों की स्थिति तापमण्डल (Thermosphere) में है। इसका अधिक तापमान ऑक्सीजन परमाणुओं द्वारा सौर-विकिरण के अवशोषण के कारण होता है। अधिक ऊँचाई पर नाइट्रोजन के परमाणुओं तथा हीलियम के द्वारा सूर्य के सीधे विकिरण की प्राप्ति ही अधिक तापमान को प्रदान करती है। इस मण्डल में आयन मण्डल का अधिक भाग पड़ता है। इस भाग में तरंग की दशाओं को उत्तरध्रुवीय ज्योति (aurora borealis) तथा दक्षिण ध्रुवीय ज्योति (aurora australis) कहते हैं।

इस मण्डल के ऊपर 480 किलोमीटर की ऊँचाई के पश्चात हाइड्रोजन तथा हीलियम गैसों से पूर्ण वाहि मण्डल (Exosphere) है। हीलियम गैस की उपस्थिति के कारण इस परत में अधिक तापमान का भी अनुमान है।

F_2 परत के ऊपर तापमान 750° सेग्रे से अधिक मिलता है। इससे भी ऊपर हाइड्रोजन तथा हीलियम हल्की गैसों का क्षेत्र है जहाँ तापमान 1,700° सेग्रे हो सकता है। F_2 परत के ऊपर के वायुमण्डल में भी 1,000 किलोमीटर की ऊँचाई पर उत्तरी ध्रुवीय ज्योति दृश्य होती है। आण्विक ऑक्सीजन के इस स्तर के ऊपर 1,500 किलोमीटर तक हीलियम गैस और इससे ऊपर हाइड्रोजन का बाहुल्य मिलता है। 10,000 किलोमीटर की ऊँचाई पर हाइड्रोजन का घनत्व अन्तराग्रहिक (inter-planetary) अन्तरिक्ष (space) में विलीन हो जाता है और पृथ्वी के वायुमण्डल का यहीं अन्त हो जाता है।

राकेट तथा उपग्रहों के द्वारा पृथ्वी के वायुमण्डल के अन्तिम भाग में वान एलेन विकिरण परत (Von Allen Radiation Belts) की खोज हुई है। ये इलेक्ट्रॉन तथा प्रोटॉन जैसे अधिक ऊर्जा के परमाणुओं के क्षेत्र हैं। इनकी उत्पत्ति सूर्य से गैस के प्रवाह तथा अन्तरिक्ष किरणों (cosmic rays) से ज्ञात होती है। अन्तरिक्ष किरणों से निचली परत बनती है जिसकी ऊँचाई पृथ्वी से 3,000 किलोमीटर है। ऊपरी परत सूर्य की गैसों से निर्मित है जिसकी ऊँचाई 16,000 किलोमीटर से एक लाख किलोमीटर तक है। इसका गुरुत्व केन्द्र 25,000 किलोमीटर पर है। वान एलेन पेटी में सर्वाधिक विकिरण-तीव्रता भू-चुम्बकीय विषुवत् पर होता है और ध्रुव की ओर कम हो जाता है। ध्रुवीय ज्योति भू-चुम्बकीय विषुवत् वृत पर प्रायः होती है और इनकी बारम्बारता विषुवत् वृत की ओर कम हो जाती है। वान एलेन पेटी तथा इससे सम्बन्धित क्षेत्र को चुम्बकीय मण्डल (magnetosphere) कहते हैं।

राकेट, स्पुतनिक तथा कृत्रिम ग्रहों के माध्यम से इन परतों का अध्ययन जारी है।

मौसम-विज्ञान

वायुमण्डल के उपर्युक्त मण्डलों अथवा कटिबन्धों का अध्ययन जिस विज्ञान के अन्तर्गत होता है उसे मौसम-विज्ञान (meteorology) कहते हैं। प्रथम तीन मण्डलों के 40 किलोमीटर की ऊँचाई के पश्चात् वायुमण्डल का वह भाग आता है जिसके विषय में केवल अनुमान किया जाता है। धरातल से 100 किलोमीटर की ऊँचाई

के अन्तर्गत ऊपरी 65 किलोमीटर के स्तर के अध्ययन को वायु-विज्ञान कहते हैं। इसकी स्थिति का पता रेडियो आदि की सहायता से लगाया जाता है। **वायु-विज्ञान** के विद्वानों ने इस भाग को आयन मण्डल कहा है। इस भाग में तापमान बहुत तेजी से बढ़ता है। तेजी से तापमान बढ़ने का कारण सूर्य की पराबैंगनी ऊर्जा (ultra-violet energy) है। इसी भाग में विद्युत ऊर्जा (electrical energy) आदि हुआ करती हैं।

प्रश्न

1. What constitutes the atmosphere ? How would you divide it into different belts ? (*Rajasthan 1971; Kanpur 1971*)
   वायुमण्डल की कैसी रचना है ? इसको विभिन्न मण्डलों में कैसे विभाजित किया जाता है ?
2. Describe the structure and characteristics of the various layers of the atmosphere and trace their influence if any on weather changes. (*Kanpur 1968; Patna 1969; Gorakhpur 1971*)
   वायुमण्डल की विभिन्न परतों की बनावट तथा विशेषता की व्याख्या कीजिए और बताइए कि जलवायु पर इनका कैसा प्रभाव है ?

26

धरातल पर सूर्यातप का वितरण

[DISTRIBUTION OF INSOLATION OVER THE EARTH'S SURFACE]

हमारा सूर्य ऊष्मा का भण्डार और स्रोत है। इससे निरन्तर ऊष्मा का विकिरण हो रहा है। सूर्य का व्यास 13,83,000 किलोमीटर है। इसका आयतन पृथ्वी से 10 लाख गुना है। सूर्य के केन्द्र का तापमान 28,00,00,000° सेग्रे है। (किसी निश्चित काल में पृथ्वी के किसी निश्चित क्षेत्र में जो ताप प्राप्त होता है उसे सूर्यातप (insolation) कहते हैं।) वास्तव में सूर्य के विशाल पिण्ड से निकलने वाली ताप-तरंगों के विशाल पुंज का ही नाम सूर्यातप है। ऊष्मा की यह प्रचण्ड शक्ति प्रति मिनट डेढ़ करोड़ किलोमीटर से भी अधिक तीव्र है और 9 मिनट में पृथ्वी-तल पर पहुँच जाती है। **एबेट** तथा अन्य विद्वानों ने वायुमण्डल की बाहरी सीमा पर सूर्य से प्रति वर्ग सेंटीमीटर 1·94 कैलोरी प्रति मिनट ऊष्मा प्राप्त होना सिद्ध किया है। ऊष्मा की यह मात्रा प्रायः सर्वत्र स्थिर है। अतएव इसे **सौर्य ऊष्मांक** (solar constant) कहते हैं। सूर्यातप वायु का एकमेव सबसे बड़ा नियन्त्रक है।

सूर्यातप की मात्रा

शक्ति का एक विशेष रूप आतप है जो किसी पदार्थ को गरम बना देता है और तापमान उस पदार्थ की उष्णता का माप है। अतएव शक्ति का मूल स्रोत सूर्य ही है। सूर्य पृथ्वी से 1,488 लाख किलोमीटर दूर है। सूर्य के धरातल का तापमान 6,700° सेग्रे है। सूर्य के धरातल के प्रत्येक वर्ग मीटर से 1,00,000 अश्व-शक्ति (horse-power) के बराबर ऊष्मा का विकिरण (radiation) होता है। विद्युत चुम्बकीय तरंगों (electro-magnetic waves) में विकिरण होता है जिसकी चाल 2,99,460 किलोमीटर प्रति सेकण्ड होती है। ये सूर्य की लघु ऊर्जा तरंगें (short solar energy waves) हैं। जितनी गरम वस्तु से ऊष्मा का विकिरण होता है वह

मात्रा में उतना ही अधिक होता है और वह विकिरण तरंगों के द्वारा होता है। इसलिए सूर्यातप का विकिरण विभिन्न तरंगों द्वारा होता है।

सौर-विकिरण का अधिकांश मध्य तरंगों से प्रकाश रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह सात प्रकार की तरंगों का संयुक्त फल होता है और सप्त रंगों में प्रकट होता है। लाल रंग की तरंगें सबसे लम्बी और बैंगनी रंग की सबसे छोटी होती हैं। इन तरंगों से वायुमण्डल गर्म नहीं होता है। कुछ अन्य तरंगें भी हैं जिनको पराबैंगनी तरंगें (ultra-violet waves) तथा अवरक्त तरंगें (infra-red waves) कहते हैं। पराबैंगनी तरंगें लघु एवं अदृश्य होती हैं। इनसे सूर्यातप के 6 प्रतिशत का निर्माण होता है। किन्तु कुछ पदार्थों पर इनका रासायनिक प्रभाव अधिक होता है। लम्बी तरंगें या अवरक्त तरंगें भी दृष्टिगोचर नहीं होती हैं किन्तु इनसे सूर्यातप के 43
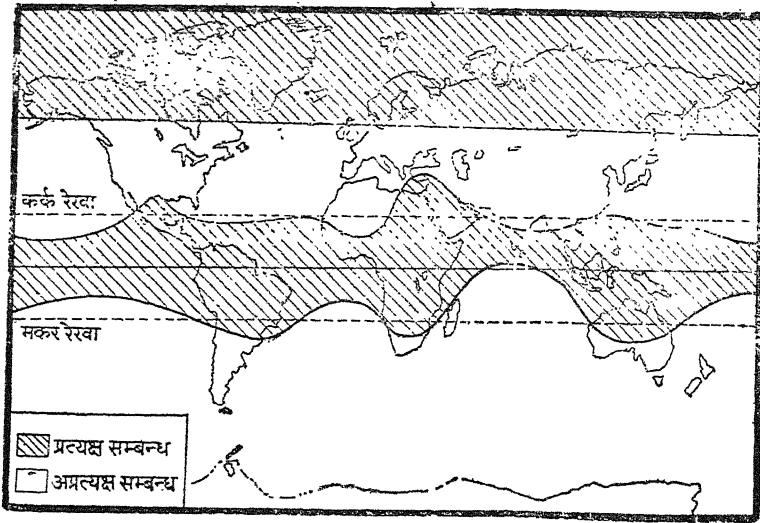
चित्र 279—सूर्य-कलंक और आतप

प्रतिशत का निर्माण होता है। इस प्रकार सूर्यातप लम्बी तरंगों द्वारा पृथ्वी तक पहुँचता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि सूर्य से आने वाली सभी गरमी पृथ्वी पर नहीं पहुँचती है। सूर्य से आने वाली कुल आतप-शक्ति का केवल दो अरबवाँ भाग ही पृथ्वी पर पहुँचता है क्योंकि सूर्य से आने वाली गरमी को पृथ्वी पर पहुँचने के पूर्व 1,488 लाख किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है और वायुमण्डल पार करना पड़ता है जिससे वैज्ञानिक किम्बल के अनुसार, लगभग 57 प्रतिशत आतप मार्ग में ही नष्ट हो जाता है। वायुमण्डल पार करते समय वायुमण्डल की ऊपरी तल की गैसें परावर्तित सतह प्रधान (albedo surface) होने के कारण लगभग 42 प्रतिशत आतप को लौटा देती हैं। वायुमण्डल की निचली तह की गैसें भी कुछ

आतप को परावर्तित करती हैं। परन्तु इस भाग में लगभग 11 प्रतिशत ऊष्मा जल-वाष्प द्वारा सोख लिया जाता है। 4 प्रतिशत आतप धूलि-कण तथा गैसों के द्वारा रोका जाता है। अतः शेष 43 प्रतिशत आतप ही पृथ्वी तक पहुँच पाता है। इस प्रकार 57 प्रतिशत सूर्यातप वायुमण्डल को गरम करने के लिए उपलब्ध होता है। पृथ्वी पर प्राप्त आतप में स्थित, ऋतु तथा वायुमण्डल की दशा के अनुसार भिन्नता मिलती है।

सूर्य के धरातल पर काले तथा सफेद धब्बों का होना माना जाता है। सूर्य के परिभ्रमण के कारण इनकी संख्या घटती तथा बढ़ती रहती है। (जब काले धब्बों की संख्या बढ़ जाती है तो सूर्य से अधिक आतप का विकिरण होने लगता है तथा जब सफेद धब्बों की संख्या बढ़ती है तो आतप का विकिरण कम होता है।) इससे यह भी सिद्ध होता है कि सूर्य से हमेशा एक समान आतप का विकिरण नहीं होता है बल्कि विकिरण की अधिकता या कमी उसके धरातल पर पाये जाने वाले काले तथा सफेद धब्बों पर निर्भर करती है।

आतप के स्रोत

वायुमण्डल को निम्न तीन स्रोतों से आतप उपलब्ध होता है :

(1) सूर्य, (2) भूगर्भ, (3) चन्द्रमा तथा तारागण।

भूगर्भ से प्राप्त आतप का अनुमान लगाना असम्भव प्रतीत होता है। साथ ही, यह भूतल पर सर्वत्र समान है और सूर्यातप की तुलना में नगण्य है। चन्द्रमा तथा तारागणों से सूर्य का ताप प्रतिबिम्बित होकर पृथ्वी को उपलब्ध होता है। किन्तु यह भी अति नगण्य है और इसकी गणना भी दुष्कर प्रतीत होती है। इन्हीं कारणों से आतप के इन दो स्रोतों की उपेक्षा की जाती है। ताप का महत्त्वपूर्ण स्रोत सूर्य ही है। **पेटर्सन** के अनुसार, सूर्य की ऊँचाई भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न होती है जैसा कि निम्न तालिका से विदित है :

सूर्य की ऊँचाई	वायुमण्डलीय मार्ग (आपेक्षिक लम्बाई)
90°	1
60°	1·15
30°	2
10°	5·7
0°	44·7

मौसम में परिवर्तन के साथ-साथ धरातल पर सूर्यातप के वितरण में भी परिवर्तन होता जाता है। पहाड़ों के ऊपर के भाग तलीय भागों की अपेक्षा कम सूर्यातप प्राप्त करते हैं, अर्थात् पृथ्वी के धरातल पर सूर्यातप का वितरण असमान होता है।

सूर्यातप का असमान वितरण

उपरोक्त विधि से पृथ्वी के धरातल पर गरमी आतप-स्रोत से आती है। अब यह जानना आवश्यक है कि धरातल पर सूर्यातप का वितरण कैसे होता है और इस वितरण पर किन-किन वस्तुओं का प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी के धरातल पर आने वाला सूर्यातप धरातल के प्रत्येक भाग पर समान रूप से नहीं आता है। पृथ्वी का धरातल कहीं अधिक गरमी प्राप्त करता है तो कहीं कम। जो स्थान पृथ्वी के मध्य में भूमध्यरेखा के निकट हैं वहाँ सौर-ताप अधिक मिलता है। भूमध्यरेखा से दूर ध्रुवों की ओर सौर-ताप कम होता जाता है।

सूर्यातप के असमान वितरण के कारण

(1) **सूर्य की किरणें**—सूर्य की किरणें धरातल पर एक समान नहीं पड़ती हैं। कहीं सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तो कहीं तिरछी। भूमध्यरेखा पर सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं और ध्रुवों की तरफ तिरछी हो जाती हैं। लम्बवत् किरणों को वायुमण्डल में कम दूरी तय करके पृथ्वी के धरातल पर पहुँचना पड़ता है, परन्तु तिरछी किरणों को वायुमण्डल में अधिक दूरी पार करनी पड़ती है। वायुमण्डल में गरमी नष्ट होती है। अतः वायुमण्डल में अधिक दूरी पार करने वाली किरणों की अधिक गरमी वायुमण्डल में ही नष्ट हो जाती है और धरातल पर कम पहुँचती है। वायुमण्डल में कम दूरी तय करने वाली किरणों की कम गरमी वायुमण्डल में नष्ट होने पाती है और धरातल पर अधिक गर्मी पहुँचती है। इसलिए भूमध्यरेखीय भागों में जहाँ सूर्य की सीधी किरणें पड़ती हैं, धरातल को अधिक सूर्यातप प्राप्त होता है तथा ज्यों-ज्यों भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर जाते हैं, सूर्य की किरणें अधिक तिरछी होती जाती हैं और धरातल को कम सूर्यातप मिलता जाता है, यहाँ तक कि ध्रुवों पर ये किरणें अधिक तिरछी हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप ध्रुवों पर बहुत कम गरमी प्राप्त होती है। किरणों के तिरछी होने से धरातल के साथ कोण बनता है अतः जो किरणें जितनी ही तिरछी होती हैं वे उतना ही छोटा कोण बनाती हैं। अतः सूर्य की किरणों का पृथ्वी के धरातल पर कोण बनाना भी सूर्यातप के वितरण पर प्रभाव डालता है।

(2) **दिन-रात्रि की अवधि**—दिन का छोटा-बड़ा होना पृथ्वी के परिक्रमण पर निर्भर करता है। पृथ्वी के परिक्रमण के साथ प्रत्येक स्थान पर पृथ्वी के झुकाव के कारण सूर्य का प्रकाश प्राप्त होने का समय घटता-बढ़ता रहता है। पृथ्वी के जिस भाग में अधिक समय तक प्रकाश रहता है, अर्थात् बड़ा दिन होता है, वहाँ अधिक गरमी प्राप्त होती है। जहाँ कम समय तक प्रकाश रहता है, अर्थात् छोटा दिन होता है वहाँ कम गरमी प्राप्त होती है। पृथ्वी के परिक्रमण के फलस्वरूप ऋतुओं का बदलना तथा दिन का छोटा-बड़ा होना देखा जा चुका है। शीत ऋतु में दिन छोटे

होते हैं और कम गरमी पृथ्वी को प्राप्त होती है। विभिन्न ऋतुओं में दिन की लम्बाई अक्षांश रेखाओं के अंश के साथ घटती-बढ़ती रहती है।

उत्तरी गोलार्द्ध में 21 जून तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में 22 दिसम्बर की अवस्था

दिन के प्रकाश की अवधि

अक्षांश	दिन की अवधि घं० मि०
0°	12— 0
10°	12—35
20°	13—12
30°	13—36
40°	14—52
50°	16—18
60°	18—30
70°	2 माह
80°	4 माह
90°	6 माह

चित्र 280—दिन के प्रकाश की अवधि

चित्र 281—अक्षांश तथा दिन की लम्बाई
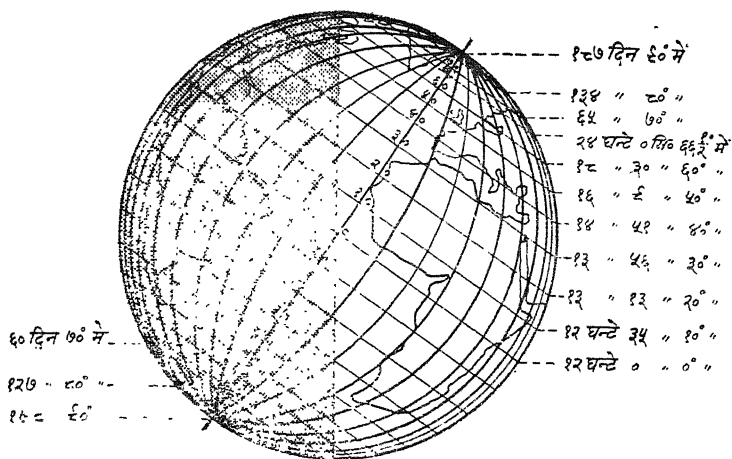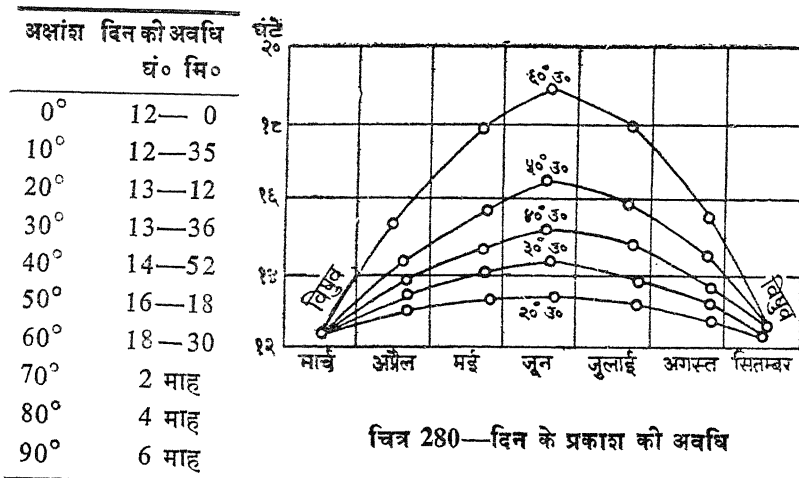
ग्रीष्म ऋतुओं में $66\frac{1}{2}°$ अक्षांशों पर दिन की लम्बाई 24 घण्टा तथा ध्रुवों पर 6 माह की होती है। परन्तु सूर्य की किरणों के तिरछी पड़ने के कारण ध्रुवीय अथवा विषुवतरेखा से दूरवर्ती भागों में पृथ्वी के धरातल को बहुत कम सूर्यातप प्राप्त

होता है। वैज्ञानिक हान तथा ज्वरिंग द्वारा प्रस्तुत निम्न तालिका से यह साफ विदित है :

अक्षांश		वार्षिक ताप (सेग्रे)	जनवरी (सेग्रे)	जुलाई (सेग्रे)
90°		—22·8	—41	—1·1
80°	उत्तरी	—18·3	—32·2	1·7
70°	गोलार्द्ध	—11·9	—26	7·2
60°		— 1·1	—16	14
50°		5·5	— 7·2	17·8
40°		14	5	24
30°		20	14·4	27·2
20°		25	21·6	27·7
10°		26·6	25·5	26·6
0°	भूमध्यरेखा	26	26	26·6
10°		25	25·5	24
20°		22·8	21·6	20
30°	दक्षिणी	16·8	15·5	14·4
40°	गोलार्द्ध	11·6	7·8	9
50°		5·5	2·2	3·3
60°		—3·3	—3·3	— 9·4
70°		—14	—11·9	—12·8
80°		—26·7	—13·3	—15·5
90°		—27·2	—	—16

(3) **जल-थल का वितरण**—पृथ्वी के धरातल पर जल तथा थल का वितरण भी सूर्यातप के वितरण पर प्रभाव डालता है क्योंकि स्थल के भाग जल भाग की अपेक्षा शीघ्रता से गरम तथा शीघ्रता से ठण्डे हो जाते हैं। स्थल भाग के शीघ्र गरम और ठण्डे होने के निम्न कारण हैं :

(1) स्थल भाग का तल खुरदरा होता है जबकि जल का तल चिकना और चमकदार होता है। खुरदरी वस्तुएँ सूर्य की गरमी को शीघ्र सोख लेती हैं तथा शीघ्र अपनी उष्णता को बाहर भी निकालती हैं। परन्तु चिकनी और चमकदार वस्तुएँ सूर्यातप का परावर्तन कर देती हैं।

(2) सूर्य की किरणें स्थल भाग के केवल ऊपरी भाग को ही गरम करती हैं क्योंकि गहराई तक नहीं पहुँच पाती हैं। परन्तु जल भाग में सूर्य की किरणों को गहराई तक पहुँच कर अधिक भाग को गरम करना पड़ता है। स्थल पर 1 मीटर तथा जल में 20 मीटर की गहराई तक सूर्यातप का प्रभाव होता है।

(3) स्थल भाग ठोस होता है तथा जल भाग तरल। अतः स्थल भाग पर पड़ने वाली गरमी केवल उसी भाग को गरम करती है। परन्तु जल भाग पर पड़ने वाली गरमी उसमें संवहनीय धाराएँ पैदा कर देती है जिससे उसे अधिक भाग को गरम करना पड़ता है।

(4) पानी की आपेक्षिक ऊष्मा (specific heat) स्थल की आपेक्षिक ऊष्मा से अधिक है। एक माप के जल और थल भाग को एक समान गरम करने के लिए जल भाग को थल भाग से पाँच गुनी अधिक गरमी की आवश्यकता होती है।

(5) सौर-ताप का कुछ अंश जल-वाष्प बनाने में नष्ट हो जाता है। किन्तु थल में भाप नहीं बनती है, अतः सभी सौर-ताप तापमान को बढ़ाने में काम आता है।

(6) जलगाहों के ऊपर बादलों एवं जल-वाष्प का आवरण सूर्य तथा पृथ्वी दोनों से ऊष्मा-विकिरण में बाधक होता है।

(4) **धरातल का रंग**—सौर-ताप के वितरण पर धरातल पर पाई जाने वाली मिट्टी के रंग का भी प्रभाव पड़ता है। धरातल पर जहाँ मिट्टी काली या अन्य रंग की होती है वह अधिक सूर्यातप सोखती है। परन्तु हल्के रंग या रंगरहित मिट्टी वाला धरातल रंगीन मिट्टी की अपेक्षा कम गरमी सोखता है।

(5) **भूतल का स्वभाव**—पृथ्वी के धरातल पर सौर-ताप के वितरण पर भूतल की बनावट भी प्रभाव डालती है। खुरदरे धरातल वाले भाग चमकदार धरातल वाले भागों की अपेक्षा शीघ्र अधिक गरम हो जाते हैं। इसी से साधारण मिट्टी वाले भाग पथरीले तथा बर्फीले भागों की अपेक्षा शीघ्र गरम हो जाते हैं क्योंकि चिकनी तथा चमकदार धरातल वाली वस्तुएँ गरमी को वापस लौटा देती हैं।

किसी वस्तु में परावर्तन शक्ति अधिक होती है, किसी में कम। जहाँ अधिक प्रतिबिम्बन होता है वहाँ कम सूर्यातप पृथ्वी में प्रवेश कर पाता है और जहाँ कम प्रतिबिम्ब होता है वहाँ अधिक तरंगें प्रवेश कर जाती हैं।

परावर्तन से ऊष्मा-तरंगों का प्रतिशत ह्रास

वनस्पति	7 से 9 प्रतिशत
बालू	13 से 18 प्रतिशत
हिम	80 से 90 प्रतिशत
समुद्र-जल	3 से 40 प्रतिशत

(लैण्ड्सबर्ग द्वारा प्रतिपादित)

सूर्यातप का प्रवेश वनस्पतिरहित शुष्क भूमि में अधिक होता है। हिम तथा जल से ढके हुए भागों में ऊष्मा-तरंगों का कम प्रवेश होता है। प्रकृति का नियम है कि अधिक तप्त भूमि से अधिक ऊष्मा-विकिरण होता है। इस नियम के प्रणेता अंग्रेज वैज्ञानिक **स्टेफन** तथा **बोल्ट्समैन** हैं। इस प्रकार कम परावर्तन वाले भागों में अधिक ऊष्मा निकलती है क्योंकि उनमें अधिक ताप-तरंगें प्रवेश करती हैं।

जिस भाग में जल की प्रधानता होती है, वह स्थल-प्रधान भागों की अपेक्षा

सौर-ताप कम सोखता है। भुरभुरी भूमि वाले वनस्पतिहीन धरातल पर कठोर भूमि वाले धरातल की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता है। इसी कारण रेगिस्तानी भाग बहुत गरम हो जाते हैं। वनस्पति-प्रधान धरातल सौर-ताप को भूमि में सोखने में सहायक होते हैं।

(6) **धरातल की ऊँचाई**—धरातल की ऊँचाई का भी सौर-ताप के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। उच्च भाग निम्न भाग की अपेक्षा कम गरम होते हैं क्योंकि पार्थिव ऊष्मा ही वायुमण्डल को उष्णता प्रदान करती है।

(7) **वायुमण्डल की मोटाई तथा पारदर्शकता**—पृथ्वी-तल पर सौर-ताप के वितरण में वायुमण्डल की मोटाई तथा पारदर्शकता का भी प्रभाव पड़ता है। जिस स्थान पर वायुमण्डल की मोटाई अधिक होती है उस स्थान पर सूर्यातप कम आता है। इसके विपरीत जिस स्थान पर वायुमण्डल की मोटाई कम होती है वहाँ सूर्यातप अधिक आता है। वायुमण्डल की पारदर्शकता का भी प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। यदि आकाश में धूलि के कण, बादल आदि अधिक रहते हैं तो सूर्य-ताप का विकिरण कम रहता है। यदि आकाश स्वच्छ रहता है तो सूर्य-ताप का विकिरण अधिक होता है। **लिंक** महोदय ने जल-वाष्प, धूलि-कण एवं बादलों को गंदलापन गुणक (turbidity factor) के अन्तर्गत रखा है। इसके कारण आतप का अवशोषण, प्रकीर्णन तथा परावर्तन होता है। वायुमण्डल द्वारा सूर्यातप का 15 प्रतिशत अवशोषण कर लिया जाता है। 42 प्रतिशत प्रकीर्ण कर दिया जाता है। केवल 43 प्रतिशत भूपृष्ठ पर पहुँचता है।

(8) **सौर कलंकों की संख्या**—सूर्य के अन्दर स्थित काले धब्बों का भी प्रभाव सूर्यातप के वितरण पर पड़ता है। यदि सूर्य के अन्दर इन सौर-कलंकों की संख्या अधिक रहती है तो अधिक सूर्यातप पृथ्वी पर आता है। यदि इनकी संख्या कम होती है तो ताप की मात्रा भी पृथ्वी पर कम ही आती है।

(9) **पृथ्वी से सूर्य की दूरी**—सूर्य से पृथ्वी की दूरी सदा एक सी नहीं होती है। उसमें अन्तर होता रहता है। उपसौर (perhelion) की अपेक्षा अपसौर (aphelion) की दशा में सूर्य से पृथ्वी की दूरी अधिक होती है। जिस समय अप-सौर की दशा होती है उस समय पृथ्वी पर कम सूर्यातप की मात्रा आती है। जिस समय अपसौर की दशा होती है उस समय अधिक सौर-ताप की मात्रा पृथ्वी पर आती है। 20 दिसम्बर को सूर्य पृथ्वी से सबसे निकट 14,73,15,000 किलोमीटर और 21 जून को सबसे अधिक दूर 15,21,45,000 किलोमीटर रहता है। इसलिए दक्षिणी गोलार्द्ध अपनी ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा अधिक सूर्यातप प्राप्त करता है क्योंकि इन दिनों पृथ्वी सूर्य से सर्वाधिक निकट रहती है। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु अधिक लम्बी होने के कारण दोनों गोलार्द्धों में एक वर्ष में प्राप्त सूर्यातप समान होता है।

पृथ्वी के धरातल पर सूर्यातप के वितरण का प्रभाव हम भली-भाँति जानते हैं। इसी के फलस्वरूप विषुवतरेखीय प्रदेश ध्रुव-प्रदेशों की अपेक्षा अधिक उष्ण होते हैं। थल भाग जल भाग की अपेक्षा अधिक गरमी प्राप्त करते हैं, रेगिस्तान अधिक गरम हो जाते हैं। दिन में रात की अपेक्षा तथा ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक गरमी मिलती है। पहाड़ों पर कम गरमी पड़ती है।

आतप-कटिबन्ध

सूर्यातप के असमान वितरण के आधार पर भूगोल के विद्वानों ने पृथ्वी के सम्पूर्ण धरातल को तीन कटिबन्धों में विभाजित किया है। कर्क एवं मकर रेखाओं के बीच का भाग उष्ण कटिबन्ध (torrid zone) कहलाता है। कर्क रेखा एवं उत्तर ध्रुवीय वृत्त और मकर रेखा एवं दक्षिण ध्रुवीय वृत्त के मध्य के भाग शीतोष्ण कटिबन्ध कहलाते हैं। ध्रुवीय वृत्तों से ध्रुव तक के भाग शीत कटिबन्ध कहलाते हैं।

उष्ण कटिबन्ध में साल भर सूर्य-ताप अधिक मिलता है। अतः साल भर गरमी पड़ती है। शीतोष्ण कटिबन्ध में ऋतु-परिवर्तन के साथ सूर्य-ताप कभी अधिक तथा कभी कम मिलता है। शीत कटिबन्ध में सूर्य की किरणें तिरछी होने के कारण सर्वदा बहुत कम ताप प्राप्त होता है। अतः इस भाग में साल भर ठण्डक रहती है।

चित्र 282—आतप का कटिबन्ध

(उष्ण कटिबन्ध में ताप के दो महत्तम तथा दो लघुतम बिन्दु होते हैं क्योंकि इस भाग में दो बार सूर्य लम्बवत् चमकता है और दो बार सबसे अधिक तिरछा रहता है। शीतोष्ण तथा शीत कटिबन्धों में केवल एक महत्तम तथा एक लघुतम बिन्दु होता है।)

गोधूलि या सांध्य प्रकाश
(Twilight)

सांध्य प्रकाश पृथ्वी के परिभ्रमण तथा परिक्रमण पर निर्भर करता है। (प्रत्येक दिन सूर्योदय से पहले तथा सूर्यास्त के बाद घर के बाहर खुले मैदान में कार्य करने के निमित्त पर्याप्त प्रकाश रहता है। यही प्रकाश सांध्य प्रकाश कहलाता है।) यह प्रकाश क्षितिज के नीचे स्थित सूर्य का प्रकाश होता है। यह वायुमण्डल की धूल तथा आर्द्रता कणों का विसरित परावर्तन (diffused reflection) होता है। वायुमण्डल का परावर्तन एकत्र नहीं होता है, बल्कि फैल जाता है।

सूर्योदय या सूर्यास्त के समीप एक 2,000 किलोमीटर चौड़ी पेटी में यह प्रकाश होता है। (सूर्योदय से पूर्व क्षितिज के 60° नीचे स्थित सूर्य के सांध्य प्रकाश का श्रीगणेश होता है। इसी तरह सूर्यास्त के बाद क्षितिज से 60° नीचे पहुँचने तक सूर्य से सांध्य प्रकाश होता है। इस अवधि में अन्य प्रकाश के बिना मैदान में साधारण कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। इसको नागरिक सांध्य प्रकाश (civil twilight) कहते हैं।)

अन्धकार और सूर्योदय तथा सूर्यास्त और अंधकार के मध्य का समय **खगोलीय** सांध्य प्रकाश (celetial twilight) कहलाता है। (जब सूर्य क्षितिज से लगभग 18° नीचे होता है तो गोधूलि प्रारम्भ तथा समाप्त होता है। उच्च अक्षांशों में विशेषतया ग्रीष्म के महीनों में नागरिक तथा आकाशीय सांध्य प्रकाशों में बहुत अन्तर होता है। जून तथा अर्द्ध-जुलाई तक 50° उत्तर से ऊपर के अक्षांशों पर सूर्य कभी क्षितिज से इतना नीचे नहीं चला जाता कि पूर्ण अंधकार छा जाय।

जब सूर्य क्षितिज से 12° नीचे रहता है तो इसको नाविक सांध्य प्रकाश (nautical twilight) कहते हैं। इसमें धरातलीय पदार्थों के बाह्य स्वरूप दृश्य होते हैं। क्षितिज के नीचे सूर्य के पथ का झुकाव ही सांध्य प्रकाश की अवधि को निर्धारित करता है। सांध्य प्रकाश की अवधि अक्षांश की वृद्धि के साथ शीघ्रता से बढ़ती जाती है। क्योंकि सौर-पथ का झुकाव कम होता जाता है। (21 मार्च तथा 23 दिसम्बर को 80° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों पर रात्रि भर प्रकाश रहता है। किन्तु भूमध्य रेखा पर केवल एक घण्टे रहता है। ध्रुवों पर जब सूर्य नहीं निकलता है, यह सांध्य प्रकाश दिन की भाँति ज्योतिर्मय होता है।)

ग्रीष्म संक्रान्ति

९०° उ०
८०° उ०
६०° उ०
३०° उ०
०° उ०

शीत संक्रान्ति

९०° उ०
८०° उ०
६०° उ०
३०° उ०
०° उ०

रात्रि गोधूलि दिन

चित्र 283—रात्रि, दिन तथा गोधूलि प्रकाश में सम्बन्ध

सूर्य दक्षिणी ध्रुव पर 24 मार्च से लेकर 20 सितम्बर तक दृष्टिगोचर नहीं होता है। किन्तु वहाँ कई सप्ताह तक सांध्य प्रकाश रहता है। इसके

पश्चात् इतना अंधकार छा जाता है कि केवल तारे दिखलाई देते हैं। शीतकाल के अन्त में भी सूर्य निकलने के पहले ऐसा ही सांध्य प्रकाश का समय होता है।

उत्तरी ध्रुव पर पहली फरवरी को लगभग बहुत धुंधला सांध्य प्रकाश आरम्भ होता है जो धीरे-धीरे बढ़ता जाता है जब तक कि सूर्य मार्च में क्षितिज के ऊपर नहीं आ जाता है। 80° उत्तरी अक्षांश पर यद्यपि फरवरी के लगभग मध्य से अप्रैल के मध्य तक प्रतिदिन सूर्य उदय तथा अस्त होता है तथापि मार्च के आरम्भ से ही रात्रि भर यह प्रकाश रहता है।

मार्च के पश्चात् कई महीनों तक सूर्य अस्त नहीं होता है। 80° उत्तरी अक्षांश में सूर्य 22 अक्टूबर से 20 फरवरी तक उदय नहीं होता है, किन्तु प्रतिदिन थोड़ी देर के लिए यह प्रकाश होता है जो दोपहर के समय अधिक प्रकाशमान होता है। नार्वे तट पर मई के उत्तरार्द्ध से लेकर जुलाई के उत्तरार्द्ध तक अर्द्ध रात्रि में भी सांध्य प्रकाश होता है। उच्च अक्षांशों में यह अधिक समय के लिए होता है जैसा चित्र 278 से व्यक्त होता है। इस प्रकार दोनों ध्रुव-क्षेत्रों में सात-सात सप्ताहों का खगोलीय सांध्य प्रकाश रहता है।

भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की गति तीव्र होने से सांध्य प्रकाश कम समय तक रहता है। साथ ही सूर्य का पथ ऊर्ध्वाधर होता है, अतः सूर्य शीघ्र ही 15° प्रति घण्टा की गति से क्षितिज के नीचे चला जाता है।

सूर्य-कलंक
(Sun-Spots)

सूर्य एक गैसीय वृहत् पिण्ड है। चन्द्रमा की तरह इसके पृष्ठ पर भी कलंक हैं। ये सूर्य-कलंक वेधशालाओं में दूरबीन यन्त्र की सहायता से देखे जा सकते हैं। किन्तु प्राचीन इतिहासों में भी इनकी चर्चा मिलती है, यद्यपि उस युग में दूरबीन यन्त्र का आविष्कार नहीं हुआ था। चीन के इतिहास ग्रन्थों में सन् 188 से लेकर सन् 1638 तक 95 रवि कलंकों की चर्चा है। इनकी आकृति उड़ती चिड़िया, अण्डे या सेव की तरह व्यक्त की गयी है। इस सम्बन्ध में अन्धविश्वास की भी एक रोचक कहानी प्रसिद्ध है। **फादर रिचिओलो शाइनर** एक पादरी थे। उन्होंने रवि-कलंकों को देखा और बड़े पादरी से निवेदन किया, किन्तु बड़े पादरी ने उन्हें फटकार सुनायी।

विस्तार—सूर्य-कलंक अस्थायी होते हैं। ये बनते और मिटते रहते हैं। इनकी स्थिति भी परिवर्तनशील है। पूरब से पश्चिम की ओर चक्कर लगाते जान पड़ते हैं और अनुमानतः $27\frac{1}{4}$ दिन में एक बार चक्कर लगा लेते हैं। किन्तु भूमध्यरेखा के समीप वाले कलंक अधिक वेग से चलते हैं। ये 25 दिन में ही एक चक्कर लगा लेते हैं। सूर्य के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव की ओर कलंकों की गति मन्द पड़ती जाती है। ये कलंक 5° से 45° अक्षांश तक के भागों में ही अधिक बनते हैं। ध्रुव के समीपस्थ स्थानों में सूर्य-कलंक कभी नहीं दिखायी पड़ते हैं। कलंक 45° अक्षांशों में प्रकट होते हैं और चक्र के अन्त में विषुवत् रेखा के निकट दिखाई देते हैं। विषुवत् रेखा के

समीप कलंकों के अन्त होने के पूर्व 45° अक्षांशों पर ये पुनः दिखाई देने लगते हैं। इस क्रिया को स्पोरस नियम (Spore's Law) कहते हैं।

इन तथ्यों से स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य ठोस नहीं है। यदि सूर्य ठोस होता और उसमें कहीं-कहीं कलंक होते तो वे सदा एक ही स्थान पर होते और उनके आकार में परिवर्तन न होता और उनका भ्रमण-काल सदा समान होता। स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य अपनी अक्ष पर उसी तरह नाचता है जैसे पृथ्वी।

स्वरूप—सूर्य-कलंक का स्वरूप निश्चित नहीं है। किन्तु बड़े कलंक प्रायः गोल होते हैं। इनके दो स्पष्ट भाग प्रतीत होते हैं—मध्य का काला भाग और बाहर का अपेक्षाकृत कम काला भाग। बीच का काला भाग प्रच्छाया (umbra) और बाहर वाला कम काला भाग उपच्छाया (penumbra) कहलाता है।

प्रायः कलंक समूहों में विभाजित दिखायी देते हैं। कभी-कभी दो कलंक एक साथ दिखलायी देते हैं, जो बढ़ते जाते हैं और एक-दूसरे से दूर हटते जाते हैं। इनके हटने की गति 12,800 किलोमीटर प्रतिदिन तक पहुँच जाती है। इन दो कलंकों के मध्य दूसरे कलंक पैदा हो जाते हैं जो बहुत दिनों तक नहीं ठहरते हैं।

कुछ कलंक गहरे और कुछ उथले दिखलाई पड़ते हैं। ये एक-दो दिन से लेकर कई महीनों तक टिकते हैं। मिटने का कारण साधारणतः यही होता है कि आस-पास का चमकीला पदार्थ उन पर चढ़ जाता है।

सूर्य-कलंक वस्तुतः हैं क्या, इसका ठीक पता नहीं लग पाया है। किन्तु आधुनिक परिकल्पना यह है कि ये बवंडर हैं जिनमें से भीतर की गैसें चक्कर काटती हुई ऊपर और बाहर निकलती हैं। यदि इस प्रकार के भँवर को पानी पर देखना चाहें तो दफ्ती या पतली लकड़ी का 25 सेंटीमीटर व्यास का एक वृत्त बना लीजिए। किसी तालाब के स्थिर जल में लकड़ी को आधी डुबा दीजिए। इसको आधी डूबी हुई और खड़ी स्थिति में रखकर जोर से पीछे खींचकर पानी से बाहर निकाल लीजिए। इस प्रकार पानी पर दो भँवर बन जायेंगे। इनके सिरे तुरही के आकार के होते हैं। हाइड्रोजन प्रकाश तथा कैल्सियम प्रकाश द्वारा लिए गए सूर्य के फोटो से भी प्रकट होता है कि सूर्य-कलंक भँवर हैं।

ग्यारह वर्षीय चक्र—जर्मन ज्योतिषी श्वाबे ने सन् 1832 में पता लगाया कि ग्यारह वर्ष में सूर्य-कलंकों की संख्या तथा क्षेत्रफल बढ़कर महत्तम पहुँच जाते हैं और एक बार लघुतम तक पहुँचते हैं। इसके पश्चात् भारत की **कोवाई कैनाल** वेधशाला, दक्षिणी अफ्रीका की **केप आव गुड होप** वेधशाला तथा इंगलैण्ड, फ्रांस एवं अमरीका की वेधशालाओं में फोटो लेने की योजना चालू हो गयी। इनके परीक्षणों से ज्ञात होता है कि कलंकों के घटने-बढ़ने का चक्र-काल नियमित रूप से ग्यारह वर्ष नहीं है। यह समय 7 वर्ष से 17 वर्ष तक होता है। इतना अवश्य प्रकट होता है कि कलंकों कि संख्या तथा क्षेत्रफल लगभग $4\frac{1}{2}$ वर्ष में बढ़कर धीरे-धीरे $6\frac{1}{2}$ वर्ष में घटता है। यह सौर्य विस्फोट-चक्र (cycle of solar activity) की **अवधि** है।

कलंकों का प्रभाव—रवि-कलंकों का पृथ्वी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिकों का सबसे आधुनिक मत यह है कि रवि-कलंकों का पृथ्वी की चुम्बकीय घटनाओं पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। सूर्य के बड़े कलंक-समूह के दिखाई देने पर आकाश में जोरों के साथ उत्तरी तथा दक्षिणी प्रकाश दिखाई देते हैं। अधिकतम विस्फोटों के समय चुम्बकीय झंझावात उत्पन्न होते हैं। इसके कारण कुतुबनुमा की सुई की दिशा में भी कुछ परिवर्तन होने लगता है। रेडियो तथा बेतार के तार की ध्वनि में भी गड़बड़ी होने लगती है।

यद्यपि यह विवादास्पद है, किन्तु वैज्ञानिकों का विचार है कि इन कलंकों से सौर-शक्ति प्रसारित होती है। जब कलंकों की संख्या अधिक होती है तो सौर-शक्ति अधिक आती है। किन्तु इस समय पृथ्वी का तापमान कम होता है। अनुभव से यह एक विचित्र तथ्य प्रकट हो रहा है। **फादर रिचिओले** नामक एक पादरी ने सन् 1651 में इस तथ्य को बताया और विश्व-प्रसिद्ध वैज्ञानिक **हर्शेल** ने भी सन् 1801 में इसकी पुष्टि की। ऋतु विज्ञानवेत्ता **कोइपेन** ने सन् 1934 में तथा अमरीकी तारा भौतिकज्ञ **एबट** ने भी सन् 1940 में अपने अनुसंधानों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि सूर्य के कलंकों की अधिकता के समय पृथ्वी का तापमान कम हो जाता है। इस विचित्रता के अग्रलिखित मुख्य कारण बताये जाते हैं :

(1) जब कलंकों की अधिकता होने पर अधिक सौर-शक्ति निकलती है तो जल से अधिक वाष्प बनती है और अधिक बादल बनते हैं जिससे सूर्यातप पृथ्वी तक कम पहुँचता है, क्योंकि बादल इसको रोकने में परदे का कार्य करते हैं।

(2) अधिक सौर-शक्ति के आने से वायुमण्डल में ओषोण (ओजोन) गैस की कमी पड़ जाती है। साधारणतया यह गैस पृथ्वी की ऊष्मा को सुरक्षित रखती है। इस गैस की कमी से पृथ्वी की ऊष्मा कम हो जाती है। जब रवि-कलंक कम होते हैं तो इस गैस की अधिकता हो जाती है जिससे पृथ्वी की ऊष्मा बाहर नहीं निकलने पाती है और पृथ्वी की ऊष्मा ऊँची रहती है।

(3) अधिक कलंकों के रहने पर वायुमण्डल में ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे पृथ्वी की गरम हवा अधिक ऊँचाई पर चली जाती है और धरातल का तापमान कम हो जाता है।

(4) समुद्र के जल में भी उथल-पुथल मच जाती है। समुद्र की तली का शीतल जल ऊपर आ जाता है। इस ठण्डे जल की अधिकता के कारण तापमान कम हो जाता है।

भारतीय धर्म-ग्रन्थों में भी सूर्य-कलंक का उल्लेख मिलता है। भविष्य पुराण में लिखा है कि :

विश्वकर्मा ह्यनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वतः।
भ्रमिमारोप्य तत्तेजः शातभामास तस्य वै ॥

आधुनिक अनुसंधानों के अनुसार रवि-कलंक प्रकाशमण्डल के शीतलतर क्षेत्र हैं जिनसे सूर्यातप का विकिरण सामान्य विकिरण की अपेक्षा कम होता है। किन्तु इनके पास फैकुली (faculae) मिलते हैं जो इनके विकिरण की कमी की पूर्ति कर देते हैं।

प्रश्न

1. Discuss the distribution of insolation in the atmosphere.
   (*Rajasthan 1970*; *Sagar 1971*; *Magadh 1969*)
   वायुमण्डल में सूर्यातप के वितरण की व्याख्या कीजिए।
2. What would have been the impact on the distribution of insolation on the earth's surface, if there was no inclination in its axis ? (*Poona 1969*)
   यदि पृथ्वी के अक्ष में झुकाव नहीं होता, तो सूर्यातप के वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता ?
3. Analyze the influence of land and water on the distribution of temperature on the surface of the earth.
   (*Gorakhpur 1971*; *Nagpur 1970*)
   पृथ्वी के धरातल पर स्थल एवं जल का प्रभाव तापमान के वितरण पर बताइये।

27

वायुमण्डल का तापमान

[ATMOSPHERIC TEMPERATURE]

सूर्यातप वायुमण्डल पार करके धरातल पर पहुँचता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वायुमण्डल सूर्य की गरमी सीधे प्राप्त करता है। वास्तव में धरातल सर्वप्रथम सूर्यातप को ग्रहण करता है और धरातल की गरमी को वायुमण्डल विभिन्न विधियों से प्राप्त करके गरम होता है। धरातल के थलीय भाग जलीय भाग की अपेक्षा वायुमण्डल को अधिक ऊष्मा प्रदान करते हैं। धरातल से वायुमण्डल को संचालन (conduction), संवहन (convection) तथा विकिरण (radiation) के द्वारा ऊष्मा प्राप्त होती है। वायुमण्डल सौर-विकिरण (solar radiation) की 58 प्रतिशत गरमी प्राप्त करता है जिसमें 15 प्रतिशत तो वायुमण्डल को सीधे प्राप्त हो जाती है और पृथ्वी के द्वारा सोखी हुई गरमी से भी 43 प्रतिशत मिलती है।

वायुमण्डल में सूर्यातप के वितरण की विधियाँ

(1) **सूर्यातप संचालन**—वायुमण्डल धरातल से मिला हुआ है। अतः धरातल की गरमी वायुमण्डल के निचले भाग को गरम करती है और फिर उसके सम्पर्क से वायुमण्डल का ऊपर वाला भाग भी गरमी प्राप्त करता है। परन्तु इस प्रकार वायुमण्डल का निचला भाग सबसे अधिक गरम होता है। वायुमण्डल में ज्यों-ज्यों ऊँचे होते जाते हैं, यह गरमी कम होती जाती है।

(2) **सूर्यातप संवहन**—वायुमण्डल के नीचे वाली तह की हवा धरातल के सम्पर्क से गरम हो जाती है। अतः उसका आयतन बढ़ जाता है और हल्की हो जाती है। इस प्रकार वायुमण्डल की निचली तह की हवा ऊपर उठने लगती है और ऊपरी तह तक गर्मी पहुँच जाती है। इस प्रकार रिक्त स्थान को भरने के लिए अन्यत्र से ऊपर की भारी हवा धरातल की ओर आने लगती है। फिर यह हवा भी गरम होकर ऊपर उठ जाती है और इस प्रकार वायुमण्डल में संवहन धाराएँ चलने लगती हैं जिससे वायुमण्डल का प्रत्येक भाग धरातल की गरमी से गरम होता रहता है।

(3) **सूर्यातप विकिरण**—सूर्यातप से जब धरातल गरम हो जाता है तो धरातल से तप्त तरंगें वायुमण्डल की ओर चलने लगती हैं। इन तरंगों की उष्णता से वायुमण्डल धीरे-धीरे उष्ण हो जाता है। वायुमण्डल का वह भाग जो धरातल के समीप होता है, अधिक गरमी प्राप्त करता है तथा धरातल से ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है उष्णता की प्राप्ति कम होती जाती है। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जैसे किसी जलते हुए अग्नि-पुंज की तप्त तरंगों से निकटवर्ती मनुष्य को अधिक गरमी मिलती है और दूरवर्ती मनुष्य को कम।

(4) **वायु द्वारा आतप-वितरण**—आतपन का वितरण वायुमण्डल में वायुपुंज या वायु के द्वारा होता है। इसी आधार पर यूरोप तथा अमरीका में यह कहावत प्रचलित है कि आज अपेक्षाकृत गरम रहेगा क्योंकि दक्षिणी वायु है। इसका तात्पर्य यह है कि दक्षिण से बहने वाली वायु अपने उद्गम स्थल की उष्णता को साथ में प्रवाहित कर लाती है और कभी-कभी शीत ऋतु में भी बरफ पिघलने लगती है। ग्रीष्म काल में उष्ण वायु तरंगें चलती हैं जिससे तापमान 32° सेग्रे से भी अधिक हो जाता है।
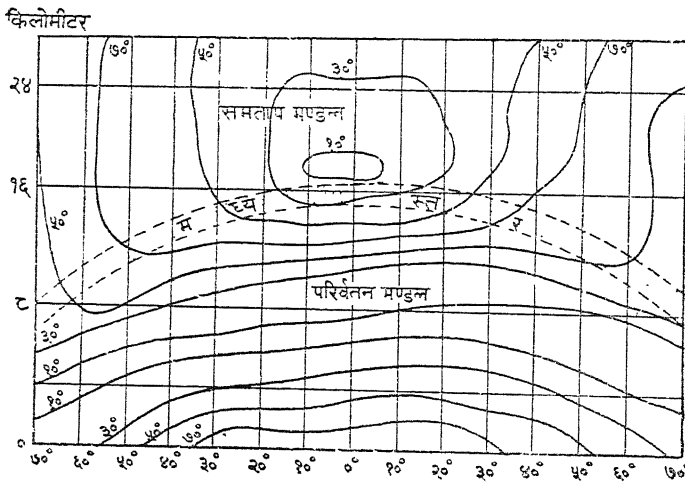
चित्र 284—वायुमण्डल में आतप-वितरण

(5) **सम्पीडन**—इसके अतिरिक्त सम्पीडन (compression) के कारण भी वायुमण्डल गरमी प्राप्त करता है। वायुमण्डल की ऊपरी हवा जब नीचे उतरने लगती है तो उसके नीचे वाली हवा की परतों पर दबाव पड़ता है और इस प्रकार बढ़ते हुए दबाव से वायुमण्डल की निचली तह की हवा गरम हो जाती है।

वायुमण्डल में आतपन-वितरण की उपर्युक्त विधियों से यह विदित होता है कि इसकी निचली तह में उष्णता अधिक मिलती है तथा ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढ़ती

जाती है, उष्णता कम होती जाती है। यही कारण है कि वायुमण्डल का निचला भाग अधिक गरम रहता है तथा ऊपर का भाग कम। यह ज्ञात किया गया है कि 91 मीटर की ऊँचाई पर ·55° सेग्रे तापमान कम हो जाता है।

जब हवाएँ वायुमण्डल में नीचे से ऊपर को उठती हैं तब उसका दाब कम हो जाता है। इस कारण वायु की उष्णता भी कम हो जाती है क्योंकि वायुदाब का वायुताप पर बहुत प्रभाव पड़ता है। हवा यदि अपनी गरमी कम किये या बढ़ाये बिना वायुमण्डल में ऊपर चली जाती है तो उसकी उष्णता अकस्मात् नीचे गिरती है। इस प्रकार हवा के ठण्डे होने की विधि रुद्धोष्म शीतल (adiabatic cooling) कहलाती है। इस विधि से उष्णता 300 मीटर की ऊँचाई पर 3° सेग्रे कम होती है।

वायुमण्डल में ताप की विभिन्नता के कारण

वायुमण्डल में आतपन-वितरण की भिन्नता कई कारणों से होती है। यह देखा जा चुका है कि वायुमण्डल का जो भाग धरातल के समीप होता है उसमें ऊपर वाले भाग की अपेक्षा अधिक गरमी रहती है। इसमें भी वायुमण्डल के वे भाग जो धरातल के गरम भागों के पास होते हैं, अधिक गरम होते हैं। यही नहीं, वायुमण्डल के वे भाग जो धरातल के स्थल भाग से सम्बन्धित रहते हैं, जल भाग से सम्बन्धित भागों की अपेक्षा अधिक गरमी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की भिन्नता के निम्न कारण स्पष्ट हैं :

(1) **सूर्यातप की मात्रा**—यह मात्रा सूर्य की किरणों के धरातल पर कोण बनाने से सम्बन्ध रखती है। विषुवतीय भागों में जहाँ सूर्य की किरणें धरातल पर लम्बवत् पड़ती हैं वहाँ धरातल को सूर्यातप अधिक मिलता है। इस कारण उसके ऊपर का वायुमण्डल भी अधिक आतपन प्राप्त करता है। इसके विपरीत ध्रुव-प्रदेश में सूर्य की किरणें बहुत तिरछी पड़ती हैं जिसके कारण उन प्रदेशों में धरातल को कम आतप मिलता है। फलस्वरूप, उसके पास का वायुमण्डल भी कम उष्णता प्राप्त करता है। यही नहीं, धरातल पर दिन की लम्बाई, जल-थल का भिन्न प्रभाव, भूतल का स्वभाव और मिट्टी का रंग आतप के वितरण पर प्रभाव डालता है। अतः वायुमण्डल भी इस प्रकार के धरातल की गरमी की मात्रा से प्रभावित होता है। वायुमण्डल द्वारा इस प्रकार विभिन्न भागों से विभिन्न मात्रा में आतप प्राप्त करने के कारण सम्पूर्ण वायुमण्डल में आतप की समता स्थापित करने के लिए संवहनीय सौर-तरंगें (convectional solar waves) चलने लगती हैं जो हवा के चलने का कारण होती हैं।

(2) **भौमिक रचना**—समुद्री तथा नम धरातल भी स्थली भागों के धरातल की अपेक्षा सूर्यातप कम प्राप्त करते हैं। अतः उनसे सम्बन्धित वायुमण्डल भी कम ही गरमी प्राप्त करता है। चिकने, चमकीले तथा कठोर स्थल के भाग खुरदरे तथा भुर-

भुरे भागों की अपेक्षा कम आतप सोखते हैं। अतः इनके समीपवर्ती वायुमण्डल में भी कम गरमी होती है।

(3) **वायुमण्डल की सघनता**—वायुमण्डल की सघनता का भी वायुमण्डल के आतप-वितरण पर प्रभाव पड़ता है। वायुमण्डल में उपस्थित बादल, धूलि-कण एवं जल-वाष्प धरातल की गरमी को वायुमण्डल पर अधिक ऊँचाई पर जाने से रोकते हैं। यही कारण है कि बादल से आच्छादित दिनों में अधिक गरमी लगती है। बादल भी रात्रि के समय धरातल से विकिरण होने वाले सूर्यातप को वायुमण्डल में अधिक ऊँचाई तक नहीं जाने देते हैं। बादल के ऊपर वाले वायुमण्डल के भाग में धरातल से किसी प्रकार की गरमी नहीं जाने पाती है।

उपर्युक्त विधि से वायुमण्डल में आतप-वितरण से यह विदित है कि धरातल के समीपवर्ती वायुमण्डल के भाग को आतप अधिक मिलता है और ज्यों-ज्यों वायु-मण्डल में ऊँचाई बढ़ती जाती है, ताप कम होता जाता है। यह दशा क्षोभमण्डल में रहती है। इसके ऊपर $1\frac{1}{2}$ किलोमीटर की ऊँचाई तक वायुमण्डल का क्षोभ-स्तर रहता है, जहाँ हवा नवीन गुण धारण करती है।

(4) **समताप मण्डल का सूर्यातप**—इसके पश्चात् वायुमण्डल की तीसरी पेटी समतापी मण्डल प्रारम्भ हो जाती है जिसमें वायु का गुण प्रथम पेटी का विपरीत रहता है। इसमें वायुमण्डल के निचले भाग में धरातल से 16 किलोमीटर की ऊँचाई से लेकर 32 से 40 किलोमीटर की ऊँचाई वाले भाग आते हैं। इस भाग में क्षोभ-मण्डल की भाँति ऊँचाई के साथ आतप बदलता नहीं, बल्कि स्थिर रहता है। वायु-मण्डल के इस भाग में एक और विशेषता पाई जाती है। वह यह कि विषुवतरेखीय भाग के क्षोभमण्डल का आतप विषुवतरेखा से दूरवर्ती अक्षांशों वाले भाग के आतप से कम रहता है क्योंकि विषुवतरेखा वाले भाग में क्षोभमण्डल का तापमान केवल 80° सेण्टीग्रेड तथा कर्क और मकर रेखा वाले भाग का तापमान 112° सेण्टीग्रेड और 40° से 50° अक्षांशों पर 67° सेण्टीग्रेड रहता है। इसका कारण विषुवतरेखा पर क्षोभमण्डल में चलने वाली संवहन धाराएँ हैं जो घने बादलों के बनने का कारण बनती हैं। क्षोभमण्डल में घने बादलों की उपस्थिति विकिरण के द्वारा धरातल के आतप को वायुमण्डल में अधिक दूर तक नहीं जाने देती और समतापी मण्डल के तापमान को कम कर देती है।

वैज्ञानिक **गोल्ड** और **हम्फ्रीज** के मतानुसार वायुमण्डल का तापमान निम्न दो बातों पर निर्भर करता है :

(1) यदि विकिरण द्वारा प्रत्येक भाग से समान तापमान की मात्रा निकलती है तो तापमान में अन्तर नहीं होता है। यदि तापमान की मात्रा असमान रूप से निकलती है तो तापमान में भेद होता है।

28

धरातल पर तापमान का वितरण

[DISTRIBUTION OF TEMPERATURE OVER THE EARTH'S SURFACE]

यह देखा जा चुका है कि विषुवतरेखा के निकटवर्ती प्रदेशों में सौर-ताप अधिक प्राप्त होता है तथा सौर-ताप की मात्रा ध्रुवों की ओर क्रमशः कम होती जाती है। भूमध्यरेखीय प्रदेशों का औसत तापमान अधिक होता है और ज्यों-ज्यों भूमध्यरेखा से दूर ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं, औसत तापमान कम होता जाता है। धरातल की विशेषता, ऋतु-परिवर्तन, समुद्र से दूरी, प्रचलित वायु, समुद्री धाराओं तथा चक्रवातों के प्रभाव पर तापमान-वितरण निर्भर करता है।

तापमान को प्रभावित करने वाले उपादान

(1) **अक्षांश रेखा**—धरातल पर सूर्यातप की मात्रा अक्षांश रेखाओं के अनुसार निर्धारित होती है। भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर अक्षांशों के बढ़ने के साथ-साथ तापमान भी कम होता जाता है। इसका कारण सूर्य की किरणों का तिरछापन है।
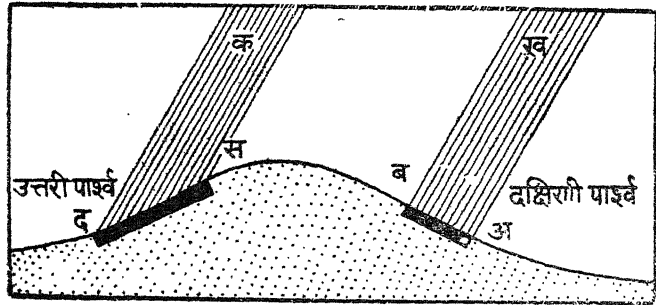
चित्र 289—तापमान तथा भूमि ढाल

अतः देखा जाता है कि पृथ्वी की सतह पर तापमान का वितरण अक्षांश रेखाओं के आधार पर अथवा भूमध्यरेखा से दूरी के आधार पर होता है। इसी आधार पर

कुछ विद्वानों ने ताप-क्षेत्रों की सीमा को निर्धारित करने में अक्षांश का ही सहारा लिया है।

(2) **भूमि का ढाल**—जिन स्थानों का ढाल सूर्य की ओर होता है उन स्थानों पर सूर्य की किरणें अपेक्षाकृत सीधी पड़ती हैं और उन्हें अधिक गरम बना देती हैं। इसके विपरीत जिन स्थानों का ढाल सूर्य से परे होता है वहाँ किरणें अपेक्षाकृत तिरछी पड़ती हैं और वे स्थान इतने गरम नहीं हो पाते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में पर्वतों के दक्षिणी ढाल तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तरी ढाल गरम होते रहते हैं।

(3) **भूमि की बनावट**—शुष्क मरुस्थली भूमि आर्द्र भूमि की अपेक्षा शीघ्रता से गरम तथा ठण्डी होती है। यही कारण है कि मरुस्थलों में अधिक गरमी तथा अधिक सरदी पड़ती है।

(4) **ऋतु-परिवर्तन**—ऋतु के अनुसार भी धरातल पर ताप प्राप्त होता है तथा ऋतु-परिवर्तन के साथ ताप-प्राप्ति में परिवर्तन होता है। ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता है।

(5) **समुद्र से दूरी**—जल की अपेक्षा स्थल शीघ्र गरम होता है, अतः भूमध्यरेखा के निकट स्थल पर समतापी रेखाएँ ध्रुव की ओर और जल पर भूमध्यरेखा की ओर झुकी रहती हैं। स्थल शीघ्र ठण्डा हो जाता है। अतः ध्रुवीय प्रदेश के स्थल पर समतापी रेखाएँ भूमध्यरेखा की ओर और जल पर ध्रुवों की ओर झुक जाती हैं। ध्रुवीय तथा भूमध्यरेखीय प्रदेशों के मध्य कुछ अक्षांशों पर स्थल तथा जल का तापमान एकसा रहता है और वहाँ पर समतापी रेखाएँ लगभग सीधी रहती हैं। इस प्रकार थल एवं जल के वितरण के कारण तापमान में विभिन्नताएँ पैदा हो जाती हैं।

(6) **प्रचलित वायु**—जिस तट पर समुद्री हवाएँ चलती हैं उसका तापमान बढ़ जाता है। जिस तट से हवाएँ चलती हैं उसका तापमान घट जाता है। पछुआ हवाओं से महाद्वीपों के पश्चिमी तट का तापमान बढ़ जाता है और पूरबी तट का तापमान घट जाता है। संमार्गी हवाओं से महाद्वीपों के पूरबी तट का तापमान बढ़ जाता है तथा पश्चिमी तट का तापमान घट जाता है। इसके अतिरिक्त उष्ण भागों से आने वाली वायु तापमान को बढ़ा देती है तथा ठण्डे भागों से आने वाली वायु तापमान को कम कर देती है।

(7) **समुद्री धारा**—धरातल पर उष्णता के वितरण पर समुद्री धाराओं का भी प्रभाव पड़ता है। गरम धाराएँ जिस तट से होकर प्रवाहित होती हैं वहाँ के तापमान को बढ़ा देती हैं। उनके ऊपर से बहने वाली वायु भी गरम होकर निकटवर्ती भाग के तापमान को बढ़ा देती है। गरम धाराओं के कारण ठण्डे समुद्रों का भी तापमान बढ़ जाता है। इसके विपरीत ठण्डी धाराएँ निकटवर्ती तट अथवा सागरीय भाग के तापमान को घटा देती हैं।

(8) **चक्रवात**—चक्रवातों के प्रभाव से भी धरातल पर तापमान घट या बढ़ जाता है। इसकी व्याख्या चक्रवातों के अध्ययन के साथ की गई है।

तापमण्डल
(Thermal Zones)

धरातल पर उष्णता के वितरण के आधार पर धरातल कई तापखण्डों में विभाजित किया गया है। कुछ विद्वानों ने धरातल पर तापखण्डों की सीमा निर्धारित करने में अक्षांश रेखाओं का ही सहारा लिया है। वास्तव में ताप-वितरण पर इनका गहरा प्रभाव भी पड़ता है। परन्तु अधिकतर वैज्ञानिकों ने तापखण्डों की सीमा निर्धारित करने में समताप रेखा अथवा वार्षिक औसत तापमान का अवलम्बन भी लिया है।

यूनानी वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की सतह पर तापखण्डों की सीमा निर्धारित करने में अक्षांश रेखाओं या वार्षिक ताप-परिसर का सहारा लिया है। इस आधार पर पृथ्वी के सम्पूर्ण धरातल को मुख्य तीन भागों में विभाजित किया गया है जो निम्न प्रकार हैं :

(1) **उष्ण तापमण्डल**—उष्ण तापमण्डल अथवा उष्ण कटिबन्ध (torrid zone) भूमध्यरेखा के दोनों ओर कर्क और मकर रेखाओं के बीच का भाग है। इस भाग में सूर्य की लम्बवत् किरणें प्रत्येक स्थान पर वर्ष में दो बार अवश्य पड़ती हैं। इसी से इस भाग में पृथ्वी के धरातल पर सबसे अधिक गरमी पड़ती है तथा कभी भी ताप हिमांक तक नहीं पहुँच पाता है।

(2) **शीतोष्ण तापमण्डल**—शीतोष्ण तापमण्डल अथवा शीतोष्ण कटिबन्ध (temperate zone) पृथ्वी के धरातल पर दोनों गोलार्द्धों में $23\frac{1}{2}°$ अक्षांश से $66\frac{1}{2}°$ अक्षांश के मध्य का भाग है। यह भाग उष्ण तापमण्डल की अपेक्षा ठण्डा होता है। इस भाग में सूर्य की किरणें लम्बवत् कभी भी नहीं पड़ती हैं, अर्थात् सदैव तिरछी किरणें पड़ती हैं। इस भाग में दिन तथा रात चौबीस घण्टे के होते हैं। इससे अधिक अवधि के कभी नहीं होते हैं।

चित्र 290—ताप कटिबन्ध

(3) **शीत तापमण्डल**—शीत तापमण्डल अथवा शीत कटिबन्ध (frizid zone) $66\frac{1}{2}°$ उत्तरी एवं दक्षिणी अक्षांश से ध्रुवों तक फैला हुआ है। इस भाग में साल भर अत्यधिक ठण्डक पड़ती है
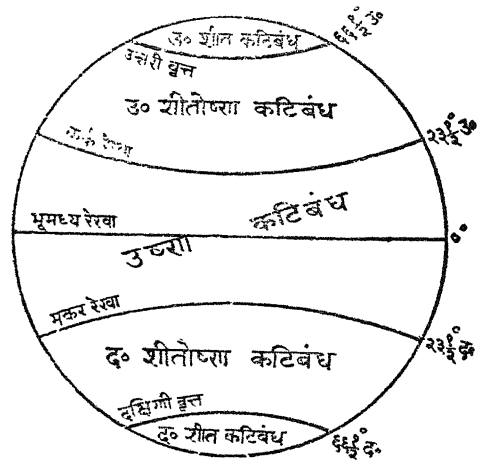
क्योंकि पृथ्वी के धरातल पर सबसे अधिक तिरछी सूर्य की किरणें यहीं आती हैं। इस भाग में दिन व रात की लम्बाई वर्ष भर चौबीस घण्टे से अधिक रहती है, यहाँ तक कि ध्रुवों पर छः माह के दिन व रातें हुआ करती हैं।

समतापी रेखा के आधार पर संसार के मुख्य खण्ड

सूपन नामक जर्मन वैज्ञानिक ने अन्य भौगोलिक परिस्थितियों का विचार करते हुए समतापी रेखाओं द्वारा तापमण्डलों की सीमाएँ निर्धारित की हैं। इस वैज्ञानिक के अनुसार 18° सेंग्रे की वार्षिक समतापी रेखा उष्ण मण्डल की सीमा बनाती
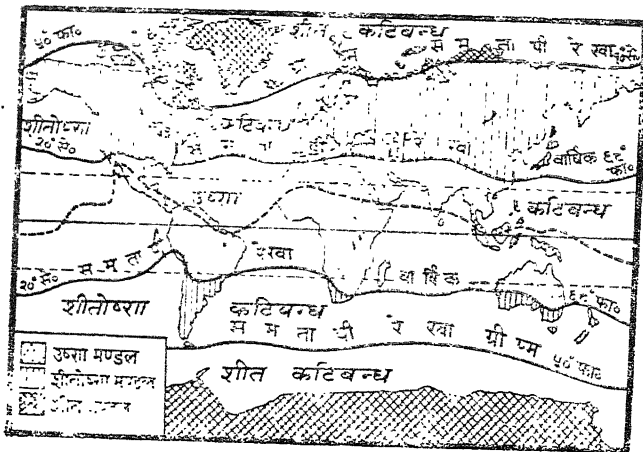
चित्र 291—पृथ्वी के तापमण्डल (सूपन के अनुसार)

है और 10° सेंग्रे की ग्रीष्म ऋतु की समतापी रेखा शीतोष्ण और शीत मण्डलों को अलग करती है। सूपन के अनुसार, निम्न तापमण्डल (thermal zones) हैं :

(1) उष्ण भूमध्यरेखीय कटिबन्ध (Hot Equatorial Belt),
(2) उत्तरी शीतोष्ण कटिबन्ध (North Temperate Zone),
(3) दक्षिणी शीतोष्ण कटिबन्ध (South Temperate Zone),
(4) उत्तरी शीत कटिबन्ध (North Cold Cap),
(5) दक्षिणी शीत कटिबन्ध (South Cold Cap)।

तापमान के आधार पर संसार के खण्ड

कोइपेन नामक जर्मन वैज्ञानिक ने वार्षिक तापमान के आधार पर सम्पूर्ण धरातल को निम्न पाँच तापमण्डलों में विभाजित किया है :

(1) जहाँ 20° सेंग्रे से अधिक वार्षिक तापमान रहता है उसे उष्ण कटिबन्ध अथवा उष्ण तापमण्डल (tropical zone) कहते हैं।

(2) जहाँ चार से ग्यारह माह तक तापमान 20° सेंग्रे से अधिक और एक से आठ माह तक 10° सेंग्रे से 20° सेंग्रे तक रहता है उसे उपोष्ण-कटिबन्ध (sub-tropical zone) अथवा उपोष्ण तापमण्डल कहते हैं।

(3) इसी प्रकार जहाँ चार से बारह माह तक 10° सेंग्रे से 20° सेंग्रे तक तापमान रहता है उसे कोष्ण शीतोष्ण कटिबन्ध (warm temperate zone) कहते हैं।

(4) चौथा भाग शीतल शीतोष्ण कटिबन्ध (cool temperate zone) के नाम से पुकारा जाता है। इस भाग में एक माह से चार माह तक 10° सेंग्रे से 20° सेंग्रे तक और आठ माह से ग्यारह माह तक 10° सेंग्रे तापमान रहता है।

(5) पाँचवाँ भाग अति शीत ध्रुवीय कटिबन्ध (cold polar zone), अर्थात् अतिशीत मण्डल का है। धरातल पर ये ध्रुवों के निकटवर्ती प्रदेश हैं। यहाँ वर्ष भर तापमान 10° सेंग्रे से कम रहता है।

अमरीकी विद्वान **थार्नथ्वेट** ने धरातल पर तापमान की मात्रा के आधार पर भूमण्डल को विभिन्न तापमण्डलों में बाँटा है। इसके अनुसार, निम्न तापमण्डल उल्लेखनीय हैं :

क-मण्डल (A)=उष्ण कटिबन्धी (tropical), अर्थात् अति गरम भाग।

ख-मण्डल (B)=मध्यतापीय (meso-thermal) साधारण गरमी तथा साधारण वर्षा। 15° सेंग्रे से 16° सेंग्रे तापमान।

ग-मण्डल (C)=सूक्ष्मतापीय (micro-thermal) कम गरमी, कम औसत वार्षिक तापपरिसर। शीतल तथा छोटी गरमी की ऋतु और अधिक ठण्डी जाड़े की ऋतु।

घ-मण्डल (D)=शरद् अथवा टैगा।

च-मण्डल (E)=शीत अथवा टुण्ड्रा।

आधुनिक विद्वान धरातल पर तापमान का वितरण समान्तर समतापी रेखाओं (isotherms) के आधार पर किया गया मानते हैं। समतापी रेखाएँ समानीत बराबर तापमान के स्थानों को मिलाने वाली कल्पित रेखाएँ होती हैं। विभिन्न स्थानों के तापमान को निश्चित करते समय उनकी समुद्र-तल से ऊँचाई का अन्तर प्रति 91 मीटर पर ·5° सेंग्रे ध्यान में रखा जाता है। ऊँचाई के अनुसार, तापमान ज्ञात करने पर स्थानों के वास्तविक तापमान का पता नहीं चलता है। समतापी रेखाएँ धरातल पर प्रायः अक्षांश रेखाओं के समान्तर ही होती हैं। अतः समतापी रेखाओं तथा अक्षांश रेखाओं में गहरा सम्बन्ध होता है। समतापी रेखाओं के पूर्ण रूप से अक्षांश रेखाओं का अनुसरण न करने का कारण स्थानों पर थल तथा जल का भिन्न-भिन्न प्रभाव है। थल तथा जल-भागों की समतापी रेखाओं पर पड़ने वाले प्रभाव को पहले लिखा जा चुका है। जल-थल के विभिन्न तापमान का समतापी रेखाओं पर प्रभाव भी गहरा पड़ता है।

तापीय भूमध्यरेखा

समतापी रेखाओं से सीमित तापखण्डों की मध्यवर्ती रेखा को तापीय भूमध्य-रेखा (thermal equator) कहते हैं। यह एक समतापी रेखा है। इस रेखा पर पृथ्वी के उच्चतम वार्षिक तापमान होते हैं। इसलिए यह रेखा भूमध्यरेखा के कभी

उत्तर और कभी दक्षिण होती है क्योंकि सूर्य की अधिक ऊँचाई कभी दक्षिणी गोलार्द्ध में और कभी उत्तरी गोलार्द्ध में होती है। **ओटो टेटेन्स** नामक विद्वान् ने इस रेखा को अन्तरिक्ष भूमध्यरेखा (meteorological equator) कहा है। अतः यह रेखा उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों को तापमान पद्धतियों की सीमा है जो सूर्य के साथ उत्तर-दक्षिण खिसकती है। **टेटेन्स** के अनुसार, इस रेखा पर जुलाई एवं जनवरी के तापमान बराबर होते हैं। यदि 5° का कोण बनाते हुए 90° देशान्तर रेखा पर भूमध्यरेखा को काटते हुए एक विशाल वृत्त खींचा जाय तो अन्तरिक्ष भूमध्यरेखा इस वृत्त के 1° ऊपर स्थित होगी।

वार्षिक औसत समतापी रेखाओं की विशेषताएँ

संसार के समतापी मानचित्रों के अध्ययन से निम्नांकित विशेषताएँ प्रकट होती हैं :

(1) सामान्यतः समतापी रेखाएँ अक्षांशों की दिशा में खींची जाती हैं। उसका कारण यह है कि सूर्यातप अक्षांशों के अनुसार ध्रुवों की ओर क्रमशः घटता है।

(2) समतापी रेखाएँ ग्रीष्म ऋतु में भूमध्यरेखा की ओर उस दशा में मुड़ जाती हैं, जब वे स्थल से समुद्र की ओर आती हैं। परन्तु शीत ऋतु में स्थिति विपरीत हो जाती है तथा वे रेखाएँ स्थल से समुद्र की ओर आने में ध्रुवों की ओर मुड़ जाती हैं क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में थल के भाग का तापमान उसी अक्षांश में स्थित जल के तापमान से अधिक रहता है। शीत ऋतु में इसके विपरीत रहता है, अर्थात् थल भाग का तापमान उसी अक्षांश पर स्थित जल-भाग के तापमान से कम होता है। इसका कारण यह है कि थल-भाग की अपेक्षा जल-भाग अधिक समय में गरम होता है। कहा जाता है कि महासागर अनुदार और महाद्वीप उदार एवं परिवर्तनशील होते हैं।

(3) समतापी रेखाओं के विस्तार पर समुद्री धाराओं का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रशान्त तथा आन्ध्र महासागरों के उत्तरी भागों में कुरोशिवो तथा खाड़ी धारा के कारण समतापी रेखाएँ ध्रुवों की ओर मुड़ जाती हैं। ठण्डी धाराएँ ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर बहती हैं। अतः इनके प्रभाव से समतापी रेखाएँ भूमध्यरेखा की ओर मुड़ी रहती हैं।

(4) दक्षिणी गोलार्द्ध में समतापी रेखाएँ पूरब से पश्चिम अधिक समान्तर हैं। इसका कारण दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल-भाग की कमी तथा जल-भाग की अधिकता है। परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में थल-भाग की प्रधानता के कारण समतापी रेखाओं की स्थिति दक्षिणी गोलार्द्ध के विपरीत रहती है।

(5) उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल-भाग की प्रधानता के कारण दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता है। अतः सबसे अधिक तापमान की समतापी रेखा उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक प्रगतिशील होती है।

(6) उत्तरी गोलार्द्ध में समतापी रेखाएँ अधिक टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। सबसे

अधिक तापमान की समतापी रेखा 27° सेंग्रे महाद्वीपों पर ही सीमित रहती है। यह **तापीय भूमध्यरेखा** कहलाती है। यह एक समतापी रेखा है जिस पर पृथ्वी का उच्च-तम वार्षिक तापमान रहता है। तापमान की भूमध्यरेखा दोनों गोलार्द्धों में ऋतु के अनुसार उत्तर-दक्षिण खिसका करती है। अतः यह **ऋतु-रेखा** भी कहलाती है।

तापमान का मौसमी वितरण

जनवरी में उच्चतम तापमान दक्षिणी गोलार्द्ध में और न्यूनतम तापमान उत्तरी गोलार्द्ध में रहता है। आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में 32° सेंग्रे से अधिक तापमान
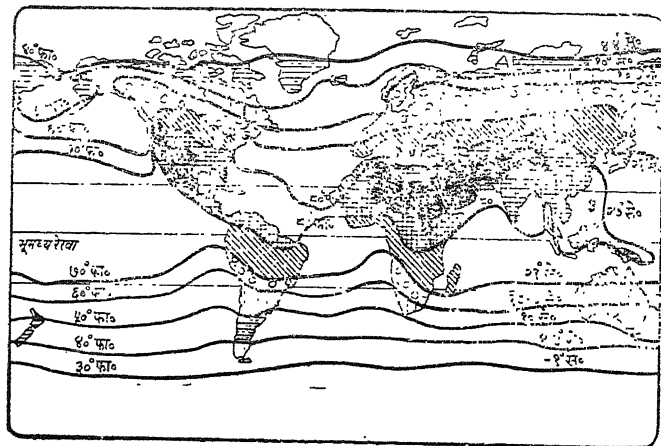
चित्र 292—जुलाई की समतापी रेखाएँ

मिलता है। जुलाई में इसके विपरीत दशा पाई जाती है। एशिया, अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य अमरीका के मरुस्थल 22° सेंग्रे से अधिक तापमान रखते हैं। इस मण्डल में ऋतुवत् प्रभाव गहरा पड़ता है। जुलाई तथा जनवरी के तापमान में महान् अन्तर मिलता है।

जुलाई का तापमान—जुलाई में उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु रहती है। ग्रीष्म ऋतु में महाद्वीप गरम हो जाते हैं। 45° अक्षांशों के उत्तर में समतापी रेखाएँ समुद्र पर भूमध्यरेखा की ओर तथा स्थल पर उत्तर की ओर मुड़ जाती हैं। कर्क और मकर रेखाओं के बीच समतापी रेखाओं में थोड़ा परिवर्तन होता है। इस क्षेत्र में जल की तुलना में थल सदैव उष्ण रहता है। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में उष्णता बढ़ जाती है और दक्षिणी गोलार्द्ध में कम हो जाती है। अतः समतापी रेखाएँ कुछ उत्तर की ओर खिसक जाती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह जाड़े का दिन होता है। जल की अपेक्षा थल ठण्डा हो जाता है। अतः इस भाग में समतापी रेखाओं का मोड़ वार्षिक औसत की ही दिशा में रह जाता है। केवल उनकी मात्रा बढ़ जाती है।

समतापी रेखाएँ थल पर स्थानीय कारणों से टेढ़ी-मेढ़ी रहती हैं, किन्तु समुद्र-तल पर प्राय: वे सीधी रहती हैं।

जनवरी का तापमान—इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में शीत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु रहती है। जुलाई में जो दशा उत्तरी गोलार्द्ध में पाई जाती है वही दशा जनवरी में दक्षिणी गोलार्द्ध की होती है और दक्षिणी गोलार्द्ध की दशा उत्तरी गोलार्द्ध में। दोनों गोलार्द्धों की दशाओं में अदला-बदली हो जाती है।
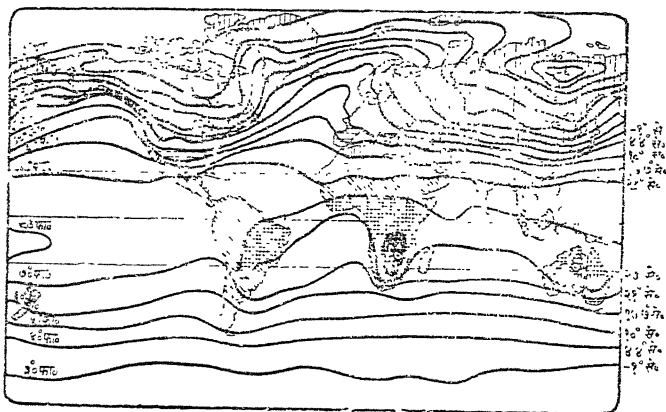
चित्र 293—जनवरी की समतापी रेखाएँ

उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की प्रधानता के कारण शीत ऋतु में विस्तृत क्षेत्र में न्यून तापमान तथा ग्रीष्म ऋतु में विस्तृत क्षेत्र में उच्च तापमान रहता है। इसीलिए पृथ्वी का सबसे ऊँचा तथा नीचा तापमान उत्तरी गोलार्द्ध में पाया जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में शीतोष्ण कटिबन्ध में गरम जलधाराओं के कारण समतापी रेखाएँ ध्रुव की ओर झुक जाती हैं। यह प्रभाव पश्चिमी तट पर ही सीमित रहता है। पूरबी तट का तापमान पश्चिमी तट की अपेक्षा बहुत कम हो जाता है क्योंकि यह गरम धारा के प्रभाव से वंचित रहकर ठण्डी धाराओं के प्रभाव में रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के उष्ण खण्ड में ठण्डी जल-धाराओं की प्रधानता है, जैसे बेन्गुला की धारा, पश्चिमी आस्ट्रेलिया की धारा। इनके कारण समतापी रेखाएँ भूमध्यरेखा की ओर मुड़ जाती हैं।

वार्षिक ताप-परिसर
(Annual Range of Temperature)

परिसर (range) शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में होता है—दैनिक ताप-परिसर, मौसमी ताप-परिसर, वार्षिक ताप-परिसर आदि। किन्तु वास्तव में ताप-परिसर का प्रयोग वार्षिक ताप-परिसर के अर्थ में ही करना उपयुक्त होता है।

ताप-परिसर के भेद

निरपेक्ष ताप-परिसर—किसी स्थल विशेष पर किसी भी समय सबसे अधिक और सबसे कम तापमान का अन्तर ही निरपेक्ष तापमानांन्तर (absolute range of temperature) कहलाता है।

मध्यम निरपेक्ष ताप-परिसर—अनेक वर्षों के निरपेक्ष ताप-परिसर का औसत ही मध्यम निरपेक्ष ताप-परिसर कहलाता है।

दैनिक ताप-परिसर—यह दिन और रात्रि के अधिकतम एवं न्यूनतम तापमान का अन्तर होता है।

वार्षिक ताप-परिसर—किसी वर्ष के अति ग्रीष्म माह के मध्यम तापमान और सर्वाधिक शीत माह के मध्यम तापमान का अन्तर वार्षिक ताप-परिसर होता है।

स्थल के विभिन्न मण्डलों का ताप-परिसर

भूमध्यरेखीय मण्डल में वार्षिक ताप-परिसर सबसे कम होता है क्योंकि विभिन्न ऋतुओं में प्राप्त सूर्यातप की मात्रा में बहुत कम अन्तर रहता है। उष्ण कटिबन्ध में स्थित द्वीपों में वार्षिक ताप-परिसर न्यूनतम होता है। गिलबर्ट द्वीप के **नौरू** स्थान का वार्षिक ताप-परिसर 1·1° सेग्रे से भी कम है। समुद्रतटवर्ती स्थानों पर, जहाँ समुद्री समीर वहता है, ताप-परिसर कम होता है।

सर्वाधिक वार्षिक ताप-परिसर उष्ण मरुस्थलों में मिलता है। जहाँ शुष्क वायु के माध्यम से शीत ऋतु में उष्णता का विकिरण होता है। मध्यवर्ती अक्षांशों के स्थलीय अन्तर्भागों तथा पृथ्वी के सबसे अधिक ठण्डे भागों में भी अधिक ताप-परिसर मिलता है क्योंकि जिन दिनों कम तिरछी किरणें मिलती हैं उन्हीं दिनों दिन लम्बा होता है। जिन दिनों अधिक तिरछी किरणें पड़ती हैं उन दिनों रातें भी बड़ी होती हैं। अतः ताप विनष्ट होकर कम हो जाता है। मिस्र के **वाडो हाफा** का वार्षिक ताप-परिसर 17° सेग्रे, चीनी तुर्किस्तान के **लकचन** का 42° सेग्रे और साइबेरिया के **इर्कुटस्क** नगर का 62° सेग्रे रहता है। महासागरों के तटवर्ती भागों में वार्षिक ताप-परिसर कम होता है।

ध्रुवों पर छः माह तक दिन और छः माह तक रात्रि होने से वार्षिक ताप-परिसर सबसे अधिक होता है।

वार्षिक ताप-परिसर को प्रभावित करने वाले तथ्य

ताप-परिसर को निम्न बातें प्रभावित करती हैं :

(1) **अक्षांश**—भूमध्यरेखा पर स्थित स्थानों का दैनिक या वार्षिक ताप-परिसर कम होता है। उत्तर और दक्षिण बढ़ने पर यह बढ़ता जाता है क्योंकि भूमध्यरेखा से दूर वाले स्थानों में दिन-रात की लम्बाई का अन्तर अपेक्षाकृत अधिक होता है।

(2) **समुद्र से दूरी**—समुद्र के निकट के स्थानों में ताप-परिसर कम होता है और समुद्र से दूर अधिक होता है। **मुम्बई** का वार्षिक ताप-परिसर 5° सेग्रे रहता है जब कि **दिल्ली** का 21° सेग्रे रहता है। इसका कारण स्थली तथा समुद्री समीर हैं।

(3) **प्रचलित वायु**—वर्ष भर जलीय वायु के पेटे के प्रदेशों में ताप-परिसर कम और जहाँ थलीय वायु चलती है वहाँ अधिक होता है। इसी कारण पश्चिमी यूरोप में कम ताप-परिसर और ईरान में अधिक होता है।
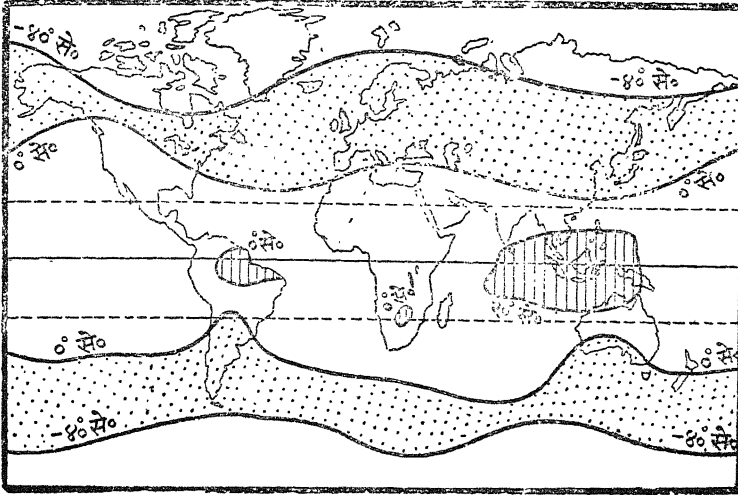
चित्र 294—संसार का कम से कम तापमान

(4) **परिवर्तनशील धाराएँ**—जिन तटों पर परिवर्तनशील धाराएँ बहती हैं वहाँ का वार्षिक ताप-परिसर अधिक होता है। दक्षिणी भारत के पूरबी तट पर पश्चिमी तट से अधिक वार्षिक ताप-परिसर रहता है क्योंकि ग्रीष्मकाल में दक्षिण से उत्तर मानसून हवा चलती है, इसलिए पूरबी तट अधिक उष्ण हो जाता है और शीत ऋतु में उत्तर से दक्षिण को मानसून हवा चलती है, इसलिए सरदी बढ़ जाती है। पश्चिमी तट पर यह दशा नहीं है।

दैनिक ताप-परिसर के कुछ तथ्य

भूमध्यरेखा पर सूर्यातप सबसे अधिक प्राप्त होता है। यहाँ दिन-रात्रि बराबर होते हैं। फलतः रात्रि को अधिक ताप-विकिरण हो जाता है। इसलिए भूमध्यरेखा पर दैनिक ताप-परिसर अधिक होता है। किन्तु इसमें कतिपय अपवाद भी मिलते हैं, जो निम्न हैं :

(1) समुद्रतटीय भागों की अपेक्षा स्थलखण्ड के आन्तरिक स्थानों में दैनिक ताप-परिसर अधिक होता है।

(2) हिम से ढके स्थानों में दैनिक ताप-परिसर अधिक होता है क्योंकि हिम की श्वेत सतह ताप को अधिक मात्रा में परावर्तित करती है। इस कारण हिम बहुत कम गरमी आत्मसात् कर पाती है।

(3) मेघाच्छादित भागों में दिन में सूर्यातप की उपलब्धि तथा रात्रि में पृथ्वी से

29

धरातल पर वायुदाब का वितरण

[DISTRIBUTION OF AIR PRESSURE OVER THE EARTH'S SURFACE]

अन्य पदार्थों की भाँति वायु में भी दाब रहता है। यह गुरुत्वाकर्षण के द्वारा गोले पर रहता है। यद्यपि वायु के दिखाई न देने से बायुदाब की सत्यता में संदेह होता है, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह निश्चित रूप से ज्ञात कर लिया है कि वायु में दाब होता है। वायुदाब की जानकारी के प्रयोगों में **गैलीलियो,** उसके शिष्य **टोरीसली** तथा **ओटो वान गैरिक** के प्रयास विशेष उल्लेखनीय हैं। ये प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुए। वायुमण्डल का दाब चारों ओर से समान होता है। वायुस्तम्भों द्वारा वायुमण्डल की स्थिति जानी जाती है। वायुदाब का निरूपण इन्हीं स्तम्भों के दाब द्वारा किया जाता है।

वायुदाब के आधार

(1) **वायुदाब और तापमान**—किसी स्थान के वायुदाब पर उस स्थान के तापमान का गहरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि गरमी पाकर हवा गरम होती है और उसका आयतन बढ़ जाता है। फलत: उसका घनत्व कम हो जाता है। वायु हल्की हो जाती है और दाब कम हो जाता है। इसलिए धरातल पर अधिक तापमान के स्थानों का वायुदाब कम होता है। कम वायुदाब की हवा हल्की होने के कारण ऊपर के वायुदाब को बढ़ा देती है, जिसके कारण अधिक वायुदाब तथा कम वायुदाब के क्षेत्र आसपास बन जाते हैं। यह **तापीय नियन्त्रण** (thermal control) कहलाता है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अधिक तापमान से वायुदाब कम होता है। ठीक इसके विपरीत कम तापमान अधिक वायुदाब का कारण होता है। चूँकि पृथ्वी के धरातल पर तापमान में भिन्नता पायी जाती है, अत: धरातल पर वायुदाब भिन्न-भिन्न मात्रा में पाया जाता है। जिस प्रकार समय के अनुसार विभिन्न स्थानों के तापमान में परिवर्तन होता है उसी प्रकार समयानुसार वायुदाब में भी परिवर्तन पाया जाता है।

(2) वायुदाब और ऊँचाई—वायुमण्डल की निचली तहों में वायु भारी तथा घनी होती है। वायुमण्डल में ज्यों-ज्यों ऊँचे जाते हैं, वायु हल्की तथा फैली हुई पाई जाती है जिसका दाब कम होता है। समुद्री तल पर हवा का औसत दाब 2·7 किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर होता है। वायुदाबमापी (barometer) द्वारा समुद्री तल पर हवा का दबाव 1,013 मिलीबार होता है। सुविधा के लिए इससे अधिक वायुदाब उच्च तथा कम वायुदाब अल्प कहलाता है। ऊँचाई पर दाब कम होता जाता है। प्रति 275 मीटर की ऊँचाई पर वायुदाब 33 मिलीबार कम हो जाता है। वायुमण्डल में 5,490 मीटर ऊँचाई तक इसी हिसाब से वायुदाब कम होता जाता है। इससे अधिक ऊँचाई पर वायुदाब समुद्रतल के वायुदाब का आधा रह जाता है। ऊँचाई के अनुसार वायुदाब के कम होने का कारण पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति का उद्‌भव पृथ्वी की दैनिक गति तथा वायुदाब से होता है। फलतः ऊँचाई के साथ वायुदाब का कम होना गतिशील कारणों से प्रभावित होता है।

(3) वायुदाब तथा जलवाष्प—शुष्क वायु नम वायु की अपेक्षा भारी होती है। इसका कारण यह है कि वाष्प का दाब वायुमण्डल की निचली तहों के दाब से हल्का होता है।

धरातल पर वायुदाब का वितरण

धरातल पर वायुदाब का वितरण तापमान के वितरण के समान ही प्रदर्शित किया जाता है। जिस प्रकार तापमान समतापी रेखाओं द्वारा दिखलाया जाता है उसी प्रकार वायुदाब समदाब रेखाओं (isobars) द्वारा दिखलाया जाता है। धरातल
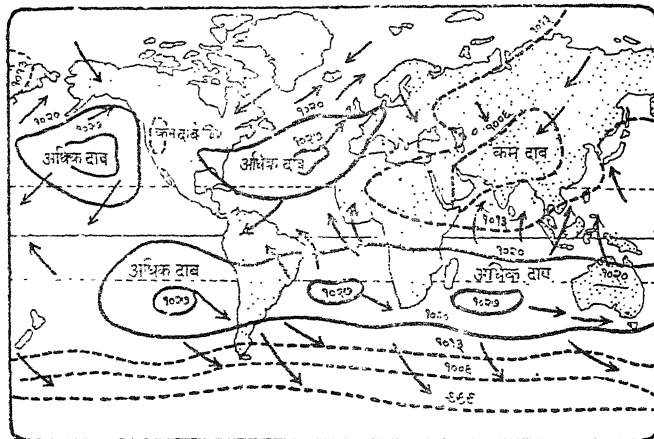
चित्र 295—वायुदाब रेखाएँ : जुलाई (मिलीबार में)

पर समदाब रेखाएँ वे कल्पित रेखाएँ होती हैं जो समानीत बराबर वायुदाब वाले स्थानों को मिलाती हैं। समदाब रेखाओं को भी खींचते समय समतापी रेखाओं के

समान ही धरातल की विभिन्न ऊँचाई का भी ध्यान रखा जाता है और प्रति 275 मीटर की ऊँचाई पर 33 मिलीबार दाब का अन्तर मानकर समदाब रेखाएँ खींची जाती हैं। यदि किसी स्थान की हवा का दाब 792 मिलीबार है और वह स्थान समुद्रतल से 1,375 मीटर ऊँचा है तो समदाब रेखाएँ खींचने के लिए उस स्थान का दाब $792+\frac{1375}{275}\times 33=792$ मिलीबार$+175$ मिलीबार$=967$ मिलीबार मान लिया जायगा।

चूँकि ग्लोब की कीली सूर्य की किरणों के साथ सर्वदा समकोण बनाती है, अत: भूमध्यरेखीय भाग सबसे गरम होगा और ध्रुवों की ओर तापमान घटता जायगा। ध्रुव की ओर वायुदाब के घटने का दूसरा कारण पछुआ हवा तथा चक्रवातों में वायु भँवर (whirlpool) का बन जाना है।

पृथ्वी की दैनिक गति के कारण ध्रुव तथा भूमध्यरेखा पर शक्ति का विकास दो भिन्न प्रकार से होता है। एक शक्ति भूमध्यरेखा के पास वायु को पृथ्वी के केन्द्र से दूर भगाने की चेष्टा करती है। दूसरी शक्ति ध्रुव के निकट से वायु को केन्द्र की ओर खींचती है। इन विपरीत प्रवृत्तियों के कारण वायु का अधिकतर भाग मध्य अक्षांशों पर एकत्र होता है। इसलिए यहाँ वायु का दाब अधिक होता है। इन्हीं समवायुदाब रेखाओं के आधार पर औसत दाब ज्ञात करके धरातल को अधिक और कम वायुदाब की विभिन्न पेटियों में विभाजित किया गया है, जो वायुदाब की आदर्श दशा को ही प्रदर्शित करती हैं।

वायुदाब की पेटियाँ

(1) **भूमध्यरेखीय अल्पदाब कटिबन्ध**—यह पेटी भूमध्यरेखा के दोनों ओर 5° अक्षांश उत्तर तथा 5° अक्षांश दक्षिण के बीच फैली हुई है। इस पेटी को भूमध्य-

चित्र 296—वायुदाब की पेटियाँ
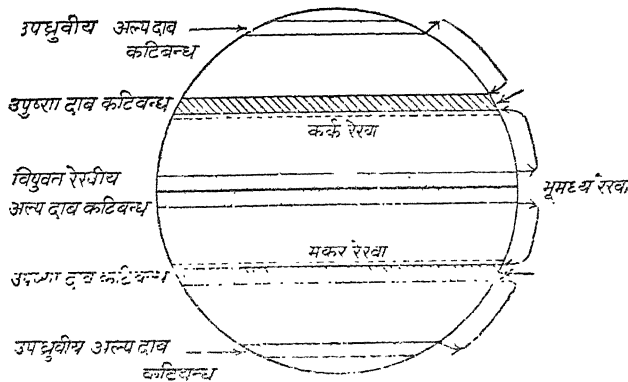
प्रशान्त मण्डल (doldrums) भी कहा जाता है। इस भाग में सूर्य की लम्बवत् किरणें साल भर चमकती हैं। इस कारण वर्ष भर अधिक गरमी पड़ती है। अधिक गरमी

के कारण यहाँ वर्ष भर हवा हल्की होकर ऊपर उठती रहती है और हवा का दबाव कम रहता है। हवा के ऊपर उठने के कारण यहाँ की हवा में संवहनीय धाराएँ पैदा हो जाती हैं।

(2) **उपोष्ण उच्च दाब कटिबन्ध**—शान्त पेटी से ऊपर उठने वाली हवा वायुमण्डल में क्षोभ-मण्डल के ऊपरी भाग में पहुँचकर ठण्डी हो जाती है और उत्तर तथा दक्षिण की ओर वायुमण्डल के ऊपरी भाग में चलने लगती है। दोनों गोलार्द्धों में यह हवा 30° से 35° अक्षांशों के बीच नीचे उतरने लगती है। हवा के नीचे उतरने का कारण पृथ्वी की दैनिक गति से उत्पन्न विक्षेपक बल (deflective force) मानी जाती है।

(3) **उपध्रुवीय अल्पदाब कटिबन्ध**—ये पेटियाँ दोनों गोलार्द्धों में 66½° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के निकट हैं। इस भाग में तापमान कम होने पर भी कम वायुदाब के निम्न कारण हैं :

(क) कर्क एवं मकर रेखाओं तथा ध्रुवों पर हवा का दाब अधिक होता है। अतः दोनों के मध्य में कम वायुदाब होना स्वाभाविक है। यह पेटी दो अधिक वायुदाब की पेटियों को अलग करती है।

(ख) धरातल पर इन भागों में जल और थल के बीच अधिक भिन्नता पाई जाती है। इस ध्रुवीय वाताग्र पर अनेक चक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी प्रचण्डता के कारण अर्द्ध-स्थायी अल्प दाब-क्षेत्र बन जाता है।
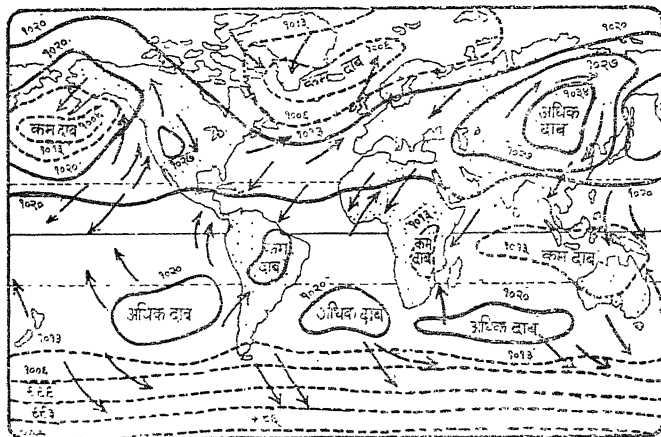
चित्र 297—वायुदाब रेखाएँ : जनवरी (मिलीबार में)

(ग) पृथ्वी के तीव्र परिभ्रमण के कारण ध्रुवों की वायु सिमटकर भूमध्यरेखा की ओर खिसक जाती है और इन अक्षांशों में हवा कम हो जाती है। अतः इस भाग में तापमान कम होते हुए भी वायुदाब कम होती है। इसका कारण यह भी है कि इन अक्षांशों में स्थित समुद्रों में प्रायः उष्ण जलधाराएँ मिलती हैं। इनके उच्च

तापमानों के कारण वायुदाब कम हो जाता है। इस पेटी में कम वायुदाब के केन्द्र अधिकतर समुद्रों के ऊपर पाये जाते हैं। उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर में आइसलैण्ड के आसपास **आइसलैण्ड का अल्पदाब** केन्द्र है। उत्तरी प्रशान्त महासागर में एल्यूशियन द्वीपों के आसपास **एल्यूशियन अल्प दाब** केन्द्र और दक्षिणी गोलार्द्ध में एन्टार्कटिका महाद्वीप के किनारे **एण्टार्कटिक अल्पदाब** केन्द्र स्थित हैं।

(4) **ध्रुवीय उच्च दाब कटिबन्ध**—दोनों ध्रुवों पर अति शीत के कारण हवा का दवाव अधिक रहता है, यद्यपि यहाँ की हवा हल्की होती है। इन भागों से हवा भूमध्यरेखा की ओर चलती है।

भूमण्डल पर उपर्युक्त वायुदाब के वितरण के अनुसार सात वायुदाब कटिबन्ध मिलते हैं। इनमें से तीन अल्पदाब और चार उच्च दाब के कटिबन्ध हैं। तीन कटिबन्धों को तापनिर्मित कहते हैं और अन्य चार कटिबन्धों (दो उच्च तथा दो ध्रुवीय वृत्त अल्प दाब) को, जिन पर पृथ्वी के परिभ्रमण का प्रभाव पड़ता है, गति-निर्मित पेटी कहते हैं।

वायुदाब की पेटियों के रूप को काल्पनिक माना जाता है। ये पेटियाँ अक्षांश रेखाओं के अनुसार हैं। दाब का वास्तविक वितरण स्तम्भों में होता है। कम और अधिक वायुदाव लम्बवत् (vertical) स्तम्भों में व्यक्त किया जाता है। वायुदाब की दशा महाद्वीपों में भिन्न-भिन्न रहती है। इसका वास्तविक वितरण जल तथा थल पर प्राप्त सूर्यातप की भिन्नता के अनुसार होता है।

वायुदाब में परिवर्तन

तापमान, ऊँचाई व आर्द्रता की भिन्नता के अनुसार हवा का दाब भी परिवर्तित होता रहता है। यह परिवर्तन मुख्यत: पाँच प्रकार का होता है :

(1) दैनिक परिवर्तन, (2) प्रादेशिक परिवर्तन, (3) चक्रवातीय परिवर्तन, (4) मौसमी परिवर्तन, तथा (5) वायुदाब-परिवर्तन।

(1) **दैनिक परिवर्तन**—सूर्य की गरमी दिन में अधिक तथा रात में कम रहती है, अत: वायुदाब में भी घट-बढ़ होती है। रात्रि के 10 बजे से 4 बजे प्रात: तक तथा दिन के 10 बजे से 4 बजे संध्या तक वायुदाब नीचे गिरता है। प्रात: 4 बजे से दिन के 10 बजे तक तथा संध्या के 4 बजे से रात्रि के 10 बजे तक वायुदाब ऊँचा उठता है। वायुदाब के इस उतार-चढ़ाव को **वायुदाब का ज्वार** (barometric tide) कहते हैं।

भूमध्यरेखा से दूरी बढ़ने पर यह ज्वार कम हो जाता है। वायुदाब का दैनिक परिवर्तन भूमध्यरेखीय प्रदेशों में अधिक और शीतोष्ण प्रदेशों में कम होता है।

दिन में स्थल के भागों में वायुदाब के उच्चतम तथा न्यूनतम बिन्दुओं में अधिक अन्तर होता है। समुद्र तटवर्ती भागों में रात्रि के उच्चतम तथा न्यूनतम वायुदाब

बिन्दुओं में अधिक अन्तर पाया जाता है क्योंकि स्थल पर समुद्र की अपेक्षा तापमान का प्रभाव देर में होता है।

दिन में मैदान का वायुदाब कम तथा पर्वतों का अधिक होता है। परन्तु रात्रि में इसके विपरीत दशा होती है। अधिक ऊँचाई पर वायुदाबों में प्राय: कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

दैनिक परिवर्तन के कारण—(1) जहाँ वायु अधिक फैली हुई होती है वहाँ से वायु उन स्थानों की ओर जाना प्रारम्भ कर देती है, जहाँ पर यह अधिक संकुचित होती है।

(2) संवहनीय धाराएँ उत्पन्न होकर वायु के समतल बहाव में रुकावट डालती हैं। फलस्वरूप, दबाव बढ़ जाता है।

दैनिक परिवर्तन के भाग—(1) अधिक ऊँचाई पर सबसे अधिक गरमी के घण्टों में अधिकतम दाब होता है तथा ठण्डक के घण्टों में न्यूनतम दाब होता है। दूसरे शब्दों में, यह दाब वायु-संकुचन तथा विस्तार के अनुसार होता है।

(2) समुद्र-तल पर इसके बिलकुल विपरीत होता है। ठण्डक के घण्टों में अधिकतम तथा गरमी के घण्टों में न्यूनतम दाब होता है। इसका कारण यह है कि पानी को ठण्डा या गरम होने में अधिक समय लगता है। अत: ठण्डक के घण्टों में पानी धरातल की अपेक्षा अधिक गरम होता है तथा गरमी के घण्टों में अपेक्षाकृत कम गरम।

(2) **प्रादेशिक परिवर्तन**—भूमध्यरेखा, उष्ण कटिबन्धीय रेखाएँ (tropics) तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवीय वृत्तों (arctic and antarctic circles) पर वायु दाब के परिवर्तन को यही नाम दिया गया है। चूँकि यह परिवर्तन वर्ष के किसी भाग में हो सकता है, अत: इसको मौसमी परिवर्तन नहीं कह सकते।

(3) **चक्रवातीय परिवर्तन**—समशीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवात और प्रतिचक्र-वात के क्रमिक रूप से चलने के कारण कुछ-कुछ घण्टों बाद एक ही स्थान पर अधिक दबाव होता रहता है। यह परिवर्तन 24 से 36 घण्टों से अधिक नहीं रह पाता है। कभी-कभी आँधियों के कारण वर्तमान दाब में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु यह केवल कुछ ही मिनटों के लिए होता है।

(4) **मौसमी परिवर्तन**—जाड़े के महीनों में अधिक वायुदाब होता है और गरमी के महीनों में कम, परन्तु ऐसा केवल स्थलमण्डल पर ही होता है। समुद्रों पर इसके बिलकुल विपरीत दशा होती है। समुद्रों पर गर्मियों में वायुदाब अपेक्षाकृत अधिक होता है और जाड़ों में कम।

(5) **वायुदाब का परिवर्तन**—शरद् ऋतु में वायुदाब के छोटे-छोटे परिवर्तन कई घण्टे अथवा कई दिन तक लगातार रहते हैं। ये छोटे-छोटे परिवर्तन 1 किलो-मीटर से 3 मिलोमीटर के विस्तार में होते हैं और 5 से 10 मिनट तक रहते हैं।

इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न घनत्व वाली परतें एक के ऊपर दूसरी पड़ी हुई हैं। सबसे नीचे धरातल की परत अपने से ऊपर वाली परत की अपेक्षा ठण्डी होती है। उनमें से वायु-धारा चलने के कारण दाव का परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। इसे वायुदाव का परिवर्तन कहते हैं।

वायु-राशियाँ
(Air Masses)

वायु-राशि सम्बन्धी अवधारणा का श्रीगणेश प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के समय हुआ। इसका श्रेय **बरजीरोन** महोदय को है। इन्होंने वायु-राशि के भौगोलिक वर्गीकरण को सन् 1928 में प्रस्तुत किया।

बरजीरोन के मतानुसार, वायुमण्डल में प्रत्येक तल पर लगभग एक समान तापमान एवं आर्द्रता के वायु-समूह हैं। इनकी उत्पत्ति एवं स्रोत का स्थल धरातल है। इनकी उत्पत्ति महाद्वीपों एवं महासागरों के विस्तृत समतल मैदानों में होती है जहाँ प्रतिचक्रवात उपलब्ध होते हों। धरातल पर वायु-राशि के पाँच स्रोत प्रदेश हैं :

(1) **ध्रुवीय महाद्वीपीय स्रोत-प्रदेश**—यह स्रोत-स्थल ग्रीनलैण्ड से लेकर यूरेशिया महाद्वीप के हिमाच्छादित प्रदेशों में पाया जाता है। उच्च दाब के कारण यहाँ सर्वदा प्रतिचक्रवातीय दशा उपस्थित रहती है। फलतः एक विस्तृत एवं प्रवल वायु-राशि उत्पन्न होती है।

(2) **ध्रुवीय महासागरीय स्रोत-प्रदेश**—यह स्रोत स्थल प्रशान्त एवं ऐटलाण्टिक महासागरों के उत्तरी भागों तथा उत्तरी ध्रुवसागर में स्थित है। शीत ऋतु में महाद्वीपों से वायु-प्रवाह इस स्रोत-स्थल की ओर होता है, अतः शीत ऋतु में इसकी प्रबलता बढ़ जाती है।

(3) **उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय स्रोत-प्रदेश**—यह प्रदेश उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब की पेटी के स्थली भाग पर मिलता है। इसका तापमान अधिक रहना है।

(4) **उष्ण कटिबन्धीय महासागरीय स्रोत-प्रदेश**—यह प्रदेश उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब की पेटी के सीमावर्ती समुद्री क्षेत्र में स्थित है। यह शीत ऋतु में अपेक्षाकृत अधिक प्रबल रहता है।

(5) **विषुवतरेखीय स्रोत-प्रदेश**—यह प्रदेश महासागरीय भाग में पाया जाता है क्योंकि धरातल समान है और संमार्गी हवाओं के संगम से वायु-राशि का निर्माण हो जाता है। इसमें आर्द्रता की मात्रा अधिक होती है।

वायुराशियों का वर्गीकरण स्रोत-प्रदेशों के आधार पर किया गया है जिनको भौगोलिक वर्गीकरण कहते हैं। तापीय एवं गतिकीय आधारों पर भी वर्गीकरण किया गया है जिसको उष्मागतिक वर्गीकरण (thermodynamical classification) कहते हैं।

भौगोलिक वर्गीकरण

क्र०सं०	वायु-राशि का नाम	चिन्ह	भौतिक गुण		उत्पत्ति-स्थान
			तापमान	आर्द्रता	
(1)	महाद्वीपीय ध्रुवीय वायु-राशि	cP	कम	कम	आर्कटिक तथा उप-ध्रुवीय महाद्वीपीय क्षेत्र
(2)	महासागरीय ध्रुवीय वायु-राशि	mP	कम	अधिक	आर्कटिक तथा उपध्रुवीय महासागर
(3)	महाद्वीपीय उष्ण कटि-बन्धीय वायु-राशि	cT	अधिक	कम	उष्ण तथा उपोष्ण कटि-बन्ध के स्थली भाग
(4)	महासागरीय उष्ण कटि-बन्धीय वायु-राशि	mT	अधिक	अधिक	महासागरों के उपोष्ण कटिबन्धीय उच्च दाब-क्षेत्र
(5)	विषुवतरेखीय वायु-राशि	E	अधिक	अधिक	विषुवतरेखीय तथा उष्ण कटिबन्धीय सागर
(6)	ऊर्ध्ववर्ती वायु-राशि	S	अधिक	कम	मध्य अक्षांशों के वायु-मण्डल का ऊपरी भाग

ऊष्मागतिक वर्गीकरण

(1) उष्ण वायु-राशि—इस वायु-राशि का तापमान निचले धरातल के तापमान से अधिक होता है। यह स्थिति अधिकतर उपोष्ण कटिबन्धीय महासागरों पर उत्पन्न होती है। ऊपरी वायु का तापमान निचली वायु से अधिक होता है, अतः तापमान व्युत्क्रमण (temperature inversion) प्रारम्भ हो जाता है। निचली वायु की परत स्थिर रहती है किन्तु ऊपरी परत में विक्षोभ पैदा हो जाता है। निचली वायु परतों में कुहरा की अधिकता रहती है। इनको W (warm) से निर्दिष्ट करते हैं। इसमें स्थायी वायु का प्राधान्य होता है।

(2) शीत वायु-राशि—इस वायु-राशि का तापमान निचले धरातल के तापमान से कम होता है। ऐसी दशा में वायु-राशि का निचला भाग धरातल के ताप से गर्म होने लगता है और तापीय अस्थिरता ऊपरी परतों की ओर बढ़ने लगती है। इनकी उत्पत्ति आर्कटिक तथा उपध्रुवीय क्षेत्रों में होती है। इस प्रकार की वायु-राशि K (kalt) अक्षर से व्यक्त की जाती है। 'काल्ट' जर्मन भाषा का शब्द है जो अंग्रेजी के 'कोल्ड' शब्द के स्थान पर प्रयोग होता है। वाष्पन द्वारा धरातल की आर्द्रता इसमें पहुँचती है।

वायु-राशियों की स्थिरता केवल तापमान पर निर्भर नहीं करती है जैसा ऊपर वर्णित है। वायु-राशि का स्तरण वायु के अभिसरण एवं अपसरण (convergence and divergence) द्वारा भी निर्धारित होता है। वायु-राशि में इस प्रकार से उत्पन्न परिवर्तन को **पेटरसन** ने S (stable) तथा U (unstable) अक्षरों से प्रकट किया है।

वायुदाब और हवाएँ

पृथ्वी के धरातल पर विभिन्न वायुदाब होने के कारण वायु में गति उत्पन्न होती है जिसे हवा का चलना कहते हैं। अधिक वायुदाब की पेटी से हवाएँ कम वायुदाब की पेटी की ओर वर्ष भर नियमित रूप से चला करती हैं। नियमित रूप से वर्ष भर चलने वाली हवाएँ **भूमण्डलीय पवनें** (planetary winds) कहलाती हैं। जिस दिशा में हवा का दाब कम रहता है उसे **वायुदाब का ढाल** (barometric slope) कहते हैं। वायुदाब की भिन्नता के आधार पर हवाओं की गति निर्भर करती है। अधिक भिन्न वायुदाब का होना अथवा समदाब रेखाओं का पास-पास होना वायु की गति में अधिक तीव्रता का द्योतक होता है। वायुदाब के परिवर्तन की दर **वायुदाब प्रवणता** (pressure gradient) कहलाती है। वायुदाब की प्रवणता अधिक होने पर हवाएँ तीव्र गति से चलती हैं। वायुदाब की प्रवणता मन्द होने पर हवाएँ धीमी-धीमी चलती हैं। वायुमण्डल के ऊपरी भाग में हवाओं की गति तीव्र होती है क्योंकि ऊपरी वायुमण्डल में उनके मार्ग में रुकावट डालने वाली वस्तुएँ नहीं होती हैं। परन्तु वायुमण्डल के निचले भाग में पर्वत, जंगल इत्यादि हवाओं के मार्ग में वाधक होकर उनकी गति को मन्द कर देते हैं।

ऊँचाई के अनुसार वायु-दिशा में परिवर्तन मिलता है। धरातल पर वायु एक दिशा से चलती है किन्तु अधिक ऊँचाई पर वादल विपरीत दिशा से चलते दृष्टिगत होते हैं। इसका कारण **बाइज बैलेट कानून** तथा **द्रव स्थैतिक समीकरण** (Hydrostatic equation) है। इस समीकरण से ज्ञात होता है कि घनी वायु में उष्ण वायु की अपेक्षा वायुदाब ऊँचाई पर शीघ्रता से कम होता है। इसी कारण ऊँचाई पर वायुदिशा में परिवर्तन मिलता है।

स्थायी हवाएँ—स्थानीय प्रभाव न पड़ने पर हवाएँ वर्ष भर अधिक वायुदाब की पेटी से कम वायुदाब की पेटी की ओर चला करती हैं। ऐसी हवाओं को स्थायी हवाएँ कहते हैं। परन्तु स्थानीय प्रभाव के कारण धरातल पर कहीं इनकी गति वर्ष के कुछ समय तक परिवर्तित हो जाती है। ऐसी हवाएँ अस्थायी हवाएँ कहलाती हैं। ये निम्न तीन प्रकार की होती हैं।

(1) संमार्गी हवाएँ—संमार्गी हवाएँ (trade winds) उपोष्ण अधिक वायुदाब की पेटियों की तरफ से भूमध्यरेखीय अल्पदाब के भूमध्य-प्रशान्त मण्डल की ओर चला करती हैं। ट्रेड शब्द सैक्शन ट्रेडन (tredan) शब्द से बना है जिसका अर्थ नियमित पथ-ग्रहण होता है। ये 30° या 35° अक्षांशों से 5° या 10° अक्षांशों के बीच भूमध्यरेखा के दोनों ओर उत्तरी एवं दक्षिणी गोलार्द्धों में चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी दिशा उत्तर-पूरब से दक्षिण-पश्चिम की ओर होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-पूरब से उत्तर-पश्चिम की ओर होती है। ग्रीष्म ऋतु में स्थानीय प्रभाव के कारण इनकी गति परिवर्तित होकर मौसमी हवा का रूप धारण कर लेती है। समुद्री सहायता में इनकी उपयोगिता प्राचीन समय में अधिक रहने के कारण

इनका-नाम संमार्गी हवाएँ पड़ गया। उत्तरी गोलार्द्ध में ये उत्तरी-पूरबी संमार्गी या व्यापारिक हवाएँ (north-east trade winds) तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी-पूरबी संमार्गी या व्यापारिक हवाएँ (south-east trade winds) कहलाती हैं। इनकी दिशा एवं तीव्रता एक समान रहती हैं। कभी-कभी इनमें गहरे अवदाब मिलते हैं।

(2) **पछुआ हवाएँ**—पछुआ हवाएँ उपोष्ण उच्च-वायुदाब की पेटी की तरफ से उप ध्रुवीय अल्प वायुदाब की पेटी की ओर दोनों गोलार्द्धों में साल भर चला करती हैं। इनका विस्तार 30° या 35° अक्षांशों से $66\frac{1}{2}$° अक्षांशों तक दोनों गोलार्द्धों में अविच्छिन्न रूप से रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में ये दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूरब की ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूरब की ओर चला करती हैं। पछुआ हवाओं में यह विशेषता पायी जाती है कि चक्रवातों के कारण इनकी दिशा और शक्ति सदैव बदलती रहती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थल भाग की न्यूनता के कारण ये हवाएँ 40° अक्षांशों और 65° अक्षांशों के बीच लगातार बिना किसी रुकावट के चलती हैं। दाब-प्रवणता के कारण यह हवाएँ बहुत शक्तिशाली होती हैं। इसी कारण इस भाग की पछुआ हवाएँ तूफानी चालीसा (roaring forties) कहलाती हैं। पछुआ हवाओं की ध्रुवीय सीमाओं पर वायुमण्डल अधिक अशान्त होता है जिसके फलस्वरूप शीतोष्ण चक्रवातों की उत्पत्ति होती है। शीत-ऋतु में पछुआ हवाएँ अधिक प्रबल तथा तीव्र होती हैं।
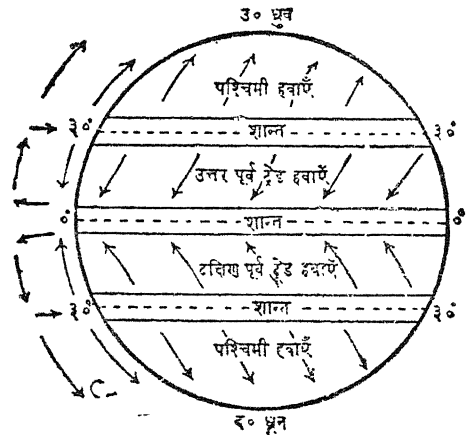
चित्र 298—पृथ्वी-तल की स्थायी हवाएँ

(3) **ध्रुवीय हवाएँ**—ध्रुवीय हवाएँ (polar winds) दोनों ध्रुवों की ओर से उपध्रुवीय अल्प वायुदाब की पेटियों की ओर चला करती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में ये हवाएँ उत्तर-पूरब से दक्षिण-पश्चिम की ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण-पूरब से उत्तर-पश्चिम की ओर चलती हैं। इन हवाओं का महत्त्व बहुत कम है। ये हवाएँ बहुत मन्द गति से चलती हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह वायु अधिक विकसित है।

हवा की दिशा पर पृथ्वी के घूर्णन का प्रभाव

धरातल पर चलने वाली स्थायी हवा की दिशा पर पृथ्वी के घूर्णन का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका ज्ञान सर्वप्रथम अमरीकी वैज्ञानिक **फेरल** (Ferrel) को हुआ। उन्होंने पृथ्वी के घूर्णन एवं हवा की दिशा सम्बन्धी एक नियम निश्चित किया

जिसे **फेरल का नियम** (Ferrel's Law) कहते हैं। हवाएँ जिस दिशा से आती हैं उसी दिशा के नाम पर उनका नाम पड़ता है।

फेरल का नियम

पृथ्वी के पश्चिम से पूरब की ओर घूर्णन के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक वायुदाब की ओर से अल्प वायुदाब की ओर चलने वाली हवाएँ अपनी दायीं ओर दक्षिणी गोलार्द्ध में हवाएँ अपनी बायीं ओर मुड़ जाती हैं, अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में हवा के मुड़ने की दिशा दक्षिणावर्त (clockwise) होती है। परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त (anti-clockwise) होती है। चक्रवात (cylcone) एवं प्रतिचक्रवात (anti-cyclone) भी इसी नियम का अनुसरण करते हैं।

हवा की दिशा में परिवर्तन का कारण पृथ्वी की दैनिक गति है। इसके प्रभाव में पृथ्वी का भूमध्यरेखीय भाग तीव्र गति तथा ध्रुवीय भाग मन्द गति से चलता है। विभिन्न उच्च वायुदाब की पेटियों से अल्प वायुदाब की पेटियों की ओर जाने में हवाओं को या तो पृथ्वी की कम गति की ओर से अधिक गति की ओर अथवा अधिक गति की ओर से कम गति की ओर आना पड़ता है।

जब हवाएँ पृथ्वी की कम गति वाले भाग से अधिक गति वाले भाग की ओर आती हैं तो वे पीछे छूट जाती हैं। जब अधिक गति वाले भाग से कम गति वाले भाग की ओर जाती हैं तो वे आगे बढ़ जाती हैं जो उनके मुड़ने का कारण होता है। यह मोड़ उत्तरी गोलार्द्ध में हवा की मुख्य दिशा की दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर होता है। हवा की गति के इस नियम को **फेरल का नियम** कहते हैं।

जब कोई पदार्थ अन्तरिक्ष में सीधी रेखा में भ्रमण करता है तो घूर्णी सतह पर स्थित प्रेक्षक इस गति को देखता है और वह प्रेक्षक चलायमान पदार्थ से दूर बढ़ता है। अतः वह पदार्थ अपने पथ से दायीं ओर को मुड़ा प्रकट होता है। प्रेक्षक द्वारा नीचे देखने पर जो बल उक्त पदार्थ को दायीं ओर मोड़ती प्रकट होती है, उसी को **कोरिओलिस बल** (The Coriolis Force) या **विक्षेपक बल** (deflecting force) कहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में यह बायीं ओर को विक्षेपित करती है। यद्यपि यह जड़त्वीय बल (inertial force) है किन्तु वायु के अध्ययन में इसको वास्तविक बल के रूप में ही मानना चाहिये।
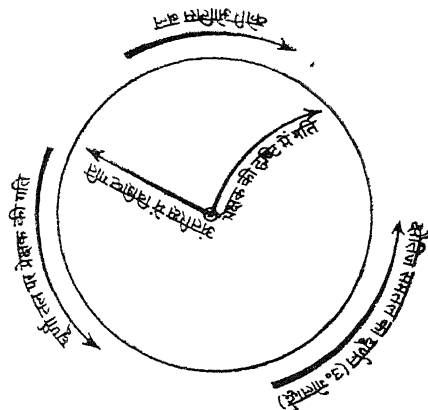
चित्र 299—कोरिओलिस बल

यह बल वायु-वेग के समानुपात में होता है और अक्षांश के अनुसार भी इसमें भिन्नता आती है क्योंकि क्षैतिज सतह का कोणीय आवेग विषुवत वृत्त पर शून्य होता है और अन्य अक्षांशों पर बदलता है। यह बल वायु के साथ समकोण पर होता है। यह बल वायु को समदाब रेखाओं के लगभग समानान्तर बहने पर प्रेरित करता है। जब वायुदाब प्रवणता बल तथा कोरिओलिस बल विपरीत दिशाओं में क्रियाशील होते हैं तो संतुलित बलों के प्रभाव में वायु निरन्तर वहती है। जब वायु समदाब रेखाओं के समानान्तर बहती है और उपरोक्त दोनों बल ठीक-ठीक संतुलित हो जाते हैं तो इसको **भूविपेक्षी वायु** (geostrophic wind) कहते हैं।
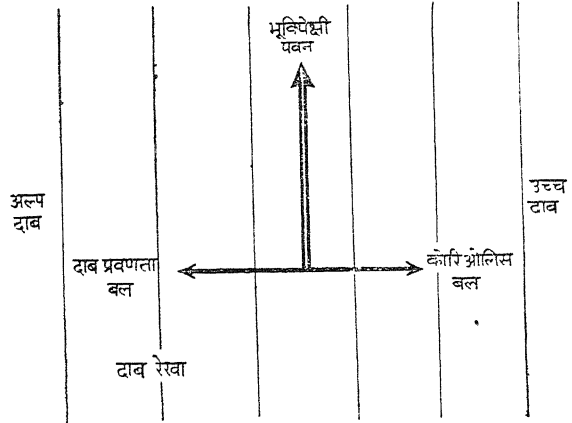
चित्र 300—भूविपेक्षी पवन (उत्तरी गोलार्द्ध)

बाइज बैलट नियम

उत्तरी गोलार्द्ध में जब हवाएँ चलते समय दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं तो उत्तरी गोलार्द्ध में उनकी बायीं ओर अल्प वायुदाब के केन्द्र रहते हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर अल्प दाब के केन्द्र रहते हैं। हवाओं के रुख तथा वायुदाब के केन्द्रों का यह सम्बन्ध बाइज बैलट नामक डच मौसम-विज्ञ ने स्थापित किया था। इस कारण इस नियम को **बाइज बैलट नियम** (Buys Ballot's Law) कहते हैं। यही **भूविपेक्षी वायु की अवधारणा** (geostrophic wind concekt) कहलाती है।

वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन

वायुदाब की जिन पेटियों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, वे एक स्थान पर स्थायी रूप से नहीं रहतीं बल्कि वे मौसम के अनुसार भूमध्यरेखा के उत्तर तथा दक्षिण को खिसकती जाती हैं। वायुदाब की पेटियों के खिसकने का कारण तापमान की पेटियों का स्थानान्तरित होना है। महासागर पर हवाओं की पेटियों का स्थानान्तरण कम होता है, परन्तु महाद्वीपों पर इनका स्थानान्तरण अधिक होता है। महासागरों पर स्थानान्तरण 10° से लेकर 15° तक ही सीमित रहता है, किन्तु महाद्वीपों पर कई अक्षांशों तक स्थानान्तरण हो जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में सूर्य की लम्बवत् किरणें जब कर्क रेखा पर पड़ने लगती हैं तो उत्तरी गोलार्द्ध में महाद्वीप इतने तप्त हो जाते हैं कि अल्प दाब के केन्द्र बन जाते हैं और अधिक वायुदाब की पेटी पूर्णतः नष्ट हो जाती हैं। इसी समय सागरों पर महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक वायुदाब रहता है। इसी समय उत्तरी-पूरबी संमार्गी हवाएँ दक्षिणी-पश्चिमी मानसूनी हवाओं के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। इस समय हवा की पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती हैं। परन्तु जनवरी के महीने में सूर्य की
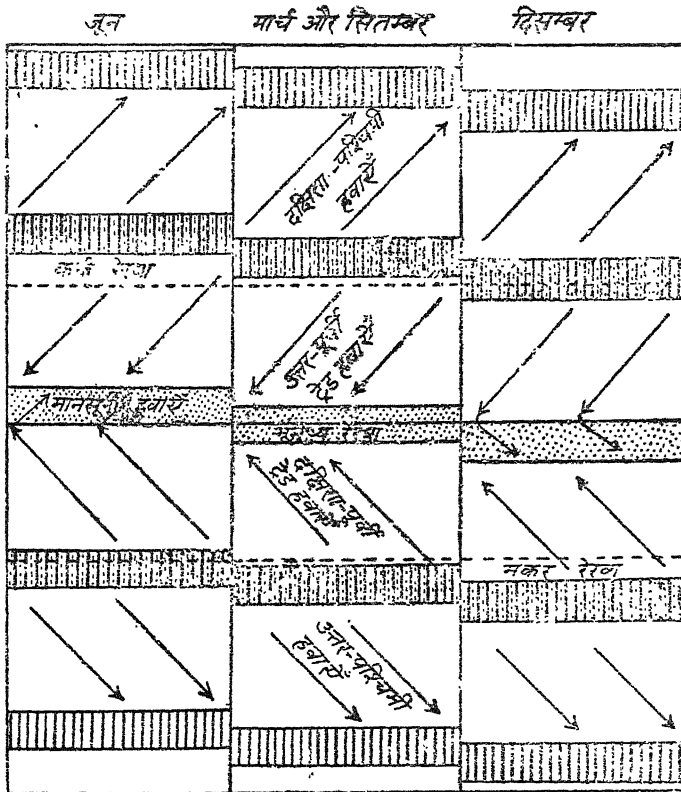
चित्र 301—वायुदाब की पेटियों का मौसमी स्थानान्तरण

लम्बवत् किरणें दक्षिणी गोलार्द्ध में मकर रेखा पर पड़ने लगती हैं। अतः वायुदाब की पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। इस समय उपोष्ण कटिबन्ध के अधिक वायुदाब के केन्द्र क्षीण हो जाते हैं तथा संमार्गी हवाओं की शक्ति भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है, क्योंकि पृथ्वी पर वायुदाब लगातार पेटियों में होने की अपेक्षा खण्डित भागों में पाया जाता है, अतः इन भागों को वायुदाब केन्द्र कहते हैं।

प्रश्न

1. Discuss the thermal and dynamic control of average pressure distribution over the earth's surface.

   (*Ranchi 1969*; *Aligarh 1968*)

   पृथ्वी-तल पर वायुदाब के वितरण पर तापीय एवं गतिक नियन्त्रणों की व्याख्या कीजिए।

2. Describe the planetary winds. What other types of winds occur on the earth's surface and how do they arise ?

   (*Sagar 1968*; *Allahabad 1965*)

   ग्रहीय हवाओं का उल्लेख कीजिए। पृथ्वी-तल पर अन्य कौन-सी हवाएँ चलती हैं और वे कैसे पैदा होती हैं ?

3. Describe the general pressure conditions of the world and their changes during the year. What are its effects ?

   (*Gorakhpur 1969*; *Udaipur 1968*; *Chandigarh 1966*)

   संसार की सामान्य दाब परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए। साथ ही, वर्ष के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों की भी चर्चा कीजिए। इस वितरण का क्या प्रभाव पड़ता है ?

30

सूर्यातप एवं पवन

[INSOLATION AND WIND]

धरातल के ऊपर वायुमण्डल के परिसंचरण (circulation) का तात्पर्य धरातल पर चलने वाली अस्थायी अथवा स्थायी हवाओं से है जिसमें स्थायी हवाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। हवाओं की उत्पत्ति का कारण धरातल पर विभिन्न वायुदाब की पेटियों का बनना होता है और वायुदाब की पेटियाँ सौर-ताप से सम्बन्धित होती हैं। जैसा पहले हम देख चुके हैं, उच्च वायु-दाब के केन्द्र कम सौर-ताप प्राप्त करने वाले स्थानों पर तथा अल्प वायुदाब के केन्द्र अधिक सौर-ताप के स्थानों पर बनते हैं और हवाएँ अधिक वायुदाब के भागों से कम वायुदाब के भागों की ओर चला करती हैं। अत: हवाओं के संचार पर सौर-ताप का गहरा प्रभाव पड़ता है।

धरातल के ऊपर वायुमण्डल की गति स्थायी हवाओं के रूप में हम देख चुके हैं, परन्तु यह जानना आवश्यक है कि स्थायी हवाओं की जो कल्पना धरातल पर की जाती है वह महाद्वीपों तथा महासागरों पर सौर-ताप के विभिन्न प्रभाव से समया-नुसार परिवर्तित होती रहती है और अस्थायी हवाएँ स्थायी हवाओं का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। विशेष रूप से उत्तरी-पूर्वी संमार्गी हवा का ही रूप अधिक परिवर्तित होता है, जो ग्रीष्म ऋतु में मौसमी अथवा मानसूनी हवा की उत्पत्ति का कारण बनती है।

ग्रीष्म तथा शीत ऋतु में सूर्य की लम्बवत् किरणें उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में क्रमश: कर्क एवं मकर रेखाओं पर पड़ती हैं जिसके कारण दोनों गोलार्द्धों में ऋतु के अनुसार सौर-ताप की प्राप्ति में भिन्नता हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वायुदाब की पेटियाँ उत्तर तथा दक्षिण की ओर स्थानान्तरित होती रहती हैं। अत: वायुदाब की पेटियों के साथ हवा की पेटियाँ भी स्थानान्तरित होती रहती हैं। इस स्था-नान्तरण का परिणाम पछुआ हवा तथा संमार्गी हवा की सीमा के भागों पर प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 30° अक्षांश से लेकर 45° अक्षांशों के मध्य के भाग शीत ऋतु में

पछुआ हवा की पेटी में तथा ग्रीष्म ऋतु में संमार्गी हवा की पेटी में, अर्थात् मौसमी हवा के मार्ग में पड़ जाते हैं। स्थली एवं समुद्री वायु भी अस्थायी हवा की श्रेणी में आती हैं। उनके भी चलने का कारण जल और थल भाग पर प्राप्त रात एवं दिन के असमान सौर-ताप का ही प्रभाव होता है।

पहाड़ की चोटियों एवं घाटियों में भी दिन एवं रात के विभिन्न तापमान के कारण **पर्वतीय** तथा **घाटी की हवाएँ** चला करती हैं।

धरातल पर सूर्यातप के प्रभाव से हवाएँ एक भाग से दूसरे भाग को तो चलती ही हैं, एक ही स्थान पर तापमान में असमानता होने के कारण वायुदाब भिन्न हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप चक्रवात, प्रतिचक्रवात तथा झंझावात इत्यादि चला करते हैं। परन्तु धरातल पर विस्तृत रूप से सौर-ताप के प्रभाव से स्थायी हवाएँ ही वायुमण्डल की गति का महत्त्वपूर्ण प्रतिरूप हैं जिसका वर्णन पहले हो चुका है।

आवर्ती हवाएँ
(Periodic Winds)

'मौज्म' शब्द से मौसम बना है, जिसका अरबी में अर्थ मौसम होता है। मौसम के अनुसार चलने वाली हवाएँ **मौसमी हवाएँ** या **मानसूनी हवाएँ** (monsoon winds) कहलाती हैं। मौसमी हवाएँ संमार्गी हवाओं का ही प्रतिरूप हैं। ग्रीष्म ऋतु में संमार्गी हवा की दिशा परिवर्तित हो जाती है और वह **ग्रीष्म ऋतु की मानसून** कहलाती है। शीत ऋतु में वह अपने पूर्व रूप में हो जाती है जिसे **शीत ऋतु का मानसून** कहते हैं। ऋतुओं के अनुसार मौसमी अथवा मानसूनी हवाओं के चलने का कारण धरातल पर प्राप्त होने वाला विभिन्न सौर-ताप है जिसके कारण भिन्न वायुदाब के केन्द्र स्थापित होकर स्थायी हवा के क्रम को मौसम के अनुसार बदल देते हैं।
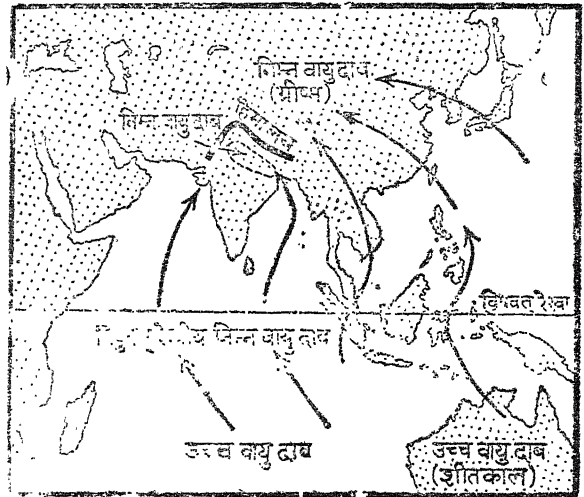
चित्र 302—मानसून हवाएँ : जुलाई

आवर्ती हवाओं का वृहद् रूप दक्षिणी-पूर्वी एशिया में देखने योग्य होता है। ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य की लम्बवत् किरणें कर्क रेखा पर पड़ने लगती हैं तो एशिया का मध्यवर्ती स्थल भाग (गोबी का मरुस्थल) एवं भारत में राजस्थान का रेगिस्तान बहुत गरम हो जाता है। फलत: ये भाग ग्रीष्म ऋतु में अल्प वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं और इसी समय हिन्द महासागर में कम गरमी के कारण तथा वृहद् जल-भाग होने के कारण उच्च वायुदाब का केन्द्र स्थापित हो जाता है। अत: ग्रीष्म ऋतु में हवाएँ हिन्द महासागर के उच्च दाब-केन्द्र की ओर से एशियाई अल्प वायुदाब के केन्द्र की ओर चला करती हैं। आस्ट्रेलिया के उच्च दाब क्षेत्र से विषुवतरेखीय अल्प वायुदाब होकर अपेक्षाकृत अधिक गहरे एशियाई अल्प वायुदाब की ओर वायु चलती है। इसी प्रकार घोड़े के अक्षांश के उच्च दाब क्षेत्र से विषुवत रेखीय अल्प दाब से होकर अपेक्षाकृत अधिक गहरा अल्प वायुदाब के उत्तरी भारत की ओर वायु चलती है।

इस हवा को **ग्रीष्म ऋतु का मानसून** कहते हैं। ये हवाएँ समुद्र की ओर से आने के कारण वाष्प से परिपूर्ण होती हैं। अत: स्थल पर पहुँचने पर पहाड़ी रुकावट पाकर काफी वर्षा करती हैं। इससे इनका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। हिन्द महासागर में भूमध्य रेखा पार करने के पश्चात् फेरल के नियम के अनुसार इन हवाओं की दिशा दक्षिण-पूरब से उत्तर-पश्चिम के स्थान पर दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूरब की ओर हो जाती है। अत: इस हवा को **दक्षिणी - पश्चिमी मानसून** कहते हैं किन्तु जाड़े की
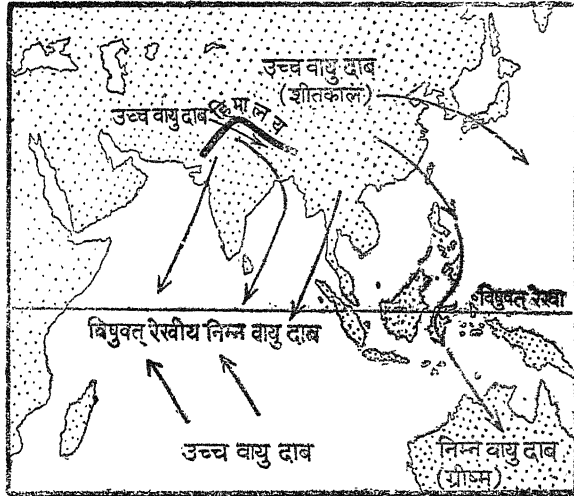
चित्र 303—मानसून हवाएँ : जनवरी

ऋतु में स्थिति बिलकुल उल्टी हो जाती है। सूर्य की लम्बवत् किरणें मकर रेखा पर चमकने लगती हैं। एशिया में गोबी का मरुस्थल अथवा भारत में राजस्थान का रेगिस्तान अधिक ठण्डक के कारण अधिक वायुदाब के केन्द्र बन जाते हैं और हिन्द महासागर में न्यून वायुदाब का केन्द्र स्थापित हो जाता है। हवाएँ एशिया के स्थलीय भाग से हिन्द महासागर की ओर चलने लगती हैं। एशिया के उच्च दाब क्षेत्र से विषुवतरेखीय अल्प दाब से होकर आस्ट्रेलियाई गहरा अल्प दाब क्षेत्र की ओर और

उत्तर भारत के उच्च दाब क्षेत्र से विषुवतरेखीय अल्प दाब क्षेत्र की ओर वायु चलती है। इस वायु को **जाड़े का मानसून** कहते हैं। इसकी दिशा उत्तर-पूरब से दक्षिण-पश्चिम की ओर भूमध्यरेखा के उत्तर में होती है। अतः इसे **उत्तर-पूरबी मानसून** कहते हैं। भूमध्यरेखा पार करने पर भूमध्यरेखा के दक्षिण में फेरेल के नियमानुसार इनकी दिशा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूरब की ओर हो जाती है। स्थल की ओर से आने के कारण इस हवा से वर्षा नहीं होती। मौसमानुसार दिशा तथा गुण में परिवर्तन के कारण ये आवर्ती हवाएँ (periodical winds) कहलाती हैं।

मानसून की तीन विशिष्टताएँ हैं। प्रथम विशिष्टता ऋतु के साथ इसकी दिशा में पूर्ण उत्क्रमण (reversal) है। दूसरी विशिष्टता यह है कि यह दिशा उत्क्रमण स्थल एवं जल के विभिन्न तापन के कारण होती है। इन तापीय कारणों से ऋतु-परिवर्तन के साथ उच्च एवं अल्प दाब के केन्द्र उलट जाते हैं। तीसरी विशिष्टता ग्रीष्म ऋतु में मानसूनी हवाओं द्वारा वृष्टि का होना है।

मानसून के परिसंचरण के सम्बन्ध में तीन अवधारणाएँ हैं :

(1) **चिरसम्मत अवधारणा** (Classical Concept)—यह अवधारणा जल एवं थल की उपस्थिति तथा ऋतु-परिवर्तन पर आधारित है। यदि पृथ्वी का धरातल केवल जल या थलपूर्ण होता तो मानसून हवाओं की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार ऋतु परिवर्तन के साथ प्राप्त आतपन की मात्रा एक-समान होती तो इन हवाओं की दिशा सदैव एकसी होती है।

इस अवधारणा के अनुसार, ग्रीष्म ऋतु में महासागर से महाद्वीप की ओर और शीत ऋतु में महाद्वीप से महासागर की ओर हवाएँ बहती हैं। महाद्वीपों की ओर प्रभावित होने पर इन हवाओं पर कोरिओलिस तथा संघर्षण बलों का प्रभाव पड़ता है और इनकी दिशा साधारणतः दक्षिण-पश्चिम हो जाती है। महाद्वीपों से महासागरों की ओर प्रवाहित होने पर इन हवाओं पर पृथ्वी के घूर्णन का प्रभाव पड़ता है और यह उत्तरी-पूरबी हवा हो जाती है।

इस अवधारणा की कड़ी आलोचना हो रही है।

(2) **स्पेट की मानसूनी अवधारणा** (Spate's Monsoony Concept)—स्पेट के अनुसार मानसून हवाओं की उत्पत्ति का कारण चक्रवातों एवं प्रतिचक्रवातों की उत्पत्ति है। इन चक्रवातों की उत्पत्ति तीव्र वायुराशियों के एक स्थान पर एकत्रीकरण होना है। प्रथम वायु-राशि महाद्वीपीय उष्णप्रदेशीय है जो अत्यन्त शुष्क होती है। द्वितीय वायु-राशि पुराने मानसून की वायु-राशि है जो अपेक्षाकृत आर्द्र होती है। महासागरों से आने वाली मानसून हवाएँ तीसरी वायु-राशि है जिनकी आर्द्रता अधिक तथा तापमान कम होता है। पुराने एवं नवीन मानसून वायु-राशियों के मध्य महाद्वीपीय उष्णप्रदेशीय वायु-राशि के आ जाने पर एक वाताग्र उत्पन्न हो जाता है और

चक्रवाती वायु उत्पन्न हो जाती है । इनमें हवा की गति धीमी होती है क्योंकि वाताग्र दुर्बल तथा छिछले होते हैं ।

(3) **फ्लोन की मानसूनी अवधारणा** (Flohn's Monsoony Concept)—फ्लोन ने चिरसम्मत अवधारणा की तीन मुख्य त्रुटियों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं :

(1) महाद्वीपीय उच्च एवं अल्प दाब-केन्द्रों की उत्पत्ति तापोत्पादक कारणों से नहीं होती है, अन्यथा ये सदैव प्रबल एवं स्थिर होते ।

(2) ग्रीष्म एवं शीतकालीन उच्च एवं अल्प दाब-केन्द्र इतने अधिक शक्तिशाली नहीं होते हैं कि हवाओं की दिशा में पूर्ण उत्क्रमण उत्पन्न कर सकें ।

(3) ग्रीष्मकालीन वर्षा निरन्तर नहीं होती है । वर्षा की मात्रा भी सर्वदा समान नहीं रहती है । कभी विलम्ब से वर्षा प्रारम्भ होती है और बीच में कभी सहसा समाप्त भी हो जाती है । इससे व्यक्त होता है कि मानसूनी वर्षा मानसूनी हवाओं पर ही नहीं निर्भर करती है ।

फ्लोन की धारणा है कि संमार्गी हवाओं के अभिसरण के फलस्वरूप विषुवत-रेखीय शान्त (डोलड्रम) के दोनों ओर एक प्रकार का वाताग्र उत्पन्न हो जाता है जिसको अन्तरा उष्ण कटिबन्धी अभिसरण (inter-tropical convergence) कहते हैं । ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी अंतरा उष्ण कटिबन्धी अभिसरण उत्तर की ओर खिसक कर महाद्वीप के भीतरी भाग तक पहुँच जाता है और वाताग्र में कई चक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप एक अर्द्ध-स्थायी अल्प दाब-केन्द्र स्थापित हो जाता है । तापोत्पादक अल्प दाब की उपस्थिति के कारण यह अर्द्ध-स्थायी अल्प दाब-केन्द्र अधिक प्रबल हो जाता है । वाताग्र के साथ विषुवतरेखीय पश्चिमी हवाएँ भी उत्तर की ओर खिसक जाती हैं और सागरीय हवाओं के रूप में महाद्वीपीय तटवर्ती भागों में बहने लगती हैं । इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की दक्षिणी-पश्चिमी हवाएँ विषुवतरेखीय पश्चिमी हवाओं का ही एक भाग हैं ।

इसी प्रकार ग्रीष्मकालीन मानसूनी वर्षा भी अंतरा उष्ण कटिबन्धीय वाताग्र के मध्य अक्षांशों तक खिसक जाने के कारण होती हैं । इस वाताग्र के कारण महासागरों की ओर से आने वाली विषुवतरेखीय पश्चिमी हवाओं में चक्रवातीय दशा उत्पन्न हो जाती है । आर्द्रतायुक्त होने के कारण इनसे मूसलाधार वर्षा होती है । यह संवहनीय वर्षा है ।

शीत ऋतु में मानसूनी प्रदेश में दुर्बल उच्च दाब-क्षेत्र बनते हैं किन्तु उपोष्ण उच्च दाब की पेटियों के खिसक आने से दुर्बल मानसूनी दाब-केन्द्र प्रबल हो जाते हैं । इसके फलस्वरूप प्रतिचक्रवातीय दशा उत्पन्न हो जाती है और उत्तरी-पूरबी हवाएँ चलने लगती हैं । इस प्रकार फ्लोन के विचार में हवाओं का यह उत्क्रमण तापीय कारणों पर आधारित नहीं है, बल्कि ग्रहीय वायु-क्रम में संमार्गी वायु का पुन: स्थापन का द्योतक है ।

स्थानीय हवाएँ
(Local Winds)

स्थली समीर एवं समुद्री समीर—स्थली समीर एवं समुद्री समीर (land and sea breezes) सागर के किनारे स्थल से समुद्र की ओर तथा समुद्र से स्थल की ओर चला करती हैं। दिन के समय जब सूर्य की किरणें जल-थल पर बराबर पड़ती हैं तब स्थली भाग जल की अपेक्षा शीघ्र तथा अधिक गरम हो जाता है। अत: समुद्र के किनारे के स्थली भाग का वायुदाब कम हो जाता है जबकि समुद्री भाग का वायुदाब अधिक रहता है। भिन्न वायुदाब होने के कारण हवाएँ अधिक दाब की ओर से कम वायुदाब की ओर अर्थात् समुद्र की ओर से स्थल की ओर चलने लगती हैं। समुद्र की ओर से आने के कारण इन्हें समुद्री समीर (sea breezes) कहते हैं। ये दिन के समय 12 बजे के पश्चात् चलना प्रारम्भ करती हैं और 8 बजे रात तक
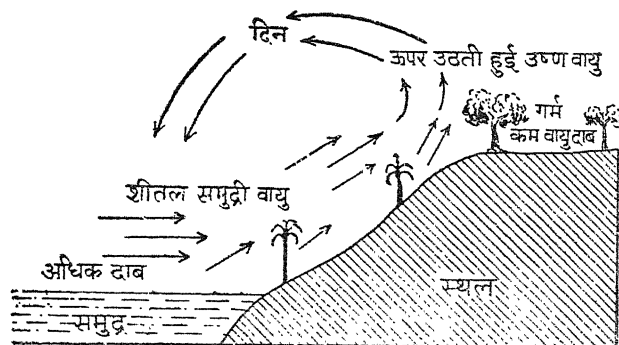
चित्र 304—समुद्री समीर (दिन के समय)

चलती हैं। इस प्रकार की हवा थल की ओर अधिक दूर तक नहीं पहुँचती है। अधिक से अधिक तट से 30 किलोमीटर या 50 किलोमीटर की दूरी तक स्थल की ओर चला करती है। इस हवा की ऊँचाई भी वायुमण्डल में अधिक नहीं होती है। आमतौर से 60 मीटर की ऊँचाई तक वायुमण्डल में चलती है। इसी कारण इस हवा से वर्षा नहीं होती है।

परन्तु रात्रि के समय परिस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। स्थल भाग का तापमान समुद्र की अपेक्षा बहुत कम हो जाता है क्योंकि थल की अपेक्षा जल धीरे-धीरे ठण्डा और गरम होता है। इसलिए जल-भाग पर अल्प वायुदाब रहता है और स्थल पर अधिक वायुदाब हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप रात्रि के समय स्थल से हवाएँ समुद्र की ओर चलने लगती हैं। स्थल से आने के कारण इन्हें स्थली समीर (land breezes) कहते हैं। ये हवाएँ रात्रि के 10 बजे से 6 बजे प्रातः तक चलती हैं।

स्थली समीर एवं समुद्री समीर प्रधानतः उष्ण कटिबन्धों के भागों में महत्त्व-पूर्ण समझी जाती हैं क्योंकि इनके द्वारा समुद्र-तट के उष्ण भागों को भी शीतल हवाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

चित्र 305—स्थली समीर (रात के समय)

स्थली तथा समुद्री हवाओं का प्रवाहकाल कुछ ही घण्टों के लिए होता है। अतः इनका विस्तार कम ही ऊँचाई तक हो पाता है। यह ऊँचाई 150 मीटर से 180 मीटर तक होती है और स्थल के भीतरी भाग में केवल 30 किलोमीटर से 50 किलोमीटर तक इनका प्रभाव रहता है।
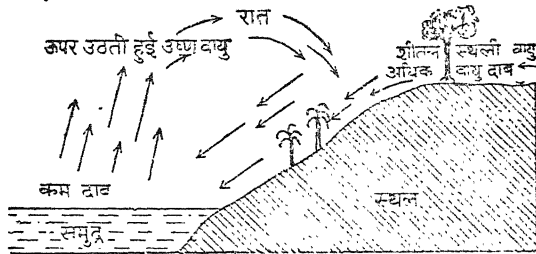
स्थली तथा समुद्री समीर के लिए निम्न दशाएँ सर्वोत्तम होती हैं :

(1) मेघहीन स्वच्छ आकाश,

(2) उच्चतम दैनिक ताप-परिसर,

(3) अधिकतर शक्तिशाली वायु की अनुपस्थिति।

इन समीरों से मछुओं को बड़ा लाभ होता है। नित्य प्रातः स्थली समीर के साथ वे समुद्र में चले जाते हैं और शाम को समुद्री समीर के साथ लौट आते हैं।

समुद्री समीर को उष्ण कटिबन्ध में 'डाक्टर' की संज्ञा प्रदान की जाती है, क्योंकि डाक्टरों की तरह यह सुखप्रद होती है। यह वायु निर्मल तथा आर्द्र होती है जिससे उच्च तापमान के बाद सुख मिलता है। इससे वर्षा की मात्रा में भी बढ़ती हो जाती है।

पर्वतीय एवं घाटी समीर—पर्वतीय समीर एवं घाटी समीर (Mountain and Valley breezes) भी स्थली एवं समुद्री समीर की भाँति चलती हैं। शिखर
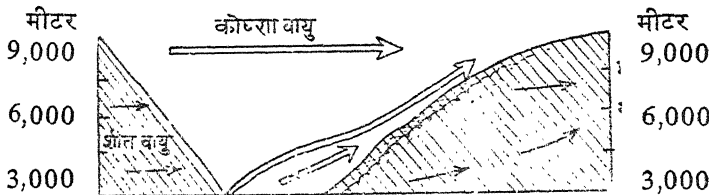
चित्र 306—पर्वत घाटी समीर

की वायु गरम होकर संवहन की धाराओं के रूप में ऊपर उठने लगती है। दिन के

समय घाटी की हवा गरमी के कारण हल्की हो जाती है और ऊपर उठने लगती है तथा पर्वत की चोटी पर खाली जगह को भरने के लिए पहुँच जाती है। इसके साथ पानी की वाष्प भी घाटी से चोटियों पर चली जाती है और चोटियों पर **कपसीले बादल** (cumulus clouds) बन जाते हैं। परन्तु रात्रि के समय पर्वतीय ढालों की हवा तीव्र विकिरण के कारण ठण्डी हो जाती है और घाटी में उतर जाती है। दिन में घाटी की हवा गरम होकर हल्की हो जाती है और पर्वतों की ओर चलने लगती है। इसे घाटी समीर कहते हैं। रात्रि के समय हवा पर्वतों से घाटी की ओर बहती है। उसको **उत्प्रेक्षक पवन** (catabatic wind) या **गुरुत्वाकर्षण पवन** (gravity wind) कहते हैं।

इसी कारण घाटियों के निचले भागों में वसन्त एवं पतझड़ के समय पाला पड़ता है। इससे बचने के लिए कैलिफोर्निया (संयुक्त राज्य अमरीका) के फलों तथा ब्राजील (दक्षिणी अमरीका) के कहवा के बाग ऊँचे ढालों पर लगाये जाते हैं।

कभी-कभी घाटियों में ठण्डी हवा अवरुद्ध हो जाती है जिससे भयानक ठण्ड हो जाती है। साइवेरिया की घाटियों में इसी परिस्थिति में दिनों का तापमान भी बहुत नीचा हो जाता है।

किसी स्थान विशेष पर तापमान की विभिन्नता तथा न्यूनतम तापमान-प्रवणता के कारण अवदाब हवाएँ (depression winds) चलने लगती हैं। इन्हें **वातावर्त** या **भँवर** (whirl wind) की संज्ञा प्रदान की जाती है। ये हवाएँ भयानक तथा विध्वंसकारी होती हैं। ये हवाएँ चक्कर काटती हुई ऊपर उठती हैं। जैसे उत्तर प्रदेश के मैदानों में ग्रीष्म काल में धूलि के बवण्डर उठते हैं। इस प्रकार की प्रमुख शीत **बोरा** (bora), **मिस्ट्रल** (mistral), **पैम्पेरो** (pampero), और उष्ण हवाएँ **सिराको** (sirraco), **खामसिन** (khamsin), **हारमाटम** (harmattam), **ब्रिक-फील्डर** (brick-fielders), **सान्ता आना** (santa ana) तथा **जोंद** (Zonda) हैं।

ये हवाएँ शीत एव ग्रीष्म ऋतु की शाम को चलती हैं। इनका विकास उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्ध के मैदानी तथा मरुस्थली क्षेत्रों में अधिक होता है। वनस्पति से आच्छादित क्षेत्रों में इनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। इनकी उत्पत्ति में चक्रवात तथा प्रतिचक्रवातों का अधिक सहयोग रहता है।

आल्प्स पर्वत क्षेत्र के इस्ट्रीअन पठार से ठण्डी हवा एड्रियाटिक समुद्र की ओर चलती है। इसको **बोरा** कहते हैं। अलास्का में बहने वाली ठण्डी वायु को विल्ली वाव (willy-waw) कहते हैं।

फ्रांस के आवर्नी पठार से रोन नदी की घाटी में ठण्डी एवं शुष्क अवदाब वायु **मिस्ट्रल** कहलाती है। इसकी उत्पत्ति लीओन्स की खाड़ी के चक्रवात तथा पूरबी फ्रांस के हिमाच्छादित भाग के कारण उत्पन्न प्रतिचक्रवात के फलस्वरूप होती है।

अर्जेन्टाइना के मैदान में ठण्डी वायु पैम्पेरो तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया में सदर्ली बर्स्टर कहलाती है।

अफ्रीका के उत्तरी भाग से यूरोप की ओर सहारा मरुस्थल से उष्ण एवं शुष्क हवाएँ चलती हैं। जब ये हवाएँ भूमध्यसागर को पार करती हैं तो तर हो जाती हैं और इटली में इन्हें सिराको तथा स्पेन में लेविची (leveche) कहते हैं। इसकी उत्पत्ति का मुख्य कारण सहारा क्षेत्र में उच्च दाब तथा भूमध्यसागर में अल्प दाब की स्थिति का पैदा होना होता है। कभी-कभी इनकी गति बड़ी तीव्र होती है जिससे अफ्रीका तट के लोग झुलस जाते हैं और भारी क्षति उठाते हैं। मिस्र में चलने वाली इस प्रकार की वायु को खामसिन कहते हैं। गिनी तट पर स्थली भाग से समुद्र की ओर चलने वाली शुष्क एवं गरम वायु हारमट्टन कहलाती है। आस्ट्रेलिया में ब्रिक-फील्डर शुष्क एवं गरम वायु मरुस्थली पठार से समुद्र की ओर चलती है।

अवरोही हवाएँ
(Descending Winds)

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि घाटियों की हवा पर्वतीय श्रेणी को पार करके दूसरी ओर मैदानों में उतरने लगती है। ऐसी हवा यूरोप में फोएन (foehen) उत्तरी अमरीका में चिनूक (chinook) के नाम से पुकारी जाती है। ऊँचाई से उतरने के कारण ये हवाएँ शुष्क होती हैं और मैदानी भाग के तापमान को बहुत ऊँचा कर देती है। चिनूक वायु से 24 घण्टे में तापमान 10° सेग्रे बढ़ जाता है। शुष्कता के कारण तीव्र वाष्पीकरण होता है जिससे ये हिमाच्छादित मैदान के हिम को पिघला देती हैं। इसी से इन हवाओं को हिम-भक्षिणी (snow-eaters) भी कहते हैं। ये गेहूँ की उपज के लिए लाभदायक होती हैं। बर्फ के पिघलने से गेहूँ को नमी मिलती है। यदि ये हवाएँ न होतीं तो राकी का पूरबी ढाल निर्जीव तथा निर्जन होता।

फोएन वायु—यह यूरोप की उष्ण एवं शुष्क वायु है। इसकी उष्णता का कारण पहाड़ों को पार करने के पश्चात् मैदानों में उतरना है। इसमें नमी नहीं होती। किन्तु वाष्पीकरण की शक्ति अधिक होती है। यह हवा ऊँचे शीत ऋतु में आल्प्स पर्वत से नीचे उत्तर की ओर मैदान में बहती है। जब मध्य यूरोप में तीव्र दाब-प्रवणता का चक्रवात (cyclone with steep pressure gradient) पहाड़ों के पास से वायु के शक्तिशाली प्रवाह को अपनी ओर खींचता है तो ये हवाएँ चलती हैं।

कुछ वर्ष पूर्व लोगों की धारणा थी कि यह गरम हवा सहारा के मरुस्थल से उत्तरी यूरोपीय मैदान में आती है। परन्तु अब निरीक्षणों के आधार पर यह ज्ञात हुआ कि यह हवा जब आल्प्स के दक्षिण की तरफ उठने लगती है तो फैलती है। इसके बाद ठण्डी हो जाती है। इस हवा में ओसांक पहुँचते ही संघनन होने लगता है और उसकी नमी वर्षा या बर्फ के रूप में गिर जाती है। यह हवा जब पहाड़ को पार करके उत्तर की तरफ उतरती है तो सिकुड़ती है और इसका तापमान बढ़ जाता है। वाष्पीकरण की शक्ति अधिक हो जाती है। अतः यह उष्ण वायु हो जाती है।

चिनूक हवाएँ—चिनूक हवाएँ राकी पहाड़ से अमरीका के उत्तरी मैदान में बहती हैं। जो हवा न्यूजीलैण्ड आल्प्स से कैंटरबरी के मैदान में बहती है, इसी प्रकार की उष्ण तथा शुष्क वायु है।

दक्षिणी अफ्रीका के पठार से समुद्रतट की ओर उतरने वाली उष्ण वायु **बर्ग** कहलाती है। आस्ट्रेलिया में इस प्रकार की अवरोही उष्ण वायु **नारवेस्टर,** ईरान में **सामुन** तथा इक्वेडर (दक्षिणी अमरीका) में **नेवेडोज** कहलाती है। ·
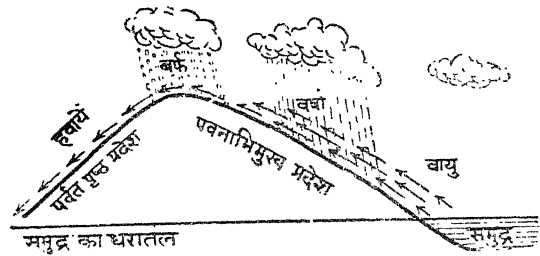
चित्र 307—चिनूक हवाएँ

अवरोही वायु की कुछ विशेषताएँ होती हैं—(1) ये सब ऋतुओं में चलती हैं।

(2) ये शरद् ऋतु में अधिक चलती हैं क्योंकि इस समय तापमान का ऊर्ध्व विस्तार बहुत कम हो जाता है।

(3) धरातल पर अधिक विकिरण के कारण हवाएँ अधिक ठण्डी हो जाती हैं किन्तु पहाड़ी ढालों पर वर्षा के कारण ऊपरी वायु उष्ण हो जाती है।

तड़ित् झंझा
(Thunderstorms)

तड़ित्-झंझा चक्रवातों के उत्पन्न होने के पूर्व आती हैं। इनमें गर्जन तथा चमक होती है। इनका आगमन बहुधा ग्रीष्म ऋतु में होता है। इनकी उत्पत्ति के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :

(1) तीव्र संवहनीय उष्णार्द्र एवं अस्थिर वायु,

(2) अत्यधिक तापमान, और (3) अत्यधिक आर्द्रता।

ये आँधियाँ अल्पकाल में समाप्त हो जाती हैं। इनका दीर्घ जीवन भी कुछ घण्टों का ही होता है। इनका व्यास 160 किलोमीटर तक होता है। इसका समय तथा मार्ग अनिश्चित होता है। इनसे थोड़े समय तक मूसलाधार वृष्टि होती है।

ये आँधियाँ बहुत विनष्टकारी होती हैं। इनके द्वारा कपसीले बादल उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी वर्षा के साथ ओले भी गिरते हैं और बिजली की चमक तथा गर्जन भी होती है। ऐसे बवण्डर के समय वायु तीव्र गति से बहती है और ऊँचाई पर स्थित जलकण वायु के झोंकों के कारण खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। इस कारण धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative) विद्युत् पृथक् हो जाती हैं। धनात्मक विद्युत् जलकणों से सम्बद्ध रहती है और ऋणात्मक विद्युत् वायु के साथ ऊपर की ओर उठ जाती है जो बादलों में मौजूद धनात्मक विद्युत् से मिल जाती है और विद्युत्-प्रकाश उत्पन्न करती है। यह तीव्र वेग से बहती हुई लम्बी धारा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसको तड़ित् (lightening) कहते हैं।

बादलों के ऊपरी भाग में ऋणात्मक विद्युत् तथा निचले भाग में धनात्मक विद्युत् पैदा होती है। धरातल तथा बादल के ऊपरी भाग के मध्य तड़ित् की उत्पत्ति होती है।

तड़ित् झंझा की उत्पत्ति के लिए 7 किलोमीटर ऊँचाई तक अस्थिर वायुमण्डल चाहिए। नीचे उष्ण मौसम तथा अधिक आर्द्रता चाहिए। इनके छोटे जलकण मिलकर क्रमशः बड़े हो जाते हैं। अतः वर्षा हो जाती है।

जल-विद्युत्-धारा तीव्र वेग से चलती है तो अपने आगे की हवा को ढकेल देती है और समीप के स्थानों से हवाएँ उस रिक्त स्थान को भरने के लिए तीव्रता से दौड़ पड़ती हैं जिससे तीव्र ध्वनि का उद्घोष होता है। इसको मेघ-गर्जन (thunder) कहते हैं। विद्युत्-प्रकाश एवं मेघ-गर्जन साथ-साथ होते हैं। तीव्र गर्जन की प्रतिध्वनि बादलों में भी होती है।

दो वायु-राशियों के मिलने से उत्पादन तड़ित्-झंझा को सीमान्तीय तड़ित्-झंझा (thunderstorm) कहते हैं। इसमें तापमान में शीघ्रता से गिरावट हो जाती है। सोवियत रूस के दक्षिणी क्षेत्र में इस प्रकार के तड़ित्-झंझा प्राप्त होते हैं। तड़ित्-झंझा की गति भिन्न-भिन्न होती है।

तड़ित्-झंझा भूमध्यवर्ती रेखा से ध्रुवों की ओर के प्रदेशों में क्रमशः कम होते जाते हैं। इसी कारण ध्रुवीय क्षेत्र में तड़ित्-झंझा नहीं आते हैं। मरुस्थलों में भी ये नहीं आते हैं। स्मरण रखना चाहिए कि इनकी उत्पत्ति के लिए ऊष्मा तथा आर्द्रता की आवश्यकता होती है। इसलिए शीत एवं शुष्क क्षेत्रों में कदाचित् आते हैं।

इनका पूर्वानुमान करना कठिन होता है। अक्षांश में वायु की स्थिरता तथा ताप-ह्रास गति द्वारा इसके विकास एवं आगमन का पूर्वानुमान किया जाता है। इसमें ऊर्जा आरेख (energy diagram) तथा समएन्ट्रोपिक चार्ट (isentropic chart) अत्यधिक सहायक होते हैं।
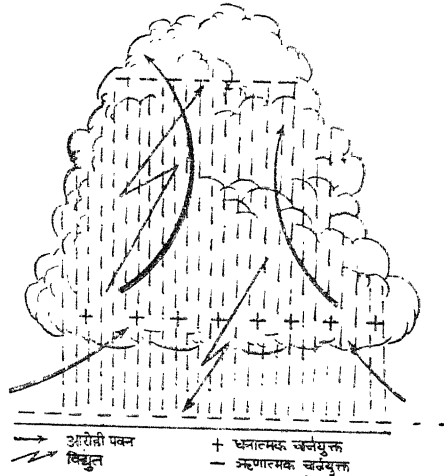
चित्र 308—तड़ित्-झंझा

तड़ित्-झंझा के आगमन के पूर्व ही बादल प्रकट हो जाते हैं। बादल जितने ही ऊँचे होते हैं, झंझा उतनी ही देर से आता है। यदि बादल अधिक होते हैं तो इसका शीघ्र आगमन हो जाता है। 4 किलोमीटर पर तापमान शीघ्रता से कम होता है। यदि जलवाष्प की मात्रा वायु में अधिक होती है तो झंझा का अवश्य एवं शीघ्र आगमन होता है। ओला

तथा प्रचण्ड वायु के झोंके भी झंझा के आने के सूचक हैं। इनकी समाप्ति पर आकाश स्वच्छ हो जाता है।

तड़ित्-झंझा के प्रकार

(1) वायु-पुंज तड़ित्-झंझा (air-mass thunderstorms) :
  (क) संवहनी तड़ित्-झंझा (connective thunderstorms) ;
  (ख) पर्वतीय तड़ित्-झंझा (orographic thunderstorms) ;
  (ग) अभिवाही तड़ित्-झंझा (advective thunderstorms)।

(2) वाताग्री तड़ित्-झंझा (frontal thunderstorms) :
  (क) शीत वाताग्री तड़ित्-झंझा (cold front thunderstorms) ;
  (ख) उष्ण वाताग्री तड़ित्-झंझा (warm front thunderstorms)।

(1) वायु-पुंज तड़ित्-झंझा—

(क) संवहनीय तड़ित् झंझा—इनकी उत्पत्ति धरातलीय आतपन से होती है, अतः उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धीय अक्षांशों में ग्रीष्मकाल में इनकी उत्पत्ति होती है। इनका विस्तार छोटा होता है और अन्य तड़ित्-झंझाओं की अपेक्षाकृत अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं। इनकी गति धीमी, अधः वात-प्रवाह (down draft) प्रबल और प्रचण्ड स्थानीय वर्षा एवं ओला विशेषताएँ हैं। ताप-विकिरण से सम्बन्धित होने के कारण दिन के अपराह्न में इनकी उत्पत्ति होती है।

इस तड़ित्-झंझा के आते ही हवा अत्यन्त मन्द गति से चलने लगती है और वायु का तापमान भी कुछ कम हो जाता है। आकाश कपासी-वर्षी मेघ (cumulonimbus) से ढक जाता है और मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु यह वर्षा अल्पकालीन होती है। तत्पश्चात् खण्डित स्तरी मेघ (fractostratus) आ जाते हैं और तापमान धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। मध्य अक्षांश में स्थित देशों के भीतरी भाग में कुछ वर्षा हो जाती है।

(ख) पर्वतीय तड़ित्-झंझा—यह पर्वत एवं पठार द्वारा अस्थिर वायु के ऊपर उठने के फलस्वरूप पैदा होता है। इनकी अधिकता पर्वतीय क्षेत्रों में रहती है। इनका विकास संवहनी तड़ित्-झंझा की अपेक्षा तीव्रता से होता है। ये अधिक विस्तार में होते हैं। ये स्थिर होते हैं और पर्वत तथा पठार के पवनाभिमुख भाग (windward side) पर स्थिर रहते हैं। इनके साथ ओला पड़ता है।

(ग) अभिवाही तड़ित्-झंझा—वायुमण्डल की निचली परत में उष्ण वायु के अभिवहन तथा ऊपरी परत में शीत वायु के अभिवहन के फलस्वरूप अभिवाही तड़ित्-झंझा की उत्पत्ति होती है। रात्रि के समय उष्ण वायु का अभिवहन 800 से 2,000 मीटर ऊँचाई तक होता है। यह दशा कदाचित् ही पैदा होती है।

(2) वाताग्री तड़ित्-झंझा—

(क) शीत वाताग्री तड़ित्-झंझा—इसकी उत्पत्ति शीत वाताग्र के अग्रमुख पर उष्ण एवं संवहनी अस्थिर वायु के यांत्रिक उत्थान के कारण होती है। इसकी

प्रचण्डता वाताग्र पर तापमान की प्रवणता, इसके वेग तथा उष्ण वायु की अस्थिरता पर निर्भर करता है। जब वाताग्र-धरातल का ढाल अतिप्रवण होता है और अत्यधिक उष्ण एवं अस्थिर वायु ऊपर उठती है तो दोनों के संयोग से प्रचण्ड तड़ित्-झंझा उत्पन्न होता है। ये अधिकतर 'वी' आकार के ग्रीष्मकालीन चक्रवातों के शीत वाताग्रों पर पैदा होते हैं। प्राय: अपराह्न में ये सर्वाधिक प्रबल तथा रात्रि में दुर्बल रहते हैं। कभी-कभी वायुराशि के भौतिक गुणों में इतना अधिक व्यतिरेक होता है कि इस प्रकार के तड़ित्-झंझा रात्रि में भी पैदा हो जाते हैं।

(ख) **उष्ण वाताग्री तड़ित्-झंझा**—इसकी उत्पत्ति के लिए उष्ण वायु का अत्यधिक आर्द्र तथा अस्थिर होना आवश्यक होता है। यह शीत वाताग्र तड़ित्-झंझा की अपेक्षा कम प्रबल होता है। इनकी प्रचण्डता रात्रि के समय अधिकतम और सूर्यास्त के पूर्व न्यूनतम होती है। धरातल से पर्याप्त ऊँचाई पर पैदा होने के कारण इनका विशेष प्रभाव मानव-जीवन पर नहीं पड़ता है।

कभी-कभी अधिविष्ट तथा स्थिर वाताग्रों पर भी तड़ित्-झंझा उत्पन्न हो जाया करते हैं। इनको अधिविष्ट वाताग्री तड़ित्-झंझा (occluded front thuder-storms) तथा अग्रगामी वाताग्री तड़ित्-झंझा (stationary front thunderstorms) कहते हैं। तड़ित्-झंझा के पूर्वानुमान में ऊर्जा आरेख (energy diagram) तथा सम ऐन्ट्रॉपिक चार्ट (isentropic chart) सहायक होते हैं।

विद्युत् प्रकाश

मेघाच्छादित वायुमण्डल में बूँदों के फटने के कारण बिजली की उत्पत्ति होती है। प्राय: ऐसी घटना संवहनीय तूफानों के समय हुआ करती है। इस प्रकार के तूफान ग्रीष्मकाल में अधिक आते हैं। तूफानों में बूँदों का आकार बड़ा हो जाता है, परन्तु वे बड़े आकार में अधिक देर तक नहीं रह सकते और फटने लगते हैं। इस समय बूँदों का बहुत अंश पानी के रूप में बरस जाता है। शेष अंश बारीक कणों के रूप में परिवर्तित होकर बादलों पर पहुँच जाता है। जल के बड़े कण धन-विद्युत् से युक्त होते हैं और छोटे कण ऋण-विद्युत् से युक्त होते हैं। पृथ्वी में ऋण-विद्युत् रहती है। इस प्रकार धन-विद्युत् जब दो ऋण-विद्युत् के मध्य पड़ जाती है तो उसमें आकर्षण के कारण विद्युत् उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् बादलों में धन और ऋण दो प्रकार की विद्युत् होती है। जब ये भिन्न प्रकार की विद्युत् पास आती हैं तो इनमें आकर्षण होता है और आकर्षण के कारण विद्युत् उत्पन्न होती है। आकर्षण के कारण जब विभिन्न गुण के बादल एक-दूसरे के पास आते हैं तो उनमें चमक भी आती है जिसे बिजली का चमकना कहते हैं। कभी-कभी विद्युत् पृथ्वी पर गिरती हुई भी देखी जाती है। यह ऊँचे पेड़ों अथवा मकानों तथा चमकीली वस्तुओं की ओर आकर्षित होती है तथा गिरती है। वायुमण्डल की इस प्रकार की चमक को बिजली कहते हैं।

जब वायुमण्डल में बादलों में उपस्थित विभिन्न प्रकार की विद्युत् में आकर्षण होता है तो उससे विद्युत् पैदा होती है। साथ ही, बादलों में भी भीषण गर्जन होती

है जिसे **मेघ-गर्जन** (thundering) कहते हैं। बादलों के आकर्षण के साथ हवा में बहुत अधिक प्रसार होता है जो गर्जन का कारण बनता है।

मेघाच्छादित वायुमण्डल में विद्युत् की उत्पत्ति तथा गर्जन दोनों लगभग साथ-साथ होते हैं। परन्तु प्रकाश की किरणों के आवाज की अपेक्षा तीव्र गति से चलने के कारण विद्युत् का चमकना पहले दिखाई पड़ता है और बादलों का गर्जन बाद में सुनाई पड़ता है।

घूर्णमेघ-स्तम्भ

एक प्रकार का प्रभंजन (tornado) जब समुद्र की सतह पर होकर गुजरता है तो समुद्र का जल उसके केन्द्रीय भाग में वायुदाब की अधिक न्यूनता के कारण ऊपर उठ जाता है। समुद्र के ऊपर से गुजरते हुए चक्करदार वायु के साथ मध्य में समुद्र का जल कई मीटर ऊँचा उठ जाता है, जो दूर से देखने पर स्तम्भ की भाँति दिखाई पड़ता है। इस स्तम्भ के ऊपर जल की बूँदें (waterspray) और भी ऊँची उठती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। तूफान के समय समुद्र में इस प्रकार उठे हुए जल को **घूर्णमेघ स्तम्भ** (waterspout) कहते हैं। चक्करदार प्रभंजन के मध्य में वायुदाब इतना कम होता है कि जल के साथ मछलियाँ इत्यादि भी ऊपर खिंच जाती हैं और तूफान के समाप्त होने पर पानी के साथ नीचे गिर जाती हैं।

प्रतिचक्रवात

प्रतिचक्रवात (anti-cyclone) का वृत्ताकार तथा दीर्घवृत्ताकार रूप वृहद् क्षेत्र में होता है। यह अधिक वायुदाब को प्रदर्शित करता है। इसके मध्य में वायुदाब अधिक और चारों तरफ कम होता है। प्रतिचक्रवात में वायु की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त्त (clockwise) होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त (anti-clockwise) होती है। हवा की दिशा वायुदाब की रेखाओं के समान्तर न होकर कुछ बाहर की ओर होती है। प्रतिचक्रवात का सबसे बड़ा गुण मध्य में वायु का शान्त और शीतल होना है। प्रतिचक्रवात के शान्त प्रदेश में स्थानीय हवाओं का अनुभव किया जाता है। इसके सीमान्त की हवा नियमित तथा निश्चित दिशा में बहती है, यद्यपि हल्की होती है। शीत प्रदेश में स्थानीय
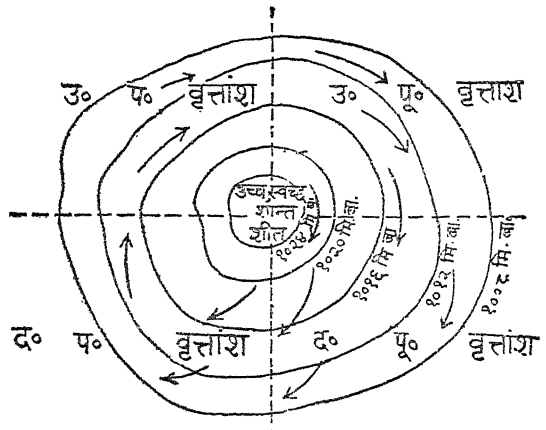
चित्र 309—प्रतिचक्रवात (उत्तरी गोलार्द्ध)

हवा तथा वर्षा, दिन में सुन्दर तथा सुहावना मौसम और रात्रि में शीतल एवं शान्त वातावरण पाया जाता है। इसमें तापमान का व्युत्क्रमण पाया जाता है। प्रतिचक्रवात में स्वच्छ एवं नीलाकाश, शुष्क एवं शीतल वायु, तेज धूप तथा मन्द गति की वायु पायी जाती है। प्रतिचक्रवात में चक्रवात की लगभग सभी दशाएँ पायी जाती हैं किन्तु इसका प्रत्येक गुण चक्रवात से भिन्न है। दैनिक ताप-परिसर अधिक रहता है क्योंकि स्वच्छ आकाश से तापमान का अधिक विकिरण होता है।

प्रतिचक्रवातों के प्रकार

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने प्रतिचक्रवातों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित किया है जिनका वर्णन निम्न प्रकार है :

गेडस नामक विद्वान ने प्रतिचक्रवातों को तीन भागों में बाँटा है :

(1) जब विशाल क्षेत्र में अधिक ऊँचाई तथा स्वतन्त्र विकिरण के कारण तापमान अधिक नीचा हो जाता है तो सर्दी पड़ने लगती है तथा उस विशाल क्षेत्र का वायुदाब अधिक हो जाता है। फिर विशाल प्रतिचक्रवात का रूप धारण कर लेता है। ऐसा अवसर शीत ऋतु में होता है। ग्रीष्म ऋतु में ऐसा देखने को नहीं मिलता है। इस प्रकार के प्रतिचक्रवात के नमूने ऐटलांटिक प्रदेश, ग्रीनलैण्ड और मध्य एशिया में मिलते हैं।

(2) दूसरे प्रकार का प्रतिचक्रवात वह है जो जाड़े की ऋतु का रूप ग्रीष्म-ऋतु में भी विकसित अवस्था में दिखलाता है। इसका भी विस्तार बड़ा होता है। इसका औसत व्यास 3,200 किलोमीटर माना जाता है। इस प्रकार प्रतिचक्रवात धीरे-धीरे बनते हैं तथा धीरे-धीरे समाप्त होते हैं। पश्चिमी यूरोप में इसके उदाहरण मिलते हैं।

(3) तीसरे प्रकार का प्रतिचक्रवात वह है जो दो चक्रवात अथवा अल्प वायुदाब प्रदेश के बीच स्थिर होता है। इस अवस्था को **फन्नी** (wedge) के नाम से पुकारते हैं। ये कभी छोटे तथा कभी बड़े रूप में होते हैं। ऐसे चक्रवात गुजरात तट पर मिलते हैं।

इनमें से प्रथम प्रकार के प्रतिचक्रवात पीछे रहते हैं। इनकी गति तथा दिशा अनिश्चित होती है। किन्तु दूसरे प्रकार के प्रतिचक्रवात धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं और कई दिनों तक स्थायी रहते हैं। तीसरे प्रकार के अपूर्ण प्रतिचक्रवात हैं जिनकी दिशा तथा गति समीपवर्ती चक्रवातों पर निर्भर करती है।

हाजलिक नामक विद्वान् ने प्रतिचक्रवातों को दो भागों में बाँटा है :

(1) **शीत प्रतिचक्रवात**—जहाँ शीत के कारण उच्च वायुदाब विकसित होता है वहाँ प्रतिचक्रवात स्थायी रूप से रहते हैं। चक्रवात के पृष्ठ भाग में शान्त ध्रुवीय हवा के दक्षिण की ओर बहने के कारण ये उत्पन्न होते हैं। साइबेरिया तथा मध्य एशिया में ऐसी दशा मिलती है।

(2) **उष्ण प्रतिचक्रवात**—ये उपोष्णीय उच्च वायुदाब प्रदेशों में देखे जाते हैं। इनमें दबाव अधिक रहता है तथा हवा उष्ण और शुष्क रहती है। ये अस्थायी होते हैं। इनके पश्चिमी वृत्तांश में ठण्डी पृथ्वी के सम्पर्क में घना कुहरा रहता है। बाद में बादल बनते हैं। ये इतने नीचे रहते हैं कि अन्धकार बना रहता है।

हम्फ्रीज ने उत्पत्ति के अनुसार प्रतिचक्रवातों को तीन भागों में बाँटा है :

(1) बलकृत प्रतिचक्रवात (mechanical anti-cyclone),

(2) विकिरणीय प्रतिचक्रवात (radiational anti-cyclone),

(3) तापीय प्रतिचक्रवात (thermal anti-cyclone)।

(1) **बलकृत प्रतिचक्रवात**—30° से 35° अक्षांशों के मध्य वायु का संकुचन होता है और उच्च दाब के क्षेत्र बन जाते हैं जो सागर पर अधिक प्रभावशाली होते हैं। इस प्रकार के प्रतिचक्रवात अस्थिर होते हैं।

(2) **विकिरणीय प्रतिचक्रवात**—अधिक ऊँचाई तथा स्वतन्त्र विकिरण के कारण ऐटलाण्टिक और ग्रीनलैण्ड में उच्च दाब-केन्द्र बन जाते हैं जो प्रतिचक्रवातों के केन्द्र हैं। ये स्थायी होते हैं।

(3) **तापीय प्रतिचक्रवात**—सागरों में ठण्डी धाराओं के कारण सतह का तापमान कम हो जाता है और उच्च दाब-केन्द्र विकसित होते हैं। ये अस्थायी होते हैं। ये प्रतिचक्रवात बरमूडाज तथा न्यूजीलैण्ड में देखे जाते हैं।

प्रतिचक्रवातों की विशेषताएँ

(1) इनकी गति 30 या 50 किलोमीटर प्रति घण्टा होती है तथा इनका विस्तार चक्रवात से अधिक होता है।

(2) इनमें वर्षा स्थानीय होती है। केन्द्र में शुष्क वायु के फलस्वरूप वर्षा नहीं होती है।

(3) इनके विभिन्न भागों के तापमान में भिन्नता रहती है तथा समदाब रेखाएँ केन्द्र में दूर-दूर रहती हैं।

(4) हवाएँ हल्की और धीमी होती हैं क्योंकि दाब-प्रवणता कम होती है। स्थली और समुद्री समीर का प्रभाव रहता है अतः कभी भयंकर नहीं होते हैं। केन्द्र में अस्थिर तथा शान्त हवाएँ रहती हैं। इनके साथ ही साथ शीतल और गरम तापीय तरंगों का भी अनुभव होता है।

(5) इनकी स्थिति दो चक्रवातों के मध्य रहती है जिनकी दिशा अनिश्चित रहती है। इनका प्रवाह भी अनिश्चित होता है। ये कभी तो एक ही स्थान पर काफी समय तक रहते हैं और प्रायः आगे-पीछे चलते हैं।

(6) उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त और दक्षिणी गोलार्द्ध में वामावर्त दिशा में वायु बहती है।

(7) प्रतिचक्रवात में मौसम साफ रहता है।

प्रतिचक्रवात तथा ऋतु

अधिकतर प्रतिचक्रवात में मौसम शुष्क तथा स्वच्छ रहता है। इनके केन्द्र के समीप ऋतु की भिन्न-भिन्न दशाएँ मौसम पर निर्भर करती हैं। इनके किनारों का मौसम हवा के रुख और प्रदेश पर निर्भर करता है। प्रतिचक्रवात के केन्द्र में हवा और बादलों का अभाव रहता है। हवा बहुधा ऊपर की ठण्डी परतों से चक्रवातों की ओर चला करती है। उत्तर में दबाव के कारण गरम हो जाने से अधिक भाप लेती है किन्तु वर्षा के अयोग्य होती है। इस प्रकार आकाश साफ रहता है। क्षितिज पर जहाँ-तहाँ धुँधलापन दृष्टिगोचर होता है। ग्रीष्म ऋतु में दिन गरम होते हैं किन्तु शीत ऋतु में विकिरण की गरमी से घना कुहरा बन जाता है जो दूसरे दिन तक लगातार बना रहता है। पतझड़ के प्रारम्भ में धुंध और ओस घण्टों तक बनी रहती है। संक्षेप में, प्रतिचक्रवात का मौसम गरमी में अच्छा और शान्त तथा शरद में कुहरा तथा पाला से भरा रहता है।

प्रश्न

1. Describe the circulation of the atmosphere on the earth and show that it is directly influenced by insolation. (*Nagpur 1969*)
   पृथ्वी-पटल पर वायुमण्डल की चलनशीलता पर प्रकाश डालिए और बताइए कि सूर्यातप से यह कैसे प्रभावित होता है ?

2. Discuss the various types of winds and their causes of origin. (*Meerut 1968*; *Patna 1969*; *Ujjain 1969*)
   विभिन्न प्रकार की वायु की उत्पत्ति के कारण के साथ उनकी व्याख्या कीजिए।

3. What are local winds ? Explain the source of origin and describe the most important types. (*Bhagalpur 1968*; *Sagar 1969*)
   स्थानीय हवाएँ क्या हैं ? उनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? कतिपय प्रमुख स्थानीय हवाओं का विवरण लिखिए।

4. Discuss monsoon winds and explain when and how they disrupt the planetary winds. (*Gorakhpur 1966*)
   मानसून पवनों की व्याख्या कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि वे कहाँ और कैसे नियतवाही पवनों को भंग कर देती हैं ?

5. Discuss the origin of storms with reference to origin of cyclones in India. (*Meerut 1968*; *Agra 1970*)
   झंझावातों की उत्पत्ति की विवेचना कीजिये जिसमें भारत के चक्रवातों की उत्पत्ति की चर्चा हो।

31

चक्रवात का परिचय

[FACTS ABOUT CYCLONE]

विभिन्न विद्वानों ने चक्रवातों की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं किन्तु सभी एक बिन्दु की ओर इंगित करते हैं। सबका तात्पर्य एक ही होता है। उनके मतानुसार चक्रवात वे गोलाकार हवाएँ हैं जो अण्डाकार आकृति की होती हैं, जिनके मध्य में वायुदाब कम तथा चारों ओर क्रमशः अधिक रहता है। वायु सदैव एक ही
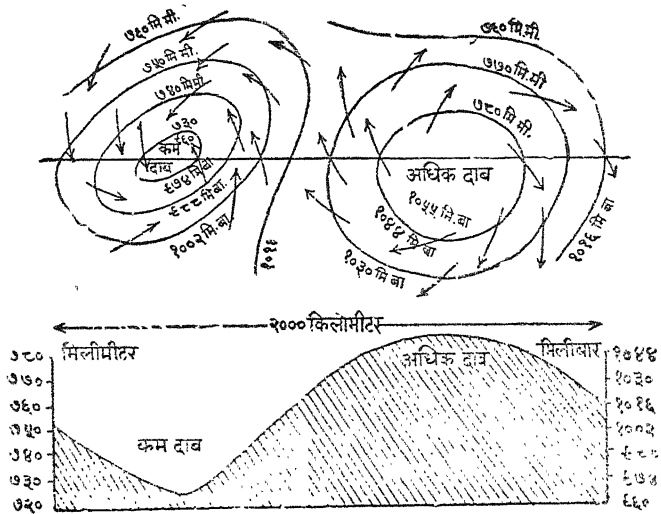
चित्र 310—चक्रवात एवं प्रतिचक्रवात (उत्तरी गोलार्द्ध)

दिशा में नहीं बहती है। इनमें भी तापीय अन्तर के फलस्वरूप भँवर पैदा होते हैं। ये भँवर बवण्डर का भी रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन्हें **चक्रवात** कहते हैं। विभिन्न देशों में ये भिन्न-भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं। यह शब्द ग्रीक भाषा के **कीकलोस** (KYKLOS) शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ मुद्रिका या वृत्त होता है।

चक्रवात समवायुदाब रेखाओं की एक विशेष व्यवस्था है जिसमें समदाब रेखाएँ वृत्ताकार अथवा अण्डाकार होती हैं। इनके बीच में दाब कम रहता है और बाहर की ओर दबाव क्रमश: अधिक होता है।

एक्सनर के अनुसार चक्रवात से साधारण वायु-गति कायम रहती है। इससे दबाव की असमानता भी दबी रहती है। पृथ्वी पर इनके द्वारा वायु के प्रवाह को समरूपता प्राप्त होती है।

जब चक्राकृति में अन्दर की ओर वायु घूमती हुई किसी कम दाब वाले केन्द्र की ओर जाती है उस समय इसको हम चक्रवात कहते हैं। एक चक्रवात में केन्द्र पर कम दाब होना अनिवार्य है तथा चारों ओर अधिक दाब का होना भी केन्द्र के कम दाब की ही भाँति अनिवार्य है, किन्तु सबसे कम वायुदाब चक्रवात के ठीक मध्य में नहीं होता, बल्कि कुछ पीछे हटा हुआ होता है। फिर भी इसे चक्रवात का केन्द्र ही कहते हैं। चक्रवात में उत्तरी गोलार्द्ध में वायु की गति घड़ी की सुइयों के विपरीत होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में इनकी गति घड़ी की सुइयों के अनुरूप होती है।

यदि चक्रवात के मध्य से एक रेखा खींची जाय जो उसके प्रवाह की दिशा के प्रति समकोण बनाती हो तो उसे **द्रोणिका रेखा** (trough line) कहते हैं। द्रोणिका रेखा के अगले भाग को अग्र-मुख कहते हैं और पिछले भाग को पृष्ठ-मुख कहते हैं।

चक्रवात की उत्पत्ति

चक्रवात की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न परिकल्पनाएँ वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत की हैं। इसका सर्वप्रथम श्रेय **फिजराय** महोदय को है। इन्होंने सन् 1863 ई० में बतलाया कि दो भिन्न लक्षणों की वायुराशियों के संगम से अवदाब राशि (depression) की उत्पत्ति होती है। उष्णार्द्र वायुराशि उष्ण कटिबन्ध की ओर से और शुष्क ठण्डी वायु-राशि ध्रुवीय प्रदेशों से आती है। इनके सीमान्त प्रदेश में चक्रवातों की उत्पत्ति होती है।

चित्र 311—नैपियर शॉ की संकल्पना

राफएबरक्रोम्बी महोदय ने भी सन् 1887 में एक आरेख द्वारा चक्रवाती मौसम का विश्लेषण प्रस्तुत किया किन्तु यह चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मौलिक प्रक्रियाओं की व्याख्या नहीं प्रदान कर सका। ब्रिटिश मौसम-विज्ञ **लैम्पर्ट** तथा **नैपियर शॉ** (सन् 1911) ने प्रगामी या प्रगतिक सिद्धान्त (progressive or dynamic theory) और नार्वे के जर्कनीस पिता-पुत्रों ने
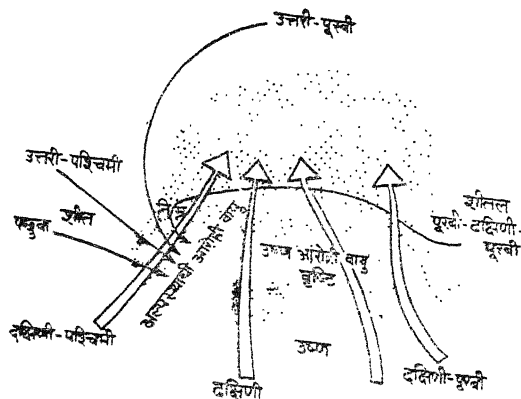
ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त (polar front theory) का प्रतिपादन किया है। **लैम्पर्ट** के अनुसार, भिन्न-भिन्न वायुपुंजों के तापमान की विभिन्नता के कारण चक्रवाती गति उत्पन्न होती है। ये चक्रवात 2,200 मीटर की ऊँचाई पर पैदा होते हैं, जब उठनी गरम धाराएँ ठण्डी वायुधाराओं से मिलती हैं और भँवर पैदा हो जाते हैं और नीचे को उतरने लगते हैं। अतः चक्रवात शंकु के आकार का होता है जिसका संकीर्ण किनारा ऊपर को होता है। यह सिद्धान्त उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर के चक्रवातों के अध्ययन के आधार पर प्रतिष्ठित किया गया था। इसको भँवर सिद्धान्त (eddy theory) भी कहते हैं।

ध्रुवीय वाताग्र स्थायी रूप से संवहनीय कटिबन्ध (convective zone) के ऊपरी भाग, उपोष्ण उच्च दाब पेटी पर संमार्गी एवं पछुआ हवाओं के संगम-स्तर और ध्रुवीय एवं पछुआ हवाओं की संगम-सीमा पर उपलब्ध होता है। वास्तव में गरम एवं शीत हवाओं के संगम पर चक्रवात पैदा होते हैं। इन भागों में पृथ्वी के परिभ्रमण से विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। दो भिन्न हवाओं के सम्पर्क में आने से अल्प दाब स्थापित हो जाता है और शनैः शनैः चक्रवात की उत्पत्ति हो जाती है और उसका विस्तार बढ़ जाता है। कोष्ण वायु को पीछे से ढकेलने वाली शीत वायु इन विक्षोभ को आगे बढ़ा देती है और उष्ण वायु की भीषण आँधी पैदा हो जाती है। वायु के फैलने तथा ठण्डा हो जाने पर वर्षा होती है।

चित्र 312—चक्रवातों का विकास (वाताग्र सिद्धान्त)

जल तथा थल के वितरण एवं असमान गरमी के कारण हवाओं के असांतत्य तल (discontinuity surface) अनियमित तथा लहरदार होते हैं। इसके ऊपर दो वृत्तांश हैं—गरम तथा ठण्डा। गरम हवा ठण्डी हवा को सामने की ओर ढकेल देती है और स्वयं हल्की होने के कारण ऊपर उठ जाती है। साथ ही, गरम वृत्तांश के पीछे वाली ठण्डी हवा नीचे की ओर खिसक जाती है। फल यह होता है कि गरम हवा का क्षेत्र विस्तार में घट जाता है और ऊपर की ओर उठ जाता है। इस सिद्धान्त की अनुसंधानशाला नार्वे के बर्जेन नगर में थी अतः इसको बर्जेन सिद्धान्त भी कहते हैं।

चक्रवातों की विशेषता

आकार—चक्रवात गोलाकार अथवा अण्डाकार होते हैं। ये छोटे या बड़े होते हैं। चक्रवात के केन्द्र में वायुदाब कम होता है और उसके चारों ओर वायुदाब अधिक होता जाता है। अतः चक्रवात में अल्प समवायुदाब रेखाएँ (isobar lines) होती हैं और बाहर की ओर अधिक समवायुदाब रेखाएँ होती जाती हैं अर्थात् चक्रवात में केन्द्र की ओर दाब कम होता जाता है। वायुदाब सूचक अंक घटता जाता है। इसी कारण चक्रवात में समुवायुदाब रेखाएँ अण्डाकार अथवा गोलाकार होती हैं। चक्रवातों में अधिक वर्षा अग्र भागों में होती है।

चक्रवातों का परिसंचारण

चक्रवात के मध्य में वायुदाब कम होने के कारण चारों ओर से हवाएँ केन्द्र की ओर चलती हैं, किन्तु उनकी दिशा केन्द्र की ओर सीधे न होकर पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर को मुड़ी होती है अर्थात् उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात की हवा वामावर्त तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणावर्त दिशा में होती है। चक्रवात में केन्द्र शान्त होता है। इसे **चक्रवाती चक्षु** (eye of cyclone) कहते हैं। चक्रवात के अगले भाग में हवा उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर से तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर से आती है

चित्र 313—चक्रवातों के मार्ग तथा मौसम (राफ एबरक्रोम्बी के अनुसार)

किन्तु पिछले भाग में परिस्थिति बदल जाती है। चक्रवात के पिछले भाग में हवा उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर से आती है। इस कारण चक्रवात का केन्द्र ठीक मध्य में नहीं होता है बल्कि कुछ पीछे की ओर होता है। समदाब रेखाओं के समीप-समीप होने पर वायु की गति तीव्र होती है और इनके दूर-दूर रहने पर वायु मन्द गति से चलती है।

चक्रवातों के आगमन की झाँकी

कतिपय लक्षणों से चक्रवातों के आगमन की झाँकी मिल जाती है। निम्न विशेषताओं के आधार पर भविष्यवाणी सम्भव हो पाती है :

(1) वायुदाबमापी का दाब-सूचनांक निरन्तर कम होता जाता है।
(2) आकाश में ऊँचाई पर पक्षाभ मेघ दिखायी देते हैं।
(3) वायु शान्त हो जाती है और धीरे-धीरे अपनी दिशा बदलने लगती है।
(4) हल्की रिमझिम वर्षा प्रारम्भ हो जाती है।

चक्रवाती मौसम

चक्रवाती परिस्थिति में आकाश मेघाच्छादित हो जाता है। वर्षा का होना

निश्चित समझा जाता है। चक्रवात के प्रदेश की दिशा में सर्वप्रथम आकाश में सफेद लम्बी धारीदार बादल घिर आते हैं जो एक-दूसरे के समान्तर होते हैं। बादलों के घिर जाने के पश्चात् ताप बढ़ जाता है और चक्रवात के निकट आने के साथ-साथ बादलों का विस्तार बढ़ता जाता है तथा वे घने होते जाते हैं। हल्की-हल्की वर्षा होने लगती है। चक्रवात के कुछ आगे बढ़ जाने पर बादल कम हो जाते हैं तथा तापमान गिर जाता है। परन्तु ज्योंही चक्रवात का केन्द्र आता है, बड़े जोर से वर्षा होती है जिससे कभी-कभी हानि होती है। चक्रवात के पिछले भाग में तेज हवा के झोंके चलते हैं। पानी की तेज बौछारें थोड़ी-थोड़ी देर बाद हवा के बीच-बीच में आती रहती हैं। चक्रवात के हट जाने पर भी वायु की गति तेज रहती है; परन्तु तापमान कम हो जाता है। चक्रवाती काल में प्रारम्भ से अन्त तक भिन्न-भिन्न प्रकार के बादल आकाश में छा जाते हैं। प्रारम्भ में पक्षाभ मेघ (cirrus clouds) से आकाश घिर जाता है। ये धीरे-धीरे घने होकर पक्षाभ-स्तरी मेघ (cirro-stratus clouds) तथा इसके पश्चात् स्तरी मेघ (stratus clouds) बन जाते हैं और अन्त में अधिक वर्षा वाले वर्षी-स्तरी मेघ (nimbo-stratus clouds) से आकाश ढक जाता है। वायु का वेग भी बढ़ जाता है। केन्द्र के तनिक आगे प्रचण्ड वर्षा होती है और हवाएँ बड़ी तीव्र होती हैं।

प्रायः ऐसा होता है कि ये बादल पूर्णतः लुप्त हो जाते हैं और आकाश साफ हो जाता है। वर्षा की सम्भावना नहीं रह जाती है। किन्तु कुछ ही घण्टों के बाद बादलों का एक पतला और सफेद आवरण छा जाता है जिससे आकाश दूधिया (milky) हो जाता है। इस समय रात्रि में चन्द्रमा और दिन में सूर्य के चतुर्दिक प्रभामण्डल (halo) दिखायी देता है। यह प्रभामण्डल प्रायः श्वेत और कभी-कभी रंगीन होता है।

चक्रवातों के प्रकार

चक्रवात दो प्रकार के होते हैं—(1) शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (temperate cyclone) तथा (2) उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (tropical cyclone)। यह भेद विभिन्न प्रदेशों में इनकी उत्पत्ति तथा इनकी विशेषताओं के आधार पर किया गया है। चक्रवात जिन प्रदेशों से होकर गुजरते हैं वहाँ के मौसम पर गहरा प्रभाव डालते हैं। वहाँ का मौसम एकाएक बदल जाता है। जिन भागों में अधिक चक्रवातों का आना होता है वहाँ की जलवायु पर उनका अधिक प्रभाव पड़ता है। चक्रवात प्रचलित हवाओं के रुख के साथ बढ़ते हैं। ये उष्ण कटिबन्ध में संमार्गी वायु तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में पछुआ हवा के साथ चलते हैं; यानी उष्ण कटिबन्ध में लगभग पूरब से पश्चिम और शीतोष्ण कटिवन्ध में पश्चिम से पूरब को चलते हैं।

(1) शीतोष्ण चक्रवात

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात 30° से 60° अक्षांशों के बीच वाले भागों में

चला करते हैं। इन्हें गतिचक्र भी कहते हैं। वायुमण्डल में इनकी उत्पत्ति का कारण ताप की विभिन्नता के कारण स्थिर तथा अस्थिर वायुपुंज का पैदा होना है। स्थिर वायुपुंज कम गरम तथा कम आर्द्र होता है। अतः इसमें कम सक्रियता होती है। परन्तु अस्थिर वायुपुंज अधिक गरम तथा अधिक आर्द्र होता है। अतः इसमें अधिक सक्रियता होती है। ये हवाएँ स्थिर नहीं रहतीं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक-दूसरे की विपरीत दिशा में चला करती हैं। स्थिर वायु को ध्रुवीय ठण्डी वायु तथा अस्थिर वायु को उष्ण कटिबन्धीय गरम वायु भी कहा जा सकता है जो धरातलीय वायुमण्डल में एक-दूसरे की विपरीत दिशा में समान्तर चलती है। इनकी सीमा पर तापमान भिन्न हो जाता है। सीमा पर तापमान की अविरलता के कारण वहाँ ताप का आदान-प्रदान होता है जो अनेक प्रकार की क्रिया के पैदा होने के कारण बनता है। इन क्रियाओं के फल-स्वरूप इस भाग में वायु-दाब के अनेक भँवर (eddies) पैदा हो जाते हैं। इस भाग को **असांतत्य-तापमान रेखा** (line of temperature discontinuity) अथवा **ध्रुवीय वाताग्र** (polar front) भी कहते हैं। यह सीमा लहरदार तथा परिवर्तनशील होती है। ध्रुवीय वाताग्र पर अनेक भँवरों का पैदा होना चक्रवात की उत्पत्ति का कारण होता है। वह क्रिया जिसके द्वारा चक्रवात अथवा प्रतिचक्रवात की उत्पत्ति होती है, **वाताग्र-उत्पत्ति** (frontogenesis) कहलाती है। वाताग्र शब्द का प्रयोग पश्चिमी यूरोप में संघर्षशील सेवाओं के अग्रभाग की समानता के लक्षणों के कारण उपयुक्त था। इसका प्रयोग नार्वे के मौसम विज्ञानवेत्ता **जर्कनीज** महोदय ने किया।
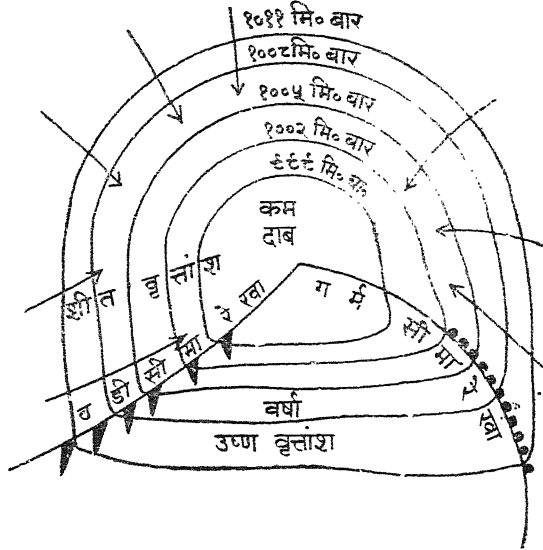
चित्र 314—शीतोष्ण चक्रवात (उत्तरी गोलार्द्ध)

कोष्ण एवं शीत वाताग्र का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है। कभी-कभी यह धरातल के हजारों किलोमीटर पर छाये रहता है। विस्तृत होने के कारण वाताग्र उत्पत्ति में अनेक स्थानीय परिवर्तन भी हो जाते हैं। वायुपुंजों की सीमाएँ दो प्रकार की

एक भ्रमिल (vortex) की उत्पत्ति होती है जो वायु में भँवर की उत्पत्ति का कारण बनती है और एक विस्तृत क्षेत्र पर फैल जाती है। इसके विकासक्रम की विभिन्न अवस्थाओं को रेखाचित्रों द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

चक्रवात बनते समय उष्ण कटिबन्धीय गरम वायु उत्तर की ओर ठण्डी वायु के ऊपर एक थैले के रूप में चढ़ जाती है। इस थैली की अगली सीमा **कोष्ण वाताग्र** कहलाती है। थैली को **कोष्ण वृत्त-खण्ड** (warm sector) कहते हैं। उष्ण कटिबन्धीय गरम वायु दृढ़ होने के कारण ठण्डी वायु को पीछे ढकेल देती है। यह ठण्डी वायु अपने स्थान की प्राप्ति के लिए उत्तर-पश्चिम की ओर से घूमकर कोष्ण वृत्त-खण्ड को पीछे से दबाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण गरम वायु का थैला सामने से कोष्ण वाताग्र से.तथा पीछे से शीत वाताग्र से दबा रहता है। ठण्डी ध्रुवीय वायु भारी होने के कारण भूमि से लगी रहती है और जहाँ कहीं भी अवरोधित वाताग्र की इस वायु का सम्पर्क उष्ण कटिबन्धीय वायु से होता है वहाँ यह वायु स्थल से लगी होने के कारण उष्ण वायु को ऊपर उड़ा देती है। इस प्रकार कोष्ण वृत्तखण्ड की हवा तीन ओर से भारी तथा ठण्डी हवा से घिरे रहने के कारण वायुमण्डल में ऊपर की ओर उठा दी जाती है। जब भूमि पर से सब गरम वायु ऊपर उठ जाती है तो कोष्ण वृत्तखण्ड को **अवरोधित** (decluded) कहते हैं। इस प्रकार चक्रवात में दो और अन्य प्रकार के वाताग्र होते हैं जो **अवरोधित वाताग्र** तथा **स्थिर वाताग्र** कहलाते हैं। इस स्थिति में ठण्डी हवा कोष्ण वृत्तखण्ड को निरन्तर छोटा करती जाती है और कुछ समय बाद शीत वाताग्र आगे बढ़ते-बढ़ते उष्ण वाताग्र में जा मिलता है और गति-चक्र समाप्त हो जाता है। इस अवस्था को कोष्ण वाताग्र अधिधारण (occlusion) कहते हैं। इस अवस्था के पश्चात् कुछ काल तक गरम हवा शीत वायु के ऊपर बहती है जिससे अधिविष्ट वाताग्र (occluded front) के पास रिमझिम वर्षा होती है। इसके दोनों ओर पूरब तथा पश्चिम की हवा के तापमान में भी अन्तर रहता है। पूरब की हवा ठण्डी और पश्चिम की हवा अपेक्षाकृत गरम रहती है।
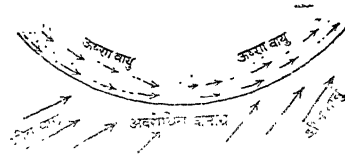
चित्र 317—अधिविष्ट वाताग्र

कोष्ण वाताग्र पर वायु में तापमान की भिन्नता पैदा हो जाती है जो प्रस्तुत आकृति का अनुसरण करती है।

इसी प्रकार शीत वाताग्र पर वायु में तापमान-असांतत्य (discontinuity of temperature) प्रस्तुत आकृति का अनुसरण करके ऊपर जाती है।

मौसम के चित्र में कोष्ण वाताग्र गोल दाँत वाली तथा शीत वाताग्र नुकीले दाँत वाली रेखाओं से दिखलाये गये हैं। अगले भाग में गरम वायु के ऊपर उठने के कारण उसमें उपस्थित जलवाष्प का संघनन होने लगता है, जो एक विशेष प्रकार के क्रम में बादलों के बनने का कारण होता है तथा इसमें वर्षा होती है। यहाँ कोष्ण वाताग्र

पर गरम वायु ठण्डी वायु के ऊपर बहुत ऊँचाई तक जाती है। अतः अधिक वर्षा होना स्वाभाविक होता है। परन्तु शीत वाताग्र पर बादल केवल पिछले भाग में ही बनते हैं। जहाँ ठण्डी वायु गरम वायु के नीचे जाती है और गरम वायु को ऊपर ढकेलती है। इस भाग में थोड़ी वर्षा हो जाती है किन्तु ठण्डी हवा से बादल कभी नहीं बनते और न वर्षा होती है। बादल बनने तथा वर्षा का कारण गरम वायु ही होती है।

शीतोष्ण चक्रवातों का आकार तथा विस्तार—शीतोष्ण चक्रवात का व्यास 500 किलोमीटर से 650 किलोमीटर होता है। इनकी ऊँचाई 8 से 11 किलोमीटर होती है। ये द्विवेणी (V-shaped) आकार के होते हैं। इनका क्षेत्रफल कई लाख वर्ग किलोमीटर होता है।

शीतोष्ण चक्रवातों की गति—इनके विभिन्न भागों के वायु-वेग में भिन्नता रहती है। यह दक्षिणी-पूरबी भाग में वेगशील होता है। 5 किलोमीटर की ऊँचाई तक समदाब रेखाओं के समान्तर हवाएँ बहती हैं। चक्रवात की गति धीमी होने पर हवाएँ स्थिर हो जाती हैं और वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। वास्तव में इनकी गति अनिश्चित होती है और यह बात ऋतु-दशा, इनके आकार तथा स्थिति पर निर्भर करती है। शरद में चक्रवात तीव्र और ग्रीष्म में धीमे होते हैं। यूरोप की अपेक्षा अमरीका में इनकी गति तेज होती है।

ब्रिटिश मौसम विज्ञानी **हम्फ्री** के अनुसार शीतोष्ण चक्रवातों को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

(1) सूर्यातपी चक्रवात, (2) तापीय चक्रवात, (3) प्रवासी चक्रवात।

(1) **सूर्यातपी चक्रवात**—सूर्यातपी चक्रवातों (insolational cyclones) की उत्पत्ति स्थल पर होती है। ग्रीष्म ऋतु में थल भाग गरमी के कारण अल्प वायुदाब के केन्द्र हो जाते हैं और निकटवर्ती सागर अपेक्षाकृत ठण्डे होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न चक्रवात गोलाकार होते हैं और हवाएँ गोलार्द्ध में चलती हैं। साइबेरियन प्रायद्वीप, अलास्का, अमरीका का उत्तरी मैदान और उत्तरी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया में इस प्रकार के चक्रवातों की उत्पत्ति होती है।

(2) **तापीय चक्रवात**—तापीय चक्रवातों (thermal cyclones) की उत्पत्ति उष्ण जल-भागों जैसे समुद्र, खाड़ी एवं झीलों में होती है। इनकी उत्पत्ति प्राय: शीत ऋतु में होती है। शीत के कारण जल-भाग के समीपस्थ स्थित स्थलखण्ड पर अपेक्षाकृत अधिक वायुदाब हो जाता है और जल-भाग का वायुदाब कम रहता है। इस प्रकार स्थानीय चक्रवात प्रवाहित होने लगते हैं। इस प्रकार के चक्रवात के प्रमुख क्षेत्र आइसलैण्ड, दक्षिणी-पूरबी ग्रीनलैण्ड, ओखोटस्क सागर आदि हैं।

(3) **प्रवासी चक्रवात**—प्रवासी चक्रवात (migratory cyclones) सूर्यातप के कारण उत्पन्न संवहनीय धाराओं (convectional currents) के द्वारा पैदा होते हैं। इनका समय अनिश्चित होता है और अधिकतर चक्रवात कम समय तक ही

अधिक निरपेक्ष आर्द्रता रखते हैं। यह थल-भागों की अपेक्षा जल-भागों पर अधिक होती है। ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा और दिन में सायंकाल की अपेक्षा अधिक आर्द्रता होती है। इन अन्तरों का कारण वास्तव में परम आर्द्रता में परिवर्तन, जलवाष्प की अधिकता या कमी पर निर्भर करता है। जब किसी ताप पर किसी निश्चित आयतन की हवा अपनी क्षमता के अनुसार अधिक जलवाष्प सोख लेती है और उस ताप पर वह हवा उससे अधिक जलवाष्प नहीं सोख सकती है तब उसे वायु को संतृप्त वायु (saturated air) कहते हैं।

हवा की इकाई में उपस्थित जलवाष्प के भार को आपेक्षिक आर्द्रता (specific humidity) कहते हैं। वायु के संकुचन या फैलाव का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और उपस्थित जलवाष्प की मात्रा में कोई वास्तविक अन्तर न होने पर आपेक्षिक आर्द्रता स्थिर रहती है। यह ध्रुवों पर न्यूनतम और भूमध्यरेखा पर उच्चतम होती है। तापमान से इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, अतः यह ग्रीष्म ऋतु में सर्वाधिक और शीत ऋतु में अति न्यून होती है।

आपेक्षिक आर्द्रता को मिश्र अनुपात (mixing ratio) भी कहते हैं। मिश्रण अनुपात शुष्क वायु के प्रति इकाई भार की जलवाष्प का भार होता है, यही विशिष्टता है। आपेक्षिक आर्द्रता ऊपरी वायुमण्डल के अध्ययन एवं मौसम-विश्लेषण के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परन्तु सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) अनुपात, प्रतिशत या भिन्न में प्रकट की जाती है। साधारण तापमान पर किसी वायु के निश्चित आयतन में वर्तमान जलवाष्प की मात्रा और इसी तापमान पर हवा के उसी आयतन को संतृप्त (saturate) करने के लिए आवश्यक जलवाष्प की मात्रा का अनुपात उस वायु की सापेक्षिक आर्द्रता कहलाती है। इसका प्रदर्शन भिन्न के रूप में होता है जिसमें 100 से गुणा करने पर सापेक्षिक आर्द्रता प्रतिशत में आती है, जैसे, यदि किसी स्थान पर वायु का ताप 21° सेग्रे है और उसकी आर्द्रता 6 ग्रेन है और उतने ताप की वायु में 8 ग्रेन आर्द्रता समा सकती है तो निश्चित है कि 2 ग्रेन आर्द्रता की कमी उस कुल आर्द्रता का $\frac{1}{4}$ है। अतः इस ताप पर उस स्थान की वायु की आपेक्षिक आर्द्रता 75 प्रतिशत हुई। वायु की आपेक्षिक आर्द्रता प्रायः बदलती रहती है। इसके परिवर्तन के कारण ताप का परिवर्तन अथवा जलवाष्प की मात्रा में परिवर्तन होता है। किसी स्थान पर वर्षा का होना अथवा न होना वहाँ की वायु की सापेक्षिक आर्द्रता से ज्ञात किया जा सकता है। इससे वाष्पीकरण (evaporation) की गति को भी मालूम किया जा सकता है तथा जलवाष्प के जल बनने अथवा द्रवण (condensation) में कितना समय लगेगा, यह भी ज्ञात हो जाता है। महासागरों पर वायु की सापेक्षिक आर्द्रता महाद्वीपों की अपेक्षा अधिक होती है। सागरों पर सबसे अधिक सापेक्षिक आर्द्रता 80 प्रतिशत पाई जाती है। रेगिस्तान की वायु की सापेक्षिक आर्द्रता बहुत कम (10 प्रतिशत) रहती है।

सापेक्षिक आर्द्रता भूमध्यरेखा पर उच्चतम होती है और उच्च अक्षांशों की

ओर क्रमश: घटती जाती है, किन्तु वायु का तापमान भी ऊँचे अक्षांशों में क्रमश: घटता जाता है। इस प्रकार सापेक्षिक आर्द्रता का घटाव मध्य अक्षांशों पर समाप्त हो जाता है और 30° अक्षांशों के पश्चात् वायु की सापेक्षिक आर्द्रता उच्च अक्षांशों की ओर बढ़ने लगती है। इस प्रकार भूमध्यरेखा पर उच्चतम सापेक्षिक आर्द्रता 85 प्रतिशत होती है। ऋतु-परिवर्तन के साथ सापेक्षिक आर्द्रता भी उत्तर-दक्षिण को खिसकती है। शीत-शीतोष्ण कटिबन्ध में ग्रीष्म काल की अपेक्षा शीतकाल में अधिक सापेक्षिक आर्द्रता होती है।

वायुमण्डल में तापमान तथा वायुदाब के सदैव परिवर्तित होने के कारण वायु का संचार होता रहता है। इससे वायु की आर्द्रता बदलती रहती है। वायु में आर्द्रता का कारण ताप के प्रभाव से होने वाला वाष्पीकरण होता है। परन्तु द्रवण के कारण वायु की आर्द्रता कम हो जाती है। वायु जब संतृप्त हो जाती है और उसका तापमान गिर जाता है तो आर्द्रता संघनन द्वारा जल-कण के रूप में बदल जाती है जिससे वायुमण्डल में बादल, वर्षा, ओस, पाला, कुहरा और धुन्ध दृष्टि-गोचर होते हैं। वायु का ताप निश्चित सीमा से कम हो जाने पर और उसकी आर्द्रता बढ़ जाने पर उसके जलवाष्प अपने रूप में नहीं रह जाते बल्कि उनका रूप बदल जाता है और वे जल के छोटे-छोटे कण अथवा बादल के रूप में हो जाते हैं क्योंकि बादल जल के छोटे-छोटे कण के वे समूह हैं जो हवा से हल्के होने के कारण वायुमण्डल में ऊपर ही इधर-उधर घूमते रहते हैं और ज्योंही ये कण बड़ा रूप धारण कर लेते हैं तथा वायु से भारी पड़ते हैं, त्योंही वे वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आ जाते हैं।

बादलों के भेद

संघनन द्वारा जलवाष्प प्रारम्भ में मेघ बनता है। इन मेघों के मुख्यत: चार प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं: (1) पक्षाभ मेघ (cirrus clouds), (2) स्तरी मेघ (stratus clouds), (3) कपसीले मेघ (cumulus clouds), तथा (4) वर्षी मेघ (nimbus clouds)।

(1) पक्षाभ मेघ—वायुमण्डल में सफेद परों अथवा ऊन के समान चमकीले बादल पक्षाभ मेघ कहलाते हैं। इस प्रकार के बादल वायुमण्डल में 10 या 15 किलोमीटर की ऊँचाई पर होते हैं। अधिक ऊँचाई तथा सफेद रंग के कारण धरातल पर इनकी छाया नहीं पड़ती है। सूर्यास्त के समय इनका रंग चमकदार होता है। ये बादल छोटे-छोटे हिमकणों के बने होते हैं क्योंकि इतनी ऊँचाई पर जल-कण हिम-कण के रूप में बदल जाते हैं। सूर्य तथा चन्द्रमा के इर्द-गिर्द ये बादल परिवेष (halo) का रूप बनाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। आमतौर से चक्रवातों से पूर्व इस प्रकार के बादल आकाश में छा जाते हैं। इस प्रकार के बादल तूफानी मौसम के सूचक होते हैं। ऐसे बादल वर्षा नहीं करते।

(2) **स्तरी मेघ**—स्तरी मेघ आकाश में समान्तर पर्तों में एक छोर से दूसरे छोर तक विस्तृत दिखायी पड़ते हैं। इनका रंग भूरा या गहरा भूरा अथवा काला होता है। इन्हें भूरे बादल भी कहा जाता है। ये धरातल से $1\frac{1}{2}$ या 3 किलोमीटर की ऊँचाई पर होते हैं। इससे अधिक ऊँचाई पर इनका रंग सफेद और कम ऊँचाई पर काला होता जाता है। इनकी उत्पत्ति विकिरण द्वारा ताप के क्षीण होने तथा भिन्न-भिन्न तापमान के वायु-समूहों के मिश्रण से होती है। ये मेघ स्थानीय होते हैं और इनके फटते ही नीला आकाश दृष्टिगोचर होता है।
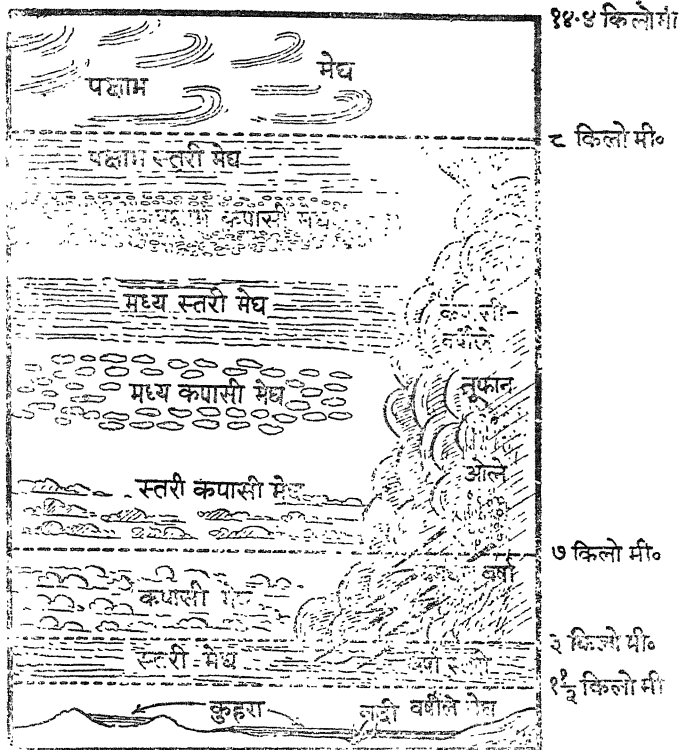
चित्र 320—विभिन्न प्रकार के बादल तथा उनकी ऊँचाई

(3) **कपसीले मेघ**—कपसीले मेघ आकाश में छिटके होते हैं और बीच-बीच में नीला आकाश दिखाई पड़ता है। इनका निचला भाग चपटा तथा चोटी फूल की भाँति होती है। संवहन धाराओं के द्वारा उठती हुई गरम हवा से इनका सम्बन्ध रहता है। उष्ण तथा आर्द्र हवाएँ ऊपर उठकर फैल जाती हैं और उनका तापमान गिर जाता है और बादल बन जाते हैं। इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के पश्चात् कपसीले बादल प्राय: दिखायी पड़ते हैं। इनका विस्तार अधिक होता है।

इन बादलों का निचला भाग धरातल से प्रायः $1\frac{1}{2}$ किलोमीटर ऊँचाई पर रहता है और ऊपरी भाग धरातल से लगभग 5 या 7 किलोमीटर ऊँचाई पर रहता है जिससे इस भाग में जल-कण बर्फ के कण के रूप में पाये जाते हैं। इन बादलों से बहुधा बहुत वर्षा होती है। चूँकि ऊपरी भाग में हवाओं की शक्ति अधिक होती है अतः हवाओं के साथ कपसीले बादलों का ऊपरी भाग मुड़ जाता है।

(4) **वर्षी मेघ**—वर्षी मेघ वर्षा करने वाले बादल हैं। इनकी सघनता के कारण सूर्य की किरणें इनमें प्रवेश नहीं कर पाती हैं। इनका रंग काला होता है। धरातल से इनकी ऊँचाई बहुत कम होती है। कभी-कभी ये धरातल के बहुत समीप आ जाते हैं। ये बादल बहुधा घने होते हैं।

कभी-कभी वायुमण्डल से भिन्न प्रकार के बादल आपस में मिले हुए होते हैं। जब पक्षाभ और स्तरी बादल एक साथ मिले होते हैं तब उनको **पक्षाभ-स्तरी मेघ** (cirro-stratus clouds) कहा जाता है। जब स्तरी और कपसीले बादल मिले रहते हैं तब इनको **स्तरी-कपसीले मेघ** (strato-cumulus clouds) कहते हैं। इसी प्रकार कपसीले और वर्षी बादल मिलकर **कपासी-वर्षी मेघ** (cumulo-nimbus clouds) और पक्षाभ तथा कपसीले बादल मिलकर **पक्षाभ-कपासी मेघ** (cirro-cumulus clouds) बनाते हैं।

जलवाष्प में परिवर्तन

जलवाष्प से वर्षा के बिन्दु बनने से पूर्व वायु में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वर्षा होने के लिए जलवाष्पयुक्त वायु का प्रथम परिवर्तित रूप ओसांक (dew-point) पर पहुँचना है। वायु के ठण्डा होने पर उसमें जल धारण करने की शक्ति नहीं रह जाती है। जिस सीमा पर वायु की यह शक्ति कम हो जाती है और वाष्प जलकण में बदलने लगती है, उस सीमा को सम्पृक्त-बिन्दु कहते हैं।

वर्षा की दशा

इसके पश्चात् बादलों का बनना प्रारम्भ हो जाता है। बादल जल के बहुत ही बारीक कणों का प्रतिरूप होता है। विभिन्न प्रकार की हवाओं के परस्पर सम्मिश्रण से बादल बनते हैं। इसके उपरान्त तीसरा परिवर्तन होता है। तीसरा परिवर्तन पानी के बड़े-बड़े कणों का बनना है। बादलों के छोटे-छोटे जलकण संघनन द्वारा बड़े-बड़े जलकण बनते हैं। संघनन जलकणों का व्यास 50 से 200 माइक्रोन तक माना जाता है और वर्षा के जलकणों का व्यास 200 से 4,000 माइक्रोन तक होता है। इस प्रकार असीम संघनन जलकणों के सम्मिलन से वर्षा की जल-बूँदें बनती हैं। ये जल-बिन्दु बादल अथवा वायु से भारी होते हैं और पृथ्वी पर गिर जाते हैं। जलकण के पृथ्वी पर गिरने को वर्षा होना कहा जाता है। जब जल के कण बहुत छोटे होते हैं तो पृथ्वी पर आने के पूर्व ही वाष्प का रूप धारण कर लेते हैं क्योंकि वे ऊँचाई के कम ताप के भाग से नीचे धरातल के अधिक ताप की ओर आते हैं। अतः वर्षा होने के

लिए जलकण के आकार बड़े होने चाहिए। वायुमण्डल से धरातल पर गिरने वाली समस्त जलराशि को **वृष्टि** (precipitation) कहते हैं।

द्रवण बिन्दुओं के व्यास-वृद्धि की प्रक्रिया सम्बन्धी दो परिकल्पनाएँ प्रचलित हैं, जो वास्तव में एक-दूसरे के पूरक हैं।

(1) **हिम-जलकण परिकल्पना** (Ice-crystal Hypothesis)—इस परिकल्पना का जन्म सन् 1933 में टी० बरजीरोन महोदय ने दी। इसके महान् समर्थक डबल्यू० फिन्डीसिन (सन् 1939) तथा एस० जी० हाटन (सन् 1950) आदि हैं। बरजीरोन महोदय के मतानुसार कोलाइडी प्रवाही घन (colloidally unstable cloud) द्वारा ही वृष्टि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार के बादलों के ऊपरी भाग में जल के अति-शीतित बिन्दु तथा हिम-कण मिलते हैं। अधिक ऊँचाई पर पहुँच जाने पर बादलों के ऊपरी भाग का तापमान हिमांक से कम हो जाता है। इन अतिशीतित बिन्दुओं का वाष्पदाब हिमकणों के दाब से अधिक होता है, अतः इन दोनों के मध्य दाब-प्रवणता पैदा हो जाती है। फलतः जल-बिन्दुओं पर उप-संतृप्तता (sub-saturation) तथा हिम-जलकणों पर अति-संतृप्तता (super-saturation) प्रारम्भ हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप जल-बिन्दुकाएँ समाप्त हो जाती हैं और हिम-जलकणों का आकार तथा दाब बढ़ता जाता है और अन्त में ये हिम-जलकण तीव्र गति से नीचे की ओर गिरने लगते हैं।

वास्तव में, हिम-जलकण परिकल्पना से हिमकणों को वर्षा के जलकणों का रूप प्रदान करना सम्भव नहीं है, अतः वर्षा के जलकणों की उत्पत्ति अन्य किसी विधि से हो सकती है।

(2) **गुरुत्वीय संमिलन परिकल्पना** (Gravitational Coalescence Hypothesis)—बादलों में जल-बिन्दुओं के आकार असमान होते हैं, फलतः इनके गिरने की गति भी असमान होती है। ये जल-बिन्दुकाएँ गिरने के क्रम में आपस में टकराती हैं जिससे बड़ी जल-बिन्दुकाएँ छोटी जल-बिन्दुकाओं को आत्मसात कर जाती हैं और शनैः शनैः जल-बिन्दुकाएँ बड़ी हो जाती हैं। इनका आकार बादल में उपस्थित जल-बिन्दुकाओं के संकेन्द्रण तथा उनके विभिन्न आकार पर निर्भर करता है।

इन जल-बिन्दुकाओं का आकार निचले भाग में आते-आते वर्षा की औसत बूँदों के बराबर हो जाता है। प्रायः 80 लाख घन-कणों के एकत्रित होने पर औसत आकार की एक वर्षा-बूँद उत्पन्न होती है।

ओला तथा हिमपात

धरातल पर वर्षा तीन रूप में होती है—जल, हिम तथा ओला। साधारणतः वर्षा जल के रूप में होती है। परन्तु हिमांक (freezing point) के नीचे तापमान

रहने पर जलकण हिमकण के रूप में बदल जाते हैं। जमे हुए पानी की वर्षा हिमपात (snow-fall) कहलाती है। जब पानी की बूँदें ऊपर से अधिक ताप की वायु से आती हैं और नीचे कम ताप की वायु में प्रवेश करती हैं तो वे जम जाती हैं और जमे हुए रूप में धरातल पर गिरती हैं। इसे उपल-वृष्टि (Hail-storm) कहते हैं। प्राय: संवहन धाराएँ ओलों के निर्माण में सहायक होती हैं।

वर्षा के भेद

साधारणत: वर्षा के तीन प्रकार हैं :

(1) पर्वतकृत वर्षा (relief rainfall),

(2) चक्रवाती वर्षा (cyclonic rainfall),

(3) संवहनीय वर्षा (convection rainfall)।

(1) **पर्वतकृत वर्षा**—जलभाग (महासागरों) से स्थल की ओर जाने वाली हवाएँ जलवाष्प से परिपूर्ण रहती हैं। जब उनके मार्ग में पहाड़ों की रुकावट पड़ती है तो भाप भरी हवाएँ ऊपर उठ जाती हैं और ऊपरी ठण्डक के कारण जलवाष्प का संतृप्त होना प्रारम्भ हो जाता है। संतृप्तता के द्वारा जब वाष्पकण जल के बड़े कणों में परिणत हो जाते हैं तो वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिर जाते हैं। इस प्रकार की वर्षा पर्वतकृत वर्षा कहलाती है। पर्वत के जिस तरफ हवाएँ रुकावट पाती हैं उसे पवनाभिमुख ढाल (windward slope) कहते हैं। इस तरफ पवनविमुख ढाल पर
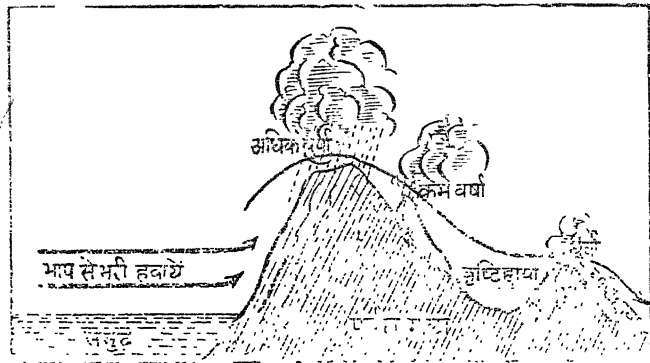
चित्र 321—पर्वतकृत वर्षा

वर्षा अधिक होती है। पर्वत के दूसरी तरफ का पवनविमुख ढाल (leeward slope) होता है। यह भाग वृष्टिछाया प्रदेश (rain-shadow region) कहलाता है। इसमें वर्षा बहुत कम होती है क्योंकि अधिक वर्षा पवनाभिमुख ढाल पर ही हो जाती है। और हवा बिना वाष्प की हो जाती है। ऐसी शुष्क हवा जब पर्वत पार करके पवन-विमुख ढाल पर जाती है तो उसे ऊँचाई से नीचे आना पड़ता है। ऐसी दशा में वह और भी उष्ण होती जाती है और वर्षा नहीं होती। पर्वतीय वर्षा नियमित होती है और यह किसी भी समय हो सकती है।

(2) **चक्रवाती वर्षा**—चक्रवात कम वायुदाब का केन्द्र होता है। उसमें चारों ओर से विभिन्न ताप की हवाएँ आती रहती हैं। ऐसी दशा में मध्य की गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर चढ़ने लगती है और ऊँचाई पर जाकर ठण्डी हो जाती है। इसके बाद वर्षा करती है। चक्रवात में वायु के मन्द गति से ऊपर उठने तथा मन्द गति से ठण्डा होने के कारण वर्षा भी मन्द गति से होती है। परन्तु देर तक होती रहती है। मध्यवर्ती अक्षांशों में चक्रवात की वर्षा बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। उत्तरी भारत में जनवरी के महीने में ऐसी वर्षा हुआ करती है।
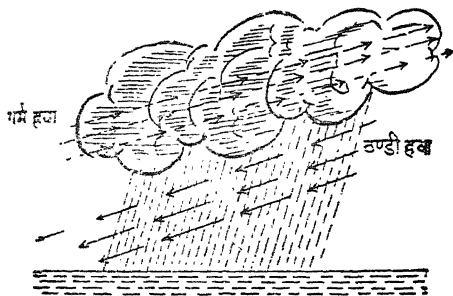
चित्र 322—चक्रवाती वर्षा

(3) **संवहनीय वर्षा**—गर्मी के कारण हवा का आयतन बढ़ जाता है और हवा हल्की भी हो जाती है। अतः ऊपर उठने लगती है। उसके आसपास से ठण्डी तथा भारी हवाएँ आकर उसका स्थान ग्रहण कर लेती हैं और गरम हवा को और भी ऊपर उठा देती हैं। इस प्रकार ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न की अधिक उष्णता के कारण कपासी-वर्षी मेघ आकाश में छा जाते हैं जो नियमित रूप से गरम वायु के ऊपर उठने से बनते हैं। ये बादल संतृप्ति के पश्चात् भारीपन के कारण नीचे उतर जाते हैं और धरातल पर वर्षा कर देते हैं। दिन के सबसे गरम समय में वायु नियमित रूप से ऊपर उठती है और बड़ी तेज बौछार के रूप में वर्षा करती है। इस प्रकार ताप से बने हुए कपासी-वर्षी मेघ बहुत कम क्षेत्र में फैले रहते हैं और उनकी नमी शीघ्र ही पानी के रूप में बरस जाती है। इस प्रकार की वर्षा को छींटा वर्षा (dash rain) कहते हैं। यह वर्षा देर तक नहीं होती है। गंगा के मैदान में अक्तूबर की वर्षा इसी कोटि में आती है। इसका विस्तार चक्रवाती वर्षा के विस्तार से कम होता है।
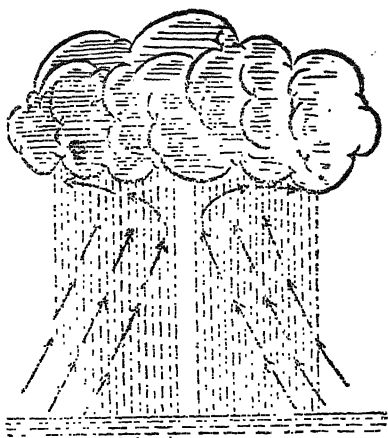
चित्र 323—संवहन वर्षा

बादल एवं वर्षा

बादल एवं वर्षा का आपस में गहरा सम्बन्ध होता है। किसी स्थान पर वर्षा का होना वायुमण्डल में उपस्थित बादलों पर निर्भर करता है। बादलों का कम होना

कम वर्षा का सूचक है। वायुमण्डल के मेघ विभिन्न पेटियों में बँटे होते हैं। भूमध्य रेखा के समीप वायुमण्डल में अधिक बादल रहते हैं। कर्क और मकर रेखाओं के समीप 15° से 35° अक्षांशों तक वायुमण्डल में सबसे कम बादल रहते हैं। 40° से 60° अक्षांशों के मध्य घने बादलों की दूसरी पेटी है। इस भाग में बादल की उपस्थिति चक्रवात के ऊपर निर्भर करती है।

कुहरा

जलवाष्पयुक्त हवा धरातल के निकट संतृप्त बिन्दु पर पहुँचने पर ओस बनती है। ठण्डे धरातल पर जब उससे सम्बन्धित वायु का तापमान कम हो जाता है तब उसका वाष्प सूक्ष्म जलकणों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ये जलकण वायु में बिखरे धूलि-कणों के सहारे तब तक लगे रहते हैं जब तक वायु का तापमान बढ़ नहीं जाता है। कुहरा धरातल से बहुत कम ऊँचाई पर बनता है। समुद्रों में जहाँ गरम तथा ठण्डी धाराएँ मिलती हैं, कुहरा बहुत पड़ता है। कुहरे के समय धरातल के पास का वायुमण्डल बारीक एवं घने जलकणों से आच्छादित हो जाता है और निकट की ही वस्तुओं की पारस्परिक दृश्यता (intervisibility) नष्ट हो जाती है। इससे वायु तथा समुद्री परिवहन में बाधा उत्पन्न होती है। कुहरा तीन प्रकार का होता है—(1) विकिरण कुहरा (radiation fog), (2) अभिवहन कुहरा (advective fog) तथा (3) वाष्पन कुहरा (evaporation fog)।

(1) विकिरण कुहरा—सौर-ताप से उष्णता प्राप्त करने के पश्चात् जब पृथ्वी विकिरण के द्वारा ठण्डी होने लगती है तो धरातलीय वायुमण्डल की वायु में संघनन होने लगता है और कुहरा बनने लगता है। इसी प्रकार उत्पन्न कुहरा विकिरण कुहरा अथवा स्थलीय कुहरा (ground fog) कहलाता है। यह कुहरा शान्त वायु में बनता है। जाड़े की लम्बी रात्रि में स्वच्छ आकाश तथा शुष्क एवं शान्त वायु रहने पर तीव्र विकिरण द्वारा पृथ्वी का धरातल ऊपर की वायु की अपेक्षा अधिक ठण्डा हो जाता है। धीरे-धीरे धरातल के ऊपर की वायु ओस-बिन्दु तक ठण्डी हो जाती है। जब ओस-बिन्दु 0° से अधिक होता है तो ओस बनती है और जब ओस बिन्दु 0° से कम चला जाता है तो सफेद पाला (white frost) की रचना होती है। जब हवा की पूरी तह में संघनन होता है तो इनको निम्न स्थल कुहरा (low land fog) या विकिरण कुहरा कहते हैं।

(2) अभिवहन कुहरा—जब उष्णार्द्र हवा ठण्डे धरातल के ऊपर से जाती है तो अभिवहन कुहरा पैदा होता है। इस प्रकार से कुहरा पैदा होने की परिस्थिति अधिकतर महासागरों के तटों पर मिलती है, क्योंकि वहाँ जलभाग का तापमान स्थल भाग के तापमान की अपेक्षा अधिक होता है। उत्तरी अमरीका के पूरबी समुद्र में न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट महातटों (grand banks) पर इसी प्रकार का कुहरा पाया जाता है। यह कुहरा वायु की गतिशील धाराओं पर बनता है। इस प्रकार का कुहरा

शीतोष्ण चक्रवातों के अग्र भाग में बनता है। दो विभिन्न प्रकार की—गरम आर्द्र और ठण्डी—वायु-राशियों के मिलने पर अभिवहन कुहरा बनता है।

(3) **वाष्पन कुहरा**—कभी-कभी उष्ण जल पर शीत वायु के बहने पर आपेक्षिक आर्द्रता शत-प्रतिशत हो जाती है और कुहरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार का कुहरा प्राय: शीत ऋतु के प्रारम्भ तथा ग्रीष्म ऋतु के अन्तिम काल में उत्पन्न होता है। जापान की उष्ण समुद्री धारा के उत्तर में वाष्प कुहरा (steam fog) बनता है। इस प्रकार का कुहरा समुद्रों तथा झीलों पर पाया जाता है।

वाताग्र कुहरा (frontal fog) भी वाष्पन कुहरा है जो ठण्डी वायु में जलवाष्प की मात्रा के अधिक हो जाने के फलस्वरूप बनता है। जब अधिक एवं कम तापमान की वायुराशियों का संयोग होता है तो उष्ण हल्की वायु वाताग्र के धरातल के ढाल के सहारे ऊपर उठती है और ताप ह्रास गति के कारण बादल उत्पन्न हो जाते हैं और वर्षा की बूँदें गिरती हैं जो निचली उष्ण परत में पहुँच कर पुन: जलवाष्प में परिवर्तित हो जाती हैं और इस प्रकार जलवाष्प के बढ़ जाने पर कुहरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार का कुहरा मध्य अक्षांशों के प्रदेशों में मिलता है।

विमान-दुर्घटनाओं के कम करने तथा वायुयानों को सुरक्षित ढंग से धरातल पर उतारने के निमित्त कुहरा-विसरण (fog-dissipation) के उपाय निकालने पड़े। इसके प्राकृतिक साधन संघनन, तापन तथा संवहन धाराओं की उत्पत्ति हैं। कृत्रिम साधनों में बिजली के पंखे तथा तापक (heaters) हैं, जो अधिक व्ययशील हैं।

धुंध

संतृप्त वायु अथवा अधिक जलवाष्पपूर्ण वायु के ठण्डे होने पर धुंध (mist) पैदा होती है। यह अधिक नम और सघन होती है। धूलि-कण एवं धुँए के सभी कण जलकण से परिपूर्ण रहते हैं। धुंध में समीप की वस्तुएँ भी दिखायी नहीं पड़तीं। कुहरे में धुंध की अपेक्षा शुष्कता होती है।

पाला

यह सर्वमान्य है कि पृथ्वी दिन में गरमी को ग्रहण करके रात्रि में उसे शीघ्र विकिरण द्वारा त्याग देती है और ठण्डी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप दिन में अधिक वाष्पीकरण होता है, परन्तु रात्रि में वही ठण्डा धरातल अपने सम्पर्क की हवाओं की तहों को ठण्डा कर देता है। फल यह होता है कि ठण्डी हवा की नमी पृथ्वी पर जमा हो जाती है और ओस का रूप ले लेती है। यदि वह धरातल जिस पर यह नमी जमा होती है, इतना ठण्डा होता है कि इसका तापमान 0° सेंग्रे से कम हो जाता है तो घनीभवन होने पर जलवाष्प जम जाता है और इस जमी हुई ओस को पाला (frost) कहते हैं। पाला ठण्डे प्रदेशों में अथवा शीत ऋतु में पड़ता है। पाला कृषि के लिए अत्यधिक हानिकारक है।

सूर्यातप एवं वर्षा

किसी स्थान की वर्षा का एकमात्र साधन वहाँ की वायु में उपस्थित जलवाष्प (water vapour) होता है जो वायु के ठण्डा होने पर संघनन द्वारा जलकण में परिवर्तित होकर वर्षा करता है। परन्तु वायु में उपस्थित जलवाष्प वायु के ताप पर निर्भर करता है। गरम वायु अपने अन्दर अधिक जलवाष्प धारण कर सकती है, किन्तु ठण्डी वायु में जलवाष्प धारण करने की शक्ति कम होती है, अर्थात् वायु जितनी अधिक उष्ण होती है उसमें शीत वायु की अपेक्षा उतना ही अधिक जलवाष्प होता है। वायु की उष्णता का सूर्यातप से सीधा सम्बन्ध होता है क्योंकि जहाँ सूर्यातप अधिक प्राप्त होता है वहाँ दाब हवाएँ उष्ण होती हैं तथा वायुदाब कम होता है। जहाँ सूर्यातप कम प्राप्त होता है वहाँ वायुदाब अधिक तथा हवाएँ शीतल होती हैं। अत: वर्षा का सीधा सम्बन्ध सूर्यातप से होता है क्योंकि किसी स्थान के सूर्यातप के बढ़ने अथवा घटने पर वहाँ की वायु की उष्णता अथवा शीतलता तथा उसकी जल-वाष्प-ग्रहण की शक्ति एवं अन्ततोगत्वा वहाँ की वर्षा निर्भर करती है। अत: धरातल पर वहीं अधिक वर्षा होती है जहाँ का सूर्यातप अधिक होता है। इसके विपरीत जहाँ का सूर्यातप कम होता है वहाँ वर्षा भी कम होती है।

भूमध्यरेखीय प्रदेशों में अधिक वर्षा का कारण वहाँ पर अधिक सूर्यातप का प्राप्त होना ही है। अधिक ताप प्राप्त करने से इन प्रदेशों की वायु अधिक उष्ण होती है। जलवाष्प अधिक बनता है। यहाँ की वायु जलवाष्प अधिक धारण करती है। वायुदाब कम होता है। वायु में संवहन धाराएँ (convection currents) उत्पन्न हो जाती हैं जो इन प्रदेशों में अधिक संवहनीय वर्षा का कारण बनती हैं। ज्यों-ज्यों भूमध्य रेखा से दूर ध्रुवों की ओर जाते हैं, सूर्यातप कम होता जाता है, वायु ठण्डी होती जाती है और उसमें जलवाष्प की मात्रा घटती जाती है। अत: वर्षा कम होती जाती है। यही कारण है कि शीतोष्ण कटिबन्ध के प्रदेशों में उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा वर्षा कम होती है तथा ध्रुवीय प्रदेशों में शीतोष्ण प्रदेशों से भी कम वर्षा होती है।

भूमध्यरेखीय प्रदेशों में वर्षा की मौसमी भिन्नता

भूमध्यरेखीय प्रदेशों में वायु की संवहनीय धाराओं से वर्षा होती है, अर्थात भूमध्यरेखीय प्रदेशों में होने वाली वर्षा का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब सूर्य की किरणें लम्बवत् पड़ती हैं तो संवहनीय धाराएँ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं और अधिक वर्षा होती है। भूमध्यरेखीय अथवा उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में दो वर्ष में दो बार सूर्य की लम्बवत् किरणें पड़ती हैं तथा दो बार तिरछी पड़ती हैं। अत: इन प्रदेशों में दो वर्षा ऋतुएँ तथा दो शुष्क ऋतुएँ होती हैं। उष्ण कटिबन्ध रेखाओं (tropics) के पास पहुँचते-पहुँचते ताप-प्राप्ति की दशा में परिवर्तन होने के कारण एक वर्षा ऋतु तथा एक शुष्क ऋतु होने लगती है। भूमध्यरेखा के कुछ अंश उत्तर तथा कुछ अंश दक्षिण तक साल भर वर्षा होती है और कोई शुष्क ऋतु नहीं होती

है। किन्तु 4° अक्षांश उत्तर तथा दक्षिण से 10° से 15° तक दो शुष्क ऋतुएँ (एक लम्बी तथा एक छोटी) और दो वर्षा ऋतुएँ एक वर्ष में होती हैं। वर्षा की इस भिन्नता का कारण वास्तव में सूर्य का कर्क और मकर रेखाओं के बीच उत्तर और दक्षिण की ओर भ्रमण करना है। भूमध्यरेखा को पार करके कर्क तथा मकर रेखाओं तक जाने तथा भूमध्यरेखा तक लौटने में सूर्य दो बार अपनी सीधी किरणें डालता है। इन्हीं दो अवस्थाओं में इन प्रदेशों में दो वर्षा ऋतुएँ होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में 4° और 15° अक्षांश के मध्य मार्च, अप्रैल, मई और आधा जून तक एक वर्षा ऋतु और फिर आधी जुलाई से अगस्त, सितम्बर तथा अक्टूबर तक दूसरी वर्षा ऋतु होती है। इन दो वर्षा ऋतुओं के मध्य आधे जून से आधी जुलाई तक एक छोटी शुष्क ऋतु होती है तथा नवम्बर, दिसम्बर, जनवरी एवं फरवरी तक एक दूसरी बड़ी शुष्क ऋतु होती है। इसी प्रकार दक्षिणी गोलार्द्ध में 4° और 15° अक्षांश के मध्य भी एक छोटी तथा एक लम्बी शुष्क ऋतु और दो वर्षा ऋतुएँ होती हैं। यहाँ लम्बी शुष्क ऋतु मई से अगस्त तक तथा छोटी शुष्क ऋतु आधे दिसम्बर से आधी जनवरी तक की होती है। पहली वर्षा ऋतु सितम्बर से आधे दिसम्बर तक तथा दूसरी आधी जनवरी से अप्रैल तक होती है। कर्क और मकर रेखाओं तक छोटी शुष्क ऋतुएँ समाप्त हो जाती हैं और उत्तरी गोलार्द्ध में एक लम्बी वर्षा ऋतु मई से अक्तूबर तक एवं एक लम्बी शुष्क ऋतु नवम्बर से अप्रैल तक होने लगती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत शुष्क ऋतु मई से अक्तूबर तक तथा वर्षा ऋतु नवम्बर से अप्रैल तक रहती है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि जब उत्तरी गोलार्द्ध में लम्बी शुष्क ऋतु होती है तो दक्षिणी गोलार्द्ध में वर्षा ऋतु होती है और जब उत्तरी गोलार्द्ध में वर्षा ऋतु होती है तो दक्षिणी गोलार्द्ध में शुष्क ऋतु होती है।

इससे सिद्ध होता है कि भूमध्यरेखीय प्रदेशों में मौसम के अनुसार वर्षा में भिन्नता पायी जाती है और इसका कारण सूर्य का स्थान-परिवर्तन है। उक्त परिणाम इस कथन की भी पुष्टि करता है कि **वर्षा सूर्य का अनुसरण करती है** (rain follows the sun)।

धरातल पर वर्षा का वितरण

पृथ्वी के धरातल पर वार्षिक वर्षा का वितरण कई भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, जैसे—जल एवं थल की स्थिति, पर्वतों की स्थिति तथा उनकी दिशा, हवाओं का रुख, हवा की पेटियों का सूर्य के साथ उत्तर तथा दक्षिण की ओर खिसकना इत्यादि। जब हवाएँ समुद्र के ऊपर से होकर आती हैं तो उनमें वाष्प की मात्रा अधिक होती है और वे महाद्वीपों पर पहुँचते ही पर्वतीय रुकावट पाकर वर्षा करती हैं। अतः तटीय भागों में अधिक वर्षा होती है और आन्तरिक भागों तक पहुँचते-पहुँचते उनका जलवाष्प समाप्त हो जाता है। फलतः वर्षा कम होती है। धरातल पर वर्षा का वितरण समवृष्टि रेखाओं (isohyets) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

वाष्प भरी हवाओं को जब पर्वतीय रुकावट मिलती है तो हवा के रोकने वाले पर्वतीय ढालों पर अधिक वर्षा होती है तथा विपरीत ढालों पर कम वर्षा होती है क्योंकि जिस ढाल पर वायु की रुकावट होती है उसी तरफ वाष्प से परिपूर्ण वायु ऊपर उठती है और ठण्डी होकर वर्षा करने लगती है। पवनाभिमुख भाग (windward side) पर अधिक वर्षा होती है और पवनविमुख भाग (leeward side) पर कम वर्षा होती है। इस भाग को वृष्टि-छाया प्रदेश कहते हैं।
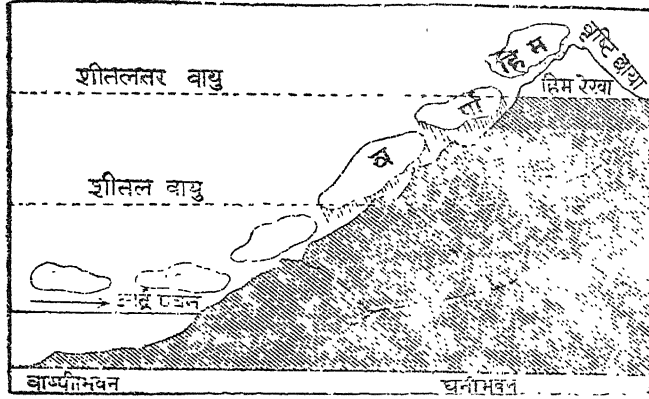
चित्र 324—वृष्टि-छाया प्रदेश

हवा की दिशा पर वर्षा का होना निर्भर करता है। महाद्वीपों के पूरबी भागों में वर्षा संमार्गी अथवा मौसमी हवा द्वारा होती है और पश्चिमी भाग शुष्क रह जाते हैं। इसी कारण संमार्गी हवा की पेटी में महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में संसार के बड़े-बड़े मरुस्थल स्थित हैं। किन्तु पछुआ हवा की पेटियों के प्रदेशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में अधिक वर्षा होती है और पूरबी भाग में वर्षा कम होती है, यहाँ तक कि अत्यन्त पूरबी भाग पछुआ हवा से पानी ही नहीं पाते हैं। पछुआ हवा की पेटी वाले भागों में चक्रवातों से भी वर्षा होती है जिनकी शक्ति जाड़ों में अधिक तथा गरमी में कम होती है। दोनों गोलार्द्धों में 30° से 45° अक्षांशों के मध्यवर्ती महाद्वीपों के पश्चिमी भाग जाड़े में पछुआ हवा की पेटी में पड़ने के कारण वर्षा प्राप्त करते हैं और गरमी में संमार्गी हवा की पेटी में पड़ने के कारण शुष्क रह जाते हैं, क्योंकि इन भागों में संमार्गी हवाएँ हजारों किलोमीटर स्थली भाग पार करने के पश्चात् पहुँचती हैं। जाड़े में पछुआ तथा गरमी में संमार्गी हवाओं की पेटियों में इन भागों के पड़ने का एकमात्र कारण हवा की पेटियों का स्थानान्तरण ही है।

वर्षा की मात्रा में परिवर्तन दो प्रकार का होता है :

(1) मौसमी परिवर्तन, (2) दैनिक परिवर्तन।

उष्ण कटिबन्धों में मौसम के अनुसार वर्षा की मात्रा में भिन्नता आ जाती है जिसका वर्णन पहले हो चुका है। इसी भाग में मानसूनी हवाओं के चलने के कारण

भी वर्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ग्रीष्म ऋतु की मानसूनी हवा समुद्र से स्थल की ओर चलती है, अतः गरमी में अधिक वर्षा होती है। किन्तु शीत ऋतु में स्थल की ओर से आने के कारण वर्षा नहीं होती। शीत ऋतु में वर्षा केवल उन्हीं भागों में होती है जहाँ शुष्क हवाओं को समुद्री भागों पर से गुजरने के पश्चात् पुनः स्थल पर जाना पड़ता है; जैसे मद्रास तट पर। इस प्रकार वर्षा का मौसमी परिवर्तन वायु की पेटियों के स्थानान्तरण तथा वायु के रुख पर निर्भर करता है।

चित्र 325—उत्तरी गोलार्द्ध में वर्षा का वितरण

धरातल के ऊपर होने वाली वर्षा पर ऋतुओं के अलावा दिन-रात का भी प्रभाव पड़ता है। उष्ण कटिबन्धीय भागों में दिन और रात के तापमान में बहुत अन्तर रहता है। इसीलिए दिन में दोपहर तक तप्त होने के पश्चात् वायु में संवहनीय धाराएँ उत्पन्न होती हैं और दोपहर के पश्चात् सबसे अधिक वर्षा होती है, किन्तु महासागर पर स्थिति इसके विपरीत होती है। वहाँ दिन की अपेक्षा रात्रि के समय ही अधिक वर्षा होती है। शीतोष्ण प्रदेशों में प्रातःकाल में अधिक वर्षा होती है।

पर्वतों से घिरे हुए उच्च अर्द्धमरुस्थली भाग या पठार, जैसे गोबी, तुर्किस्तान, बोलिविया तथा साल्ट लेक में वर्षा बहुत ही कम होती है क्योंकि ऐसे भागों तक पूर्ण भाप भरी हवाएँ नहीं पहुँच पाती हैं।

टुण्ड्रा जैसे अधिक ठण्डे भागों में हवाएँ बहुत ठण्डी होती हैं। इस कारण इनमें जलवाष्प ग्रहण करने की शक्ति कम होती है और वर्षा भी कम होती है। इन भागों में वर्षा हिम के रूप में होती है क्योंकि अधिक सरदी के कारण वर्षा के पूर्व ही जल-हिमकरण में परिवर्तित हो जाता है।

वर्षा का कटिबन्धीय प्रतिरूप

भूगोलविदों ने वर्षा के कटिबन्धीय वितरण को विभिन्न प्रकार से बताया है। **पेटर्सन** महोदय द्वारा प्रस्तावित कटिबन्ध अधिक मान्य हैं जो निम्नलिखित हैं :

(1) **डोलड्रम या विषुवतीय शान्त कटिबन्ध**—विषुवत रेखा से 7° उत्तर तथा दक्षिण के मध्य के भागों में संवहन वर्षा होती है। इसमें उच्चतम वर्षा-काल होता

है। शुष्क काल पूर्णत: अनुपस्थित रहता है। औसत वार्षिक वर्षा 200 से 250 सेण्टी-मीटर होती है।

(2) **संमार्गी वायु-कटिबन्ध**—यह 7° से 22° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में मिलती है। शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु में अधिक वर्षा होती है, किन्तु शुष्क काल कभी नहीं होता है। औसत वार्षिक वर्षा 100 से 200 सेण्टीमीटर होती है।

(3) **उपोष्ण कटिबन्ध**—दोनों गोलार्द्धों में 22° से 33° के मध्य सर्वदा अनावृष्टि रहती है। विश्व के सभी उष्ण एवं शुष्क मरुस्थल इसी कटिबन्ध में हैं। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा 50 सेण्टीमीटर से भी कम है।

(4) **संक्रमण कटिबन्ध**—33° से 41° अक्षांशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में ग्रीष्म ऋतु शुष्क तथा शीत ऋतु आर्द्र रहती है। ग्रीष्म ऋतु में संमार्गी वायु तथा शीत ऋतु में पछुआ हवाओं का प्रभाव पड़ता है। इसलिए शीत ऋतु में प्रबल वर्षा और ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक कम वर्षा होती है। औसत वार्षिक वर्षा 100 से 150 सेण्टी-मीटर होती है।

(5) **पछुवा वायु कटिबन्ध**—दोनों गोलार्द्धों में 41° से 60° अक्षांशों के मध्य वर्षपर्यन्त वर्षा का कटिबन्ध है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा 150 से 200 सेण्टी-मीटर होती है।

(6) **ध्रुवीय कटिबन्ध**—60° से 90° तक दोनों गोलार्द्धों में फैले इस कटिबन्ध में हिमरूप में वर्षा होती है। इसकी औसत वार्षिक वर्षा 25 से 50 सेण्टीमीटर है।

प्रश्न

1. "Rain follows the sun." Explain the saying and give the distribution of rainfall on the surface of the earth.
   (*Poona 1969*; *Calcutta 1970*)

   "वर्षा सूर्य का अनुसरण करती है।" इस कहावत को स्पष्ट कीजिए। पृथ्वी-तल पर वर्षा के वितरण को बताइए।

2. Explain the causes that produce seasonal variation of rainfall in the Equatorial Region. Explain your answer by means of a diagram. (*Kanpur 1969*; *Jabalpur 1968*)

   भूमध्यरेखीय प्रदेश में वर्षा की मौसमी भिन्नता के कारणों की व्याख्या कीजिए। चित्र द्वारा अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए।

3. Describe the distribution of humidity in the atmosphere and consequent types of rains. (*Jodhpur 1969*; *Magadh 1968*)

   वायुमण्डल में आर्द्रता के वितरण तथा उसके विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालिए।

4. How does atmospheric humidity originate ? What are its different forms and how are they brought about ?

   वायुमण्डल की आर्द्रता की उत्पत्ति कैसे होती है ? उसके कौन-कौन विभिन्न रूप हैं और वे कैसे बनते हैं ?

5. Discuss the relationship between the distribution of rainfall and the distribution of pressure on the globe.
   (*Kanpur 1971*; *Sagar 1969*; *Bhagalpur 1968*)

   विश्व में वर्षा के वितरण तथा वायुदाब के वितरण के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

6. Describe causes of different types of rains and their characteristics. (*Meerut 1968*; *Ranchi 1969*)

   विभिन्न प्रकार की वर्षा के कारणों तथा विशेषताओं को बताइये।

7. Discribe with causes the different types of rainfall. Give examples. (*Gorakhpur 1971*; *Agra 1971*)

   वर्षा के विभिन्न प्रकार का सकारण विवरण दीजिये। उदाहरण देकर समझाइये।

33

जलवायु के प्रमुख प्रदेश

[MAIN CLIMATIC REGIONS]

जलवायु के मुख्य तत्त्व तापमान, वायुदाब तथा जलवृष्टि हैं। इनको प्रभावित करने वाले तथ्य निम्न प्रकार हैं, जिनकी व्याख्या वायुमण्डल वाले खण्ड में की जा चुकी है :

(1) भूमध्यरेखा से दूरी, (2) समुद्र-तट से दूरी,
(3) समुद्र-तल से ऊँचाई, (4) प्रचलित वायु,
(5) पर्वतों की स्थिति, (6) समुद्री धाराएँ,
(7) भूमि का स्वभाव एवं ढाल, (8) वनस्पति,
(9) सूर्य से दूरी तथा सूर्य-कलंक, (10) जल तथा थल का वितरण।

उपर्युक्त आधारों पर संसार में निम्नांकित विशिष्ट जलवायु मिलती है :

(1) महासागरीय जलवायु (Oceanic climate),
(2) तटीय जलवायु (Coastal climate),
(3) महाद्वीपीय जलवायु (Continental climate),
(4) पर्वती जलवायु (Mountain climate),
(5) उष्ण तथा शीत मरुस्थली जलवायु (Hot and cold climate)।

किसी जलवायु प्रदेश से तात्पर्य स्थल खण्ड के उस भूभाग से होता है जहाँ जलवायु के तत्त्व—तापमान, वायुदाब और वर्षा—लगभग एक से मिलते हैं। वर्तमान जलवायु के वैज्ञानिकों के विचार से महासागरों को भी इसमें सम्मिलित करना चाहिए।

विश्व के अन्तरिक्ष विज्ञानवेत्ताओं ने संसार को कई जलवायु के प्रदेशों में विभक्त किया है। किन्तु उनके वर्गीकरण में एकरूपता नहीं है। इसका कारण यह है कि धरातल के सभी भागों के जलवायु सम्बन्धी आँकड़ों का अभाव है। साथ ही, वर्गीकरण में जलवायु के किसी विशेष तत्त्व की प्रधानता प्रदान करने में आपसी मतवैषम्य भी है।

अमरीकी मौसम-विज्ञान-शास्त्री **सी० डबल्यू थार्नथ्वेट** महोदय ने सन् 1931 में संसार को जलवायु के प्रदेशों में विभक्त करने के लिए संख्यात्मक मात्राओं के प्रभाव को आधार बनाया और जलवायु के प्रदेशों को अक्षरों से व्यक्त किया। **थार्नथ्वेट** के मतानुसार, जलवायु के निम्न आधार हैं :

(1) तापमान दक्षता (Temperature Efficiency or T-E)
(2) वृष्टि दक्षता (Precipitation Efficiency or P-E)
(3) मौसमी वृष्टि का वितरण (Seasonal Distribution of Precipitation)।

वर्षा की दक्षता वर्षा की मात्रा तथा वाष्पीकरण का अनुपात होती है। औसत मासिक वर्षा को मासिक वाष्पीकरण से विभक्त करने पर यह पता चलता है कि वाष्पीकरण के पश्चात वर्षा का कितना अंश बच जाता है। बारह मासिक वृष्टि-दक्षता के योग से वृष्टि-दक्षता का संकेत बनता है।

तापमान की दक्षता को ज्ञात करने के लिए औसत मासिक तापमान को मासिक वाष्पीकरण से विभक्त कर दिया जाता है।

वाष्पीकरण के पर्याप्त आँकड़ों की कमी के कारण वृष्टि-दक्षता (P-E) ज्ञात करने में विश्वसनीय सफलता नहीं मिल सकी। अतः थार्नथ्वेट महोदय ने एक विशिष्ट नियम प्रतिपादित किया, जो निम्न प्रकार है :

$$\text{वृष्टि-दक्षता (P-E) अनुपात} = 115\left(\frac{P}{(T-10)}\right)^{10/9}$$

$$\text{और वृष्टि-दक्षता सूचनांक} = \sum_{N=1}^{12} 115\left(\frac{P}{T-10}\right)^{10/9}$$

थार्नथ्वेट के मतानुसार, ध्रुवों के निकट तापमान का प्रभाव बहुत कम रहता है। इसलिए तापमान-दक्षता (T-E) ध्रुवों के निकट न्यूनतम और विषुवतरेखीय क्षेत्र में उच्चतम होती है। तापमान-दक्षता का संख्यात्मक मान ध्रुवों पर शून्य तथा विषुवत रेखा पर 128 माना गया है। उन्होंने तापमान-दक्षता को निकालने में निम्न नियम का प्रयोग किया है :

$$\text{तापमान-दक्षता (T-E) का अनुपात} = \frac{T-32}{4} \quad [T = \text{मासिक औसत तापमान}]$$

$$\text{तथा तापमान-दक्षता का सूचनांक} = \sum_{N=1}^{12}\left(\frac{T-32}{4}\right)$$

इस प्रकार थार्नथ्वेट ने मुख्य रूप से आठ जलवायु प्रदेश बनाये और उन्हें

अक्षरों से व्यक्त किया। इनमें प्रथम पाँच में तापमान की दक्षता (effectiveness)
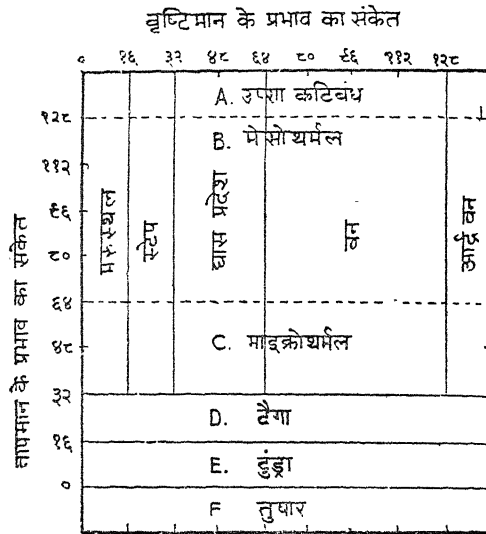
चित्र 326—थार्नथ्वेट के मतानुसार जलवायु-विभाजन में तापमान एवं वृष्टिमान के क्षेत्र

अधिक होती है और ये ही भाग अधिक मान्य हैं। तीन भागों में तापमान-दक्षता कम होती है।

वृष्टि प्रभाविता के आधार पर भेद

भेद	गुण	वनस्पति	वर्षा के प्रभाव संकेत
(1) A	तर	वर्षा के वन	128 या अधिक
(2) B	आर्द्र	वन	64 से 127
(3) C	आंशिक आर्द्र	घास	32 से 63
(4) D	अर्द्ध-शुष्क	स्टेप	16 से 31
(5) E	शुष्क	मरुस्थली वनस्पति	16 से कम

तापमान-प्रभाविता के आधार पर भेद

भेद	क्षेत्र	तापमान का प्रभाव संकेत
(1) A	उष्ण कटिबन्ध	128 या अधिक
(2) B	मध्य तापीय (मेसोथर्मल)	64 से 127
(3) C	सूक्ष्म तापीय (माइक्रोथर्मल)	32 से 63
(4) D	टैगा	16 से 31
(5) E	टुंड्रा	1 से 15
(6) F	तुषार	0 या 1 से कम

कुछ छोटे अक्षरों का प्रयोग

r सम्पूर्ण वर्ष आर्द्रता s ग्रीष्म में कम आर्द्रता
c शीत में कम आर्द्रता d साल भर आर्द्रता की कमी।

थार्नथ्वेट का वर्गीकरण व्यापक नहीं है। इससे अधिक लम्बे शीतकाल में ताप-मान की प्रभाविता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। इन जलवायु के प्रदेशों का भौगोलिक प्रदेशों से कोई सम्बन्ध नहीं मिलता है। किसी विशेष क्षेत्र के तापमान, वर्षा एवं वाष्पीकरण पर संसार की जलवायु का निर्धारण वास्तविकता से परे है। जिस गुरु पर फल निकाले जाते हैं वह केवल अमरीका के लिए उपयुक्त है। थार्नथ्वेट महोदय ने जलवायु के अपने वर्गीकरण में सन् 1948 में परिवर्तन प्रस्तुत किया है, किन्तु अभी इसका अन्तिम निरूपण नहीं हो सका है।
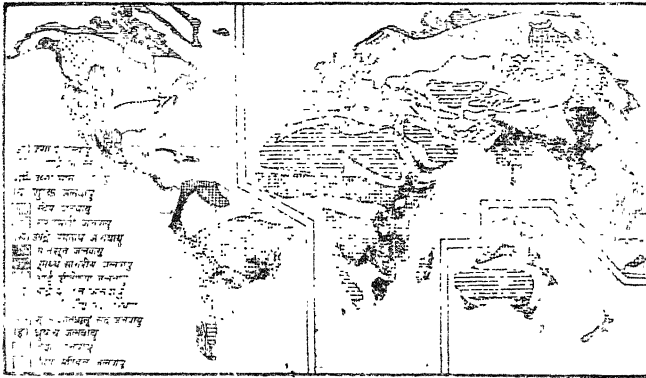
चित्र 327—पृथ्वी के जलवायु प्रदेश

आस्ट्रिया के ग्राज विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डा० कोइपेन ने भी सन् 1918 में जलवायु के विभाग किये हैं, किन्तु इनके वर्गीकरण का आधार संख्यात्मक मूल्य (numerical values) है। इन्होंने मासिक तापमान तथा वार्षिक एवं मासिक वर्षा की मात्रा से जलवायु प्रदेशों की सीमाओं का निर्धारण किया है। इस प्रकार यह वास्तव में अनुभविक प्रणाली (empirical system) है। किन्तु कोइपेन ने जलवायु की सीमा के तापमान निर्धारण में पहले जल-वर्षा का जो प्रभाव उस तापमान पर पड़ता है उसको भलीभाँति जान लिया है। इनके भी वे ही जलवायु प्रदेश हैं जो थार्नथ्वेट ने किये हैं। किन्तु कोइपेन ने अक्षरों के मेल से जलवायु प्रदेशों के वर्गीकरण को अधिक व्याख्यात्मक बना दिया है। वास्तव में सुपन महोदय के वर्गीकरण का ही यह अधिक व्याख्यात्मक रूप है। कोइपेन ने पृथ्वी की जलवायु को पाँच वर्गों—ग्यारह मुख्य तथा चौबीस गौण प्रकारों—में विभाजित किया है। कोइपेन ने अपने विभाजन में वनस्पति को मूल आधार माना है।

अ वर्ग की जलवायु के लिए सम्पूर्ण वर्ष आर्द्रता का द्योतक 'F' जर्मन भाषा का

शब्द 'Fencht' से लिया गया है जिसका अर्थ आर्द्र होता है। इसका मासिक औसत तापमान 18° सेग्रे से अधिक रहता है। शीत ऋतु में शुष्क मौसम 'w' अक्षर तथा मानसून 'm' से प्रकट होता है। ये द्वितीय अक्षर होते हैं।

ब वर्ग में 's' स्टेपी, 'w' शुष्क या मरुस्थली प्रकृति को व्यक्त करता है। 'w' जर्मन भाषा के 'wuste' शब्द से लिया गया है जो मरुस्थल के लिए प्रयोग किया जाता है। 'h' अक्षर शुष्क एवं उष्ण अर्थात् 18° सेंग्रे से अधिक औसत वार्षिक तापमान और 'k' अक्षर शुष्क एवं शीत अर्थात् 18° सेग्रे से कम औसत वार्षिक तापमान, 'w' शीत ऋतु में अनावृष्टि और 's' ग्रीष्म ऋतु में अनावृष्टि का सूचक होता है। s तथा w द्वितीय अक्षर और h एवं k तृतीय अक्षर हैं।

स वर्ग में 'a' अक्षर से सबसे उष्ण माह का औसत तापमान 22° सेंग्रे से अधिक, 'b' से सबसे गर्म माह का तापमान 22° सेग्रे से कम और चार माह का और 'c' से 10° सेग्रे से अधिक चार माह का कम तापमान 10° सेन्टीग्रेड से अधिक होता है। वे तृतीय अक्षर होते हैं।

द वर्ग में सबसे ठण्डे माह का औसत तापमान —3° सेग्रे से कम 'd' अक्षर से व्यक्त होता है। सबसे गर्म माह का औसत तापमान 10° सेग्रे से अधिक होता है।

इ वर्ग में शाश्वत हिमाच्छादन प्रकट होता है। सबसे उष्ण माह का औसत तापमान 10° सेग्रे से कम रहता है।

कोइपेन द्वारा निर्धारित जलवायु प्रदेश

वर्ग		जलवायु प्रदेश
1. अ (A) उष्ण कटिबन्धीय वर्षा जलवायु (tropical rainy climate), 18° सेग्रे से नीचे तापमान कभी नहीं जाता है। वार्षिक ताप-परिसर से दैनिक ताप-परिसर अधिक प्रबल रहता है। वार्षिक वर्षा 200 सेन्टीमीटर होती है। पृथ्वी के स्थली भाग का 20 प्रतिशत तथा समुद्री भाग का 44 प्रतिशत इस प्रकार की जलवायु में पड़ता है। वार्षिक वर्षा वार्षिक वाष्पन से अधिक रहती है।	अ फ	(Af) उष्ण कटिबन्धीय वर्षावन जलवायु (tropical rain forest), शरद् तथा शुष्क ऋतु का अभाव। वर्षा 6 सेमी से कम नहीं होती है।
	अ व	(Aw) उष्ण घास जलवायु (tropical savana), शुष्क शीत ऋतु, वार्षिक वर्षा अपेक्षाकृत कम, किन्तु वार्षिक ताप-परिसर अधिक।
	अ म	(Am) (मानसूनी जलवायु) उष्णार्द्र, अल्पकालीन शुष्क ऋतु, वार्षिक वर्षा अधिक।
2. ब (B) शुष्क जलवायु (dry climate) वर्षा से अधिक वाष्पी-	ब स	(Bs) स्टेप (steppe) या अर्द्ध-मरुभूमि।

वर्ग	जलवायु प्रदेश
करण। शरद् ऋतु नहीं होती है। तापमान वर्ष भर अधिक रहता है। सूर्य प्रकाश एवं वायु की प्रचण्डता अधिक रहती है। स्थली भाग के 26% पर इस वर्ग की जलवायु मिलती है और समुद्री धरातल का केवल 2 प्रतिशत भाग इसमें पड़ता है। जल आधिक्य न होने से स्थायी सरितायें नहीं मिलती हैं। इसका सीमांकन वर्षा तथा वाष्पन के अनुपात पर होता है।	ब स ह (Bsh) उष्ण एवं उपोष्ण स्टेप (tropical and sub-tropical steppe)। ब स क (Bsk) मध्य अक्षांशीय स्टेप (mid-latitude steppe)। ब व (Bw) मरुस्थल (desert)। ब व ह (Bwh) उष्ण एवं उपोष्ण मरुस्थल। ब व क (Bwk) मध्य अक्षांशीय मरुस्थल।
3. स (C) मध्य अक्षांशों की आर्द्र मध्यतापीय जलवायु (humid mesothermal climate), शीत ऋतु बड़ी नहीं होती, कम ठण्डी होती है। —3° सेग्रे से नीचे तापमान नहीं जाता है। अधिक तापमान 18° सेग्रे तक जाता है। सबसे उष्ण भाग का तापमान 10° सेग्रे होता है। महाद्वीपों के पूरबी, पश्चिमी तथा भीतरी भाग में इस वर्ग की जलवायु मिलती है। यह प्राय: चक्रवातीय क्षेत्र होते हैं। ग्रीष्म एवं शीत ऋतुएँ होती हैं।	स स (Cs) शुष्क ऋतु का अभाव, भूमध्यसागरीय। स स अ (Csa) उष्ण भूमध्यसागरीय। स स ब (Csb) शीतल भूमध्यसागरीय। स ह (Ch) आर्द्र उपोष्ण प्रदेश, उष्ण ग्रीष्म। स व अ (Cwa) शुष्क शीत ऋतु। स फ अ (Cfa) शुष्क ऋतु विहीन (चीन तुल्य)। स फ ब (Cfb) पश्चिमी यूरोप तुल्य शीतल ग्रीष्म (west coast marine cool summer)।
4. द (D) मध्य अक्षांशों की आर्द्र सूक्ष्मतापीय जलवायु (humid microthermal climate) ग्रीष्म ऋतु में 10° सेग्रे से अधिक ताप, किन्तु शीत ऋतु में —3° सेग्रे से नीचे ताप पहुँच जाता है।	द अ (Da) आर्द्र महाद्वीप, उष्ण ग्रीष्म। द व अ (Dwa) शुष्क शीत ऋतु। द फ अ (Dfa) शुष्क ऋतुविहीन गर्मी की लम्बी ऋतु वाले, केन्द्रीय भूमि।

वर्ग		जलवायु प्रदेश
5. इ (E) ध्रुवीय जलवायु (polar climate), ग्रीष्म ऋतु विहीन होती हैं। सबसे गर्म माह का तापमान 18° सेग्रे से कम रहता है।	द व ब	(Dwb) आर्द्र महाद्वीप, शीतल ग्रीष्म।
	द स द द	(DcDd) टैगातुल्य।
	इ ट	(Et) टुण्ड्रा, सबसे उष्ण माह का तापमान 10° सेग्रे से कम तथा 0° सेग्रे से अधिक।
	इ फ	(Ef) हिम-मण्डित, प्रत्येक मास का औसत तापमान 0° सेग्रे से कम।

कोइपेन ने अपने जलवायु-प्रदेशों को एक आदर्श महाद्वीप पर प्रस्तुत किया है जो उपरोक्त प्रकार है।

कोइपेन के वर्गीकरण में चार प्रमुख त्रुटियाँ उल्लेखनीय हैं :

(1) विभिन्न जलवायु के प्रदेशों को प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रेखा द्वारा अलग किया गया है, जो वास्तविकता नहीं हो सकती है, क्योंकि विभिन्न प्रकार की जलवायु एक संक्रमण-पेटी द्वारा अलग होती हैं।

(2) काल्पनिक प्रतीकात्मक नामपद्धति के कारण वर्गीकरण जटिल तथा कठिन हो गया है।

(3) इस वर्गीकरण में तापमान वनस्पति एवं वृष्टि को ही आधार माना गया है। जलवायु के अन्य भौगोलिक तत्त्वों की उपेक्षा की गयी है।

(4) कुछ विशेष प्रदेशों के तापमान एवं वृष्टि की मात्रा को आधार मानकर सम्पूर्ण पृथ्वी की जलवायु का विभाजन करना अत्यधिक त्रुटिपूर्ण है।
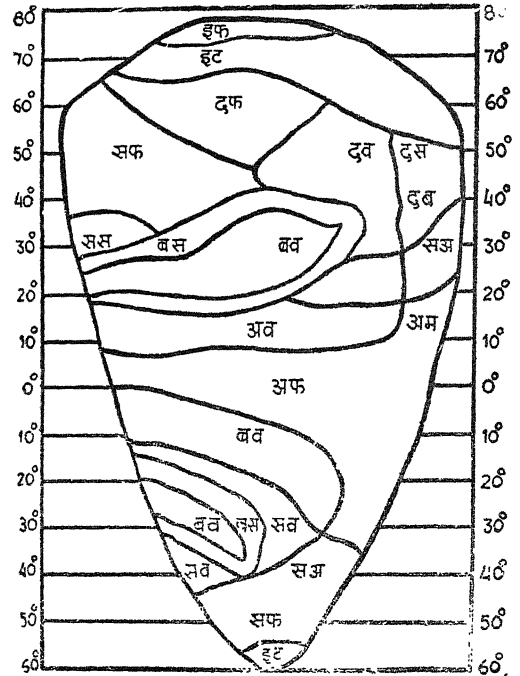
चित्र 328—कोइपेन के जलवायु-प्रदेश

सन् 1953 में जर्मन विद्वान् आर० गीगर तथा डब्ल्यू० पोहान महोदयों ने कोइपेन प्रणाली का पुन: वर्गीकरण किया है जिसको कोइपन-गीगर प्रणाली कहते हैं। इसमें प्रमुख उच्च भूमि क्षेत्रों को ह (H) अक्षर से व्यक्त किया गया है।

कोइपेन-गीगर जलवायु प्रदेश

अ (A) उष्णार्द्र जलवायु प्रदेश—सभी महीनों का औसत मासिक तापमान 18° सेग्रे।

ब (B) शुष्क जलवायु प्रदेश

स (C) कोष्ण शीतोष्ण जलवायु प्रदेश—सबसे शीत माह का औसत तापमान 18° सेग्रे से —3° सेग्रे।

द (D) हिम जलवायु प्रदेश—सबसे गरम माह का औसत 10° सेग्रे और सबसे शीत माह का औसत—3° सेग्रे से कम।

इ (E) हिममण्डित जलवायु प्रदेश—सबसे गरम महीने का औसत 10° सेग्रे से कम।

H (ह) उच्च भूमि जलवायु प्रदेश।

थार्नथ्वेट तथा कोइपेन के संख्यात्मक विवरणों की पेचीदगी एवं दुरूहता से बचने के लिए अमरीकी भूगोलवेत्ता वी. सी. फिंच तथा जी. टी. ट्रेवार्था महोदयों ने संसार को निम्न जलवायु के प्रदेशों में विभक्त किया है। इन्होंने जलवायु के वर्गों की सीमाओं के निर्धारण में संख्यात्मक मूल्य के स्थान पर जलवायु के व्याख्यात्मक तत्त्वों पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार वर्गीकरण के इस प्रयास को व्याख्यात्मक-वर्णनात्मक (explanatory-descriptive) कहते हैं। डॉ० कोइपेन का प्रयास आनुभविक संख्यात्मक (empirical quantitative) था।

थार्नथ्वेट के जलवायु प्रदेश

वर्ग	प्रकार
अ (A) उष्णार्द्र जलवायु	(1) उष्ण कटिबन्धी (निम्न अक्षांशीय) (क) उष्ण कटिबन्धी आर्द्र [निरन्तर आर्द्र अ फ (Af), मानसून अ म (Am)] (ख) उष्ण कटिबन्धी आर्द्र तथा शुष्क अ व (Aw)

वर्ग	प्रकार
ब (B) शुष्क जलवायु	(ग) निम्न अक्षांशीय शुष्क जलवायु (i) निम्न अक्षांशीय मरुस्थल ब व ह (Bwh) (ii) निम्न अक्षांशीय स्टेप ब स ह (Bsh) (2) मध्य अक्षांशीय जलवायु (घ) मध्य अक्षांशीय शुष्क जलवायु (i) मध्य अक्षांशीय मरुस्थल ब व क (Bwk) (ii) मध्य अक्षांशीय स्टेप ब स क (Bsk)
स (C) आर्द्र मध्यतापीय जलवायु	(च) शुष्क ग्रीष्म उपोष्ण स स (Cs) (छ) आर्द्र उपोष्ण स अ (Ca) (ज) समुद्री स ब, स स (Cb, Cc)
द (D) आर्द्र सूक्ष्म तापीय जलवायु	(झ) आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु (i आर्द्र महाद्वीपीय, कोष्ण ग्रीष्म द अ (Da) (ii) आर्द्र महाद्वीपीय, शीत ग्रीष्म द ब (Db) (ट) उपध्रुवीय द स, द द (Dc, Dd)
E. ध्रुवीय जलवायु H. उच्च भूमि जलवायु	(3) उच्च अक्षांशीय जलवायु (ठ) टुंड्रा इ ट (ET) (ड) हिम-मण्डित इ फ (EF)

कोइपेन एवं ट्रेवार्था के वर्गीकरण में अन्तर निम्न प्रकार है :

(1) कोइपेन ने उष्ण शुष्क (उपोष्ण मरुस्थल) तथा शीत शुष्क (मध्य अक्षांशीय मरुस्थल) की जलवायु को अलग करने में 18° सेंग्रे समतापी रेखा को सीमा माना है, किन्तु ट्रेवार्था ने सबसे ठण्डे मास की 0° सेंग्रे की समतापी रेखा को इनकी विभाजन-सीमा माना है।

(2) कोइपेन ने —3° सेन्टीग्रेड की समतापी रेखा से स तथा द जलवायु के वर्गों को अलग किया है, किन्तु ट्रेवार्था ने सबसे सर्द मास की 0° सेंग्रे की समतापी रेखा का प्रयोग किया है।

(3) स वर्ग की जलवायु के उपभागों को कोइपेन ने वर्षा के मौसमी वितरण के आधार पर निर्धारित किया है, किन्तु ट्रेवार्था ने तापमान के मौसमी व्यतिरेकों को आधार माना है।

(4) कोइपेन ने द वर्ग को भी वर्षा ऋतु के आधार पर विभाजित किया है, जब ट्रेवार्था ने ग्रीष्म ऋतु के तापमान को विभाजन का आधार माना है।

(5) ट्रेवार्था ने ह वर्ग में उच्च प्रदेशों की जलवायु को दिखाया है।

ए० ए० मिलर महोदय ने जलवायु विभाजन के लिए तापमान एवं वर्षा के वितरण का आधार बनाया है। इन्होंने तीन समतापी रेखाओं का प्रश्रय प्रदान किया है: 21° सेंग्रे वार्षिक औसत, 10° सेंग्रे ग्रीष्म कालीन तथा 6° सेंग्रे शीत कालीन औसत की समतापी रेखायें। इस प्रकार मिलर महोदय ने तापमान प्रदेशों को बनाया—उष्ण प्रदेश (Hot Province), कोष्ण शीतोष्ण प्रदेश (Warm Temperate Province), शीत शीतोष्ण प्रदेश (Cool Temperate Province), शीत प्रदेश (Cold Province) तथा ध्रुवीय प्रदेश (Arctic Province)। इसमें दो जलवायु प्रदेशों पर्वतीय प्रदेश (Mountain Province) तथा मरुस्थल प्रदेश (Desert Province) को भी सम्मिलित किया गया है। साल भर वर्षा, मौसमी वर्षा तथा वर्षा के वितरण को भी आधार मानकर जलवायु के उपविभाग किये गये हैं।

इस प्रकार सात मुख्य जलवायु प्रदेश तथा उन्तीस उपविभाग किये गये हैं:—

A. उष्ण जलवायु—वार्षिक औसत तापमान 21° सेंग्रे से अधिक

1. विषुवतीय (दो बार सर्वाधिक वर्षा)
   1m विषुवतीय (मानसून सदृश)
2. उष्ण कटिबन्धीय सागरीय (शुष्क ऋतु प्राय: शून्य)
   2M ,, ,, (मानसून सदृश)
3. ,, महाद्वीपीय (ग्रीष्म में वर्षा)
   3M ,, ,, (मानसून सदृश)

B. कोष्ण शीतोष्ण जलवायु—शीत ऋतु शून्य तथा किसी मास का तापमान 6° सेंग्रे से कम नहीं।

1. पश्चिमी तटीय (शीत ऋतु में वर्षा)
2. पूरबी तटीय (ग्रीष्म तथा शीत ऋतुओं में संतुलित वर्षा)
   2M पूरबी तटीय (मानसून सदृश, ग्रीष्मकालीन वर्षा अधिकतम)

C. शीत शीतोष्ण जलवायु—5 माह तक 6° सेंग्रे से कम तापमान की शीत ऋतु

1. सागरीय (शीत ऋतु में अधिकतम वर्षा)
2. महाद्वीपीय (ग्रीष्म ऋतु में अधिकतम वर्षा)
   2M ,, (मानसून सदृश, ग्रीष्म तीक्ष्ण तथा अधिकतम वर्षा)

D. शीत जलवायु—लम्बी शीत ऋतु, 6 से अधिक मास तक 6° सेंग्रे से कम तापमान।

1. सागरीय (शीत ऋतु में अधिकतम वर्षा)
2. महाद्वीपीय (ग्रीष्म ऋतु में सर्वाधिक वर्षा)
   2M ,, (मानसून सदृश, ग्रीष्म तीक्ष्ण तथा अधिकतम वर्षा)

E. ध्रुवीय जलवायु—ग्रीष्म ऋतु नहीं, सालभर 10° सेंग्रे से कम तापमान ।

F. मरुस्थली जलवायु—वार्षिक वर्षा 25 सेमी से कम ।

1. उष्ण मरुस्थल (शीत ऋतु का अभाव, किसी ऋतु में 6° सेंग्रे से कम तापमान नहीं)
2. मध्य अक्षांशीय मरुस्थल (शीत ऋतु में एक या दो माह तक 6° सेंग्रे से कम तापमान)

H. पर्वतीय जलवायु—पर्वतों से सम्बन्धित ।

जलवायु के प्रदेश
(Climatic Region)

(क) उष्णार्द्र जलवायु प्रदेश

(1) भूमध्यवर्ती जलवायु प्रदेश ।
(2) सूडान तुल्य जलवायु प्रदेश ।
(3) मानसूनी जलवायु प्रदेश ।
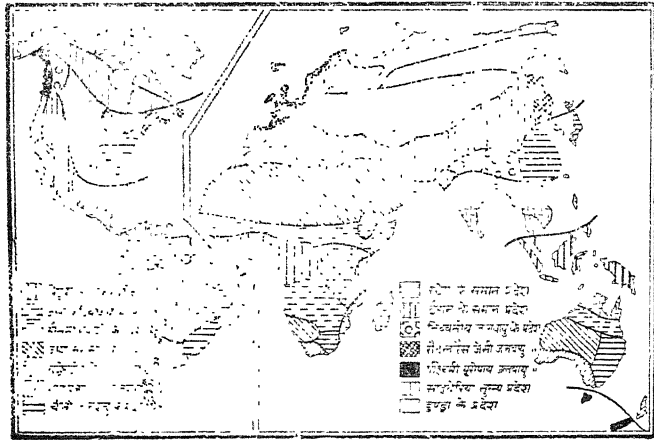
चित्र 329—जलवायु प्रदेश

(ख) शुष्क जलवायु प्रदेश

(4) उष्ण मरुस्थली जलवायु प्रदेश ।
(5) स्टेप या तूरान तुल्य जलवायु प्रदेश ।
(6) शीतोष्ण मरुस्थली या ईरान तुल्य जलवायु प्रदेश ।

(ग) शीतोष्ण आर्द्र जलवायु प्रदेश

(7) भूमध्यसागरीय जलवायु प्रदेश ।
(8) चीन तुल्य जलवायु प्रदेश ।
(9) पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु प्रदेश ।

(घ) शीतल आर्द्र जलवायु प्रदेश

(10) सेंट लारेंस तुल्य जलवायु प्रदेश।
(11) साइबेरिया तुल्य जलवायु प्रदेश।

(च) शीत जलवायु प्रदेश

(12) टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश।
(13) हिम-मण्डित जलवायु प्रदेश।

1. भूमध्यवर्ती जलवायु प्रदेश

भूमध्यवर्ती जलवायु प्रदेश 5° उत्तरी अक्षांश से 5° दक्षिणी अक्षांश के मध्य में विस्तृत है। इसमें अमेजन बेसिन, कांगो बेसिन, गिनी तट, हिन्देशिया तथा दक्षिणी मलेशिया सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस भाग में सूर्य वर्ष-पर्यन्त सिर पर चमकता है, इसलिए सालभर अधिक तापमान रहता है। इसका औसत तापमान 27° सेग्रे रहता है और वार्षिक ताप-परिसर 1° से 3° सेग्रे रहता है। इस भाग में दिन-रात बराबर होते हैं, फिर भी सूर्य के सीधे प्रभाव से दैनिक ताप-परिसर 6° सेग्रे तक रहता है। यहाँ की रातें ही इस प्रदेश की शीत ऋतु हैं। प्रभातकालीन एवं संध्याकालीन वेला-प्रकाश नाम-मात्र के लिए होता है। सिंगापुर का वार्षिक ताप-परिसर 1·6° सेग्रे और बेलवेयो (रोडेशिया) का 1° सेग्रे होता है।

पर्वतीय तथा पठारी प्रदेशों में तापमान कम होता है। इक्वेडर के क्विटो नगर का तापमान 12·8 सेग्रे है और वार्षिक ताप-परिसर 1° सेग्रे से भी कम रहता है, किन्तु दैनिक ताप-परिसर 5° सेग्रे तक हो जाता है।

वर्षा साल भर तक संवहनीय हवाओं से होती है। कुछ वर्षा तड़ित झंझाओं से होती है। इस भाग में इनकी प्रचण्डता उच्चतम होती है। मार्च एवं सितम्बर के महीने में जब सूर्य की किरणें सिर पर सीधी पड़ती हैं, वर्षा की मात्रा अधिक होती है। दिन में आकाश में बादल ही अधिक रहते हैं। वर्षा का माध्यम 2,032 मिमी है, किन्तु कहीं-कहीं पर 2,540 मिमी से 5,080 मिमी तक वर्षा हो जाती है। वार्ड महोदय के अनुसार डोलड्रम पेटी की औसत वार्षिक वर्षा 250 सेन्टी-मीटर है। हवाई द्वीप के काई द्वीप पर औसत वार्षिक वर्षा 1,125 सेमी होती है। वायु की आर्द्रता लगभग 80 प्रतिशत होती है जिससे असहनीय ऊमस होती है। दोपहर के बाद गर्जन, तड़पन तथा चमक के साथ वर्षा होती है। इसी कारण ताप-मान की उतनी अधिकता नहीं हो पाती है जितनी शुष्क वायु वाले क्षेत्रों में हो जाती है। पूरे वर्ष प्रातःकाल हल्का कुहरा पड़ता है।

ऊँचे प्रदेशों में वर्षा की मात्रा कम है। वृष्टि का वार्षिक औसत 125 सेमी है। इस जलवायु के प्रदेश में कीड़े, मकोड़े तथा मक्खियों का साम्राज्य रहता है जिससे जलवायु अस्वास्थ्यकर हो जाती है। पवनों के कम चलने तथा वायु में जल-

वाष्प की अधिकता से तापमान असह्य हो जाता है। इनको **निर्बलता के प्रदेश** (regions of debilitation) भी कहते हैं।

प्राकृतिक वनस्पति—अत्यधिक वर्षा एवं गरमी के कारण घने एवं बीहड़ जंगल पाये जाते हैं। इनके पेड़ों की 60 मीटर से 120 मीटर ऊँचाई, छतरीनुमा शाखाएँ और सघन पत्तियाँ लिपटी हुई बेलों की सहायता से सूर्य-प्रकाश को नीचे भूमि तक पहुँचने से रोक देती हैं। इन वनों को **'सेल्वा'** भी कहते हैं। इन वनों के मुख्य पेड़ महोगनी, रोजवुड, सिनकोना, चन्दन, केला, हरित हृदय, रबड़, बाँस आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

जीव-जन्तु—इन जंगलों की भूमि पर शक्तिशाली जानवर, जैसे हाथी, गेंडा, जंगली सूअर आदि रहते हैं जो सघन वनों को चीरते हुए एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं। नदियों में दरियाई घोड़े, मगर तथा घड़ियाल मिलते हैं। मांसाहारी विशाल जानवरों में जेगुवार, प्यूमा तथा स्लाथ मुख्य हैं।

पेड़ों के ऊपर रंग-बिरंगी तितलियाँ, भाँति-भाँति के बन्दर तथा अन्य जानवर मिलते हैं। रेंगने वाले जानवरों में सर्प बहुत प्रसिद्ध हैं। इक्वेडर में लामा, अल्पाका और बिकूना पशु मिलते हैं।

आर्थिक दशा—यहाँ के लोग असभ्य एवं पिछड़े हुए हैं। विकसित भागों में जंगलों को साफ करके रबड़, गन्ना, कहवा, कोको, अनन्नास, केला, मसाले, गेहूँ एवं चावल की कृषि हो रही है। इण्डोनेशिया तथा मलाया इसके उदाहरण हैं। घने जंगलों में रबड़ एवं हाथी-दाँत एकत्र किये जाते हैं।

इस प्रदेश में खनिजों का पता नहीं लग पाया है क्योंकि ये प्रदेश अविकसित हैं। मलाया में टिन; जावा, सुमात्रा एवं बोर्नियो में मिट्टी का तेल; कटांगा (अफ्रीका) में ताँबा, रेडियम, सीसा एवं चाँदी और घाना में सोना मिलता है।

2. सूडान तुल्य जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश भूमध्यवर्ती जलवायु के दोनों ओर 5° से 20° अक्षांशों के मध्य विस्तृत है। इसके अन्तर्गत सूडान, जेम्बजी नदी की ऊपरी घाटी, ब्राजील का मध्य भाग और पश्चिमी आस्ट्रेलिया का मध्य भाग सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस प्रदेश की जलवायु साल भर उष्ण रहती है। ग्रीष्म ऋतु का औसत तापमान 27° सेंग्रे और शीत ऋतु का 20° सेंग्रे रहता है। वार्षिक ताप-परिसर 5·5° सेंग्रे से 16·5° सेंग्रे तक रहता है। ग्रीष्म ऋतु का तापमान कहीं-कहीं 43° सेंग्रे या इससे अधिक भी पहुँच जाता है, किन्तु वृष्टि होते ही तापमान गिर जाता है। ग्रीष्म ऋतु में बहुधा आँधी चला करती है।

यहाँ ग्रीष्म ऋतु में अधिकांश वर्षा होती है। वर्षा की मात्रा भूमध्य रेखा से सुदूर उत्तर तथा दक्षिण को क्रमशः कम होती जाती है। दक्षिण से 200 सेमी से प्रारम्भ करके मरुस्थलों के निकट केवल 25 सेमी वर्षा होती है। वार्षिक औसत 508 मिमी से 1,016 मिमी रहता है।

प्राकृतिक वनस्पति—इन प्रदेशों में घासें मिलती हैं। एलफैण्टा घास 5 मीटर तक लम्बी होती है। विरले वृक्ष भी मिलते हैं जिनमें एकासिया जाति के प्रसिद्ध हैं। भूमध्यवर्ती प्रदेश की सीमान्त पेटी में जंगल तथा लम्बी घास मिलती हैं।

जीव-जन्तु—यहाँ घास खाने वाले जानवर, जैसे बारहसिंगा, जेवरा, नील गाय, जिराफ, कंगारू और इनका शिकार करने वाले जानवर शेर, चीते, लकड़बग्घे, तेन्दुए आदि मिलते हैं।

आर्थिक दशा—यह अर्द्ध-विकसित प्रदेश है। इसके निवासियों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन, कृषि, व्यापार तथा शिकार है। कृषि में कपास, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, तम्बाकू तथा खजूर का उत्पादन है। सूडान, पूरबी अफ्रीका तथा रोडेशिया में सिंचाई की व्यवस्था हो जाने से अच्छी खेती हो रही है। खनिजों की दृष्टि से यह प्रदेश निर्धन है। केवल रोडेशिया में क्रोम लोहा, एसबेस्टस, सोना तथा कोयला मिलता है।

3. मानसूनी जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश महाद्वीपों के पूरबी भागों में 5° से 30° अक्षांशों के मध्य मिलता है। भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा, हिन्द चीन, दक्षिणी चीन, पश्चिमी द्वीपसमूह, ब्राजील का पूरबी तट, मलागासी तथा पूरबी अफ्रीका का तटीय भाग, आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग तथा कोलम्बिया एवं वेनेजुअला का उत्तरी तट मानसूनी जलवायु के प्रदेश हैं।

जलवायु—इस प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु गरम रहती है। औसत तापमान 27° सेंग्रे से 32° सेंग्रे तक रहता है। पाकिस्तान के नगर जेकोबाबाद का तापमान 52° सेंग्रे तक पहुँच जाता है। इस प्रदेश में जाड़े का औसत तापमान 17° सेंग्रे से 24° सेंग्रे तक रहता है। वार्षिक तथा दैनिक ताप-परिसर अधिक नहीं होता है। प्रायः ताप-परिसर 12° सेंग्रे से 16° सेंग्रे रहता है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु में शुष्क भागों में दैनिक ताप-परिसर 10° सेंग्रे तक पहुँच जाता है। इस प्रदेश में वर्षा की मात्रा में बड़ी विभिन्नता मिलती है। इसका कारण प्राकृतिक बनावट तथा वायु की दिशा होती है। प्रायः वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है। इस प्रदेश की औसत वर्षा 127 मिमी से लेकर 11,430 मिमी तक है। चेरापूँजी संसार का सर्वाधिक वर्षा का स्थान है। वर्षा की अनिश्चितता इस प्रदेश की भयानक विशेषता है। पवनें मन्द गति से चलती हैं। केवल ग्रीष्मकाल में प्रायः सन्ध्या समय वेगवती आँधियाँ आती हैं।

इस प्रदेश में ग्रीष्म, शीत तथा वर्षा की तीन ऋतुएँ हैं। उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह में हरीकेन, चीन में टाइफून, फिलिपाइन में वेग्विस और उत्तरी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया में विल्ली विल्लीज चक्रवात चलते हैं।

इस जलवायु का प्रधान लक्षण ग्रीष्मकाल में उष्णार्द्र जलवायु और शीतकाल

में ठण्डी और शुष्क जलवायु है। अच्छी जलवायु होने से इसको **उन्नतशील प्रदेश** (regions of increment) कहते हैं।

वनस्पति—वर्षा की मात्रा में अन्तर होने से वनस्पतियों में बड़ा अन्तर मिलता है। अधिक वर्षा के प्रदेश में सदाबहार के घने वन हैं जिनमें महोगनी, देवदार आदि मिलते हैं। मानसूनी वनों में साल, सागौन, शीशम, आम, बाँस इत्यादि वृक्ष उगते हैं। कम वृष्टि के भागों में बबूल तथा झाड़ियाँ भी मिलती हैं।

जीव-जन्तु—यहाँ सूडान प्रदेश के सभी पशु मिलते हैं। हिमालय का याक बैल तथा ब्रह्मा एवं थाई देश के हाथी बहुत प्रसिद्ध हैं।

आर्थिक दशा—यह प्रदेश कृषि-प्रधान है। चावल, जूट, कपास, तिलहन, चाय, कहवा, गन्ना आदि की विस्तृत खेती होती है।

पूरबी ब्राजील में लोहा एवं मैंगनीज; वेनेजुअला में खनिज तेल; थाइलैण्ड में ग्रेफाइट; आस्ट्रेलिया के क्वींसलैण्ड में सोना, चाँदी, सीसा, टिन और भारत में लोहा, कोयला, सोना आदि खनिज निकलते हैं। मानसूनी प्रदेश उद्योगों में भी विकसित हैं।

4. उष्ण मरुस्थली जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में 20° से 30° अक्षांशों के मध्य पाया जाता है। ऐसे भाग थार, अरब, कालाहारी, कोलोरेडो, अरीजोना, अटाकामा तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया हैं। इन मरुभूमियों का विस्तार विभिन्न महाद्वीपों के आकार तथा धरातल पर निर्भर करता है।

जलवायु—इस प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु में भीषण गरमी पड़ती है। उत्तरी गोलार्द्ध के भागों में जुलाई का औसत तापमान 32° सेंग्रे से अधिक रहता है। जनवरी का औसत तापमान 18° सेंग्रे होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्री प्रभाव के फलस्वरूप जनवरी का औसत तापमान 21° सेंग्रे और जुलाई का 10° सेंग्रे रहता है। इस प्रदेश में दिन झुलसाने वाला होता है। दिन का अधिकतम तापमान 49° सेंग्रे से 55° सेंग्रे हो जाता है और रात्रि का 21° सेंग्रे हो जाता है। इस प्रकार दैनिक ताप-परिसर 27° सेंग्रे से अधिक तक पहुँच जाता है। संसार के अधिकतम तापमान के स्थान अजीजिया (उत्तरी अफ्रीका) का 58° सेंग्रे और जेकोबाबाद (पाकिस्तान) का 57° सेंग्रे तापमान हो जाता है। शीत ऋतु की रात्रि में कड़ी सर्दी पड़ती है और आकाश कुहरा से आच्छादित हो जाता है। ग्रीष्मकाल में भी आधी रात को जाड़ा लगता है। धूल की आँधियाँ भयानक होती हैं। औसत वार्षिक ताप-परिसर 16° सेंग्रे तक रहता है। समुद्रतट पर यह तापमान और कम होता है।

मरुस्थलों में वर्षा का बड़ा अभाव रहता है। सहारा में वर्षा का औसत 254 मिमी है। दक्षिणी अमरीका के इक्विवे नगर में $1\frac{1}{2}$ सेमी वर्षा होती है। मरुस्थल **वर्षारहित प्रदेश कहे जाते हैं।**

मरुस्थली भागों में वर्षा न होने के निम्न कारण हैं :

(1) ये भाग संमार्गी हवाओं की पेटी में हैं। इन हवाओं से महाद्वीपों के पूरबी भाग में जल-वृष्टि होती है और पश्चिमी भाग शुष्क रह जाते हैं।

(2) इन भागों में अधिक वायुदाब रहता है, अतः वायु ऊपर से नीचे को उतरती है और दबाव से गर्म एवं शुष्क हो जाती है।

(3) इनके पश्चिमी तट पर 20° और 30° अक्षांशों में ठण्डी जलधाराएँ बहती हैं जो वर्षा के अनुकूल नहीं होती हैं।

(4) वर्षा करने वाली पछुआ हवाएँ शीत ऋतु में भी 30° अक्षांश से नीचे नहीं आती हैं। अतः वे भाग सूखे रह जाते हैं।

(5) भूमध्य रेखा की अल्प दाब की पेटी अधिक से अधिक 20° उत्तर या दक्षिण अक्षांश तक खिसकती है। अतः 20° से 30° अक्षांश तक के भाग वर्षाविहीन रह जाते हैं।

रात्रि में धरातल की शीतलता से कहीं-कहीं, विशेषकर मरुद्यानों में, कुहरा ही जलवाष्प का प्रमाण देता है। इनमें प्रतिदिन संध्या समय स्थानीय आँधियाँ चला करती हैं। कभी-कभी ये आँधियाँ लगातार कई दिनों तक चलती हैं। ये आँधियाँ उष्ण, झुलसाने वाली तथा पागल बनाने वाली होती हैं।

वनस्पति—इस प्रदेश में वृक्ष एवं झाड़ियाँ मिलती हैं। वृक्षों की जड़ें लम्बी, पत्ते छोटे एवं चमकदार और छाल मोटी तथा चिकनी होती है। ताड़ एवं खजूर मुख्य वृक्ष हैं।

जीव-जन्तु—ऊँट, पशु और शुतुरमुर्ग चिड़िया मुख्य जीव हैं। ये बड़े ही उपयोगी सिद्ध होते हैं।

आर्थिक दशा—मरुद्यानों में ज्वार-बाजरा, तम्बाकू, फल एवं तरकारियाँ पैदा की जाती हैं। जहाँ सिंचाई की व्यवस्था हो गयी है वहाँ गेहूँ, कपास आदि का भी उत्पादन हो रहा है।

यहाँ की झीलों से नमक प्राप्त होता है। चिली के उत्तरी भाग में शोरा ; पश्चिमी आस्ट्रेलिया, कोलोरेडो तथा अरीजोना (सं० रा० अमरीका) में सोना, चाँदी और ताँबा और कालाहारी में भी ताँबा मिलता है। चिली में ताँबा, लोहा, चाँदी एवं बोरिक भी मिलता है।

5. भूमध्यसागरीय जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर 30° और 45° अक्षांशों के मध्य स्थित है। इसके अन्तर्गत भूमध्य सागर के तटवर्ती देश, केलिफोर्निया का मध्य भाग, मध्य चिली, केप प्रान्त, न्यूजीलैण्ड का उत्तरी द्वीप तथा आस्ट्रेलिया का दक्षिणी-पश्चिमी भाग सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस प्रदेश में गरमी अधिक पड़ती है। ग्रीष्म ऋतु का औसत ताप-

मान 21° सेंग्रे से 27° सेंग्रे तक रहता है। शीत ऋतु में भी साधारण सरदी होती है, क्योंकि अफ्रीका के मरुस्थल से आने वाली गरम हवाओं जैसे सिराक्को से तथा दिन के चमकदार सूर्य की किरणों से सरदी कम हो जाती है। शीत ऋतु का तापमान 7° सेंग्रे से 10° सेंग्रे रहता है। ग्रीष्म एवं शीत ऋतु के तापमान में 16° सेंग्रे से अधिक अन्तर नहीं होता है। प्रायः वार्षिक ताप-परिसर 10° सेंग्रे से 16° सेंग्रे के मध्य होता है। दैनिक ताप-परिसर 10° सेंग्रे से 12° सेंग्रे तक रहता है।

इस प्रदेश में जाड़ों में वर्षा होती है क्योंकि वायुदाब की पेटियों के सरकने से जाड़ों में यह प्रदेश पछुआ हवाओं की पेटी में पड़ जाता है। ग्रीष्मकाल में उच्च दाब की पेटी में पड़ने से यह भाग शुष्क रह जाता है। वर्षा की वार्षिक मात्रा 508 मिमी से 889 मिमी तक रहती है। वर्षा मूसलाधार होनी है। वर्षा की मात्रा पश्चिम से पूरब की ओर कम होती है। यह स्थिति और धरातल की बनावट पर निर्भर करती है। वर्षा बहुत अनिश्चित होती है।

इस प्रदेश में बोरा, सिराक्को, फाहेन आदि चक्रवात चला करते हैं।

वनस्पति—इस प्रदेश में शुष्क ग्रीष्म में जीवित रहने वाले लम्बे मूसला, मोटी एवं चिकनी पत्ती, मोटी एवं चिकनी छाल, रोएँदार एवं गन्धपूर्ण पत्तियों वाले वृक्ष उगते हैं। लम्बी जड़ वाले वृक्ष, अंगूर की बेल तथा चेस्टनट, मोटे तथा चिकने पत्तों वाले सन्तरा, रोएँदार पत्तियों वाले जैतून, मोटी एवं चिकनी छाल वाले कार्क एवं ओक यहाँ पाये जाते हैं। शंकु पत्ती वाले वृक्ष पाइन, फर, सेडार, साइप्रस, जुनिपर हैं जो पहाड़ी भागों में मिलते हैं। ठण्डे और नम भागों में चौड़ी पत्ती वाले वृक्ष ओक, वालनट, हिकरी आदि मिलते हैं। चिली देश में चिली पाइन एवं एस्पिनो, आस्ट्रेलिया में यूकलिप्टस, करी एवं जर्रा के वृक्ष पाये जाते हैं। शहतूत के वृक्ष एवं अफ्रीका की अलफाफा घास बड़े औद्योगिक महत्त्व की होती है।

भूमध्य सागर के कम वर्षा वाले भागों में काँटेदार झाड़ियाँ मिलती हैं। भूमध्य सागर के तटीय देशों में 'माक्विस', कैलिफोर्निया में 'चेपरेल' और आस्ट्रेलिया में 'मालो' नाम से ये झाड़ियाँ पुकारी जाती हैं। छोटे-छोटे नाटे पेड़ भी जहाँ-तहाँ मिलते हैं।

जीव-जन्तु—भेड़, बकरी तथा गाय-बैल मुख्य जानवर हैं।

आर्थिक दशा—यह प्रदेश संसार का सभ्य एवं विकसित भाग है। अन्य उद्यमों में खेती का प्रमुख स्थान है। फल का उत्पादन एवं उद्योग इनकी आर्थिक भित्ति है। जैतून, अंजीर, बादाम, अंगूर तथा सेब मुख्य फल हैं। इस प्रदेश की अंगूरी शराब संसार प्रसिद्ध है।

पशुचारण का कार्य भी बहुत होता है। शीत-भण्डार प्रणाली का विकास हो जाने से मांस एवं दुग्ध उद्योग बहुत विकसित हो गये हैं।

इस प्रदेश में खनिज पदार्थ मिलते हैं, किन्तु लोहा एवं कोयला का सामंजस्य न

होने से लौह उद्योग नहीं पनप सकते हैं। उत्तरी स्पेन में लोहा, चिली में कोयला एवं ताँबा, इटली में पारा और गन्धक, केलिफोर्निया में सोना एवं खनिज तेल और स्पेन में जस्ता, सीसा एवं पारा मिलता है।

6. चीन तुल्य जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश भूमध्यसागरीय प्रदेश के विपरीत पूरबी तट पर 30° और 45° अक्षांशों के मध्य मिलता है। इस भाग में उत्तरी तथा मध्य चीन, दक्षिणी जापान, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका एवं संयुक्त राज्य अमरीका का दक्षिणी-पूरबी भाग, युरुग्वे एवं ब्राजील का दक्षिणी-पूरबी तट सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु में पर्याप्त गरमी पड़ती है और औसत तापमान 27° सेंग्रे होता है। शीत ऋतु में अधिक ठण्डक पड़ती है। मध्य एशिया की ठण्डी हवाओं से उत्तरी चीन एवं जापान का तापमान हिमांक से भी नीचे गिर जाता है। पाला भी प्राय: पड़ा करता है। पीकिंग नगर का शीत ऋतु का औसत तापमान 13° सेंग्रे रहता है। किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध के भागों में तापमान का औसत 13° सेंग्रे रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध के देशों में वार्षिक ताप-परिसर अधिक होता है। पीकिंग का वार्षिक ताप-परिसर 13° सेंग्रे है। किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्री प्रभाव से सिडनी का ताप-परिसर 10° सेंग्रे ही रहता है।

इस प्रदेश में साल भर वर्षा होती है, किन्तु ग्रीष्म ऋतु में अधिकांश वर्षा होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 762 मिमी से 1,270 मिमी रहता है। स्थिति एवं धरातल की बनावट के अनुसार वर्षा की मात्रा में काफी अन्तर रहता है। ग्रीष्मकालीन वर्षा संमार्गी वायु से होती है, किन्तु चीन में मानसून से होती है। शीत ऋतु में चक्रवातों से वर्षा होती है। इसके साथ कभी-कभी ओले भी पड़ते हैं। इस जलवायु में बड़े भयंकर झंझावात उठते हैं जिन्हें चीन में टाइफून कहते हैं।

वनस्पति—गरम एवं आर्द्र ग्रीष्म ऋतु के कारण चौड़ी पत्ती वाले हरे-भरे पेड़ों के सघन वन मिलते हैं। इन वनों के वृक्ष बड़े उपयोगी हैं। ओक, लारेल, मेपुल, वालनट, कपूर, मैगनोलिया, बीच, शहतूत, सिनकोना, बाँस आदि के वृक्ष मिलते हैं। चाय, कॉफी एवं अन्य पुष्प वाली झाड़ियाँ भी मिलती हैं। आस्ट्रेलिया का यूकलिप्टस वृक्ष और पारागुए के यारबामेट वृक्ष बहुत उपयोगी हैं।

आर्थिक दशा—जलवायु अनुकूल होने से यह कृषि-प्रधान है। कपास, चावल, चाय, कहवा, मक्का, गेहूँ, गन्ना, सोयाबीन आदि मुख्य उपजें हैं। ब्राजील का कहवा उद्योग; चीन, जापान का रेशम उद्योग तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका का कपास-उत्पादन संसार में बेजोड़ है।

इस प्रदेश में कोयला तथा खनिज तेल का भण्डार है। चीन, संयुक्त राज्य अमरीका का खाड़ी तट, नेटाल (अफ्रीका) तथा आस्ट्रेलिया के पूरबी तट के पास कोयला मिलता है। चीन में लोहा तथा खाड़ी तट पर खनिज तेल मिलता है।

7. तूरान तुल्य जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपों के भीतरी भाग में 30° से 45° अक्षांशों के मध्य स्थित है। इस जलवायु में एशिया के स्टेप, उत्तरी अमरीका के प्रेरीज, दक्षिणी अमरीका में अर्जेण्टाइना के पम्पास, आस्ट्रेलिया के डाउन्स और दक्षिणी अफ्रीका के वेल्ड मैदान सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस प्रदेश की जलवायु महाद्वीपीय विषम है। यहां समुद्री प्रभाव का अभाव रहता है। ग्रीष्म ऋतु में तीव्र गरमी पड़ती है। गरमी का औसत तापमान 27° सेंग्रे रहता है, किन्तु अत्यन्त गरम दिनों का तापमान 46° सेंग्रे तक हो जाता है। शीत ऋतु में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है और तापमान हिमांक से नीचे उतर जाता है तथा —11° सेंग्रे तक हो जाता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के भागों में जलवायु में इतनी विषमता नहीं होती है।

वर्षा ग्रीष्मकाल में समुद्र से चलने वाली हवाओं या संवहनीय हवाओं से होती है। वर्षा का वार्षिक औसत 508 मिमी तक रहता है। यह वर्षा वसन्त तथा ग्रीष्म-काल के प्रारम्भ में होती है। इसी समय आँधियाँ भी आती हैं जिनसे तापमान में 1 घण्टे में 16° सेंग्रे तक का अन्तर पड़ जाता है। साधारणतया पवनें कम चलती हैं। दोनों अमरीका के इन भागों में अधिक वर्षा होती है क्योंकि समुद्री हवाएँ बिना रोक-टोक के पहुँच जाती हैं। किन्तु एशिया तथा आस्ट्रेलिया से ये भाग पर्वतों के पीछे और समुद्रों से दूर पड़ते हैं अतः वर्षा कम होती है। एशिया तथा आस्ट्रेलिया में वर्षा का वार्षिक औसत 175 मिमी और अमरीका में 889 मिमी रहता है।

वनस्पति—इस प्रदेश में कटीली झाड़ियाँ मिलती हैं। एशिया का भाग तो सर्वथा वृक्ष-शून्य है।

आर्थिक दशा—इस प्रदेश में पशु-पालन, शिकार तथा अल्प कृषि आर्थिक साधन हैं। छोटे-छोटे कुटीर उद्योग भी उन्नति कर रहे हैं। प्रेयरी के भाग बहुत विकसित हो गये हैं।

8. ईरान तुल्य जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश महाद्वीपों के भीतरी भाग में पर्वतमालाओं से वेष्ठित पठारी प्रदेश है। यह समुद्री प्रभाव से सर्वदा वंचित है। ईरान, अफगानिस्तान, बिलुचिस्तान, तारीम बेसिन, मंगोलिया, मेक्सिको का पठारी भाग तथा दक्षिणी अमरीका के भीतरी उच्च प्रदेश पैटेगानिया इस भाग में आते हैं।

जलवायु—ग्रीष्म काल में यहाँ भीषण गरमी पड़ती है। तापमान 46° सेंग्रे तक पहुँच जाता है और गरमी असह्य हो जाती है। तेहरान नगर का जुलाई का औसत तापमान 30° सेंग्रे रहता है। शीत ऋतु में कड़ी सर्दी पड़ती है और तापमान हिमांक से भी नीचे गिर जाता है। रात्रि को पाला पड़ता है। इस ऋतु में तेहरान का औसत तापमान 1° सेंग्रे रहता है।

यहाँ शीत ऋतु में वर्षा होती है। पठारों पर वर्षा का औसत 38 सेण्टीमीटर है, किन्तु अन्य भागों में, जहाँ ग्रीष्मकाल में भी कुछ वर्षा हो जाती है, वर्षा का औसत कुछ अधिक रहता है। जाड़े में.हिम के रूप में बहुधा जल-वृष्टि होती है।

वनस्पति तथा जीव-जन्तु—कँटीली झाड़ियाँ तथा घासें उगती हैं। वृक्षों का पूर्ण अभाव है। ऊँट, घोड़े, भेड़ तथा बकरियाँ मुख्य जानवर हैं।

आर्थिक दशा—इस प्रदेश में जानवरों पर सभी उद्यम निर्भर रहते हैं। जानवरों के बालों से कम्बल, नमदा, गलीचा आदि बनाये जाते हैं। नदियों की घाटियों में खेती होती है जहाँ गेहूँ, मक्का, कपास, तम्बाकू, इत्यादि पैदा किये जाते हैं। मेक्सिको की मक्का बहुत प्रसिद्ध है।

9. पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश दोनों गोलार्द्धों में महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर 45° से 65° अक्षांशों तक विस्तृत है। इसमें ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेलजियम, जर्मनी, उत्तरी फ्रांस, ब्रिटिश कोलम्बिया (सं० रा० अमरीका), दक्षिणी चिली तथा न्यूजीलैण्ड और टस्मानिया द्वीप सम्मिलित हैं।

जलवायु—इस प्रदेश की जलवायु पर समुद्र का अधिक प्रभाव है। इसमें ग्रीष्म ऋतु सुहावनी होती है और जाड़े में भी कम सरदी पड़ती है। यहाँ शीत ऋतु का औसत तापमान 5° सेंग्रे और ग्रीष्म ऋतु का 16° सेंग्रे रहता है। ग्रीष्म ऋतु में भी 19° सेंग्रे से अधिक तापमान कभी नहीं होता है। वार्षिक ताप-परिसर 70° सेंग्रे के लगभग रहता है। गरम जलधाराओं तथा समुद्री गरम पछुआ हवाओं के कारण शीत ऋतु में भी तापमान हिमांक के नीचे नहीं जाने पाता है। दैनिक ताप-परिसर बहुत अधिक होता है क्योंकि चक्रवात के कारण मौसम बड़ा अनिश्चित रहता है और कभी-कभी एक घण्टे में 2° सेंग्रे तापमान गिर जाता है। दैनिक ताप-परिसर लगभग 1° सेंग्रे से 4° सेंग्रे तक रहता है। पश्चिम से पूरब जाने में वार्षिक ताप-परिसर अधिक होता जाता है।

इस भाग में साल भर पछुआ हवा से वर्षा होती है, किन्तु शीत एवं शरद् ऋतुओं में अधिक वर्षा होती है। वर्षा का औसत 762 मिमी होता है किन्तु पर्वतों के पश्चिमी ढालों पर 2 540 मिमी तक वर्षा हो जाती है। वेल्स और चिली के पर्वतों पर 5,080 मिमी तथा नार्वे के पर्वतों पर 2,540 मिमी वर्षा होती है। पश्चिम से पूरब जाने पर वर्षा की मात्रा कम होती जाती है। प्रायः वर्षा नन्हीं-नन्हीं बूँदों में होती है। यहाँ मूसलाधार जल-वर्षा नहीं होती है। इस जलवायु में कुहरा अधिक पड़ता है क्योंकि उष्ण जलधार पर बहने वाली आर्द्र वायु स्थल की शीतल वायु के सम्पर्क से कुहरा उत्पन्न कर देती है। पवनों के द्वारा यह कुहरा कभी-कभी 30-40 किलोमीटर दूर तक के भीतरी भाग में पहुँच जाता है। यह कुहरा शीत ऋतु में बहुत होता है और स्टेशनों पर कुहासा संकेत (fog signal) लगाने पड़ते हैं। पटाखों के द्वारा सिगनल दिया जाता है।

अमरीका के भूखण्ड में प्राप्त कोयला, ताँबा, सोना, खनिज तेल का विकास हो रहा है। जापान में गन्धक, ताँबा, कोयला तथा लोहा मिलता है जिसका पूर्ण उपयोग हो रहा है।

11. साइबेरिया तुल्य जलवायु प्रदेश

यह जलवायु प्रदेश उत्तरी गोलार्द्ध में 60° से 65° उत्तरी अक्षांशों के मध्य स्थित है। इस भाग में उत्तरी कनाडा तथा यूरेशिया के उत्तरी भाग (नार्वे, स्वीडन, फिनलैण्ड, उत्तरी तथा मध्य रूस तथा साइबेरिया) पड़ते हैं।

जलवायु—समुद्र से सुदूर एवं उच्च अक्षांशों में स्थित होने के कारण इसकी जलवायु बहुत विषम है। ग्रीष्म ऋतु बहुत छोटी और साधारण गरम होती है। ग्रीष्म ऋतु के दिन बहुत लम्बे और रात्रि छोटी होती हैं। ग्रीष्म काल का औसत तापमान 12° सेंग्रे रहता है।

शीत ऋतु लम्बी होती है और दिन की अवधि छोटी होती है। अतः शीत ऋतु में कड़ाके की सरदी पड़ती है। इस ऋतु में तापमान हिमांक के नीचे रहना है। साइबेरिया के उत्तरी-पूरबी भाग में स्थित **वरखोयांस्क** नगर का जनवरी का औसत तापमान —34° सेंग्रे है। सन् 1892 में तो इस नगर का औसत तापमान —50° सेंग्रे तक चला गया था। इस प्रदेश में वार्षिक ताप-परिसर किसी-किसी वर्ष 68° सेंग्रे तक चला जाता है। यह संसार का सबसे अधिक ताप-परिसर है।

इस प्रदेश में वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भ में थोड़ी वर्षा हो जाती है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग 508 मिमी है। यह प्रायः संवहन-वर्षा है। शीत ऋतु में हिम के रूप में वर्षा होती है।

जीव-जन्तु—गिलहरियाँ, लोमड़ियाँ, बीवर आदि मुख्य जानवर हैं।

वनस्पति—यह शंकु-वृक्षी वनों से आच्छादित प्रदेश है। इसमें चीड़, स्प्रूस, फर, सीडर, हेमलाक आदि वृक्ष मिलते हैं। यत्र-तत्र चौड़ी पत्ती वाले बर्च, ऐस्पेन आदि के पेड़ भी मिलते हैं।

आर्थिक दशा—इस भाग में समूर वाले जानवरों का शिकार, लकड़ी काटना, मछली मारना तथा खेती करना मुख्य उद्यम हैं। खेती में जई, जौ एवं राई मुख्य उपजें हैं। यद्यपि सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता एवं लोहे की खदानें हैं किन्तु इनमें कम शोषण हो रहा है।

12. टुण्ड्रा जलवायु प्रदेश

कनाडा तथा यूरेशिया के उत्तर में ध्रुववृत्त के उत्तर स्थित ध्रुवीय निम्न प्रदेश या शीत उजाड़ खण्ड को टुण्ड्रा या ध्रुव प्रदेश की संज्ञा प्रदान की जाती है।

जलवायु—इस प्रदेश में शीत ऋतु 8 माह लम्बी होती है जिसमें सूर्य का दर्शन या तो अल्पकालिक होता है या होता ही नहीं। यहाँ बर्फ की आँधियाँ, जिनको

ब्लिज़र्ड कहते हैं, चला करती हैं। शीत ऋतु में ध्रुव की ओर से ठण्डी हवा चलती है जो पुर्गा कहलाती है। शीत ऋतु का तापमान प्रायः हिमांक से नीचे रहता है। भूमि पर कई मीटर मोटी बर्फ जमी रहती है। न्यूनतम तापमान —34° सेंग्रे तक मिलता है।

ग्रीष्म ऋतु 4 माह की होती है। दिन काफी लम्बा होता है, कई भागों में कई माह तक सूर्य छिपता ही नहीं। ग्रीष्मकाल का औसत तापमान 10° सेंग्रे रहता है। इस ऋतु में बर्फ पिघल जाती है और नदियों में बाढ़ें आ जाती हैं। भूमि भी दलदली बन जाती है। वार्षिक ताप-परिसर बहुत अधिक रहता है।

वर्षा बहुत कम होती है। गरमी के दिनों में बहुधा वर्षा होती है। जाड़ों में वर्षा हिम के रूप में होती है। वार्षिक औसत वर्षा 25 सेंटीमीटर से 30. सेंटीमीटर है। जाड़ों में चक्रवातों से भी वर्षा हो जाती है।

वनस्पति—इसके दक्षिणी छोर पर छोटे-छोटे पौधे मिलते हैं। शेष भाग में काई तथा लिचेन मिलती है। गरमी में पुष्पित पौधे बड़े सुहावने लगते हैं। ठण्डी हवाओं से सुरक्षित स्थानों पर विलो, बर्च आदि वृक्ष मिलते हैं।

13. हिमखण्डित जलवायु प्रदेश

यह प्रदेश उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुव के समीपस्थ है। इसमें अन्टार्कटिका महाद्वीप, ग्रीनलैण्ड तथा अन्य ध्रुवीय टापू सम्मिलित हैं। इन भागों में बर्फ का ढेर ऊँचा हो गया है और कभी भी बर्फ नहीं पिघलती है।

जलवायु—इस प्रदेश का तापमान हिमांक से नीचे रहता है। यहाँ 6 मास का दिन तथा 6 मास की रात होती है। वार्षिक ताप-परिसर बहुत अधिक होता है किन्तु दैनिक ताप-परिसर कम रहता है। यहाँ का निम्नतम तापमान —43° सेंग्रे लिया गया है। अभी यह प्रदेश बहुत हद तक अज्ञात है। अन्वेषण के प्रयास जारी हैं।

इस प्रदेश में वर्षा बिलकुल नहीं होती है। जो कुछ वर्षा होती है वह हिम के रूप में ही होती है। बर्फ के तूफान आते हैं जिनमें बर्फ के कण भी उड़ते रहते हैं।

जीव-जन्तु—यहाँ समुद्री जीव हैं। स्थली जीवों का अभाव है। कुछ पक्षी भी पहुँच जाते हैं। सील, ह्वेल मछलियाँ और पेंगुइन चिड़ियाँ पायी जाती हैं।

वनस्पति—यह प्रदेश वनस्पतिशून्य है। काई, लिचेन तथा समुद्री घास मिलती है।

आर्थिक दशा— यह प्रदेश विशाल उजाड़ खण्ड है। यह मानव निवास के लिए अनुपयुक्त है। इसका भविष्य भी अन्धकारमय है। इसका आर्थिक विकास असम्भव प्रतीत हो रहा है।

जलवायु की परिवर्तनशीलता

भूवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक काल में जलवायु-परिवर्तन के अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे स्पष्ट है कि जलवायु में सर्वदा परिवर्तन होते रहे हैं। इस सम्बन्ध में

विभिन्न परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं जिनके माध्यम से इस परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इन परिकल्पनाओं द्वारा तथ्य की जानकारी में बहुत सहायता मिली है किन्तु इनमें कई त्रुटियाँ हैं। वर्तमान अन्वेषक जलवायु के परिवर्तन के मूल कारण उच्चावचन तथा पृथ्वी-तल में परिवर्तन को ही मान रहे हैं।

(1) **क्रॉल-सिद्धान्त** (Croll's Theory)—क्रॉल महोदय ने पृथ्वी के कक्ष-तल की उत्केन्द्रता (eccentricity) तथा विषुव-पुरस्सरण (precession of equinoxes) को ही जलवायु के परिवर्तन का आधार माना और कल्पना किया कि अधिक उत्केन्द्रता के युग में अपसौर में गोलार्द्ध की लम्बी शीत ऋतु बर्फ जमने का कारण बनी क्योंकि उपसौर के छोटे ग्रीष्म ऋतु में इतनी गर्मी नहीं पड़ी कि बर्फ पिघल सके। इन्होंने हिमनदन का अन्तर 25 हजार वर्ष रखा, क्योंकि पृथ्वी के अक्ष को अपना वृत्त पूरा करने में इतने वर्ष लग जाते हैं। आज के ज्ञात तथ्यों से क्रॉल के निष्कर्ष मिलते नहीं हैं। साथ ही, हिमयुग के मध्य में भी जलवायु के दोलन हुए हैं जिसकी व्याख्या इस परिकल्पना में नहीं है।

(2) **ड्रेसन-सिद्धान्त** (Drayson's Theory)—ड्रेसन महोदय ने क्रांतिवृत्त की तिर्यकता (obliquity of the plane of ecliptic) के परिवर्तन को ही जलवायु के परिवर्तन का कारण बताया। इनके मतानुसार 11° से 35° सेंग्रे तक की विभिन्नता थी जो कोई भी खगोल विज्ञानी नहीं स्वीकार करता है। इस आधार पर नियमित हिमनदन होना चाहिए किन्तु वास्तव में तथ्य इसके विपरीत हैं।

(3) **सूर्यकलंक चक्र सिद्धान्त** (Sunspot Circle Theory)—हंटिंग्टन तथा विशर महोदय ने सूर्य-कलंकों की संख्या में भिन्नता को ही जलवायु के परिवर्तन का आधार बताया। इसके अनुसार 11 वर्ष पर सूर्य-कलंक वृत्त आता है। सूर्य-कलंकों की संख्या एवं क्षेत्र में परिवर्तन उत्पन्न होने पर धरातलीय तापमान एवं वायुमण्डलीय वायुदाब बदल जाते हैं और सूर्य-कलंकों की वृद्धि के साथ धरातल का तापमान भी बढ़ जाता है। किन्तु आश्चर्य है कि जब सूर्य-कलंक अधिकाधिक होते हैं तो पृथ्वी-तल पर निम्नतम तापमान होता है क्योंकि वायु की तीव्रता बढ़ जाती और चक्रवात प्रचण्ड होकर वृष्टि करते हैं।

(4) **ब्रुकनर-चक्र** (Bruckner Cycle)—ब्रुकनर ने 35 वर्ष के एक चक्र को घटनाओं के परिवर्तन का चक्र माना जो सोवियत रूस तथा जर्मनी की जलवायु के आधार पर स्थापित तथ्य हैं। संसार में इस प्रकार के परिवर्तन के तथ्य उपलब्ध नहीं हैं।

(5) **क्रीचगौर तथा वेगनर का ध्रुव स्थानान्तरण का सिद्धान्त** (Variation of Poles)—इसके द्वारा क्रीचगौर तथा वेगनर ने प्रमाणित किया है कि ध्रुव का स्थान-परिवर्तन होता है जिससे जलवायु में महान् परिवर्तन होता है।

(6) **ब्रूक का समतल-परिवर्तन परिकल्पना** (Change of Level Hypothesis)—ब्रूक महोदय ने अपने अपने अध्ययन का आधार मूल तापमान रखा है, यह तापमान उसी अक्षांश पर स्थित महासागर के केन्द्र का तापमान होता है। वर्तमान तापमानों से भूतकाल की जलवायु का अनुमान लगाया जाता है जो बहुत विश्वसनीय नहीं है।

(7) **ज्वालामुखीय धूलि परिकल्पना** (Volcanic Dust Hypothesis)—अबाट तथा फोले महोदयों ने ज्वालामुखीय उद्भेदित धूलि को तापमान की मात्रा में कमी का कारण बताया है। इसका प्रमाण भी है कि गिरियुग तथा अत्यन्त नूतन नवजीव युग में ज्वालामुखियों के उद्भेदन की संख्या अधिक रही। चेम्बरलिन महोदय ने आपत्ति की है कि हिमनदकल्प (glacial period) उत्पन्न करने वाले ज्वालामुखीय उद्भेदनों के शंकु कहाँ हैं।

(8) **कार्बन डाइ-ऑक्साइड सिद्धान्त** (Carbon Di-oxide Theory)—चेम्बरलिन ने वायुमण्डल में कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को ही जलवायु-परिवर्तन तथा हिमनद-कल्पों का कारण बताया। कार्बन डाइ-ऑक्साइड की मात्रा के बढ़ने पर पृथ्वी तल का तापमान अधिक होता है और इसकी मात्रा कम होने पर तापमान घटता है।

(9) **सिम्पसन की परिकल्पना** (Simpson's Hypothesis)—जार्ज सिम्पसन ने सन् 1938 में सूर्यातप पर आधारित एक मनोरंजक परिकल्पना प्रस्तुत की। इसके अनुसार अधिक सौर्य-विकिरण के समय वायुमण्डल में अधिक परिसंचरण होगा, पृथ्वी पर अधिक वाष्प बनेगी, फलतः अधिक बादल बनेंगे। अधिक बादलों के अवरोध के कारण पृथ्वी पर सूर्यातप कम उपलब्ध होगा। ऐसे समय में हिमयुग आ जायेगा, किन्तु सौर्य-विकिरण की अधिकता से कुछ अवधि में ही हिम पिघल जायेगी। सौर्य-विकिरण के कम हो जाने पर एक लम्बी अवधि का हिमयुग प्रारम्भ हो जायेगा। इस प्रकार सौर्य-विकिरण के दो काल हिम के बार-बार आगे बढ़ने तथा पीछे हटने को सिद्ध करते हैं। अत्यन्त नूतन नवजीव युग में चार हिमकाल तथा इनके मध्य तीन हिमनदीय काल हुए हैं।

सिम्पसन महोदय की धारणा अत्यन्त नूतन नवजीव युग के लिए उचित जान पड़ती है किन्तु इसमें गिरियुग (Permian) तथा अत्यन्त नूतन नवजीव युग के लम्बे समयान्तर के कारण की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती है।

प्रश्न

1. Give an account of Middle-Latitude Desert (bwk) type climate. (*Sagar 1968*)

मध्य-अक्षांशीय मरुस्थली जलवायु का विवरण लिखिए।

2. Describe and discuss the distribution of rainfall in the West European type of climate. (*Aligarh 1965*)
पश्चिमी यूरोपीय जलवायु में वर्षा के वितरण का विवरण, तथा व्याख्या कीजिए।
3. Discuss fully the statement : 'Nights are the Winters of the Equatorial Region'. What is the effect of this fact on human life in this region ? (*Allahabad 1969; Bihar 1966*)
व्याख्या कीजिए : 'भूमध्यरेखीय प्रदेश की रात्रियाँ शीत ऋतु हैं।' इस तथ्य का उस प्रदेश के मानव-जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
4. Give the chief characteristics of the West European type of climate. In what respects does it differ from the St. Lawrence type ? (*Magadh 1961; Varnasi 1969*)
पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। यह सैंट लारेन्स तुल्य जलवायु से किन बातों में भिन्न है ?

जल-मण्डल
(HYDROSPHERE)

पृथ्वी ग्रह की उत्पत्ति के पश्चात् जल-मण्डल की रचना हुई। आदि महासागर प्रशान्त है। पृथ्वी के धरातल का 71 प्रतिशत भाग (36,10,59,200 वर्ग किलोमीटर) जलमण्डल है। इसका 5 प्रतिशत 180 मीटर से कम गहरा है, 41 प्रतिशत 3,700 मीटर से 5,500 मीटर तक गहरा है और केवल 5 प्रतिशत की गहराई इससे भी अधिक है।

स्थलमण्डल की सर्वाधिक ऊँचाई 8,848 मीटर के लगभग है किन्तु जल-मण्डल की अधिकतम गहराई 10,800 मीटर से भी अधिक है। विश्व के सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट को प्रशान्त महासागर के मेरिआना गर्त में डुबो दिया जाये तो इसके ऊपर दो किलोमीटर जल का आवरण हो जायगा।

विश्व के वैज्ञानिक आकाश एवं पाताल की शोध में सतत रत हैं जिससे संसार की विशाल जनसंख्या के जीवन-यापन के नये क्षेत्र मिल सकें। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हार्डी का कथन है कि जनसंख्या की खाद्य-समस्या का एकमात्र निदान मत्स्यकृषि है।

महासागरों में अनेक गुप्त रहस्यों के उद्घाटनार्थ संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में खोजें हो रही हैं। उत्तरी ब्रिटेनी का सेंट मालों ज्वार-शक्तिगृह तथा मारिशस का तरंग-शक्तिगृह महासागरों के अपार कोष की ओर संकेत कर हमें आवाहन कर रहे हैं। 25 राष्ट्रों के वैज्ञानिकों ने अभी हिन्द महासागर का मन्थन किया है जिससे इस जलराशि के अक्षय तथा अतुल रत्नों का पता लगा है।

34

महासागर के स्थलरूप तथा उन पर निक्षेप

[LANDFORMS AND DEPOSITS IN OCEANS]

जलमण्डल के कारण ग्रहों में पृथ्वी का अधिकतम महत्त्व है क्योंकि पृथ्वी को छोड़-कर किसी अन्य ग्रह पर समुद्र नहीं है। पृथ्वी के धरातल का 71 प्रतिशत जल-मण्डल और केवल 29 प्रतिशत थलमण्डल है। समस्त पृथ्वी के 5,076 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में 3,610 लाख वर्ग किलोमीटर पर जलमण्डल का विस्तार है। इसका 40 प्रतिशत भाग उत्तरी गोलार्द्ध और 60 प्रतिशत भाग दक्षिणी गोलार्द्ध में है। उत्तरी गोलार्द्ध का 61 प्रतिशत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध का 81 प्रतिशत धरातल महासागर है।

पृथ्वी-तल पर पाँच महासागर हैं और उनका क्षेत्रफल इस प्रकार है :

प्रशान्त महासागर	1,650 लाख वर्ग किमी
ऐटलाण्टिक महासागर	820 लाख वर्ग ,,
हिन्द महासागर	730 लाख वर्ग ,,
उत्तरी ध्रुव महासागर	140 लाख वर्ग ,,
दक्षिण महासागर	उपर्युक्त महासागरों में सम्मिलित है।

पृथ्वी के बाहर या भीतर जो जल उपलब्ध है वह आदिकालीन गैसों के संघनन से प्राप्त हुआ है। ऐसा अनुमान है कि समुद्रों में 13·7 करोड़ घन किलोमीटर जल भरा है। प्रतिवर्ष अनुमानतः 3,36,000 घन किलोमीटर जल भाप बन जाता है तथा उससे 1,00,800 घन किलोमीटर जल बरसता है। जलराशि की महानता का पता
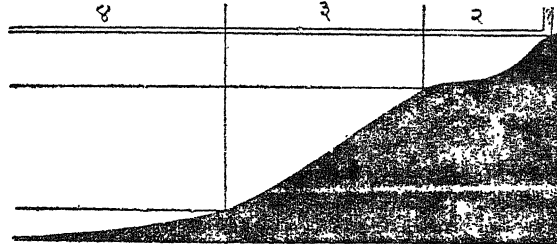
चित्र 330—महासागरीय मण्डल (गहराई)

इसी तथ्य से लग जाता है कि यदि पृथ्वी का सारा स्थल-भाग समुद्र-तल के बराबर कर दिया जाय तो सारी पृथ्वी $2\frac{1}{2}$ किलोमीटर जल से ढँक जायगी।

विभिन्न अक्षांशों में भी स्थल एवं समुद्र का अनुपात भिन्न है। उत्तरी गोलार्द्ध में 50° से 70° अक्षांशों के बीच और दक्षिणी गोलार्द्ध में 70° से 90° अक्षांशों के बीच स्थल की अधिकता है।

समुद्र के स्थलरूप का पूर्ण ज्ञान मनुष्य को नहीं है। समुद्र-तल जल से आवृत्त है और अधिक गहराई पर नितान्त अन्धकार है। सूर्य की किरणें भी 180 मीटर की गहराई से अधिक नहीं पहुँचती हैं। सन् 1920 से पूर्व समुद्रों की गहराई नापने का कोई विश्वसनीय यंत्र नहीं था। प्रथमत: रस्सी द्वारा समुद्र की गहराई का ज्ञान हुआ, किन्तु इसमें अधिक लम्बी रस्सी का प्रयोग करना पड़ता था जिससे रस्सी के बोझ के कारण समुद्र की ठीक गहराई नहीं नापी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त जल में गति होने से रस्सी तिरछी पड़ जाती थी। **लार्ड केलविन** ने एक यन्त्र बनाया
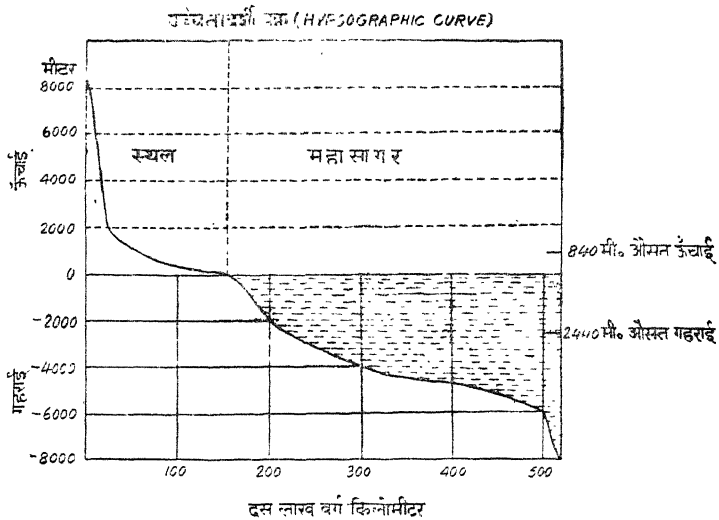
चित्र 331—ऊँचाई के आधार पर धरातल का वक्र

जिससे पानी का दबाव ज्ञात किया जाता था। इसका नाम फैदममापी (fathomometre) रखा गया। सन् 1920 के पश्चात् एक नया यंत्र निकला। इसमें जल में ध्वनि की चाल और जलयान स्थित यंत्र पर ध्वनि के वापस आने के समय के गुणनफल का आधा समुद्र की गहराई का द्योतक है जिसमें ध्वनि तरंगों (sound-waves) की गति 1,480 मीटर प्रति सेकण्ड होती है। ध्वन-तरंगों को जलफोन (hydrophone) यंत्र से पकड़ लेते हैं। इसे **ध्वानिक सर्वेक्षण** (sonic surveying) की संज्ञा प्रदान की गयी है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वायु से जल कम संपीड्य है। इसलिए जल में वायु की अपेक्षा ध्वनि की गति पाँच गुनी होती है और लवणता

के फलस्वरूप समुद्री जल में स्वच्छ जल की अपेक्षा अधिक गति होती है। साथ ही शीत जल से उष्ण जल में ध्वनि की गति अधिक होती है। दाब की क्रमशः वृद्धि के कारण अधिक गहराई पर भी ध्वनि की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार लवणता, तापमान तथा दाब इस विधि में प्रभावकारी होते हैं और इन पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

समुद्री गहराई को दाब की सहायता से भी ज्ञात किया जाता है। समुद्र-तल पर वायुदाब 10 मीटर मोटे जल स्तम्भ के बराबर होता है।

ब्रिटिश भूगोलवेत्ता सर जॉन मरे ने धरातल पर स्थल एवं जल का वितरण विभिन्न ऊँचाई एवं गहराई के अनुसार निम्न प्रकार से दिया है। इन आँकड़ों को प्रदर्शित करने वाली रेखा उच्चता दर्शी वक्र (hypsographic curve) कहलाती है।

समुद्र की गहराई (मीटर में)	क्षेत्रफल निकटतम पूर्ण संख्या में (दस लाख वर्ग किमी)	प्रतिशत (ग्लोब का)
0- 180	27	5
180- 900	18	3
900-1,810	14	2
1,810-3,620	70	15
3,620-5,430	206	41
5,430 से ऊपर	26	5
	361	71

स्थल की ऊँचाई (मीटर में)	क्षेत्रफल निकटतम पूर्ण संख्या में (दस लाख वर्ग किमी)	प्रतिशत (ग्लोब का)
0- 180	39	8
180- 900	67	13
900-1,810	26	5
1,810-3,620	12	2
3,620 से ऊपर	5	1
	149	29

नोट—वैज्ञानिक वेगनर के अनुसार पृथ्वी-तल पर 71·7 प्रतिशत जल और 28·3 प्रतिशत स्थल है। क्रुमेल के अनुसार 70·8 प्रतिशत जल तथा 29·2 प्रतिशत स्थल है। इसी प्रकार स्वेड्रप जान्सन तथा फ्लेमिंग ने समुद्रों की औसत गहराइयों का विवरण दिया है।

सागर-अधस्तल का स्वरूप

मानव ने विभिन्न नवीन यन्त्रों के आधार पर समुद्र के अध्ययन का प्रयास किया है। इनमें मरे का प्रयास प्रशंसनीय है। इन प्रयासों के आधार पर सागरतलों को रचना के विचार से चार भागों में विभक्त किया है :

(1) महाद्वीपीय मग्नतट (continental shelf);
(2) महाद्वीपीय मग्नढाल (continental slope)
(3) महासागरीय तल या द्रोणी (ocean plain or trough);
(4) महासागरीय गर्त (ocean deep)।

(1) महासागरीय मग्नतट—महाद्वीपों के सीमान्त के अति निकट के समुद्री भाग, जो 100 फैदम या 183 मीटर गहराई तक चले जाते हैं, महाद्वीपीय मग्नतट की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इनका विस्तार तटवर्ती स्थलखण्ड की बनावट पर निर्भर करता है। तटवर्ती मैदानी प्रदेश का उत्तरी महाद्वीपीय मग्नतट बहुत चौड़ा होता है, जैसे पीलासागर तथा साइबेरिया का तट। साइबेरिया के तट पर इसकी चौड़ाई 1,290 किलोमीटर है। तटवर्ती पहाड़ी प्रदेश का महाद्वीपीय मग्नतट सँकरा होता है क्योंकि वह अधिक ढालू होता है। उदाहरणार्थ, आयरलैण्ड के पहाड़ी पश्चिमी किनारे पर यह केवल 80 किलोमीटर है।

प्राय: बड़ी-बड़ी नदियों के मुहाने के निकट मग्नतट चौड़े होते हैं, जैसे ह्वांगहो के मुहाने पर पीला सागर तथा मीकांग के मुहाने पर स्याम की खाड़ी में चौड़े मग्नतट हैं। किन्तु इसके अपवाद भी हैं। मिसीसीपी के डेल्टा के निकट कोई मग्नतट नहीं है।

महाद्वीपीय मग्नतटों के मापन करने वालों में शेपर्ड प्रमुख हैं। विश्व में इन तटों का क्षेत्रफल वेगनर के अनुसार 306 लाख वर्ग किलोमीटर तथा किजिल के अनुसार 295 लाख वर्ग किलोमीटर है। यह कुल क्षेत्रफल का 8 प्रतिशत है।

उत्पत्ति के कारण—मग्नतटों की उत्पत्ति के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। यह समुद्र की सतह के नीचे स्थल का सीधा बढ़ा हुआ भाग प्रतीत होता है, जहाँ से समुद्र का जल प्रारम्भ होता है वहाँ ढाल में कोई परिवर्तन नहीं रहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार महाद्वीपीय मग्नतट के बाहरी किनारे पर ही वास्तव में महाद्वीपों का अन्त होता है क्योंकि नदी की अनेक घाटियाँ महाद्वीपीय मग्नतट से आगे तक चली गयी हैं। इस प्रकार महाद्वीपीय मग्नतट के बनने का कारण समुद्रतल का ऊँचा उठना या नीचे धँसना स्वीकार किया जाता है।

तरंगों द्वारा अपरदन-क्रिया से भी इसके निर्माण में सहायता मिलती है। इस मग्नतट की चौड़ाई वहाँ की शैलों की स्थिरता तथा तरंगों एवं धाराओं की शक्ति एवं संचयन-क्रिया पर निर्भर करती है। जब किनारों पर तरंगों की शक्ति नहीं पहुँचती है, तब अपरदन का कार्य रुक जाता है। इस प्रकार के मग्नतट आइसलैण्ड तथा नार्वे के किनारे हैं।

महाद्वीपीय मग्नतटों का निर्माण निक्षेप-क्रिया द्वारा भी होता है। नदियों, वर्षा तथा तरंगों द्वारा काट-छाँट की क्रिया होती है जिनके निक्षेप से मग्नतट बनते हैं। इन तटों से बहुत-से पदार्थ समुद्री तरंगों तथा धाराओं द्वारा सुदूर प्रवाहित हो जाते हैं जिनमें बारीक कण बहुत होते हैं। अमेजन का गँदला पानी तट से 500 किलोमीटर की दूरी तक पाया जाता है जिसके द्वारा समुद्री भीतरी स्तर पर सोपान या वेदिका निक्षेप (terraced deposit) बन जाता है। इस निक्षेप का किनारा पदार्थों के एकत्र होने की अन्तिम सीमा है। किन्तु यह सीमा निश्चित नहीं है क्योंकि इस सोपान निक्षेप के ऊपर पानी बहुत उथला हो जाता है तो पदार्थ पहले की अपेक्षा सुदूर भीतर चले जाते हैं तथा यह सोपान निक्षेप से बाहर को प्रक्षिप्त हो जाता है। इस मत के अनुसार महाद्वीय मग्नतट निक्षेप द्वारा बनते हैं। महाद्वीपीय मग्नतट इस निक्षेप की सतह होती है और महाद्वीपीय ढाल किनारा होता है।

अनेक क्षेत्रों में मग्नतटों का निर्माण डेल्टा के निक्षेपण से हुआ है। यह क्रिया डेल्टा के उत्थापन एवं अवतलन से हुई है। कांगों क्षेत्र के निकट का मग्नतट एक विच्छेदित पठार की सतह पर तलछट के जमा होने से बना है। सम्भवतः यह पठार तलछट के जमा होने से धँस गया। संयुक्त राज्य अमरीका के ऐटलांटिक समुद्रतट के चारों ओर के महाद्वीपीय मग्नतट के सम्बन्ध में भी ऐसी ही घटना का अनुमान है।

महाद्वीपीय मग्नतटों में प्राप्त होने वाली घाटियाँ नदियों की डूबी हुई घाटियाँ नहीं हैं, बल्कि नदियों द्वारा लायी गयी मिट्टी के समुद्र में जमा होने से बनी होती हैं। जब कोई तीव्र धारा वाली नदी समुद्र में प्रवेश करती है तो उसकी धारा समुद्र में दूर तक चली जाती है। इस धारा की गति मध्य में तीव्र तथा दोनों किनारों पर मन्द होती है। अतः मिट्टी दोनों किनारों पर एकत्र हो जाती है और मध्य में नहीं। इस प्रकार महाद्वीपीय मग्नतटीय घाटियाँ अस्तित्व में आती हैं। यदि किनारे पर प्रवाहित होने वाली समुद्री धाराएँ नदी की धारा से तीव्र होती हैं तो घाटियाँ नहीं बनती हैं। महाद्वीपीय मग्नतट में इस प्रकार के गर्त को अन्तः समुद्री महाखड्ड (submarine canyon) कहते हैं। न्यूयार्क के निकट हडसन नदी का मुख इसी प्रकार का है। स्पेन के निकट तथा उत्तरी अमरीका के पूरबी तथा पश्चिमी तटों के निकट इस प्रकार की घाटी विशेष रूप से मिलती है।

उत्तरी सागर तथा न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप के विस्तृत महाद्वीपीय मग्नतट के निर्माण का साधन प्राचीन काल में पाई जाने वाली यूरोप तथा अमरीका की हिमनदियाँ (glaciers) हैं जिनके आगे और पीछे खिसकने से समुद्रतल में परिवर्तन हुए और जिनकी अपरदन एवं निक्षेप की क्रियाओं द्वारा शिलाखण्डों के पड़ने से मग्नतटों की रचना हुई है।

(2) **महाद्वीपीय मग्न ढाल**—महाद्वीपीय मग्नतट के बाहर का ढाल जो महासागरीय तल की ओर तीव्र गति से उतरता है, महाद्वीपीय मग्न ढाल कहलाता है

इसका विस्तार 183 मीटर से 2,196 मीटर गहराई तक होता है। यह महाद्वीपीय मग्नतट तथा महासागरीय तल के मध्य का ढाल होता है। इसका विस्तार अपेक्षाकृत कम होता है। विभिन्न महासागरों में यह ढाल अधिक या कम होता है। आयरलैण्ड के तट के समीप यह ढाल 5° तथा स्पेन के तट के निकट 30° है। इस भाग में कटाव तथा निक्षेप नहीं होता है। पृथ्वी की प्रारम्भिक क्रिया से इसका निर्माण हुआ है। कैलिफोर्निया तट के निकट महाद्वीपीय ढाल शृंग की भाँति दिखलायी देता है जिसका ढाल 5° से 15° तक है। पीरू तट के निकट इसका ढाल 6° है। फलतः यह भूगर्भिक रचना का रूप प्रतीत होता है।

महाद्वीपीय मग्नढाल का विस्तार कुल महासागरीय क्षेत्र का 8·5 प्रतिशत है।

महाद्वीपीय मग्नढाल स्थिति के अनुसार निम्न प्रकार का होता है :

(क) **महाखड्ड ढाल** (Canyon slope)—इन पर कई अन्तः समुद्री महाखड्ड (Submarine canyon) विकसित होते हैं। गंगा नदी के मुहाने से 32 किमी दूरी पर एक ऐसा खड्ड है।

(ख) **सोपान ढाल** (Terraced slope)—यह ढाल सोपान की तरह प्रतीत होता है जैसे, दक्षिणी अमरीका में केप हेटेराज के समीप का ढाल है। एल्यूशियन ढाल में अनेक गर्त एवं घाटियाँ विकसित हैं। इनमें सोपान के साथ घाटियों का तल चौड़ा एवं चौरस होता है। पश्चिमी लुधियाना के तटीय ढाल पर बेसिन एवं पहाड़ी ढाल मिलते हैं।

समुद्री ढालों पर महाखड्डों की रचना बड़ी विकट एवं आश्चर्यप्रद होती है। इनकी उत्पत्ति के कारणों की जानकारी के प्रयत्न हो रहे हैं। इनकी विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :

(1) इनके किनारे तीव्र ढाल वाले होते हैं।

(2) इनका अग्रमुख अधिक चौड़ा होता है।

(3) इनका आधार द्विवेणी तुल्य होता है और इनकी अनेक सहायक घाटियाँ तथा खड्ड होते हैं।

महाखड्डों के विकास के निम्न कारण बताये जाते हैं :

(1) घाटी का निमज्जन,
(2) ढाल पर भ्रंशन,
(3) अन्तः सागरी पंक प्रवाह,
(4) भूस्खलन,
(5) अन्तः सागरी घनत्व धारा,
(6) भूतलीय जल एवं सोतों द्वारा अधःखनन,
(7) गँदली समुद्री धाराएँ।

(3) **महासागरीय तल या द्रोणिका**—यह एक चौड़ा तथा लगभग समतल क्षेत्र होता है जो समुद्रतल का एक विस्तृत अंग है। यह गहरा समुद्री मैदान है। इसकी गहराई 3,660 मीटर से 5,490 मीटर तक होती है। महाद्वीपीय तट से दूर स्थित होने के कारण नदियों द्वारा प्रवाहित तलछट यहाँ तक नहीं पहुँच पाती है। इसमें

ज्वालामुखी के उद्भेदनों से निकली लाल मिट्टी तथा प्रणिज अवशेष का ही निक्षेप यत्र-तत्र मिलता है। इसका धरातल ठोस शैलों का नहीं बना होता है। यह क्षेत्र बारीक कीचड़ तथा समुद्री घोंघों से ढँका हुआ होता है। सागरों के कुल क्षेत्र का 75·9 प्रतिशत महासागरीय तल है। ऐटलांटिक महासागर में यह तल सबसे कम है क्योंकि इस महासागर में महाद्वीपीय मग्नतट अधिक विस्तृत है।
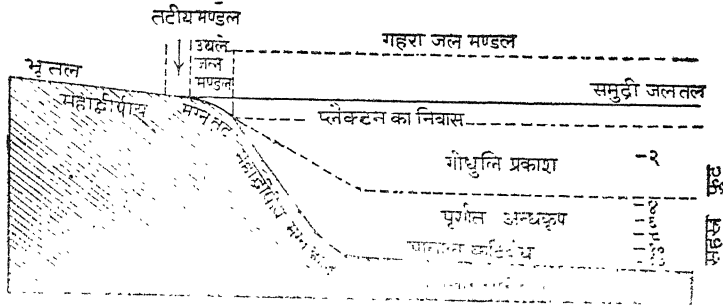
चित्र 332—समुद्री अवसादन के विभिन्न मण्डल

कुछ महासागरों में बहुत-से जलमग्न चबूतरे तथा अन्य अनियमितताएँ पाई जाती हैं। कहीं-कहीं पर्वतों की भाँति चबूतरे मिलते हैं। इनको गहरे महासागरीय कटक (deep sea ridge) कहते हैं। ऐसी श्रेणियों के ऊपरी भाग कहीं-कहीं समुद्रतल से ऊपर निकले होते हैं जो कुछ द्वीपों के निर्माण के कारण हैं। जापान द्वीप इसी प्रकार की कटक के ऊँचे उठे भाग हैं। सभी महासागरों में साधारण ऊँचाई की ऐसी कटकें मिलती हैं। इनके किनारे का ढाल बहुत तीव्र होता है। समुद्री तलों में स्थित कटकों, उभारों (rise) तथा श्रेणियों का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

(4) **महासागरीय गर्त**—ये समुद्री समतल में गहरे गड्ढे होते हैं। लम्बा, चौड़ा, साधारण ढाल वाला खड्ड **द्रोणिका** (trough) कहलाता है और लम्बा एवं सँकरा खड्ड खाई (trench) कहलाता है। इनका विस्तार बहुत सीमित होता है किन्तु इनका ढाल बहुत तीव्र होता है। ये गर्त उन तटों के समीप विशेषरूप से पाये जाते हैं, जहाँ ज्वालामुखी का उद्गार तथा भूकम्प अक्सर आते रहते हैं। ये प्रायः द्वीप-शृंखलाओं के सहारे स्थित होते हैं। कुछ सागरों के तल का 7 प्रतिशत इन गर्तों के नीचे है।

इन गर्तों में जल बहुत ठण्डा होता है और इनमें बहुत अन्धकार भी रहता है। ये एक प्रकार की सँकरी तथा लम्बी दरारें होती हैं। कुल 57 गर्तों की खोज हो चुकी है। प्रमुख गर्त निम्न प्रकार हैं :

(1) स्कायर गर्त, फिलिपाइंस में मिडनाल के निकट 10,800 मीटर गहरी।

(2) राम पो गर्त, जापान के निकट 10,561 मीटर गहरी।

(3) नीरो गर्त, गुआम के निकट 9,642 मीटर गहरी ।
.(4) मिलवाकी गर्त, हिस्पानी ओला के निकट 9,225 मीटर गहरी ।
(5) तस्करोरा गर्त, जापान के निकट 8,366 मीटर गहरी ।
(6) स्नार्टन गर्त, जावा के निकट 7,005 मीटर गहरी ।
(7) बाटलेट गर्त, क्यूबा के निकट 6,950 मीटर गहरी ।

निक्षेप कार्य

महासागरों में अनेक साधनों से निक्षेप होता है । कुछ सामग्री सागरों से प्राप्त होती है, जिसमें समुद्री जानवरों तथा पौधों के अवशेष होते हैं । कुछ सामग्री स्थल से प्राप्त होती है जो नदियों, वायु तरंगों एवं ज्वालामुखी द्वारा समुद्र में लायी जाती है । इस प्रकार महासागरीय निक्षेप को दो भागों में विभक्त किया जाता है जो निक्षेप से स्रोतों पर आधारित है :

(1) गभीर सागरीय या पेलैजिक निक्षेप (pelagic deposits) ;
(2) स्थलजात निक्षेप (terrigenous deposits) ।

महाद्वीपीय मग्नतट एवं ढाल पर प्राय: स्थलजात निक्षेप प्राप्त होते हैं और महासागरीय तल एवं गर्त में गभीर सागरीय निक्षेप । किन्तु स्थलजात निक्षेप में मूँगे की भित्ति (coral reef) तथा अगाध समुद्री निक्षेप में ज्वालामुखी के निक्षेप मिलते हैं ।

· समुद्रतल के निक्षेपों के परीक्षण के ढंग को समुद्रतल सूई (bottom sampler) कहते हैं । इसकी खोज सन् 1934 में पिगट नामक अंग्रेज विद्वान् ने की थी ।

मग्नतट एवं मग्नढाल के निक्षेप

समुद्र के इन दो भागों में नदियों द्वारा लायी गयी एवं समुद्र द्वारा कटी-फटी वस्तुएँ समुद्रतल पर रहने वाले जानवरों एवं पौधों के अवशेष तथा ज्वालामुखीय वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं । ये वस्तुएँ अपने आकार के अनुरूप निक्षेपित होती हैं । प्रथमत: बड़े भारी टुकड़े, तदनन्तर अपेक्षाकृत छोटे-छोटे टुकड़े और सबसे बाद में पंक या मुलायम महीन वस्तुएँ समुद्रतल पर बैठ जाती हैं । स्थलजात निक्षेपों का वर्गीकरण उनके रंग, ढाँचे तथा रचना के अनुसार होता है । नीला पंक अधिक विस्तृत है । यह सामान्यतया ऐटलांटिक महासागर के चारों ओर पाया जाता है । लाल पंक भी पीला सागर तथा ब्राजील तट के सुदूर मिलता है । हरा पंक जापान एवं आस्ट्रेलिया के तट पर मिलता है ।

नीला पंक में लोहे के सल्फाइड तथा जीव तत्त्व का अंश अधिक रहता है । इसमें चूने का अंश 35 प्रतिशत रहता है । लाल पंक में लोहे का ऑक्साइड अधिक रहता है । इसमें चूने का अंश 30 प्रतिशत होता है, किन्तु सिलिका बिल्कुल नहीं होता है । हरा पंक में पोटाश तथा लोहे का अंश अधिक होता है । चूने का अंश 45 प्रतिशत के लगभग होता है ।

बहुत-से समुद्रतटीय भागों में जानवर तथा पौधे रहते तथा बढ़ते हैं जैसे इंगलैण्ड

के किनारे आयस्टर तथा मिसेल मिलते हैं। गरम समुद्रों में मूंगे के कीड़े पलते हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह में विशेषतया बहामा टापू के पास इस प्रकार के कवच (shell) मूँगे से निर्मित हैं। इन्हीं वस्तुओं से निर्मित बालू एवं पंक कैरिबियन समुद्र तथा मैक्सिको की खाड़ी में भी मिलते हैं।

महाद्वीपीय मग्नतट पर निम्न पदार्थों का निक्षेप होता है :

(1) रेत, (2) पंक, (3) बजरी, (4) ज्वालामुखीय पदार्थ, और (5) सागरीय पदार्थ।

(1) रेत की कई प्रकारें होती हैं जिनमें स्थलजात रेत (terringenous sand) अबरक, फेल्सपार तथा क्वार्ट्ज से पूर्ण होती है। कार्बनिक रेत (organic sand) शेल, प्रवाल आदि के चूर्णों से युक्त होती है। रासायनिक रेत (chemical sand) कई पदार्थों से विकसित होती हैं। इनके कण बजरी से महीन होते हैं। इनका व्यास 1/8 मिमी से 2 मिमी तक होता है।

(2) पंक के भी कई भेद हैं। 1/256 मिलीमीटर से कम व्यास के कणों वाली पंक मृत्तिका (clay), $\frac{1}{256}$ से $\frac{1}{16}$ मिलीमीटर व्यास वाले कणों की पंक गाद (silt) और 1/16 मिलीमीटर से कम व्यास वाले कणों की पंक ल्युटाइट (lutite) कहलाती है।

(3) बजरी भी कणों के अनुसार कई प्रकार की होती है। 4 मिलीमीटर तक व्यास की बजरी कणिका (granule), 4 से 64 मिलीमीटर व्यास की बजरी गुटिका (pebbles), 64 से 256 मिलीमीटर व्यास की बजरी गोलाश्मिका (cobbles) और इससे बड़े आकार की बजरी गोलाश्म (boulders) कहलाती है।

(4) ज्वालामुख से निःसृत पदार्थ बम्ब, झावां (pumice) आदि हैं।

(5) सागरीय पदार्थ घोंघे, स्पंज, काई आदि हैं।

महाद्वीपीय मग्नतट पर विकसित प्रमुख आकृतियाँ पुलिन (beach), पुलिन उभयाग्र (beach cusp), तरंग-चिह्न (nipple mark), लघु गुम्बद (small domes) आदि हैं।

महाद्वीपीय मग्नढाल की प्रमुख आकृतियाँ कल्पित घाटी (mock valleys), अवनालिकाएँ (gullies) तथा अन्तः समुद्री महाखड्ड हैं।

महासागरीय तल एवं गर्त के निक्षेप

महासागरीय तल एवं गर्त में ज्वालामुखीय वस्तुओं को छोड़कर सभी सागरीय निक्षेप रहते हैं जिनमें उन जानवरों एवं पौधों के अवशेष रहते हैं जो समुद्रतल पर तैरते हैं। गहरे समुद्रों के तल पर कम तापमान के कारण रहने वाले जानवर एवं पौधों की संख्या इतनी अल्प होती है कि निक्षेप में उनका योगदान नगण्य होता है।

सभी समुद्री निक्षेपों को सिन्धु-पंक (ooze) की संज्ञा प्रदान की जाती है। यह

पंक विभिन्न जीवों के ढाँचों से बना होता है। अतः उन जीवों के नाम पर, जिनकी पंक विशेष में बहुलता होती है, पंक का नाम दिया जाता है।

टेरोपाड पंक—इस सिन्धु-पंक में टेरोपाड नामक तैरने वाले जीवों का आधिक्य होता है। इनके ढाँचे पतले एवं शंखाकार होते हैं और लम्बाई 12 या 6 मिलीमीटर होती है। यह पंक चूना-प्रधान (90%) होता है। यह 1,464 मीटर से 1,830 मीटर की गहराई तक अधिक मिलता है, किन्तु 3,300 मीटर की गहराई तक भी पाया जा सकता है। यह उन समुद्रों में मिलता है जिनकी सतह का पानी गरम तथा
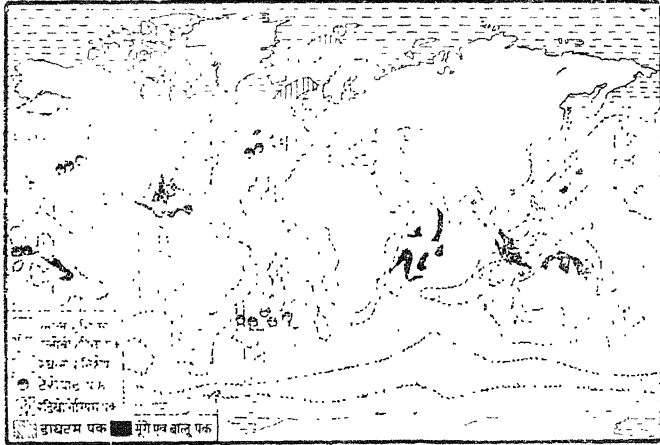
चित्र 333—महासागरीय निक्षेपों का वितरण

वार्षिक ताप-परिसर कम होता है। मध्य ऐटलाण्टिक महासागर में इसकी अच्छी उपलब्धि है। यह पंक भूमध्यसागर तथा पश्चिमी एवं मध्य प्रशान्त महासागर में भी यत्र-तत्र मिलता है। संसार के सभी महासागरों में इसका क्षेत्र केवल 1 प्रतिशत है।

ग्लोबिजेरिना पंक—ग्लोबिजेरना जीव का आकार पिन की नोंक के सदृश अति सूक्ष्म होता है। यह भी चूना-प्रधान होता है। इसमें चूने की मात्रा 64 से 97 प्रतिशत होती है। यह 2,750 मीटर से 3,600 मीटर की गहराई तक मिलता है, यद्यपि कहीं-कहीं अन्ध महासागर में 9,000 मीटर की गहराई तक भी मिलता है। यह ऐटलाण्टिक, हिन्द तथा दक्षिण प्रशान्त महासागरों में मिलता है किन्तु सबसे अधिक ऐटलाण्टिक महासागर में पाया जाता है। इसका विस्तार 40° उत्तरी अक्षांश से 60° दक्षिणी अक्षांश के मध्य है। इसका उत्तर में अधिक विस्तार होने का कारण उष्ण महासागरीय धाराएँ हैं। प्रशान्त महासागर के पूरबी भाग में यह प्रचुर मात्रा में मिलता है। अगाध सागरों में यह नहीं मिलता है। कुल महासागरीय तल के 35 प्रतिशत पर यह पंक मिलता है, जिसका विस्तार 13·2 करोड़ वर्ग किलोमीटर है।

डायटम पंक—यह पंक सैकता-प्रधान होता है और 1.000 मीटर से 3,660 मीटर तक की गहराई में मिलता है, किन्तु 7,300 मीटर तक इसका विस्तार सम्भव होता है। इसका विस्तार ठण्डे समुद्रों में होता है। प्रशान्त महासागर में उत्तरी सीमा की एक पेटी में अलास्का से जापान तक और दक्षिणी महासागर में ऐन्टार्कटिक महाद्वीप के स्थल-जात निक्षेप के पश्चात् यह मिलता है। इन दोनों क्षेत्रों में समुद्र के ऊपर उठने से डायटम के लिए अधिक मात्रा में खाद्य-पदार्थ प्राप्त होता है। कैलिफोर्निया की खाड़ी भी एक क्षेत्र है जहाँ जल स्वयं लाल दिखायी देता है और इसीलिए खाड़ी को लाल सिन्दूर सागर (ermillion Sea) कहते हैं। इसके 25 प्रतिशत तक खनिज तत्व प्लावी हिमशैल के पिघलने से प्राप्त होता है। इसमें चूने की मात्रा 24 प्रतिशत तक होती है। इसका विस्तार 1 प्रतिशत क्षेत्र पर है।

रेडियोलेरियन—यह भी सैकता-प्रधान पंक है। यह जीव-जन्तुओं से बनता है और 3,660 मीटर से अधिक गहरे समुद्रों में पाया जाता है। कहीं-कहीं 9.000 मीटर की गहराई तक भी फैला रहता है। यह पंक उष्ण कटिबन्धीय सागरों में मिलता है। प्रशान्त महासागर में इसका विशेष विस्तार है। प्रशान्त महासागर में 5° से 15° उत्तरी अक्षांशों के बीच स्थित एक पेटी में उत्तरी भूमध्यरेखीय जलधारा के सहारे यह फैला हुआ है। हिन्द महासागर के पूरबी भाग में भी यह अल्प क्षेत्र में मिलता है, किन्तु ऐटलाण्टिक महासागर में इसका पता नहीं है। यह महासागरीय तल के 1 से 2 प्रतिशत भाग पर मिलता है।

लाल मिट्टी

यह दो हजार फैदम की गहराई के बाद समुद्रों की तली में फैली पायी जाती है। यह ज्वालामुखीय वस्तुओं का सड़ा रूप होती है। इसमें समुद्री जीवों के कम घिसने वाले अवशेष प्राप्त होते हैं जैसे ह्वेल के कान की हड्डियाँ तथा शार्क के तन। इसमें मैंगनीज के टुकड़े तथा अन्य अनोखी धूलि एवं खनिज पदार्थ मिलते हैं।

लाल मिट्टी अकार्बनिक निक्षेप है। यह प्रशान्त, हिन्द तथा ऐटलाण्टिक महासागरों में उपलब्ध होती है। यह ऐटलाण्टिक महासागर में 40° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों के मध्य पायी जाती है। यह हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागरों के पूरबी भागों में विशेष मात्रा में मिलती है। उत्तरी प्रशान्त महासागर का मुख्य निक्षेप लाल मिट्टी है। यह महासागरीय तल के 24 प्रतिशत भाग पर विकसित है।

कुछ विद्वानों ने स्थिति के आधार पर सागरीय निक्षेपों को निम्न भागों में विभक्त किया है :

(1) **वेलांचली निक्षेप** (Littoral deposit)—दीर्घ तथा लघु ज्वारों के मध्यवर्ती समुद्री निक्षेप इस कोटि में आते हैं।

(2) **उथले सागरों का निक्षेप** (Shallow water deposit)—यह निक्षेप महाद्वीपीय मग्नतटों तथा ढालों पर ऊँचे ज्वार एवं 183 मीटर के बीच की गहराई पर होता है।

(3) **गभीर सागरीय निक्षेप** (Deep sea deposit)—यह निक्षेप बहुत गहरे महासागरीय तल तथा गर्तों में होता है।

प्रथम तथा द्वितीय प्रकार के निक्षेप महासागरीय मग्नतट तथा ढालों पर होते हैं। इसलिए इन्हें मग्नतट तथा मग्नढाल के निक्षेप (deposit of shelf and slope) कहते हैं। इसमें स्थलजात निक्षेप होता है। बड़े रोड़े, कंकड़, बट्टड़ राशि, बालू पंक मग्नतटों पर रह जाते हैं, किन्तु बारीक कण तथा बजरी-बालू ढालों पर जाकर जमा होते हैं। इनसे मग्नतटों का विस्तार बढ़ता जाता है और मग्नतट उथले हो जाते हैं।

महाद्वीपीय मग्नतटों एवं ढालों का निक्षेप गभीर प्रदेश (bathal zone) का निक्षेप और सागरीय तल एवं गर्त का निक्षेप वितलीय प्रदेश (abyssal zone) का निक्षेप कहलाता है।

होम्स नामक विद्वान ने वर्तमान समुद्री निक्षेप को अनेक भागों में विभक्त किया है।

निक्षेप के मण्डल	पदार्थों के प्रकार			
	स्थलीय निक्षेप	रासायनिक एवं जीव रसायन	कार्बनिक निक्षेप	
			अगभीर प्रदेश (neritic zone)	सागरीय
तटवर्ती प्रदेश	बट्टड़ राशि या शिंगिल (shingle) कंकड़ (gravel)	अंडकाश्म बालू (oolite sand) चूनेदार बालू (calcareous sand)	खोल कंकड़ (shell gravels) खोल एवं बालू (shell & sand)	
गाध प्रदेश	बालू (sand) पंक (mud)	चिपकाने वाला पदार्थ 10 प्रतिशत	प्रवाल भित्ति (coral reef) प्रवाल कण (coral sands)	
अगाध जल-प्रदेश	(1) गभीर कटिबन्ध के विभिन्न रंग के पंक (2) ज्वालामुखी के पंक (3) परिप्लावीजीवो के अवशेष	चिपकाने वाला	मूँगे के पंक	अगाध जल कटिबन्ध के पंक, टेरोपाड, डायटम, रेडियोरिनयन, लाल पंक 34 प्रतिशत

सागरों की उपयोगिता

जलराशि मानव-जीवन के लिए बहुत ही उपयोगी है। इससे वायुमण्डल के तापमान पर नियन्त्रण रहता है। जलराशि तो सूर्यताप का अनुपम भण्डार है जिसके द्वारा ताप की अधिकता का संचय और उसकी कमी की पूर्ति सर्वदा हुआ करती है। ऐसा न होता तो ग्रीष्मकाल में भूमध्यरेखीय खण्डों में जीवन असम्भव हो जाता और जाड़ों में ध्रुव प्रदेशों में ताप की बड़ी कमी हो जाती।

जलवाष्प, फलतः वर्षा का मुख्य साधन जलराशि ही है। इसमें अनेक प्रकार की मछलियाँ उपलब्ध होती हैं जिनसे विभिन्न कार्य सम्पादित होते हैं। इनसे भोजन, तेल, रासायनिक खाद आदि प्राप्त होते हैं। इससे बहुमूल्य खनिज भी मिलते हैं। इसके जल से नमक, मैग्नेशिया तथा रत्न पाये जाते हैं।

महासागर यातायात के प्राकृतिक, सुगम एवं सस्ते साधन हैं। इनके ज्वार तथा धाराओं से जलवायु प्रभावित होती है और बन्दरगाह जमने नहीं पाते। इससे शक्ति-संचार के अनुसन्धान चल रहे हैं।

प्रश्न

1. Give an account of the different landforms in an ocean and the work of deposition on it. How are the oceans useful to man? (*Agra 1967*)

   महासागर के विभिन्न स्थलरूपों और उन पर निक्षेप कार्यों का वृत्तान्त लिखिए। सागरों की क्या उपयोगिता है?

2. How do you account for the origin of continental shelf and slope? Give examples. (*Ranchi 1968*; *Jaipur 1968*)

   महाद्वीपीय मग्नतट तथा ढाल निर्माण के कारण लिखिए और उदाहरण भी दीजिए।

3. Where from are the ocean deposits desired? How are they carried to the ocean floor and how are they distributed? (*Gorakhpur 1970*; *Allahabad 1971*)

   समुद्री निक्षेप कहाँ से प्राप्त होते हैं? वे समुद्रतल तक कैसे जाते हैं और उनका वितरण कैसे होता है?

35

महासागर-अधः तलों का स्थलरूप

[LANDFORMS IN THE OCEAN BOTTOMS]

महासागर-तलों की खोज-बीन अनेक प्रगतिशील देशों द्वारा जारी है किन्तु अभी तक इनकी पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। द्वितीय यूरोपीय युद्ध में पन-डुब्बियों के निर्माण के फलस्वरूप महासागर-तलों की विशेष जानकारी सम्भव हो सकी है। हमें ऐटलाण्टिक महासागर की भू-रचना का सर्वाधिक ज्ञान प्राप्त है।

ऐटलाण्टिक महासागर का अधस्तल

ऐटलाण्टिक महासागर का अधस्तल बहुत कटा-पिटा है। यह दक्षिण की ओर चौड़ा होकर ऐन्टार्कटिक महासागर में मिल गया है। भूमध्यरेखा पर यह महासागर सँकरा है। यह उत्तर की ओर चौड़ा होकर पुनः संकुचित हो जाता है और आर्कटिक महासागर से मिल जाता है। वेविल नामक कंटक ऐटलाण्टिक महासागर तथा उत्तरी महासागर के मध्य की सीमा है।

इस महासागर के उत्तरी भाग में दोनों किनारों पर चौड़े मग्नतट हैं। कुछ भागों में इनकी बाह्य सीमा 100 फैदम पर पड़ती है। संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, न्यूफाउन्डलैण्ड, आइसलैण्ड तथा ग्रीनलैण्ड के मग्नतट चौड़े हैं। यूरोप तथा अफ्रीका के तट पर बिस्के की खाड़ी से लेकर उत्तमाशा अन्तरीप तक और

चित्र 334—ऐटलाण्टिक महासागर का अधस्तल

दक्षिणी अमरीका के तट पर अधिक सँकरा मग्नतट है। एक तिरछी कटक (ridge) ब्रिटिश द्वीपसमूह को फेरो तथा आइसलैण्ड होते हुए ग्रीनलैण्ड से मिलाती है जो

500 फैदम से कम गहरी है। दक्षिणी ऐटलाण्टिक महासागर में पैटेगोनिया के पूरब से यह मग्नतट चौड़ा हो गया है और उत्तमाशा अन्तरीप के चारों ओर पर्याप्त चौड़ा है।

महासागरीय तल की गहराई एक समान नहीं है। ये पूरब तथा पश्चिम से मध्य की ओर ऊँचे होते गये हैं जिससे महासागर दो लम्बी घाटियों में विभक्त हो गया है। किन्तु भूमध्यरेखा के निकट यह क्रम **रोमांची गर्त** से भंग हो जाता है। मध्यवर्तीय कटक का तल 2,000 फैदम से भी कम गहरा है और इस पर एजोर्स नामक द्वीप स्थित है। इस महासागर के मध्य की कटक उत्तर में **डाल्फिन उभार** (Dalphin Rise) और दक्षिण में **चैलेंजर उभार** के नाम से पुकारी जाती है। अन्ध महासागर के इस कटक का ढाल दोनों ओर बहुत साधारण है, किन्तु रोमांची गर्त के पास ढाल अत्यधिक है जो 7,375 मीटर गहराई तक जाती है।

इस महासागर में दो तिरछी कटकें भी हैं जिनमें एक **वेलिफस** के नाम से प्रसिद्ध है। यह कटक ट्रिस्टा-डी-कुन्हा द्वीप से अर्थात् 37° उत्तरी अक्षांश से प्रारम्भ होकर 20° दक्षिणी अक्षांश तक विस्तृत है। दूसरी उभार का नाम **रायोग्राण्डी कटक** है जो अन्धमहासागरीय उभार से पश्चिम की ओर 30° दक्षिणी अक्षांश से 35° दक्षिणी अक्षांश के मध्य विस्तृत है। ये दोनों तिरछी कटकें पूरब तथा पश्चिम के गहरे पानी की गर्त पर गहरा प्रभाव डालती हैं।

ऐटलाण्टिक महासागर के दोनों किनारों पर अनेक छोटे-छोटे सागर फैले हुए हैं। इसके उत्तरी भाग में पश्चिम की ओर हडसन तथा बेफिन की खाड़ी उत्तरी अमरीका के स्थल भाग में दूर तक चली गयी हैं। इसके पूरबी भाग में उत्तरी सागर तथा बाल्टिक सागर यूरोप महाद्वीप के स्थल भाग में दूर तक चले गये हैं। ये सभी सागर मुख्य महासागर की अपेक्षा अधिक उथले हैं और द्वीपों द्वारा महासागरों से अलग हो गये हैं। ये उत्थापित समुद्र (epeiric sea) कहलाते हैं और महाद्वीपीय मग्नतट पर स्थित हैं।

भूमध्यरेखा के निकट भूमध्य सागर एशिया के निकट तक गया है। पश्चिम में मेक्सिको की खाड़ी तथा कैरिबियन सागर विख्यात हैं। ये सभी गहरे हैं। इनकी गहराई 1,800 मीटर से 3,600 मीटर या इससे भी अधिक है। ये अधि-महाद्वीपीय समुद्र (epicontinental sea) कहलाते हैं। अन्ध महासागर की औसत गहराई लगभग 3 किलोमीटर है और इसकी सबसे अधिक गहराई 8,385 मीटर पोर्टोरिको द्वीप के उत्तर में काला गर्त (Black Deep) में है।

ऐटलाण्टिक महासागर में अनेक स्पष्ट द्रोणियाँ मिलती हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(1) पश्चिमी द्वीपसमूह की द्रोणी (West Indies basin)।

(2) गुयाना की द्रोणी (Guyana basin)।

(3) अर्जेन्टाइन द्रोणी (Argentine basin)।

(4) वर्ड अन्तरीप द्रोणी (Cape Verde basin)।
(5) अंगोला द्रोणी (Angola basin)।
(6) ब्राजील द्रोणी (Brazil basin)।

इस प्रकार ऐटलाण्टिक महासागर के दोनों किनारों पर विशाल द्रोणियों के तीन जोड़े स्थित हैं। दक्षिणी महासागर के अन्तर्गत भी अगुल्हास द्रोणी और ऐटलाण्टिक इण्डियन-ऐन्टार्कटिक द्रोणी मिलती हैं। दक्षिणी भाग में सैंडविच गर्त 8,318 मीटर गहरा है। उत्तरी भाग में भी आइबेरियन तथा लेब्रेडोर द्रोणियाँ हैं।

प्रशान्त महासागर का अधस्तल

यह सबसे प्राचीन, बड़ा एवं गहरा महासागर है। इसकी तटरेखा अन्य महासागर की अपेक्षा अधिक सीधी तथा लगातार है। यह त्रिभुजाकार है, जिसका आधार दक्षिण की ओर ऐटलाण्टिक महासागर से मिला हुआ है और शीर्ष बेहरिंग जलडमरूमध्य पर लगभग बन्द है। इसकी सबसे अधिक चौड़ाई भूमध्यरेखा पर है।

इस महासागर के किनारे पर ऐसे सागरों की संख्या कम है जो महासागर से अलग हैं। जो कतिपय सागर हैं वे पश्चिमी किनारे पर स्थित हैं। इनमें ओखोटस्क सागर, जापान सागर तथा पीला सागर उत्तर की ओर हैं और ये उथले हैं तथा प्रशान्त महासागर से कम सम्बन्धित हैं। यह विशेषता अन्य महासागरों के सागरों में नहीं है।
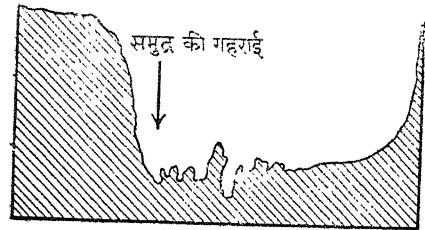
चित्र 335—प्रशान्त महासागर का अधस्तल

दक्षिण में चीन सागर, सेलेबेसी सागर तथा मलाया सागर हैं जिनकी गहराई समुद्र की गहराई के बराबर है। एशिया तथा इन द्वीपों के मध्य एक धँसा भाग है जो 200 मीटर गहरे जल से ढँका हुआ है। यहाँ समुद्रतट की बनावट असाधारण है। द्वीपों के मध्य सागर अधिक गहरे हैं। यहाँ ज्वालामुखी पर्वत भी अधिक मिलते हैं। मूँगे के टापुओं की भी अधिकता है। पूरबी तट लगभग सीधा है।

इस महासागर की औसत गहराई 4 किलोमीटर है। इसकी सबसे अधिक गहराई 10,800 मीटर फिलिपाइन गर्त में है। एशिया के तट पर महाद्वीपीय मग्नतट या तो हैं ही नहीं या बहुत सँकरे हैं। इसका किनारा अनवरत गति से महासागरीय तल तक ढालू होता चला गया है। इसी कारण इसका महाद्वीपीय ढाल प्रपाती है।

इसमें ऐटलाण्टिक महासागर की तरह कोई भी क्रमबद्ध उभार नहीं है, बल्कि महासागरीय तल का धरातल पठार के रूप में उठता गया है जिस पर सभी द्वीप स्थित हैं। नवीन अनुसन्धान से यह ज्ञात हुआ है कि मध्य अमरीका से दक्षिण-

पश्चिम की ओर न्यूजीलैण्ड होते हुए ऐटलाण्टिक महासागर तक का एक विस्तृत पठार की आकृति का क्षेत्र फैला हुआ है। इसको पूरबी प्रशान्त कटक कहते हैं। यह 1,000 मीटर की गहराई तक लगातार है और यह इस महासागर के मुख्य क्षेत्रों को दक्षिणी अमरीका की तटीय घाटी तथा ऐन्टार्कटिक महासागर से अलग करती है। पश्चिमी प्रशान्त महासागर में छोटी-छोटी कटकें मिलती हैं जिनका विस्तार जापान से अन्ध महासागर तक है।

उत्तरी प्रशान्त महासागर में एक **कैरोलियन उभार** है जिस पर कैरोलिना द्वीपसमूह स्थित है। आस्ट्रेलिया के पूरब में भी एक उभार है जो आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूरब से ऐन्टार्कटिक तक चला गया है। इस महासागर में बहुत से ज्वालामुखी उभार हैं जिन पर द्वीप स्थित हैं। प्रवाल द्वीपों में कई उभार उपलब्ध होते हैं।

लगभग सभी महासागरीय गर्त सँकरे और लम्बे गड्ढे के आकार में किनारे पर स्थित हैं। इनमें जापान के निकट **तुस्करोरा गर्त** उल्लेखनीय है। दक्षिणी अमरीका के तट पर भी इसी प्रकार का एक गर्त है जिसको **अटाकामा गर्त** कहते हैं। यह किसी न किसी महासागरीय पठार के किनारे पर है।

प्रशान्त महासागर की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें महाद्वीपीय मग्नतटों का विस्तार बहुत कम हुआ है। इसको विभाजित करने वाली अबाध श्रेणियाँ नहीं हैं तथा इसमें अनेक विशाल गर्त हैं।

प्रशान्त महासागर की मुख्य द्रोणियाँ निम्न हैं :

(1) फिलीपाइन द्रोणी,
(2) उत्तरी प्रशान्त द्रोणी,
(3) मेरियाना द्रोणी,
(4) गाटेमाला द्रोणी,
(5) न्यू हैब्रडीज द्रोणी,
(6) फिजी द्रोणी,
(7) पूरबी आस्ट्रेलिया द्रोणी।

हिन्द महासागर का अधस्तल

प्रशान्त तथा ऐटलाण्टिक महासागर की अपेक्षा हिन्द महासागर कम गहरा है। इसका मध्य भाग छिछला तथा किनारे पर गहरे सागर हैं। महाद्वीपीय मग्नतट सँकरा है किन्तु पूरबी द्वीपसमूह में चौड़ा है। इसके मध्य में पठारों के उभार हैं जिनकी गहराई 1,000 फैदम से कम है, जिस पर लाक द्वीप, मालदिव तथा सुलावेसी द्वीपसमूह स्थित हैं। इस महासागर का विस्तार भारत से लेकर दक्षिणी महासागर तक है।

लकदीव तथा मालदीव की कटकें समुद्र-जल के ऊपर तक नहीं आई हैं। इनके ऊपर प्रवाल-भित्तियों की रचना के फलस्वरूप द्वीपों का निर्माण हो गया है। इस भाग में वलयाकार प्रवाल भित्ति के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह के दक्षिण में **कारपेन्टर कटक** (Carpenter's ridge) है।

भारत और अफ्रीका के मध्य में **कार्ल्सबर्ग** (Carlsberg) की कटक दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूरब की ओर ऊँची उठी हुई है। यह कटक दोहरी दृष्टिगत होती

है। इसके बीच में सोकोना द्वीप तथा गार्डाफुई अन्तरीप के निकट एक गर्त है जो 3,350 मीटर तक गहरी है।

कार्ल्सबर्ग कटक का सम्बन्ध **मध्यवर्ती भारतीय कटक** (mid-Indian ridge) के साथ भी है। भारतीय कटक दक्षिण में एक विस्तृत निमग्न पठार में परिवर्तित हो जाती है। इस पठार के एक ओर न्यू एमस्टरडम तथा सेंट पाल द्वीप और दूसरी ओर **करगुलेन गालबर्ग** कटक है। कार्ल्सबर्ग कटक से उत्तर-पश्चिम की ओर मरे कटक है जिसकी खोज जॉन मरे ने की थी।

25 देशों के वैज्ञानिक अभियान दल ने पता लगाया है कि हिन्द महासागर में दक्षिणी-पूरबी एशिया के समीप करोड़ों मीटरी टन ताँबा, कोबाल्ट, जस्ता, निकल पड़ा है। मलेशिया, हिन्देशिया तथा थाइलैण्ड के समीप टिन है। अण्डमान तथा ब्रह्मा के समीप कैल्सियम युक्त पत्थर हैं। साथ ही अनेक वनस्पतियाँ हैं जो औषधि के रूप में प्रयोग की जा सकती हैं।

अण्डमान-निकोबार पर्वत-श्रेणी के समानान्तर समुद्र में 5,760 किलोमीटर लम्बी और 610 मीटर चौड़ी एक पर्वत-श्रेणी है। एक पर्वत-श्रेणी अफ्रीका के तट पर है। अरब सागर में वृत्त के चाप जैसी एक पर्वत-श्रेणी मिली है जो अफ्रीका तथा भारत के समुद्र-तटों से लगभग बराबर दूरी पर है। अण्डमान के पास पहाड़ों से घिरी 9 किलोमीटर लम्बी तथा 40 किलोमीटर चौड़ी एक भू-अभिनति का भी पता चला है।

प्रश्न

1. Describe the peculiarities of landforms in the Atlantic and the Pacific oceans. (*Agra 1969*; *Varanasi 1966*)
   अन्ध तथा प्रशान्त महासागर के अधस्तलीय स्थलरूप की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. With the help of the hypso-graphic curve describe the relief of the ocean floor. (*Sagar 1969*)
   उच्चतादर्शक वक्र-रेखा की सहायता से महासागर-तल की स्थलाकृति का विवरण लिखिए।
3. Describe the form of the bed and deposits of the Pacific or the Atlantic ocean.
   (*Gorakhpur 1971*; *Meerut 1971*; *Bhagalpur 1969*)
   प्रशान्त या ऐटलाण्टिक महासागर-तल के आकार तथा निक्षेपों का विवरण लिखिए।
4. Make a study of the forms of the ocean basins, giving examples. (*Gorakhpur 1971*)
   महासागरीय श्रेणियों की आकृतियों का अध्ययन सोदाहरण दीजिए।

36

महासागरों का ऊष्मा-बजट

[HEAT BUDGET OF THE OCEANS]

पृथ्वी पर ऊष्मा के वार्षिक बजट पर विकिरण-क्रिया का बहुत अधिक महत्त्व होता है। परन्तु वायुमण्डल का ताप अधिक उलझनपूर्ण है क्योंकि इस पर विकिरण, जलवाष्प का द्रवीकरण तथा जल एवं थल के ताप के आदान-प्रदान की क्रिया का गहरा प्रभाव पड़ता है। सागरों के वार्षिक ऊष्मा पर विकिरण, वायुमण्डल के बोधगम्य आतपन के आदान-प्रदान और धरातल की वाष्पीकरण क्रियाओं का अधिक प्रभाव पड़ता है। किन्तु इसमें सागरीय तल द्वारा भूगर्भ का संवहनीय ऊष्मा (convection heat through the ocean bottom from the interior of the earth), गतिक ऊर्जा का ऊष्मा के रूप में परिवर्तन (transformation of kinetic energy into heat) और रासायनिक-क्रियाजन्य ऊष्मा (heating due to chemical process) भी सम्मिलित हैं।

जलराशि को ऊष्मा-प्राप्ति के साधन

निम्नलिखित साधनों से जलराशि को सूर्यातप उपलब्ध होता है :

(1) सूर्य एवं आकाश से विकिरण ऊष्मा के अवशोषण से (Absorption of radiation from the sun and the sky)।

(2) भूगर्भ से सागरीय तल द्वारा ऊष्मा के संवहन से (Convection of heat through the ocean bottom from the interior of the earth)।

(3) गतिक ऊर्जा के ऊष्मा के रूप में परिवर्तित होने से (Transformation of kinetic energy into heat)।

(4) रासायनिक क्रिया से उत्पन्न ऊष्मा से (Heating due to chemical process)।

(5) वायुमण्डल से बोधगम्य ऊष्मा के संवहन से (Convection of sensible heat from the atmosphere)।

(6) जलवाष्प के द्रवण द्वारा प्राप्त गुप्त ऊष्मा से (Latent heat from condensation of water-vapour)।

महासागरों के जल के ठण्डा होने के साधन

(1) समुद्र-तल से पश्च विकिरण (Back radiation from the sea-surface)।

(2) वायुमण्डल में बोधगम्य ताप के संवहन से (Convection of sensible heat to the atmosphere)।

(3) वाष्पीकरण से (Evaporation)।

समस्त समुद्रों के ऊपर 70° उत्तर तथा दक्षिण अक्षांश के मध्य सूर्य तथा आकाश से प्राप्त औसत विकिरण-ऊष्मा लगभग 0·22 gr. cal./cm^2/min. होता है। सागरीय तल से ऊष्मा की बाहर निकली हुई मात्रा 50 और 80 gr. cal./cm^2/year होती है।

कुछ ऐसी गहरी घाटियों के स्थिर जल में, जहाँ संवहन ऊष्मा ऊपर अथवा बगल से बहुत थोड़ी होती है वहाँ तल के द्वारा प्राप्त आतपन की मात्रा ऊष्मा के वितरण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। समुद्र की सतह पर वायु के प्रभाव से गतिक तथा ज्वार ऊर्जा (tidal energy) रगड़ के कारण ऊष्मा में परिवर्तित हो जाती है। गतिक शक्ति का $\frac{1}{10000}$ भाग सागरीय सतह को प्राप्त होता है। उथले तटीय जल में जहाँ शक्तिशाली ज्वार-धारा होती है वहाँ ज्वार-शक्ति अधिक होती है तथा उस भाग की ऊष्मा के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है।

यह अनुमान लगाया गया है कि सागरों में 0·8 प्रतिशत प्रवेशी विकिरण (incoming radiation) जलीय पौधों द्वारा संश्लेषण (photo-synthesis) में प्रयोग किया जाता है। समुद्री धाराओं द्वारा अथवा मिश्रण क्रिया के द्वारा ऊष्मा प्राप्त हो सकती है तथा ऊष्मा कम भी हो जाती है। यह ऊष्मा सागरीय जल की ऊष्मा को बदलने में प्रयोग की जाती है।

विकिरण ऊष्मा का सागरों द्वारा अवशोषण

विकिरण ऊष्मा, जो सागरीय धरातल में अन्दर प्रवेश कर जाता है, सागरीय जल द्वारा सोख लिया जाता है। एक निश्चित जल की तह में सोखी गयी ऊष्मा की मात्रा ताप-वैद्युत-पुंज (Thermopile) द्वारा नापने से ज्ञात हो सकती है। इसके द्वारा विभिन्न गहराई तक प्राप्त शक्ति का पता लग सकता है। इस सम्बन्ध में **वरसेली** (Verselli) नामक विद्वान ने भूमध्यसागरीय जल की ऊर्जा का मापन (measurement of energy) किया है और विभिन्न सागरों के जलों से तुलना करके यह निश्चित किया है कि विकिरण का शोषण ऊपरी तह में एक मीटर तक प्राय: अधिक होता है क्योंकि इस भाग में अधिक झाग (foam) तथा वायु के बुलबुले उपस्थित रहते हैं। यह धरातलीय हानि कहलाती है।

समुद्री सतह से परावर्तित विकिरण

समुद्र की सतह से लम्बी तरंगों में ऊष्मा विकिरण होती है। यह बाहर निकलने वाली विकिरण शक्ति सतह के सम्पूर्ण ऊष्मा की चौथाई शक्ति की होती है। इसी समय समुद्री सतह वायुमण्डलीय जलवाष्प से लम्बी तरंगों द्वारा विकिरण से ऊष्मा प्राप्त करती है जिसका कुछ अंश सतह से परावर्तित हो जाता है। आकाश के मेघाच्छादित रहने पर सतह से विकिरण द्वारा ऊष्मा नहीं लौटती है और वायुमण्डल से प्राप्त होने वाली विकिरण ऊष्मा बढ़ जाती है। ध्रुवों की ओर अधिक परावर्तन (reflection) होता है।

समुद्री विकिरण का वार्षिक बजट

सूर्य एवं आकाश से विकिरण द्वारा छोटी तरंगों में समुद्रों को प्राप्त होने वाली वार्षिक आतपन सभी अक्षांशों में बाहर निकलने वाली विकिरण ऊष्मा से अधिक होती है। **मासली** नामक ब्रिटिश भौतिक शास्त्र के विद्वान् ने इसका विभिन्न अक्षांशों पर अनुमान लगाया है। इनके अनुसार 0° तथा 20° उत्तरी अक्षांशों के मध्य विकिरण से प्राप्त अतिरिक्त ऊष्मा (surplus heat) का वार्षिक औसत लगभग 0·17 gr. cal./cm^2/min. होता है और 60° तथा 70° उत्तरी अक्षांशों के मध्य अधिक ऊष्मा लगभग 0·04 gr. cal./cm^2/min. रहता है। इस प्रकार विकिरण द्वारा प्राप्त अधिक ऊष्मा तथा समुद्री सतह से वायुमण्डल में ऊष्मा तथा जलवाष्प का आदान-प्रदान (exchange of heat and water-vapour) भी ऊष्मा की विकिरण क्रिया की भाँति सागरों की उष्णता तथा खारीपन को ठीक रखने के लिए समान महत्त्व की क्रियाएँ हैं।

ऊष्मा-वितरण

इस सभी कार्य-कलापों के फलस्वरूप महासागरों के ध्रुव के निकटवर्ती क्षेत्र में तापमान 16° सेंग्रे तथा भूमध्यरेखीय भागों में 26·6° सेंग्रे से 29·5° सेंग्रे तक रहता है। अधस्तल के पानी का तापमान 7° सेंग्रे से कम ही रहता है। ऊपरी सतह की ऊष्मा अधिक होती है और भीतरी सतह की कम। किन्तु संचार के कारण जल की उष्णता थल की तरह इतनी अधिक नहीं होती।

समुद्र में सबसे अधिक ताप 35·5° सेंग्रे फारस की खाड़ी में नापा गया है क्योंकि यह भूखण्डों के बीच स्थित है। समुद्र में 1,098 मीटर तक तापमान वेग से कम होता है। किन्तु बाद में 3,660 मीटर तक धीरे-धीरे नीचे के शीतल जल का तापमान 1·6° सेंग्रे रहता है और कभी भी 0° सेंग्रे से कम नहीं जाता है। लवणयुक्त होने से समुद्र का जल —2° सेंग्रे पर जमता है, किन्तु समुद्र के निचले भागों में इतना कम तापमान नहीं होता। अत: ऊपरी भाग जम जाता है और निचला भाग मुक्त रहता है और उनमें संचालन बना रहता है क्योंकि जम जाने पर बर्फ पानी से हल्की हो जाती है, इसलिए उतराती है। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी जानवर नष्ट हो जाते और धाराएँ नहीं चलतीं।

सागरों में काफी गहराई तक जल का तापमान ऊँचा रहता है।

गहराई (मीटर में)	हिन्द महासागर का तापमान (सेंग्रे में)	लाल सागर का तापमान (सेंग्रे में)
0	26·6°	26·6°
183	21°	21°
366	15·5°	21°
549	10°	11°

भूमध्य सागर में 500 फैदम गहराई तक तापमान में तीव्र परिवर्तन होता है।

विकिरण सम्बन्धी सागरों की विशेषता मनुष्यों के लिए हितकर होती है। समुद्री सतह द्वारा आने वाली विकिरण ऊष्मा का बहुत कम अंश परावर्तित होता है और अधिक अंश सोख लिया जाता है तथा मिश्रण क्रिया द्वारा अधिक गहराई तक ऊष्मा वितरित की जाती है। हवाएँ जब समुद्री सतह से ठण्डी होती हैं तो ऊष्मा वायुमण्डल में भेज दी जाती है। इस प्रकार सागरों का कार्य जलवायु पर ऊष्मीय स्थिरता (thermo-static) के रूप में दिखायी पड़ता है। जब सतह का तापमान और कम हो जाता है तो सतह पर बर्फ जम जाती है।

समुद्री सतह पर वाष्पन

समुद्री सतह पर वाष्पन की विशेषताओं के सम्बन्ध में निम्न विचार उल्लेखनीय हैं :

(1) यदि वायु की अपेक्षा जल गरम है तो जल का दबाव समुद्री सतह पर वायु के दबाव से अधिक पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों में सदैव वाष्पन होता है और वाष्पन में बहुत अधिक सहायता इसलिए होती है कि जल की सबसे निचली तह में जल का स्तर अस्थिर रहने से वायु का विक्षोभ पूर्ण रूप से विकसित होता है। अतः अधिकतम वाष्पन तब होता है जब कोष्ण जल के ऊपर से ठण्डी वायु बहती है और बहुत अधिक ठण्डी वायु रहने पर जल-तल पर कुहरा तथा धुंध बन जाते हैं।

(2) जब समुद्री सतह वायु की अपेक्षा ठण्डी रहती है तब भी केवल वायु के जल के संतृप्त न होने पर वाष्पन होता है। यदि गर्म तथा नम वायु अपेक्षाकृत ठण्डी समुद्री सतह पर से होकर गुजरती है तो जलवाष्प के चलने की दिशा उल्टी हो जाती है और सागरीय सतह पर द्रवण होने लगता है। इस प्रकार ऊष्मा सतह पर लायी जाती है और इससे दूर नहीं ले जायी जाती। इसलिए यह क्रिया केवल उसी दशा में होती है तब वायु समुद्र की अपेक्षा गरम रहती है। उक्त परिस्थिति में समुद्री सतह पर अभिवहन कुहरा (advective mist) उत्पन्न हो जाता है।

(3) वायु की गति भी वाष्पन को प्रभावित करती है। मध्यवर्ती एवं उच्च अक्षांशों में जाड़े की ऋतु में समुद्री सतह प्रायः वायु की अपेक्षा गरम रहती है। अतः इस समय वाष्पन ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा अधिक रहता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर समुद्री सतह से अत्यधिक मात्रा में वाष्पन स्वयं सिद्ध है। समुद्री सतह से वार्षिक औसत वाष्पन की मात्रा भी निश्चित की गयी है। इस सम्बन्ध में वेस्ट का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने समुद्री सतह से वार्षिक वाष्पन की औसत मात्रा 93 सेमी प्रति वर्ष मानी है।

वाष्पन तथा वर्षा

वुस्ट के अनुसार समुद्री सतह से वाष्पन की कुल मात्रा 3,34,000 घन किलोमीटर प्रतिवर्ष है जिसमें 2,97,000 घन किलोमीटर प्रति वर्ष वर्षा के रूप में समुद्र में वापस चला जाता और शेष 37,000 घन किलोमीटर प्रति वर्ष स्थली वाह (run off) द्वारा समुद्र में पहुँचता है क्योंकि स्थल पर वर्षा की कुल मात्रा 99,000 घन किलोमीटर है जिसका एक-तिहाई से कुछ अधिक 37,000 घन किलोमीटर समुद्री सतह से वाष्पन द्वारा प्राप्त होता है और 62,000 घन किलोमीटर अन्तर अपवाह या नम भूमि से वाष्पीकरण द्वारा प्राप्त होता है।

विभिन्न अक्षांशों में वाष्पन की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। यही नहीं, दिन में भी भिन्न-भिन्न समयों में वाष्पन की मात्रा बदलती रहती है। वर्षा पर इसका भी प्रभाव पड़ता है।

जल वैज्ञानिक चक्र
(The Hydrologic Cycle)

धरातल पर जल ठोस, द्रव तथा गैस तीनों रूपों में पाया जाता है। ठोस रूप में यह वायुमण्डल में हिम (snow) और मेघ में हिम कण (ice crystal) के रूप में उपस्थित रहता है। धरातल पर जल हिम क्षेत्र तथा महाद्वीपीय एवं ऐल्पीय हिम नदी के रूप में प्रकट होता है। जल में हिम प्लावी हिम के रूप में मिलता है।

हिम पृथ्वी, समुद्र तथा वायु से प्रभावित होता है और इनको प्रभावित करता है। पृथ्वी के आकार को यह परिवर्तित करता है। ऊर्ध्वपातन (sublimation) द्वारा यह वायुमण्डल और हिमी भूत द्वारा जल-मण्डल से निकलता है और पिघल तथा वाष्पित होकर पुनः जल बन जाता है। यह वायु तथा समुद्र को ठंडा करता है और इनके द्वारा तापित होता है।

जल के वाष्पन तथा पौधों के वाष्पोत्सर्जन (transpiration) द्वारा जल-वाष्प वायुमण्डल में प्रवेश करती है। जल-वाष्प ओस, पाला या घनकण के रूप में द्रवित हो जाती है तो यह वायुमण्डल को छोड़ती है और हिम या वर्षा के रूप में धरातल पर गिरती है। इन रूपान्तरों से शुद्ध जल में रासायनिक परिवर्तन नहीं होता है। केवल अणु-संसजन (cohesion) तथा जल के घनत्व में परिवर्तन आता है। जल-अणु में दो हाइड्रोजन अणु तथा एक ऑक्सीजन अणु सहसंयोजक बंध (covalent bond) द्वारा संगठित रहते हैं। ये जल-अणु आपस में हाइड्रोजन बंध (hydrogen bond) द्वारा मिलते हैं।

वाष्पन द्वारा जल का रूप जल-वाष्प में बदल जाता है। इसके लिए वाष्पन-ऊष्मा (heat of vaporization) की आवश्यकता पड़ती है और यह ऊष्मा जल-वाष्प में प्रसुप्त रहती है जिसको गुप्त द्रवण ऊष्मा (latent heat of condensation) कहते हैं। जल-वाष्प के द्रवण पर गुप्त द्रवण-ऊष्मा जल से बाहर निकलती है जिससे वायु गर्म हो जाती है। इस प्रकार वाष्पन से ऊष्मा दूर लाई जाती है और द्रवण उसको पुनः वापस कर देता है।

जल-वाष्प से हिम में रूपान्तरण ऊर्ध्वपातन (sublimation) कहलाता है। जब जल-वाष्प से पाला बनता है तो ऊर्ध्वपातन की गुप्त ऊष्मा निकलती है और वायु को गर्म कर देती है।

चित्र 336—जल वैज्ञानिक चक्र

हिम पिघल कर द्रव जल बनती है। इसमें जो ऊष्मा की मात्रा व्यय होती है उसको गलन ऊष्मा (heat of fusion) कहते हैं। जब यह द्रव अवस्था में प्रस्तुत रहती है तो यह गुप्त गलन ऊष्मा कहलाती है। जब द्रव जल जमता है तो यह ऊष्मा बाहर निकलती है। इस प्रकार महासागर, वायुमण्डलों तथा पृथ्वी के जल का विभिन्न भौगोलिक स्थिति एवं भौतिक अवस्थाओं में निरन्तर रूपान्तरण जल वैज्ञानिक चक्र (hydrologic cycle) कहलाता है। इस प्रकार जल-अणु अनेक परिपथों (circuits) से गुजरता है जिसमें वाष्प की, द्रव एवं ठोस अवस्थायें प्राप्त होती हैं।
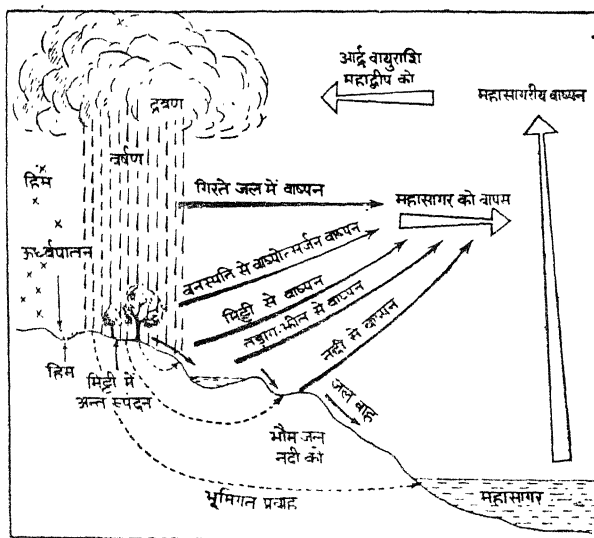
इस चक्र में जल का रूपान्तरण वाष्प में होता है। यह क्रिया प्रायः जल-खण्ड में होती है। वाष्प का परिवहन वायु द्वारा लम्बी दूर तक होता है। उठती वायु में द्रवण होता है जिससे तरल जल तथा हिम कण वाले मेघ बनते हैं। बाद में जल-

वृष्टि या हिम-वृष्टि होती है। इस वृष्टि से प्लावी हिम पुंज (snow packs) तथा हिम नदी को भोजन मिलता है। वृष्टि का जल भी विभिन्न माध्यमों से समुद्र तक जाता है। कुछ जल वायुमण्डल में ही वाष्प में बदल जाता है और कुछ भूमि में विलीन हो जाता है। मृत्तिका जल (soil water) से भी वाष्पन होता है जो जल बहकर नदी, झीलों में पहुँच जाता है उनमें से वाष्पन होता है। शेष जल पुनः समुद्र को चला जाता है। इस प्रकार जल वैज्ञानिक चक्र पूरा हो जाता है।

पृथ्वी पर औसत वार्षिक वर्षा 75 सेमी है और यही वाष्पन की वार्षिक औसत भी है। इस प्रकार संसार का वार्षिक वाष्पन एवं वृष्टि लगभग समान होती है यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों के वाष्पन एवं वृष्टि में अन्तर होता है। महासागरों में समुद्री धाराओं द्वारा जल संतुलन रहता है।

हिम नदी में पड़े जल का जल वैज्ञानिक चक्र में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिम नदी की रचना से समुद्री तल नीचे गिर जाता है और हिम के पिघलने से समुद्री तल ऊपर उठ जाता है। इस समय महाद्वीपों की 10 प्रतिशत तथा पृथ्वी की 3 प्रतिशत सतह हिमाच्छादित है। यदि सभी हिम पिघल जाय तो 57 मीटर मोटी जल सतह बन जायेगी किन्तु समुद्री तल केवल 34 मीटर ऊपर उठेगा क्योंकि पृथ्वी के अन्तराल में समस्थितिक संमजन होगा। हिम काल में समुद्री जल तल लगभग 30 मीटर नीचे था।

प्रश्न

1. Discuss the Heat Budget of the oceans. (*Indore 1969*)
महासागरों के ऊष्मा-बजट का वर्णन लिखिए।

37

महासागरों में ऊष्मा का वितरण

[DISTRIBUTION OF HEAT IN THE OCEANS]

महासागरों के जल का तापमान भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा तापमान अधिक होता है। इसका कारण दक्षिणी गोलार्द्ध में विस्तृत जलमण्डल है, जिसमें दक्षिणी महासागर तथा अन्ध महासागर हैं जो ध्रुवीय एवं शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में फैले हुए हैं। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में परिस्थिति इसके विपरीत है। इस गोलार्द्ध में ऐटलाण्टिक तथा प्रशान्त महासागर संकरे जलडमरूमध्यों द्वारा उत्तरी महासागर से मिले हुए हैं जिसके कारण जल का पारस्परिक आदान-प्रदान सीमित है।

ऊष्माओं में विभिन्नताओं के कारण

महासागरों की सतह पर तापमान के वितरण में वार्षिक भिन्नताएँ मिलती हैं। इसका कारण समुद्री जलधाराएँ तथा प्रचलित वायु हैं। वायु तथा जलधाराओं में भिन्नता के कारण ऐटलाण्टिक तथा प्रशान्त महासागरों में वार्षिक तापान्तर बहुत अधिक होता है, क्योंकि शीत ऋतु में महाद्वीपीय भागों में शीतल वायु चलती हैं। जिन सागरों में गरम वायु चलती हैं वहाँ के समुद्री जल में अधिक सूर्यातप सोखने की शक्ति पैदा कर देती हैं। वे समुद्री भाग जिनमें हवा एवं जलधाराओं का विशेष प्रभाव नहीं होता, निश्चित मात्रा में ही ऊष्मा ग्रहण कर सकते हैं।

दोनों गोलार्द्धों के महासागरीय भागों में ऊष्मा का वितरण ऋतुओं के अनुसार होता है। शीत ऋतु में समुद्र-जल स्थल की अपेक्षा अधिक ऊष्मायुक्त होता है और ग्रीष्म ऋतु में इसके विपरीत दशा होती है। दोनों गोलार्द्धों में स्थित महासागरों की सतह पर तापमान में भिन्नता का कारण पृथ्वी का घूर्णन भी है किन्तु जल और थल के असमान वितरण का भी कम प्रभाव तापमान की भिन्नता पर नहीं पड़ता है।

ऊष्मा-वितरण

महासागरों की ऊपरी सतह का तापमान साधारणतया भूमध्यरेखा पर 26·6° सेंग्रे, 45° अक्षांश पर 15·5° सेंग्रे और ध्रुवों के निकट 1·6° सेंग्रे रहता है। ग्रीष्म

ऋतु में सबसे अधिक तापमान फारस की खाड़ी में 34·4° सेंग्र रहता है क्योंकि यह खाड़ी चारों ओर से स्थल भाग से घिरी हुई है। किन्तु शीत ऋतु में तापमान कम होता है। काला सागर तथा कैस्पियन सागर के जल के तापमान पर भी समीपवर्ती स्थलखण्ड का प्रभाव पड़ता है।

भूमध्यरेखा से 40° अक्षांश तक के समुद्र-जल का तापमान वायु की अपेक्षा कम होता है किन्तु 40° अक्षांश से ध्रुवों तक का समुद्र-जल वायु से अधिक उष्ण होता है। भूमध्यसागर के जल का तापमान 18° सेंग्रे रहता है, किन्तु शीत ऋतु में समुद्र-जल की अपेक्षा सभी स्थानों पर अधिक उष्ण होता है।

लाल सागर में वायुमण्डल के निकट गहराई 366 मीटर है। अतः तापमान 29·5° सेंग्रे से गिरकर 21° सेंग्रे ही रहता है, किन्तु हिन्द महासागर में यह तापमान घटता रहता है।

भूमध्यरेखा पर समुद्र की सतह का तापमान 26·6° सेंग्रे है किन्तु 1,098 मीटर नीचे जाने पर तापमान 4·5° सेंग्रे रह जाता है। यह तापमान 3,660 मीटर के

चित्र 337—महासागरों तथा समुद्रों का तापमान

नीचे 1·6° सेंग्रे से कम नहीं होता है। इसी से गहरे समुद्रों में सदैव शीत का राज्य रहता है। इस अवस्था में खारे पानी का घनत्व सबसे अधिक होता है। 1·1° सेंग्रे कम या अधिक तापमान हो जाने पर पानी का घनत्व कम होने लगता है जिससे बर्फ पानी पर तैरने लगती है।

स्थानीय कारणों से भी समुद्री सतह पर तापमान में भिन्नताएँ पायी जाती हैं। वायु की गति तथा मेघावरण का तापमान के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। प्रतिचक्रवात तथा तीव्र गति से बहने वाली हवाएँ तापमान को सम बना देती हैं।

तापमान एवं लवणता का घनत्व पर प्रभाव

तापमान एवं लवणता समुद्री जल के घनत्व को नियन्त्रित करते हैं। तापमान में वृद्धि, वर्षा, वर्षा के अन्य रूप, नदियों का जल तथा हिमजल से महासागरीय जल का घनत्व कम हो जाता है। यदि ऊपरी सतह के जल का घनत्व भीतरी जल के घनत्व से अधिक होता है तो ऊपर से नीचे को धाराएँ चलने लगती हैं तथा इसके विलोम की गति होती है। यदि इन धाराओं के मार्ग में अधिक घनत्व का जल मिल जाता है तो ऊपर का जल तल तक न पहुँचकर बीच में ही फैल जाता है।

कर्क तथा मकर रेखाओं के मध्यवर्ती भागों में अधिक खारीपन के समुद्री सतह के जल का घनत्व कम और तापमान अधिक रहता है क्योंकि संवहनीय धाराओं का प्रवेश अधिक गहराई तक नहीं हो पाता है। इसका प्रभाव केवल उपरी सतह तक ही सीमित रहता है। ऊँचे अक्षांशों में तापमान कम होता है, इससे जल का घनत्व भी कम होता है।

अधिक वर्षा होने पर अधिक गहराई तक धाराएँ नहीं चलती हैं। इस प्रकार देखा जाता है कि समुद्रों में अधिक गहराई तक पहुँचने वाला जल केवल दो विधियों से बनता है :

(1) ऊँचे घनत्व के उस जल से जो धाराओं द्वारा ध्रुवीय प्रदेशों में जाकर ठण्डा हो जाता है और नीचे बैठ जाता है।

(2) बहुत अधिक खारीपन वाले जल के जमने से।

गलफस्ट्रीम धारा प्रथम प्रकार के जल के मिश्रण एवं जल-तल डूबने का उदाहरण प्रस्तुत करती है। दूसरे प्रकार की क्रिया का उदाहरण ऐन्टार्कटिक महासागर के समीप मिलता है जहाँ वर्षा कम होती है और अधिक घनत्व का जल शीतकाल में जमकर महाद्वीपीय ढाल के सहारे सागरीय तल तक डूब जाता है। डूबते समय यह जल अधिक घनत्व तथा तापमान के जल से मिश्रित हो जाता है और उसका तापमान हिमांक से अधिक हो जाता है। इन्हीं क्रियाओं से महासागरों की गहराई का जल बनता है। इसी से गहराई का जल ठण्डा रहता है।

वायु का प्रभाव

जब हवाएँ थल से जल की ओर चलती हैं तो वे समुद्री सतह के गरम जल को बहा ले जाती हैं और जो नीचे का ठण्डा पानी ऊपर उबलता है उससे समुद्र की सतह का तापमान कम हो जाता है। जिधर गरम पानी की तह पहुँचती है, उधर का तापमान बढ़ जाता है।
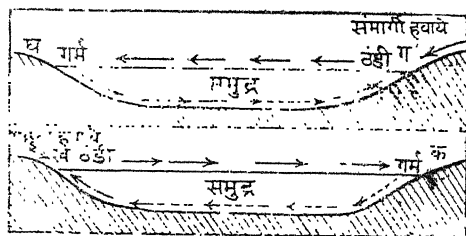
चित्र 338—30° उत्तरी तथा 50° उत्तरी अक्षांशों पर महासागर के तापमान पर वायु का प्रभाव

जब ओल की ओर से थल की ओर वायु चलती है तो उन तटों पर समुद्र-जल अपेक्षाकृत उष्ण हो जाता है। संमार्गी हवाओं की पेटी में समुद्र की सतह का गरम जल पूरब से पश्चिम को बहता है। अतः महाद्वीपों के पूरबी तटों का जल पश्चिमी तटों के जल की अपेक्षा अधिक गरम रहता है। पछुआ हवा की पेटी में इसके विपरीत दशा होती है। इसमें पश्चिमी तट का जल अधिक गरम होता है क्योंकि पश्चिमी तट के निकट गरम जल संचित होता है जिससे समुद्रतल का तापमान अधिक रहता है।

विभिन्न अक्षांशों पर समुद्री सतह के जल का औसत तापमान (सेन्टीग्रेड में)
(स्वड्रूप के अनुसार)

अक्षांश	उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर	दक्षिणी ऐटलाण्टिक महासागर	उत्तरी प्रशान्त महासागर	दक्षिणी प्रशान्त महासागर
0° से 10°	26·6°	25·12°	27·20°	26·01°
20° से 30°	24·16°	21·20°	13·38°	21·53°
40° से 50°	13·16°	4·68°	9·99°	11·16°
60° से 70°	5·60°	—1·30°	—	—1·30°

गहराई में भी महासागरों के तापमान में भिन्नता होती है। इसके निम्नांकित कारण माने जाते हैं:

(1) समुद्रों द्वारा ग्रहीत आतपन की मात्रा।
(2) जल का ऊपर से नीचे एक साथ गरम होना।
(3) समुद्री सतह के जल का सागरीय धाराओं के रूप में परिवर्तित होना।
(4) जल का नीचे से ऊपर तथा ऊपर से नीचे लम्बवत् गतिमान होना।

गहराई के अनुसार समुद्रीजल का तापमान (भूमध्यवर्ती क्षेत्र)

गहराई (मीटर में)	तापमान (सेन्टीग्रेड में)
183	16°
549	7°
1,098	4°
1,647	2·7°
2,196	2·1°
2,745	1·8°
4,012	1·2°

समुद्र की गहाई के साथ जल का तापमान घटता है। जिस स्तर पर तापमान में सर्वाधिक परिवर्तन होता है उसको तापीय नति (thermocline) कहते हैं। यह

38

महासागरों में लवणता

[SALINITY IN THE OCEANS]

सागरीय जल की रचना लगभग एक समान है। केवल आकाशीय दशा, वायु-संचालन तथा सागरीय धाराओं के प्रभाव के कारण महासागर के विभिन्न भागों में तनिक अन्तर पड़ जाता है। सन् 1884 में **डिट्टमार** महोदय ने चैलेंजर खोज द्वारा समुद्री जल की रचना का विश्लेषण किया जो वर्तमान अनुसन्धानों से मिलता-जुलता है। सागरीय जल में लवणता की प्रधानता है जिसका गम्भीर प्रभाव समुद्र की गतियों पर पड़ता है।

लवणता की परिभाषा

साधारणतया **लवणता उस अनुपात को कहते हैं जो घुले हुए पदार्थों के तौल तथा सागरीय जल के तौल में होता है। यह अनुपात प्रति हजारवें भाग में व्यक्त किया जाता है।**

परन्तु सन् 1902 में अन्तर्राष्ट्रीय आयोग ने सागरीय लवणता के लिए एक परिभाषा तैयार की जिसके अनुसार **सागरीय जल की लवणता एक किलोमीटर समुद्री जल में पाये जाने वाले ठोस पदार्थों का योग ग्राम में होता है जबकि सम्पूर्ण कार्बोनेट ऑक्साइड में बदल जाते हैं और ब्रोमाइन तथा आयोडीन के स्थान पर क्लोराइन हो जाता है एवं सभी आर्गनिक पदार्थ ऑक्साइड हो जाते हैं।**

खारीपन तथा क्लोरिनपन का अनुपात निम्न प्रकार से होता है :

$$\text{खारीपन} = 0{\cdot}03 + 1{\cdot}805 \times \text{क्लोरिनपन}$$

नमूना जल (sample water) **की लवणता ज्ञात करने के लिए उसका घनत्व ज्ञात तापमान पर निश्चित किया जाता है।**

लवणता के साधन

डिट्टमार के मतानुसार समुद्री जल की लवणता के मूल कारण उसमें मिश्रित विभिन्न नमक हैं। रासायनिक खोजों के आधार पर यह निश्चित हुआ है कि सागरीय

जल में सोडियम क्लोराइड बहुत अधिक (27·213 प्रति हजार) घुलनशील अवस्था में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त मैगनीशियम क्लोराइड 3·807 प्रति हजार, कैल्सियम सल्फेट 1·658 प्रति हजार, मैग्नीशियम सल्फेट 1·26 प्रति हजार, पोटैशियम सल्फेट 0·863 प्रति हजार, कैल्सियम कार्बोनेट 0·123 प्रति हजार तथा मैग्नीशियम ब्रोमाइन 0·076 प्रति हजार सागरीय जल में घुले हुए रहते हैं। समुद्र के जल में संवहनीय गति है जिससे जल एक समान बना रहता है और घुले हुए तत्वों के सापेक्षिक अनुपात में स्थिरता बनी रहती है।

समुद्री जल में नदियों द्वारा नमक पहुँचाया जाता है। समुद्र के जल में सोडियम क्लोराइड (sodium chloride) होता है तथा नदियों के जल में चूने का कार्बोनेट (carbonate of lime) होता है जो समुद्री जानवर प्रयोग करते हैं तथा जिससे घोंघे ढाँचे बनाते हैं। इस प्रकार यह देखा जाता है कि सागरीय जल में नमक केवल नदियों द्वारा अथवा स्वयं समुद्रों द्वारा नहीं प्राप्त होता बल्कि दोनों स्रोतों के द्वारा उपलब्ध है। लाखों वर्ष के क्रम में महासागरों में नमक की मात्रा बहुत बढ़ गई है।

प्रति घन किलोमीटर समुद्र में 4½ करोड़ मीटरी टन नमक है। सागरों में लवणता साधारणतौर से 33 प्रति हजार और 37 प्रति हजार के बीच होती है। अधिक वर्षा वाले समुद्री भागों में तथा नदियों के मुहानों के निकट समुद्री भागों की सतह की लवणता बहुत कम होती है। कुछ अर्द्ध-बन्द क्षेत्र जैसे बोथीनियाँ की खाड़ी का खारापन 5 प्रति हजार से भी कम होता है। मध्यवर्ती अक्षांशों में घिरे समुद्रों की लवणता 14 प्रति हजार तक हो जाती है जहाँ वाष्पन बहुत अधिक होता है। समस्त सागरों की औसत लवणता लगभग 35 प्रति हजार मानी गयी है। सबसे कम लवणता भूमध्यरेखा के निकटवर्ती समुद्रों में होती है क्योंकि वहाँ वर्षा अधिक होती है तथा बादलों का बाहुल्य रहता है। विभिन्न सागरों में लवणता की भिन्नता के चार कारण बतलाये जाते हैं :

(1) स्वच्छ जल की पूर्ति,
(2) वाष्पीकरण की मात्रा,
(3) सागरीय मिश्रण-क्रिया द्वारा किये गये परिवर्तन,
(4) हवाएँ।

सागरों में लवणता का प्रदर्शन सम-लवण-रेखाओं (iso-halines) के द्वारा किया जाता है जो समान लवणता के जलीय भागों को मिलाती हैं। लवणता के वितरण के सम्बन्ध में सबसे सामान्य तथ्य यह है कि लवण-योगों का विस्तार पूरब-पश्चिम होने की प्रवृत्ति मिलती है।

सागरीय लवणता का वितरण

सागरीय सतह के दो क्षेत्रों में, जो कर्क और मकर रेखाओं पर स्थित हैं, सबसे अधिक लवणता की मात्रा होती है। इन क्षेत्रों से भूमध्यरेखा तथा ध्रुवों की ओर खारीपन कम होता जाता है। इन क्षेत्रों में अधिक खारीपन का कारण वर्षा की

बहुत कमी, स्वच्छाकाश, नदियों का अधिक अभाव, कड़ी धूप, उष्ण कटिबन्धीय प्रतिचक्रवात तथा संमार्गी हवाएँ हैं जिससे यहाँ वाष्पीकरण क्रिया बहुत तीव्र गति से होती है और सागरीय जल खारा हो जाता है। यह लवणता भूमध्यरेखा तथा ध्रुवों की ओर कम हो जाती है।

विवृत सागर—भूमध्यरेखा के निकटवर्ती सागरीय सतह पर वर्षपर्यन्त अधिक संवहनीय वर्षा तथा अधिक बादलों के कारण वाष्पीकरण की कमी जल को स्वच्छ रखती है और खारीपन बहुत कम पाया जाता है। आमेजन, कांगो तथा नाइजर आदि विशाल नदियों के मुहानों पर नदियों द्वारा अपरिमित स्वच्छ जल के उड़ेलने से खारापन बहुत कम पाया जाता है। एक ही तापमान का स्वच्छ जल नमकीन जल की अपेक्षा हल्का होता है। अतः नदियों द्वारा लाया गया जल मिश्रण के पूर्व कुछ समय तक समुद्री जल के ऊपर तैरता रहता है।
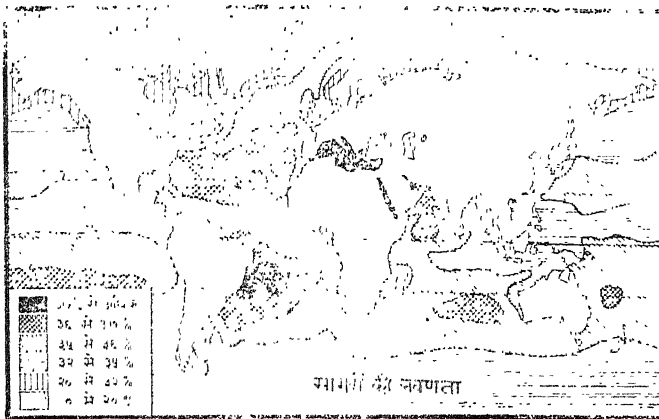
चित्र 340—सागरों की लवणता

ध्रुवों की ओर के क्षेत्रों में जल बहुत स्वच्छ रहता है क्योंकि वह जल बर्फ के पिघलने से प्राप्त होता है। वाष्पीकरण भी कम होता है। अतः सागरीय सतह पर जल का खारापन बहुत कम होता है।

सागरीय जल में खारेपन की विभिन्नता ही जलप्रवाह का कारण बनती है। ठण्डा तथा कम खारा जल महाद्वीपों के पूरबी किनारे के सहारे तब तक बहता रहता है जब तक वह उष्ण कटिबन्धीय गरम तथा हल्के जल के नीचे नहीं बैठ जाता है।

अर्द्ध-विवृत सागर—भूमध्य सागर एवं बाल्टिक सागर जैसे समुद्र, जो सँकरे जलडमरूमध्य द्वारा महासागरों से मिले रहते हैं, खारीपन की दृष्टि से भिन्न हैं। भूमध्य सागर के जल में बड़ी लवणता है। भूमध्य सागर में जिब्राल्टर के पास 36·5 प्रति हजार खारापन पाया जाता है जो पूरब की ओर बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि पूरबी भूमध्य सागर में खारापन 39 प्रति हजार रहता है। लाल सागर के दक्षिणी

किनारे पर खारापन 36·5 प्रति हजार रहता है, जो उत्तर की ओर स्वेज नहर के समीप बढ़कर 41 प्रति हजार हो जाता है। इस प्रकार के खारेपन का उदाहरण संवृत्त सागरों में ही पाया जाता है जो खुले सागरों के खारेपन से बहुत अधिक होता है।

इनके अधिक खारेपन का कारण नदियों द्वारा लाये गये स्वच्छ जल की कमी तथा इनमें अधिक वाष्पीकरण का होना है। साथ ही, इनका जल स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं मिश्रित हो पाता है। लाल सागर में तो कोई नदी गिरती ही नहीं, किन्तु भूमध्य सागर में नील, रोन, पो आदि नदियाँ गिरती हैं। परन्तु इसमें वाष्पन क्रिया इतनी अधिक होती है कि जल की कमी की पूर्ति नदियों द्वारा लाये हुए जल से नहीं होती है। फल यह होता है कि इसका खारापन बढ़ता जाता है।

काले सागर में खारापन 18 या 18·5 प्रति हजार से भी कम रहता है। इससे सम्बन्धित अजोब सागर में तो इससे भी कम खारापन पाया जाता है क्योंकि इसमें उत्तर से आकर कई बड़ी नदियाँ डान, नीपर, निस्टर आदि गिरती हैं जो अपने साथ बहुत अधिक ताजा जल लाकर इसमें डाल देती हैं और खारापन बढ़ने नहीं पाता है। इसमें वाष्पन भी कम होता है। बाल्टिक सागर में प्रवेश के समय उसके जल में खारापन सम्बन्धी अधिक भिन्नताएँ पायी जाती हैं।

खारेपन के वितरण में वायुमण्डल का दबाव तथा हवाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है। बाहरी सागरों की अपेक्षा बाल्टिक सागर के ऊपर वायुदाब कम रहता है। अतः इसमें सभी सागरों से कम खारापन रहता है। इसमें रुजन द्वीपों के समीप खारापन केवल 7 या 8 प्रति हजार रहता है, जो उत्तर की ओर क्रमशः कम होता जाता है, यहाँ तक कि बोथीनिया तथा फिनलैण्ड की खाड़ी में खारापन केवल 2 प्रति हजार ही पाया जाता है, अर्थात् जल लगभग स्वच्छ एवं ताजा रहता है। इसका मुख्य कारण वर्षा और ओडर, विश्चुअला नदियों तथा बर्फ द्वारा बहुत अधिक साफ जल की प्राप्ति है। यहाँ पर जल के ठण्डा होने के कारण अति अल्प वाष्पन होता है।

परिबद्ध सागर (Enclosed Sea) **एवं झीलें**—संवृत्त जलीय भागों का खारापन स्वच्छ जल की प्राप्ति या पूर्ति एवं वाष्पन पर निर्भर करता है। यदि स्वच्छ जल की पूर्ति वाष्पन द्वारा लुप्त जल से कम होती है तो पानी धीरे-धीरे खारा होता है। अतः ऐसे जलीय भागों में जल का खारीपन समय पर निर्भर करता है।

जिस परिबद्ध सागर अथवा झील में पानी के बाहर निकलने का मार्ग रहता है उसका पानी कम नमकीन होता है क्योंकि बाहर निकलने वाली नदियाँ खारेपन को दूर बहा ले जाती हैं। बन्द सागर अथवा झीलों में स्वच्छ जल की प्राप्ति एवं वाष्पन बराबर होता रहता है जो उसके जल को धीरे-धीरे खारा करता रहता है। यदि इसमें बहाव होता है तो खारापन नहीं बढ़ने पाता है। अतः झील अथवा बन्द सागरों का खारापन उस समय तक जारी रहता है जब तक कि उनके खारे जल के बाहर निकलने के लिए कोई मार्ग नहीं मिलता है।

कभी-कभी एक ही झील के जल के खारेपन में भिन्नता पायी जाती है, जैसे

कैस्पियन सागर में। कैस्पियन सागर के उत्तरी भाग में 14 प्रति हजार से भी कम खारापन रहता है। परन्तु दक्षिण में इसी से सम्बन्धित काराबुगा की खाड़ी के उथले जल का खारापन 170 प्रति हजार रहता है। इसका कारण इसमें होने वाला अधिक वाष्पन है। मृत सागर (Dead Sea) में सबसे अधिक 237·5 प्रति हजार खारापन पाया जाता है। जहाँ पानी अधिक खारा रहता है वहाँ जल का तापमान भी अधिक होता है। किन्तु जहाँ नमक कम होता है, जल का तापमान भी कम रहता है। इसलिए खारे पानी के जमने के लिए तापमान हिमांक से नीचे होना चाहिए।

सागरीय जल का दबाव 1 किलोमीटर गहराई पर 170 किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर रहता है। किन्तु पानी दबाव से कम सिकुड़ता है। अतः अधिक गहराई पर भी सतह का ही घनत्व रहता है। इसी कारण कोई वस्तु, जो सतह पर डूब जायगी, समुद्रतल पर पहुँच जायगी।

जल में मिश्रण के कारण घनत्व बढ़ जाता है। अतः कोई वस्तु डूब नहीं सकती है। मृत सागर में मनुष्य डुबकी नहीं लगा सकता है। उसका शरीर अपेक्षाकृत हल्का होने से उतराने लगता है।

प्रश्न

1. What is the cause of salinity in the oceanic waters ? Give an account of its amount in open, enclosed and closed seas.
   (*Gorakhpur 1969*; *Sagar 1970*; *Bihar 1969*)

   महासागर के जल की लवणता के क्या कारण हैं ? इसकी मात्रा का विवरण खुले, अधखुले तथा बन्द महासागरों में दीजिए।

2. Trace the origin of salt in the sea and explain the variability in the salinity of surface waters of the sea and oceans.
   (*Meerut 1970*; *Gwalior 1971*; *Allahabad 1969*)

   समुद्री लवणता की उत्पत्ति का वृत्तान्त लिखिए और सागर एवं महासागरों के सतहजल में लवणता की विभिन्नता की व्याख्या कीजिए।

3. Give a seasoned account of the variation of salinity in the enclosed seas and gulfs.
   (*Gorakhpur 1971* ; *Udaipur 1971* ; *Kanpur 1971*)

   परिबद्ध सागरों तथा खाड़ियों में खारापन की विभिन्नता का तर्कपूर्ण विवरण दीजिए।

39

महासागरीय जलधाराएँ

[OCEAN CURRENTS]

महासागरों की दूसरी गति धाराएँ हैं। इनमें महासागरों की ऊपरी सतह का जल निश्चित दिशा में लगातार चला करता है। महासागरीय जलतल पर स्थल की नदियों की भाँति धाराओं की चाल स्पष्ट दिखायी पड़ती है। **मान्क ठाउस महोदय** के मतानुसार समुद्री सतह की जलराशि का एक विशिष्ट दिशा में प्रवाह ही धारा कहलाती है। विभिन्न महासागरों की धाराओं की चाल भिन्न-भिन्न होती है। इनकी औसत चाल 3 से 10 किलोमीटर प्रति घण्टा तक होती है। धाराओं के माप में विद्युत् चुम्बकीय विधि (electromagnetic method) तथा स्वालो प्लव विधि (swallow float method) का प्रयोग होता है।

धाराओं की उत्पत्ति के कारण

सागरों में धाराओं के उत्पन्न होने के कई कारण बतलाये जाते हैं। ये कारण विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग या सम्मिलित रूप में धाराओं की उत्पत्ति कारण होते हैं। निम्नलिखित कारण उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं

(1) उष्णता की भिन्नता,
(2) लवणता में भिन्नता,
(3) घनत्व में भिन्नता,
(4) पृथ्वी का घूर्णन,
(5) वायु का प्रभाव—वायु की दिशा, वायुदाब, वाष्पन, वर्षा की मात्रा,
(6) स्थल की बनावट—तटीय आकार, तलीय धरातलाकृति।

(1) उष्णता की भिन्नता—वर्ष भर कड़ी गरमी पड़ने के कारण भूमध्यरेखीय प्रदेशों के महासागरों का जल गरम होता रहता है और गरम होने के कारण हल्का भी हो जाता है। परन्तु ध्रुवीय प्रदेशों में सागरों का जल समुद्रों की सतह पर ध्रु की ओर प्रवाहित होने लगता है और ध्रुवीय प्रदेशों के सागरों का जल सागरीय त पर भूमध्यरेखा की ओर चलता है। भूमध्यवर्ती प्रदेश तथा ध्रुव प्रदेश में इन धारा का रूप लम्बवत् होता है। प्रथम स्थान पर सागरीय तल से ऊपर उठने वाली उ

पानी की धारा है। आगे बढ़ने पर यह धारा दक्षिणी भूमध्यवर्ती धारा से मिल जाती है।

भूमध्यवर्ती प्रतिधारा उत्तरी तथा दक्षिणी भूमध्यवर्ती गरम धाराओं के बीच पश्चिम से पूरब की ओर चलती है और मध्य अमरीका के पश्चिमी तट के समीप जाकर दो भागों में विभक्त हो जाती है। इसकी सीमा 2° से 8° उत्तरी अक्षांश तक रहती है। उत्तर की शाखा उत्तर की ओर बढ़कर उत्तरी भूमध्यवर्ती धारा में मिल जाती है और दक्षिण की शाखा तट के सहारे भूमध्यरेखा से कुछ ही अक्षांश दक्षिण तक जाकर दक्षिणी भूमध्यवर्ती धारा में मिल जाती है। यह दक्षिण की ओर तट सहारे बहने वाली गरम धारा एलनिनो (Al-nino) के नाम से विख्यात है। फरवरी और मार्च के महीने में यह धारा अपना स्पष्ट रूप धारण कर लेती है। इसका वर्णन इसी अध्याय में आगे दिया गया है।

उपर्युक्त धाराओं के अलावा उत्तरी प्रशान्त महासागर के पूरबी भाग में एक प्रकार की चक्करदार धारा चलती है। हवाई द्वीपसमूह एवं एलूशियन द्वीपसमूहों के बीच इसका प्रभाव रहता है। इसको कुरोशिओ प्रतिधारा कहते हैं।

ऐटलाण्टिक महासागर की धाराएँ

प्रशान्त महासागर की भाँति ऐटलाण्टिक महासागर में भी भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण में कई गरम एवं ठण्डे पानी की धाराएँ चलती हैं। भूमध्यरेखा के ऊपर भूमध्यरेखीय प्रदेश में उत्तरी भूमध्यवर्ती गरम धारा पूरब से पश्चिम को बहती है। यह धारा दक्षिणी अमरीका के सेन रोक अन्तरीप से टकराकर दो भागों में विभक्त हो जाती है। इसकी पहली शाखा पश्चिमी द्वीप समूहों के दक्षिण से होकर मेक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करती है। मेक्सिको की खाड़ी में प्रवेश करने वाली शाखा खाड़ी के तट के किनारे-किनारे चलकर फ्लोरिडा प्रायद्वीप के आगे बढ़कर उत्तर-पूरब की ओर मुड़ जाती है। यहाँ यह धारा **फ्लोरिडा की धारा** के नाम से पुकारी जाती है। दूसरी शाखा पश्चिमी द्वीपसमूहों से उत्तर की ओर से जाकर बहामा द्वीपसमूहों के पास फ्लोरिडा की धारा से मिल जाती है।

फ्लोरिडा की धारा आगे बढ़कर उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा की दूसरी शाखा के साथ मिल जाती है। यह सम्मिलित धारा संयुक्त राज्य अमरीका के पूरबी तट के साथ-साथ न्यू फाउण्डलैण्ड तक उत्तर-पूरब दिशा में जाती है। यह धारा **गल्फ स्ट्रीम (Gulf Stream)** के नाम से विख्यत है। न्यूफाउण्डलैण्ड के दक्षिणी-पूरवी भाग में आते ही यह धारा पछुआ हवा के प्रभाव में आकर बहती है। पछुआ हवा के प्रभाव में आने पर यह धारा पछुआ वायु अनुगमन-धारा के नाम से ग्रेट ब्रिटेन के पश्चिम तक चलती है। इसको **उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर की उष्ण धारा** भी कहते हैं। यह धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक शाखा ठीक पूरब दिशा की ओर चलकर पुर्तगाल तट के समीप आकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और दूसरी शाखा ब्रिटिश द्वीपसमूह के पश्चिम से होती हुई नार्वे तक चली जाती है। आयरलैण्ड

के पश्चिम में इस शाखा की एक उपशाखा उत्तर की ओर आइसलैण्ड तक जाती है और पुन: पश्चिम की ओर मुड़कर पूरबी ग्रीनलैण्ड की धारा से मिल जाती है।

उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर की धारा की वह शाखा जो दक्षिण की ओर जाती है, कनारी की शीत धारा के नाम से विख्यात है। यह धारा पुर्तगाल तट से आगे बढ़कर अफ्रीका तट के साथ कनारी द्वीपसमूहों तक जाकर उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा में मिल जाती है। यह धारा उच्च अक्षांशों की ओर से जाती है। अत: ठण्डे पानी की धारा है।

उत्तरी ऐटलाण्टिक धारा की जो शाखा नार्वे तक जाती है वह **नार्वे की धारा** कहलाती है। वह नार्वे के उत्तर की ओर मुड़ जाती है और ग्रीनलैण्ड के पूरबी तट पहुँचकर दक्षिण की ओर प्रवाहित होने लगती है। यहाँ यह धारा **पूर्वी ग्रीनलैण्ड धारा** कहलाती है। यही धारा ग्रीनलैण्ड के दक्षिण तट पर फिर पश्चिम तट के सहारे चलती हुई बेफिन की खाड़ी में प्रवेश करती है। इसकी एक शाखा लेब्रेडोर धारा में मिल जाती है और यही धारा आगे बढ़कर न्यूफाउन्लैण्ड के दक्षिण-पूरब गल्फस्ट्रीम से मिल जाती है। लेब्रेडोर के तट पर यह धारा **लेब्रेडोर की शीत** के नाम से विख्यात है। उच्च अक्षांश के ठण्डे सागरों से आने के कारण यह धारा ठण्डी धारा है।

दक्षिणी ऐटलाण्टिक सागर में भूमध्यरेखा के दक्षिण में दक्षिणी भूमध्यरेखीय पूरब से पश्चिम की ओर प्रवाहित होती है। यह दक्षिणी-पूरबी संमार्गी वायु के र से बहती है। दक्षिणी अमरीका के सेन रोक अन्तरीप के प्रभाव से यह धारा भागों में विभक्त हो जाती है। एक शाखा तट के साथ-साथ उत्तर की ओर जाकर री भूमध्यरेखीय धारा की दक्षिणी शाखा से मिल जाती है तथा दूसरी शाखा ज़ील तट के सहारे दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है जो **ब्राजील की गरम धारा** नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिणी अमरीका के पूरबी तट के मध्य से यह धारा पूरब की ओर मुड़ जाती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर की पछुआ वायु का जल-अनुगमन हार्न अन्तरीप (Cap Horn) के पास अपनी एक उपशाखा दक्षिणी अमरीका के पूरबी तट से कर प्रवाहित करना है। यह धारा **फाकलैण्ड की धारा** के नाम से पुकारी जाती है। उच्च अक्षांशों की ओर से आने के कारण यह ठण्डी धारा है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर की पछुआ वायु की अनुगमन धारा दक्षिणी अमरीका के पास से दक्षिणी ऐटलाण्टिक महासागर में प्रवेश करती है। इस धारा को दक्षिण ध्रुवीय शीत धारा (Antarctic Cold Drift) कहते हैं। यह वास्तव में दक्षिणी ध्रुव सागर में ही पछुआ हवा के प्रभाव में पश्चिम से पूरब को लगातार पृथ्वी के चारों ओर प्रवाहित होती है। इसका प्रवाह क्षेत्र 40° से 60° द० अक्षांशों के मध्य लता है।

दक्षिणी ऐटलाण्टिक महासागर के दक्षिण में ऐन्टार्कटिक ठण्डी धारा की एक

शाखा उत्तर-पूरब की ओर प्रवाहित होकर दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट तक पहुँचती है। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर यह धारा बेंगुला की ठण्डी धारा के नाम से विख्यात है। अफ्रीका के पश्चिमी तट के सहारे आगे बढ़कर यह धारा दक्षिणी भूमध्य रेखीय धारा में मिल जाती है।

उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा एवं दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा के मध्य दक्षिणी अमरीका के पूरब में इन धाराओं द्वारा बहुत-सा जल एकत्र हो जाने के कारण एक धारा पूरब की ओर प्रवाहित होने लगती है जो इन धाराओं के विपरीत दिशा में बहने के कारण **भूमध्यरेखीय प्रतिधारा** के नाम से पुकारी जाती है। इस धारा के उत्पन्न होने का कारण पृथ्वी का घूर्णन भी कहा जाता है। इस प्रतिधारा की सीमा एवं तीव्रता मौसम के अनुसार बदलती है। जनवरी में मन्द गति और 3° उत्तरी अक्षांश सीमा और जुलाई में तीव्र गति तथा 7° उत्तरी अक्षांश सीमा रहती है।

हिन्द महासागर की धाराएँ

हिन्द महासागर की धाराएँ वायु से अधिक प्रभावित हैं। उत्तरी हिन्द महासागर में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा ग्रीष्मकाल में पूरब से पश्चिम की ओर तथा शीतकाल में पश्चिम से पूरब की ओर चलती है। शीतकाल में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा उत्पन्न हो जाती है और 7° दक्षिणी अक्षांश पर एक भूमध्यरेखीय प्रतिधारा भी विकसित हो जाती है। गरमी में गरमी के मानसून का प्रभाव पड़ता है। यही धारा गरमी के दिनों में पश्चिम में अफ्रीका के पूरबी तट तक जाकर उत्तर की ओर मुड़ जाती है और तट के सहारे-सहारे पूरब की ओर चलती हुई अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी पार करती हुई मलाया के पश्चिमी तट पर पहुँचकर दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और सुमात्रा के पश्चिम से होकर आगे बढ़ने पर अपने पूर्व रूप में आ जाती है। अरब सागर एवं बंगाल की खाड़ी में इसका सिलसिला **मानसून अनुगमन** (Monsoon Drift) के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रीष्मकाल में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा का लोप हो जाता है। जाड़े की ऋतु में इस धारा की दिशा गरमी की ऋतु के ठीक विपरीत हो जाती है।
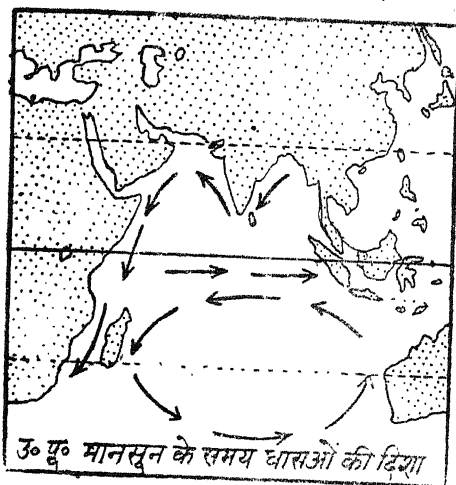
चित्र 314—हिन्द महासागर की धाराएँ (शीत ऋतु)

दक्षिणी हिन्द महासागर में भूमध्यरेखा के दक्षिण में 10° और 15° द० अक्षांशों

के मध्य दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा प्रवाहित होती है। यह धारा दक्षिणी-पूरबी संमार्गी हवा के प्रभाव में वर्ष भर एक दिशा में पूरब से पश्चिम की ओर बहती है। मलागासी (मेडागास्कर) के पूरब में यह धारा दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ जाती है। यहाँ यह मेडागास्कर की धारा के नाम से पुकारी जाती है जो आगे बढ़कर 40° दक्षिणी अक्षांश पर पछुआ हवा के प्रभाव से पूरब की ओर मुड़ जाती है।

उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा की एक शाखा पूरबी अफ्रीका के तट के साथ-साथ मलागासी द्वीप के पश्चिम से होकर दक्षिण की ओर भी प्रवाहित होती है। यह धारा मुकाम्बिक की धारा कहलाती है। मैडागास्कर तथा मुकाम्बिक धाराएँ मिलकर आगुलहास की धारा कही जाती है। यह सँकरी एवं गर्म धारा है।

यह धारा 40° द० अक्षांश के लगभग पछुआ हवा के प्रभाव में पूरब की ओर मुड़कर आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के समीप मुड़कर उत्तर की ओर मुड़ जाती है और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर पश्चिमी आस्ट्रेलिया की धारा कही जाती है। यह धारा ठण्डे पानी की धारा है। यह आगे बढ़कर दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है।

चित्र 345—हिन्द महासागर की धाराएँ (ग्रीष्म ऋतु)

हिन्द महासागर में अन्य सागरों की भाँति प्रतिधाराएँ अच्छी प्रकार विकसित नहीं हैं। नाममात्र के लिए दक्षिणी भूमध्यरेखीय और उत्तरी भूमध्यरेखीय धाराओं के मध्य जाड़े की ऋतु में यह प्रवाहित होती है।

ग्रीष्मकालीन मानसून वायु—एशिया में मई से अक्तूबर तक दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवा से प्रभावित धाराएँ पश्चिम से पूरब को चलती हैं।

नवम्बर से अप्रैल तक एशिया के दक्षिणी तट पर पूरब से पश्चिम को उत्तरी-पूरबी मानसून से प्रभावित धारा चलती है। यह पूरबी अफ्रीका के समीप पूरब की ओर मुड़कर उत्तरी भूमध्यरेखा की गरम धारा से मिल जाती है और उसकी दिशा बदल देती है।

इस महासागर में वायु एवं जलधाराओं का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध स्पष्ट प्रकट होता है।

सारगैसो सागर
(Sargaso Sea)

ऐटलाण्टिक महासागर के मध्य बहामा और एजोर द्वीपसमूहों के बीच जल का एक बहुत बड़ा भाग सारगैसो सागर के नाम से विख्यात है। मारमर के अनुसार यह 20° से 40° उत्तरी अक्षांश और 35° से 75° प० देशान्तर के मध्य स्थित है।
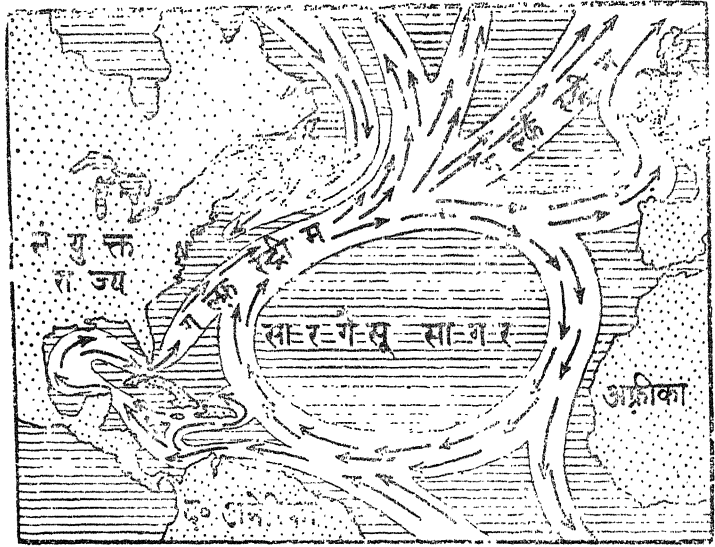
चित्र 346—सारगैसो सागर

ऐटलाण्टिक महासागर के इस भाग को सागर कहना अतिशयोक्ति इसलिए ज्ञात होती है कि इसके चारों ओर स्थल नहीं है जबकि एक सागर चारों ओर स्थल से घिरा होता है परन्तु इस भाग के जल की कुछ विशेषताएँ इसे सागर कहलाने में पूर्ण सहायक हैं और जो इसे महासागर के अन्य भागों से पृथक् करके एक अलग अस्तित्व प्रदान करती हैं।

इसका नाम पुर्तगीज शब्द सारगैसस से लिया गया है जो खाड़ी अथवा सागर की वनस्पति (gulf or sea weeds) से तात्पर्य रखता है। इसके विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है कि यह क्षेत्र अनेक किलोमीटर के विस्तार में सघन सागरीय वनस्पति के द्वीप-समूहों से ढँका है और इसमें ऐसे आश्चर्यजनक दैत्य रहते हैं जिन्होंने इसे खोये हुए जहाजों का कब्रिस्तान (grave-yard) बना दिया है। परन्तु इतना सत्य है कि सारगैसो सागर के किसी-किसी भाग में सागरीय वनस्पति (sea weeds) इतना सघन है कि इससे होकर गुजरने वाले जलयानों की चाल बहुत धीमी हो जाती है। इस सारगैसम घास की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। क्रुमेल के अनुसार,

यह घास बहामा तथा पश्चिमी द्वीपसमूह के तटवर्ती भागों से गल्फस्ट्रीम द्वारा बहा कर लाई गई है। जरमैन के अनुसार यह सागर के गरम जल में स्वतः उत्पन्न होती है।

सारगैसो सागर ऐटलाण्टिक महासागर से केवल इसी विषय में भिन्न नहीं है कि इसके धरातल पर सागरीय नरकल पाये जाते हैं बल्कि इसका जल, जो चारों ओर विभिन्न धाराओं से घिरा हुआ है, अपनी अलग विशेषता प्रस्तुत करता है। इसका जल महासागर के अन्य भागों के जल की अपेक्षा अधिक स्थिर रहता है। इसमें अन्य भागों के जल की अपेक्षा अधिक खारापन एवं अधिक तापमान पाया जाता है। इसका खारापन 37% तथा तापमान 26° सेंग्रे है। इसका जल गहरे नीले रंग का है जो इसकी पारदर्शकता (transparency) को द्विगुणित करता है। यहाँ एक सफेद तश्तरी जिसका व्यास (diameter) लगभग 2 मीटर है, समुद्र की सतह से 60 मीटर की गहराई पर खुली आँख से देखी जा सकती है।

एलनिनो
(The El-nino)

पीरू तटीय धारा (Peru Coastal Current) की उत्तरी सीमा पर कुछ मौसमी परिवर्तन हुआ करते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु में पीरू तटीय धारा भूमध्यरेखा से आगे बढ़ जाती है और भूमध्यरेखीय प्रतिधारा में डूब जाती है। परन्तु शीत ऋतु में यह भूमध्यरेखीय प्रतिधारा दक्षिण की ओर खिसक जाती है और इसका कुछ जल, जो गरम परन्तु कम खारा होता है, दक्षिण की ओर इक्वेडर के तट से होकर बहने लगता है और पीरू तटीय धारा अभिसरण (converging) के पूर्व भूमध्यरेखा को पार कर जाती है। यह गरम जल की दक्षिण की ओर तट के समीप से होकर बहने वाली धारा **एलनिनो** (El-nino) के नाम से विख्यात है। यह धारा फरवरी और मार्च में लगातार गति से प्रवाहित होती पायी जाती है। इसकी दक्षिणी सीमा प्रायः भूमध्यरेखा से 12° दक्षिण तक रहती है। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ जो वायुमण्डल के प्रवाह में परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं इस धारा की दक्षिणी सीमा का विस्तार भी बढ़ा देती हैं। सन् 1891 तथा सन् 1925 में यह धारा 12° दक्षिणी अक्षांश स्थित पोर्ट कालाओ (Port Callao) तक पहुँच गयी थी। **स्काट** के अनुसार, एलनिनो का सन् 1925 में तट के विभिन्न स्थानों पर बहने का समय निम्न तालिका के अनुसार था :

एलनिनो का समय (सन् 1925)

प्युरटो चिकानो से दूर	7°40′ दक्षिण	30 जनवरी से 2 अप्रैल
कालाओ से दूर	12°20′ ,,	20 मार्च से 27 मार्च
पिस्को से दूर	13°40′ ,,	16 मार्च से 24 मार्च

निम्न तालिका से स्पष्ट प्रकट होता है कि एलनिनो के द्वारा भूमध्यरेखीय धरातल का गरम जल धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ता है जो शीघ्र ही लौट भी जाता है।

स्थान	औसत तापमान (सेग्रे)	मार्च में तापमान (सेग्रे)
प्युरटो चिकाना	20·3°	25·9°
कालाओ	19·5°	24·8°
पिस्को	19°	22·1°

5° से 15° दक्षिणी अक्षांश के मध्य समुद्र का खारीपन 35 प्रति हजार से अधिक ही रहता है किन्तु एलनिनो के जल का खारीपन 33 प्रति हजार रहता है।

धाराओं का प्रभाव

धाराएँ जिस तट के निकट से होकर गुजरती हैं उस तट के तापमान पर उनका प्रभाव अवश्यम्भावी होता है। गरम धाराएँ निकटवर्ती स्थल भाग के तापमान को ऊँचा कर दती हैं, परन्तु ठण्डी धाराओं के कारण तापमान गिर जाता है। गरम धाराओं का प्रभाव पश्चिमी यूरोप, उत्तरी अमरीका के पूरबी तट एवं पश्चिमी तट का कुछ भाग और जापान के ऊपर सर्वविदित है। इनके प्रभाव से उच्च अक्षांश के वे भाग भी वर्ष भर खुले रहते हैं जहाँ साधारणतौर से जाड़े में बर्फ जम जानी चाहिए, अर्थात् गरम धाराएँ निकटवर्ती ठण्डे भाग को गरम करके जलवायु में परिवर्तन ला देती हैं। इसके विपरीत ठण्डी धाराएँ निकटवर्ती स्थानों को और भी ठण्डा कर देती हैं। खाड़ी की धारा तथा उत्तरी ऐटलाण्टिक की गरम धारा के कारण सेन्ट लारेन्स की खाड़ी तथा नार्वे का तट वर्ष भर खुला रहकर व्यापार में सुविधा प्रदान करते हैं, यद्यपि इन्हें जाड़े में जम जाना चाहिए। किन्तु कैलिफोर्निया तथा कनारी की ठण्डी धाराओं से सुदूर दक्षिण तक के भागों में अपेक्षाकृत अधिक ठण्डक रहती है। उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागर एवं उत्तरी प्रशान्त महासागर की समतापी रेखाओं की ओर दृष्टि डालने पर प्रवाहित होने वाली गरम धाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। धाराओं के प्रवाह की दिशा में समतापी रेखाओं के झुकाव इस तथ्य के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

धाराओं का उन हवाओं पर भी प्रभाव पड़ता है जो उनके ऊपर से होकर बहती हैं। उष्ण धाराओं के ऊपर से होकर बहने वाली हवाओं में उष्णता आ जाती है जिससे उनमें वाष्पन की शक्ति बढ़ जाती है और वे हवाएँ अधिक वाष्प धारण कर लेती हैं। इसके विपरीत ठण्डी धाराओं पर से होकर गुजरने वाली हवाएँ भी ठण्डी हो जाती हैं और उनकी वाष्पीकरण की शक्ति कम हो जाती है।

गरम धाराओं के ऊपर से होकर चलने वाली हवाएँ वाष्प से पूर्ण होकर जब स्थल पर प्रवेश करती हैं तो पर्वतीय रुकावट पाकर काफी वर्षा करती हैं। ऐसे स्थली

भागों की वर्षा धाराओं पर बहुत कुछ निर्भर करती है। उष्ण धाराओं के कारण वायु में अधिक वाष्प धारण करने की शक्ति आ जाती है जो अधिक वर्षा का कारण है। पश्चिमी यूरोप एवं उत्तरी अमरीका के वैंकुवर तट पर इसका प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। तटीय भागों में वर्षा अधिक होती है। ब्रिटिश द्वीपसमूहों के पश्चिमी तटों पर 500 सेन्टीमीटर तक वर्षा होती है। उत्तरी ऐटलाण्टिक सागर में उत्पन्न होने वाले चक्रवातों एवं प्रतिचक्रवातों पर भी धाराओं का प्रभाव पड़ता है जिससे वर्षा में वृद्धि होती है।

ठण्डी धाराएँ मछलियों के आहार को उष्ण प्रदेशों में पहुँचाती हैं। ये मछलियाँ निवासियों का मुख्य भोजन हैं। जल धाराएँ जल-मार्गों का निर्धारण करती हैं।

कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ गरम एवं ठण्डी धाराएँ मिलती हैं। वहाँ कुहरा उत्पन्न होता है। न्यू फाउन्डलैण्ड के समीप लैब्रेडोर की धारा एवं गल्फस्ट्रीम की धारा मिलती हैं। यहाँ कुहरा बहुत घना गहरा हो जाता है। इसी प्रकार जापान के पूरबी तट के आस-पास ओखोटस्क की ठण्डी धारा एवं क्यूरोसिवो की गरम धाराएँ मिलती हैं। अतः यहाँ भी उसी प्रकार का घना कुहरा पाया जाता है। ऐसे स्थलों पर जहाजों के लिए प्लावी हिमशैल (iceberg) का खतरा पैदा हो जाता है। परन्तु मछलियों का शिकार अधिक होता है। यह नहीं, ये ही स्थल संसार के प्रमुख मत्स्य-उद्योग के केन्द्र हैं क्योंकि ऐसी परिस्थिति में प्लवक या परिप्लावी जीव (plankton), जो मछलियों का खाद्य पदार्थ है, अधिक उत्पन्न होता है।

महासागरीय जलराशियाँ
(Water Masses of the Oceans)

जलराशि का अभिसरण—महासागरीय जल में समतलता की स्थिति बनाये रखने में जलराशियों का अभिसरण (convergence) तथा अपसरण (divergence), होता रहता है। सागरीय जल के प्रवाह में जलराशि का अभिसरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। यह अभिसरण वहीं होता है जहाँ दो विपरीत धाराएँ मिलती हैं। ऐन्टार्कटिक महासागर में यह अभिसरण अधिक होता है क्योंकि अधिक लवणता एवं कम तापमान का जल अधिक घनत्व के कारण डूब जाता है। दक्षिण ध्रुवीय महासागर की मध्यवर्ती जलराशि (Antarctic intermediate water masses) के अभिसरण के भी उपर्युक्त कारण हैं। अभिसरण का जल 800 से 1,200 मीटर की गहराई पर भूमध्यरेखा की ओर बहता है।

उत्तरी प्रशान्त महासागर में भी ऐसे प्रसिद्ध अभिसरण होते हैं जो उपोष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (sub-tropical convergence) कहलाते हैं। यह उप-ऐन्टार्कटिक तथा उपोष्ण कटिबन्धीय जलों में होते हैं। तीसरा महत्त्वपूर्ण अभिसरण उपोष्ण तथा उष्ण जलों के मध्य है। किन्तु प्रथम अभिसरण का बहुत अधिक महत्त्व होता है।

जिब्राल्टर के निकट ऐटलाण्टिक महासागर तथा भूमध्य सागर का जल मिलता है। भूमध्य सागर के जल में अधिक लवणता से उसका घनत्व अधिक होता है, अतः वह ऐटलाण्टिक महासागर के जल के भीतर डूबता रहता है। इसी प्रकार लाल सागर का जल भी हिन्द महासागर के जल के भीतर डूबता रहता है।

जलराशि का अपसरण—जब एक स्थान पर जलराशि डूबती है तो उसकी पूर्ति के लिए दूसरी ओर से जल ऊपर आ जाता है। इसको जलराशि का अपसरण कहते हैं। जल का अपसरण नियमित नहीं होता है। जलराशि के अपसरण का प्रभाव महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर देखा जाता है। यह तट के दूर से आने वाली हवाओं का प्रतिफल होता है। इस जलराशि का तापमान कम तथा घनत्व अधिक होता है।

ठण्डे प्रदेशों में समुद्र की सतह से तल की ओर तापमान कम होता जाता है और डूबने वाला ठण्डा जल इस कम ताप को दूर ले जाता है। शीतोष्ण तथा उष्ण भागों में कुछ गहराई तक सतह उष्ण रहती है। महासागरों की विभिन्न गहराई पर भिन्न घनत्व का जल मिलता है। घनत्व के परिवर्तन से जलराशियाँ डूबती रहती हैं और मध्यवर्ती तटों पर मिलती रहती हैं। इस प्रकार जलराशियों को (ऊपरी गरम जल को गहराई के ठण्डे जल से) अलग करने वाली एक सीमा होती है जिसको स्तर असांतत्य (layer discontinuity) कहते हैं। डिफेन्ट्स नामक विद्वान ने वायुमण्डल के विभाजन की भाँति ही समुद्री उष्ण जल के भाग को अचल मण्डल और निचले ठंण्डे जल के भाग को परिवर्तन मण्डल की संज्ञा प्रदान की है किन्तु यह नामकरण अनुपयुक्त है।

अपसरण एवं अभिसरण के आधार पर महासागरों में निम्न जलराशियाँ पायी जाती हैं :

(1) **दक्षिण ध्रुवीय तलीय जलराशि**—यह जलराशि ऐन्टार्कटिक के वेडेल सागर में बनती है। साथ ही, ऐटलाण्टिक महासागर के दक्षिणी भाग में 34·6 प्रति हजार लवणता, —1·9° सेंग्रे तापमान तथा 27·9 घनत्व की अवस्था में बनती है।

(2) **उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागरीय गर्त एवं तलीय जलराशि**—यह लैब्रेडोर सागर, ग्रीनलैण्ड तथा आइसलैण्ड के मध्यवर्ती भागों में बनती है। 1,000 मीटर से अधिक गहराई में डूबने वाली इस जलराशि का तापमान 2·8° सेंग्रे से 3·3° सेंग्रे रहता है और लवणता 34·9 प्रति हजार तथा घनत्व 27·9 के लगभग रहता है। यह जलराशि उत्तरी प्रशान्त महासागर में नहीं उत्पन्न होती है क्योंकि अधिक लवण-युक्त जल को अधिक शीतल होने का अवसर नहीं मिलता है।

(3) **ऐन्टार्कटिक मध्यवर्ती जलराशि**—यह जलराशि ऐन्टार्कटिक अभिसरण में ऐन्टार्कटिका महाद्वीप के चारों ओर पछुआ हवा की पेटी में डूबती है। इसकी लवणता 33·8 प्रति हजार और तापमान 2·2° सेंग्रे तथा घनत्व 27 रहता है।

(4) उत्तरी प्रशान्त मध्यवर्ती जलराशि—यह उत्तरी प्रशान्त में 40° उत्तरी अक्षांश के निकट बनती है। इसमें ऑक्सीजन की कमी होती है। समुद्री जल के नीचे बैठने से इसकी उत्पत्ति होती है।

(5) उत्तरी ऐटलाण्टिक महासागरीय मध्यवर्ती जलराशि—यह लैब्रेडोर सागर के दक्षिण में कम परिमाण का अभिसरण है।
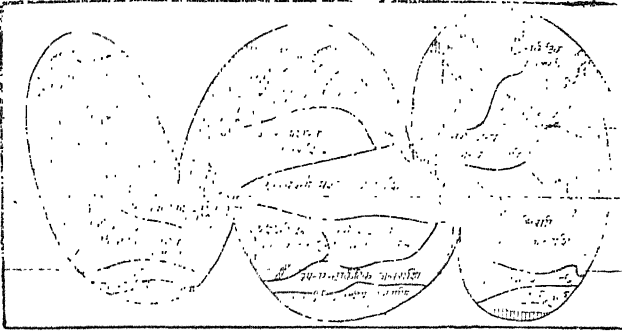
चित्र 347—महासागरीय जलराशियों की सीमाएँ

(6) केन्द्रवर्ती जलराशियाँ—ये जलराशियाँ उपोष्ण कटिबन्ध में 35° से 40° अक्षांशों के मध्य बनती हैं। इनमें भूमध्य सागरीय तथा लाल सागरीय जलराशियाँ भी सम्मिलित हैं।

भूमध्यसागरीय जलराशि में लवणता 38·4 प्रति हजार के लगभग और तापमान 13° सेंग्रे से 13·6° सेंग्रे रहता है। यह जलराशि जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य से होकर बहती है।

लाल सागरीय जलराशि बाबुलमण्डप के मुहाने से होकर हिन्द महासागर में बहती है। इसका तापमान 21·5° सेंग्रे से 22° सेंग्रे तथा लवणता 40·5 से 41 प्रति हजार रहती है।

सागरीय अधस्तल (subsurface) पर विभिन्न प्रकार के जलों के मिश्रण से भी जलराशियाँ बनती हैं। ऐटलाण्टिक महासागर के गर्तों के जल तथा दक्षिणी ध्रुवीय सागर के तलीय जल के मिश्रण से ऐन्टार्कटिक परिध्रुवीय जलराशि (antarctic circumpolar water mass) बनती है। ऐन्टार्कटिक तथा दक्षिणी उपोष्ण अभिसरण के मध्य में उप-ऐन्टार्कटिक जलराशि (sub-antarctic water-mass) बनती है। शीत ऋतु में अधिक ठण्डक तथा वर्षा की अधिकता आदि के सम्मिश्रण से उप-आर्कटिक जलराशि बनती है। प्रशान्त तथा हिन्द महासागर में भूमध्यरेखीय जल-राशियाँ भी मिलती हैं। उत्तरी प्रशान्त में उपोष्ण अभिसरण क्षेत्र के उत्तर सम्मिश्रण के कारण जलराशि उत्पन्न हो जाती है जो उप-आर्कटिक जलराशि कहलाती है।

प्रश्न

1. What are the chief causes for the origin of ocean currents ? Name their important effects and describe the mian currents of the Pacific Ocean.
(*Ranchi 1969*; *Agra 1969*; *Bhagalpur 1971*)
महासागरीय जलधाराओं की उत्पत्ति के क्या कारण हैं ? उनके प्रमुख प्रभावों का उल्लेख कीजिए और प्रशान्त महासागर की मुख्य जलधाराओं का विवरण लिखिए ।

2. Describe cold currents of the southern hemisphere and discuss their influence on man. (*Meerut 1968*)
दक्षिणी गोलार्द्ध की ठण्डी धाराओं का वर्णन कीजिये और मानव पर उनके प्रभाव की व्याख्या कीजिये ।

3. Winds and currents have her relation in the Indian Ocean ? Discuss. (*Allahabad 1969*)
पवनों एवं धाराओं के मध्य सर्वश्रेष्ठ सम्बन्ध हिन्द महासागर में मिलता है, विवेचना कीजिये ।

होते हैं। ये बहुत ही अस्थायी होते हैं और बनते-बिगड़ते हैं। कालान्तर में ये मुख्य स्थल का अंग बन जाते हैं।

(2) रचना के आधार पर द्वीपों का वर्गीकरण

रचना के आधार पर द्वीपों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है :

(1) पटल विरूपणजन्य द्वीप (Islands due to diastrophism);
(2) निक्षेपजन्य द्वीप (Islands due to deposition);
(3) अपरदनजन्य द्वीप (Islands due to erosion);
(4) ज्वालामुखीय द्वीप (Volcanic islands);
(5) प्रवाल द्वीप (Coral islands)।

(1) **पटल विरूपणजन्य द्वीप**—भूगर्भ की हरकतों के फलस्वरूप पृथ्वी-तल पर परिवर्तन होते रहते हैं। कभी कोई भाग ऊपर उठ जाता है तो कभी नीचे धँस जाता है और कभी स्थान परिवर्तन कर देता है।

(क) भूतल के अवतलन से बृहत् स्थलखण्ड से स्थल का एक भाग अलग हो जाता और मध्य में जल-भाग आ जाता है। ब्रिटिश द्वीपसमूहों का निर्माण इसी प्रकार हुआ है।

(ख) कभी-कभी भूगर्भीय हलचल से जलाशय का पेटा उत्थापित हो जाता है और जल-तल के ऊपर चबूतरे निकल आते हैं। कालान्तर में ये द्वीप का रूप ग्रहण कर लेते हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह इसी कोटि में आते हैं।

(ग) कभी-कभी पृथ्वी-तल पर बड़े क्षेत्र में स्तर-भ्रंशन हो जाती है जिससे स्थल के कुछ भाग अलग हो जाते हैं। मलागासी की रचना इसी प्रकार हुई है।

(घ) महाद्वीपीय प्रवाह के फलस्वरूप भी द्वीपों के निर्माण की कल्पना है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक वेगनर ने ग्रीनलैण्ड तथा आइसलैण्ड की रचना का कारण लारेशिया स्थल-खण्ड का पश्चिम की ओर प्रवाह ही बताया है।

(2) **निक्षेपजन्य द्वीप**—हिमानी तथा नदियों के निक्षेप से भी द्वीपों की रचना हो जाती है। इस प्रकार के टापू अस्थायी होते हैं। गंगा के डेल्टा पर ऐसे अस्थायी टापू दृष्टिगोचर होते हैं। समुद्री निक्षेप से पुलीकट झील (आन्ध्र प्रदेश तट) का श्री हरिकोटा टापू निर्मित है।

(3) **अपरदनजन्य द्वीप**—(क) हिम युग में समुद्र-जल का तल नीचा हो गया था और समुद्रतटीय क्षेत्र हिम द्वारा बहुत अपरदित हो गये थे। हिम युग की समाप्ति पर समुद्रों में जल अधिक आ गया। अतः घिसे हुए समुद्र तटीय भाग डूब गये और ऊँचे उठे भाग द्वीप बन गये। उत्तरी अमरीका तथा ग्रीनलैण्ड के मध्य ऐसे बहुत टापू खड़े हुए हैं।

(ख) समुद्री अपरदन एवं अतिक्रमण से भी स्थल का भाग टापू बन जाता है जैसे मनार की खाड़ी का पम्बन टापू।

(ग) जब मैदानी प्रवाह में नदियाँ अपने सर्पिल भाग को सीधा करती हैं तो छाड़न झीलों (ox-bow lakes) और नदी के मुख्य मार्ग के बीच एक स्थलखण्ड घिर

जाता है और टापू बन जाता है। उत्तर प्रदेश में पूरबी छोर पर ऐसे टापू गंगा नदी में मिलते हैं।

(4) **ज्वालामुखीय द्वीप**— ज्वालामुखी द्वारा निर्मित टापू स्थायी तथा काफी बड़े होते हैं। समुद्र में स्थित ज्वालामुखी के उद्भेदन से लावा, राख तथा अन्य पदार्थ एकत्र होकर दीर्घकाल में टापू का रूप ग्रहण कर लेते हैं। जापान, हवाई, करगुइन; मालदिव आदि ज्वालामुखी टापू हैं।

(5) **प्रवाल द्वीप**—समुद्रों में प्रवाल जीवों के जीवाश्म एकत्र होते-होते ऊँचे हो जाते हैं और कालान्तर में द्वीप बन जाते हैं। इनकी रचना उष्ण कटिबन्धीय भागों में होती है। लकदिव, क्रिसमस द्वीप आदि प्रवाल द्वीप हैं। प्रवाल भित्तियों के अनुकूल परिस्थितियों तथा उनकी रचना की व्याख्या नीचे दी जा रही है।

प्रवाल भित्तियाँ
(Coral Reefs)

जलराशियों में अनेक अल्पाकार जीवों में हरा, लाल, पीला आदि रंग का मूँगा भी एक है। इनमें चूने का अंश अधिक होता है और ये अपने शरीर को सुरक्षित रखने के लिए चूने की खोल बनाते हैं। इनमें आपस में मिलने की प्रवृत्ति होती है। ये झुंड में रहते हैं। जब ये कीड़े मृत हो जाते हैं तो इनके अवशेष समुद्र-तल पर एकत्र होते हैं। अन्य समुद्री जीवों के अवशेष भी एकत्र होते रहते हैं। इनका प्रसार मक्खियों के छत्ते या वृक्ष की तरह हो जाता है और कालान्तर में शैलें पानी की सतह पर आ जाती हैं। ऊपरी भार के कारण जीवांश पत्थर की भाँति कठोर हो जाते हैं। इन पर मूँगे के अवशेषों के आधिक्य से एक श्रेणी बन जाती है जिसको प्रवाल-भित्ति कहते हैं। इन प्रवाल रचनाओं पर चूना-प्रधान कीड़ों फोरैमिनीफेरा (foraminifera), मोलस्का (mollusca) तथा नलीपोर (nullipore) आदि द्वारा चूना तथा समुद्री लहरों द्वारा बालू एवं बजरी का भी निक्षेप होता है। इस प्रकार टापू या चबूतरे की भाँति प्रवाल-शैलों की आकृति बन जाती है। इन पर वायु द्वारा रेत तथा वनस्पति के बीज भी पड़ जाते हैं।

प्रवाल भित्तियाँ कदाचित ही समुद्र-जल के ऊपर निकलती हैं। ये प्राय: जल की सतह से तनिक नीचे ही रहती हैं और भाटे के समय दृष्टिगोचर होती हैं। ये शैलें ऊँचाई की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक बढ़ती हैं क्योंकि चौड़ाई में उन्हें अधिक भोज्य पदार्थ उपलब्ध हो जाते हैं।

भौगोलिक अवस्थाएँ—प्रवाल भित्तियाँ गरम समुद्रों में पनपती हैं। इसके लिए कम से कम 20° सेग्रे का तापमान चाहिए। इसी कारण उष्ण एवं उपोष्ण समुद्री भागों में प्राय: 30° उत्तर से 30° दक्षिणी अक्षांशों के मध्य इनकी अधिकता रहती है।

ये छिछले जल में बढ़ती हैं। ये 45 मीटर से अधिक गहरे जल में नहीं पनपती हैं। इनकी वृद्धि के लिए पानी स्वच्छ होना आवश्यक होता है। कीड़ों के विकास के निमित्त नदियों का निक्षेप वर्जित है। मटमैले जल में ये कीड़े नहीं पनप पाते हैं।

ऐटलाण्टिक महासागर में अधिक नदियों के गिरने तथा तापमान बहुत ऊँचा न होने के कारण प्रवाल-रचना बहुत कम होती है। किन्तु प्रशान्त एवं हिन्द महासागरों में प्रवाल-रचना के लिए पूर्णतः अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। महाद्वीपों के पूरबी किनारों पर प्रवाल-रचना अधिक होती है क्योंकि वहाँ पर उष्ण संमार्गी वायु चलती है। पश्चिमी किनारे पर ठण्डी तीव्र धाराओं के चलने से प्रवाल-रचना नहीं होती है। अधिक लवणयुक्त जल भी प्रवालों के लिए हानिकारक होता है। 27 से 40 प्रति हजार लवणता श्रेयस्कर होती है। लवण रहित जल भी इसके लिए हानिकारक होता है। इसी कारण प्रवाल भित्तियाँ नदियों के मुहाने से दूर विकसित होती हैं। ऑक्सीजन, शैवाल (algae) तथा अन्य कैल्सियमी जीवों की सहज उपलब्धि प्रवाल भित्ति के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। इसी कारण जल-मग्न तट पर इनकी प्रगति सरलता से होती है।

प्रवाल भित्तियों के भेद

आकृतियों के आधार पर प्रवाल-भित्तियाँ चार प्रकार की होती हैं :

(1) तटीय प्रवाल भित्ति (fringing reef)

(2) प्रवाल रोधिका (barrier reef)

(3) प्रवाल द्वीप वलय (atoll)

(4) प्रवाल द्वीप (coral isles)।

(1) तटीय प्रवाल भित्ति—ये मूँगे की शैलें महाद्वीपीय तट या ज्वालामुखीय शंकु के निकट बनती हैं। ये सदैव जलमग्न रहती हैं। इनकी सतह ऊबड़-खाबड़ होती है। इनका प्रसार बाहर पार्श्व की ओर अधिक होता है और ऊँचाई की ओर कम। अतः इनका बाह्य भाग समुद्र की सतह के निकट पहले पहुँच जाता है और इस दशा में प्रवाल-भित्ति और समुद्र तट के मध्य सँकरा एवं उथला अनूप (lagoon) बन जाता है। इस भित्ति का बाह्य किनारा कदाचित ही 54 मीटर की गहराई तक पहुँचता है। इसका ढाल स्थल की ओर साधारण और महासागर की ओर तीव्र होता है।

(2) प्रवाल भित्ति रोधिका—ये समुद्र तट से कुछ दूरी पर स्थित होती हैं और स्थल एवं इन भित्तियों के मध्य की चौड़ाई अधिक होती है। फलतः अनूप अधिक चौड़े तथा गहरे भी होते हैं। इनकी रचना स्थल की ओर भी होती रहती है। अतः ढाल साधारण होता है। इन भित्तियों का प्रसार बाहर की ओर अधिक नहीं होता है, अतः महासागर की ओर ढाल तीव्र होता है। कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि ये भित्तियाँ निम्न आकार पर निर्मित हैं या इनके निर्माण के पश्चात् समुद्र की गहराई बढ़ गयी है। प्रवाल भित्ति पर गोलाश्म, प्रवाल चूर्ण तथा रेत का निक्षेप पाया जाता है।

संसार में सबसे वृहद् रोधी प्रवाल भित्ति (great barrier reef) आस्ट्रेलिया के पूरबी तट के समान्तर फैली हुई है। यह 1,920 किलोमीटर लम्बी है और तट से इसकी दूरी उत्तर से दक्षिण को क्रमशः 80 किलोमीटर से 240 किलोमीटर पड़ती

है। इस भित्ति की अधिकतम चौड़ाई 16 क्रिलोमीटर है किन्तु यत्र-तत्र यह चौड़ाई 144 किलोमीटर तक हो गयी है। यह एक असम्बद्ध शृंखला में है और प्रायः भाटे के समय ही दृष्टिगोचर होती है। इसके बाद न्यू कैलीडोनियन भित्ति सबसे बड़ी है जो लॉयल्टी द्वीप को छोड़कर पूरे द्वीपसमूह को घेरे हुए है।

(3) **प्रवाल द्वीप वलय**—इनका आकार घोड़े की नाल या अँगूठी की तरह वृत्ताकार होता है। इनके मध्य में उथली भील होती है। भील के मध्य में कभी-कभी द्वीप मिलता है। यह भित्ति भी असम्बद्ध होती है और जहाँ खुली होती है वहाँ ये अनूप भी खुले समुद्र से सम्बद्ध हो जाते हैं। हवाई टापू के समीप बिकनी टापू इस भित्ति का उदाहरण है। यह बिकनी टापू ऐटम बम के परीक्षण-स्थल के रूप में बहुत प्रसिद्ध है।

एक अन्य प्रकार की मूँगे की भित्ति भी ज्ञात की गयी है। इसमें मूँगे की भित्तियों के शिखर होते हैं जो सतह के निकट आने के बाद अनूप के बीच में निकल जाते हैं।

(4) **प्रवाल द्वीप**—स्थल खण्डों से सुदूर स्थित प्रवाल शैलों के चबूतरे होते हैं। ये समुद्री तरंगों के प्रहार से सपाट तथा चौरस बन जाते हैं। समुद्र की सतह से इनकी ऊँचाई अधिक नहीं होती है। ये द्वीप कई किलोमीटर लम्बे-चौड़े भी हो जाते हैं। उत्पादन-क्रिया के फलस्वरूप प्रवाल-द्वीप कभी-कभी ऊँचे उठ जाते हैं और वायु एवं समुद्री तरंगों द्वारा इन पर विभिन्न प्रकार के बीज पहुँच जाते हैं और कालान्तर में वनस्पति का आवरण उग आता है।

प्रवाल द्वीप वलय की रचना

प्रवाल द्वीप वलय की रचना के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने विरोधी मत व्यक्त किये हैं। इनके सम्बन्ध में तीन प्रमुख परिकल्पनाएँ प्रचलित हैं :

(1) डार्विन की अवतलन परिकल्पना (Darwin's subsidence theory);
(2) मरे की घोल परिकल्पना (Murray's solution theory);
(3) डैली की हिमानी नियन्त्रण परिकल्पना (Daly's glacial control theory)।
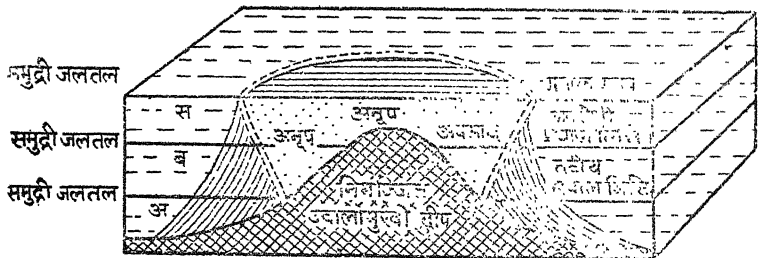
चित्र 353—द्वीप के चतुर्दिक तटीय, अवरोधी तथा वलय प्रवाल भित्ति का क्रमिक विकास

(3) वलयाकार भित्तियों से इन द्वीपों में घर्षण द्वारा बनी हुई मन्द ढालें नहीं मिलती हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ये जल-निमग्न पर्वत-शिखरों के अवशेष हैं।

(4) स्थल तथा प्रवाल भित्ति के संगम स्थल पर विषम-विन्यास (unconfirmity) मिलता है। सामान्य दशा में घर्षित थल के ढाल नीचे की ओर होते हैं किन्तु मूँगे की भित्ति के ढाल ऊपर की ओर जाते हैं।

(5) स्थल के जिन भागों के निकट प्रवाल भित्तियाँ मिलती हैं वहाँ समुद्र में अनेक आखात होते हैं। ये नदियों की डूबी हुई घाटियाँ हैं।

(6) जो द्वीप जल के ऊपर उठे हुए होते हैं उनमें मूँगे की भित्ति नहीं होती है। यद्यपि उनकी उत्पत्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं।

(7) हिन्देशिया के किनारे जलमग्न घाटी का प्रमाण मिलता है।

(8) भृगुओं की अनुपस्थिति भी अवतलन के पक्ष में है। केवल स्थायी स्थल भागों के किनारे ही भृगु पाये जाते हैं।

(9) वेधन क्रिया द्वारा परीक्षण-फल भी इस सिद्धान्त के पक्ष में है।

(10) स्थलजात अवसाद के निक्षेप के बावजूद अनूप कम छिछला रह जाता है।

आपत्तियाँ—यह तथ्य अग्राह्य प्रतीत होता है कि समुद्र-तल की धँसान के साथ प्रवाल भित्तियाँ ऊपर उठीं। इस परिकल्पना के अनूपों के चौरस होने की व्याख्या भी नहीं मिलती है। परिकल्पना का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें समुद्र-तल के विस्तृत रूप में धँसने का कैसे एवं क्यों भी ठीक रूप में समझ में नही आता है।

डार्विन के मतानुसार प्रवाल द्वीप वलय का आधार 60 मीटर या इससे अधिक गहराई पर होना चाहिए। किन्तु सोलोमन द्वीप में सान्ता आना तथा हिन्देशिया के दक्षिण स्थित क्रिस्टमस द्वीप में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहाँ उत्थापन हुआ है, अवतलन की क्रिया नहीं हुई है और प्रवाल निक्षेप की गहराई भी कम है।

फीजी द्वीप के निकट नराई द्वीप के किनारे तटीय भित्तियाँ तथा प्रवालरोधिकाएँ साथ-साथ पायी जाती हैं जो डार्विन की कल्पनाओं के विपरीत है।

कुल प्रवाल द्वीप अन्तः समुद्री ज्वालामुखों पर निर्मित हैं जहाँ अवतलन का प्रश्न ही नहीं उठता है। मरे महोदय ने भी वेधन-क्रिया द्वारा उपलब्ध प्रमाणों के विरुद्ध कहा है। मरे के मतानुसार 60 मीटर से अधिक गहराई पर प्रवाल भित्ति नहीं है बल्कि चूर्णों का जमाव है।

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रशान्त महासागर में असंख्य प्रवाल भित्तियों की उपस्थिति के कारण इस महासागर का विस्तृत भाग लुप्त हो जायेगा, किन्तु ऐसे प्रमाण नहीं मिलते हैं।

मरे की घोल परिकल्पना
(Murray's Solution Theory)

ब्रिटिश भूगोलवेत्ता सर जॉन मरे महोदय ने डार्विन की परिकल्पना से मतभेद

डार्विन अवतलन परिकल्पना
(Darwin's Subsidence Theory)

ब्रिटिश विकासवादी डार्विन ने सन् 1937 में वलयाकार प्रवाल भित्ति के निर्माण के सम्बन्ध में अपनी यह उपपत्ति प्रस्तुत की। इसकी पुष्टि डाना एवं डब्ल्यू० एम० डेविस ने भी की है। डार्विन के मतानुसार महासागरीय तल की नीचे की ओर अवतलन ही प्रवाल भित्तियों की रचना का मुख्य आधार है। उनका विश्वास है कि सभी प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति द्वीपों के समीप किसी न किसी रूप में हुई। निमज्जन क्रिया के फलस्वरूप तटीय प्रवाल भित्ति परिवर्तित होकर अवरोधक प्रवाल भित्ति बन गयी। तदनन्तर स्थल भाग या ज्वालामुखीय द्वीप के धँसते जाने पर प्रवाल भित्तियाँ बाहर और ऊपर को उठती गयीं क्योंकि इनके बनाने वाले जीव अपना कार्य करते रहे। अन्त में वलयाकार भित्ति बन गयी और टापू बिलकुल निमज्जित हो गया और एक झील की रचना हो गयी।

इस परिकल्पना से प्रवाल-वलयों से सम्बन्धित दृश्यों की व्याख्या हो जाती है। समुद्र-तल के निमज्जन की सम्भावना भी ठीक है क्योंकि पृथ्वी के इतिहास में निमज्जन क्रियाओं की चर्चा आती है। डार्विन के मत के प्रमुख समर्थक तथ्य निम्न प्रकार हैं :

(1) गहराई से प्राप्त मूँगे के कीड़ों के अवशेषों से ज्ञात होता है कि इनकी मृत्यु डूबने से हुई। पता चलता है कि जब भित्ति का विकास हो रहा था उसी समय इनका अन्त हो गया। इसलिए धरातल अवश्य धँस गया होगा। हवाई द्वीप, मालदिव तथा हिन्देशियाई द्वीपसमूह में डूबी हुई प्रवाल भित्तियों के उदाहरणों से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

(2) प्रवाल भित्तियों की मोटाई से प्रतीत होता है कि उनका श्रीगणेश धँसती हुई सतह पर हुआ होगा क्योंकि इतनी गहराई पर जीव पनप नहीं सकते हैं।
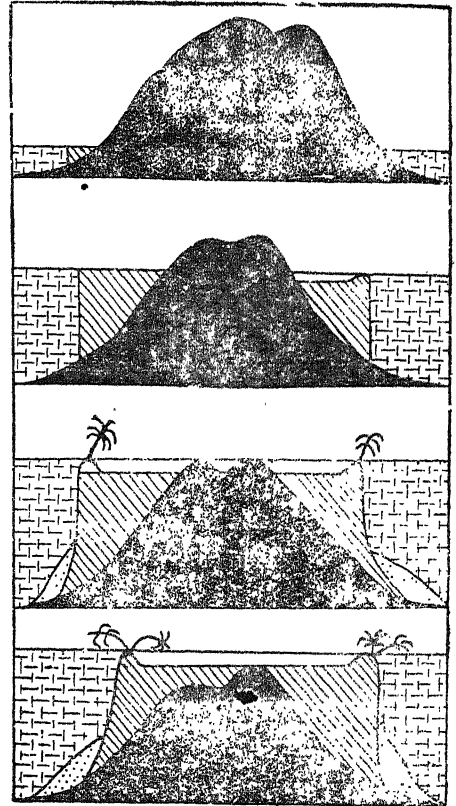
चित्र 354—डार्विन के अनुसार प्रवाल-शैलों की क्रमिक रचना

व्यक्त करते हुए कहा कि वलयाकार प्रवाल भित्ति वहाँ भी मिलती है जहाँ भूतल के निमज्जन के चिह्न नहीं मिलते हैं। इनके विचार में प्रवाल भित्ति का निर्माण समुद्र में डूबे हुए ज्वालामुखी की चोटियों, जलमग्न चबूतरों तथा [illegible] के शंकु के ऊपर होता है। सन् 1899 में इस उपपत्ति की व्याख्या करते हुए मरे ने बताया कि तटीय प्रवाल भित्ति के स्थलोन्मुख भाग के [illegible] के कारण [illegible] श्रेणी बन गयी और चूना एवं डोलोमाइट के जल में घुल जाने से अनूप बन गये। इस प्रकार तटीय प्रवाल भित्ति का परिवर्तन प्रवाल रोधिका के रूप में हो गया। मरे के अनुसार प्रवाल भित्तियाँ समुद्र की ओर बढ़ती हैं क्योंकि खुले समुद्रों में प्रवाल जीवों को पर्याप्त मात्रा में खाद्य पदार्थ मिल जाते हैं। इस ओर [illegible] भी तीव्र होता है।

समुद्री चबूतरों पर बाह्य प्रवाल शीघ्रता से बढ़ते हैं जिससे वृत्ताकार प्रवाल भित्ति धरातल पर सर्वप्रथम आ जाती है। ऐसी दशा में जीवित प्रवाल समुद्री भाग
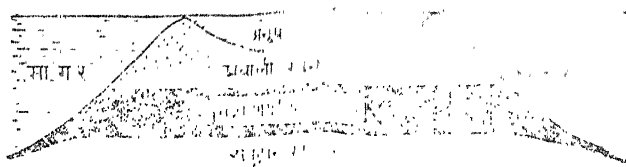
चित्र 355- मरे के अनुसार प्रवाल शैलों की रचना

की ओर होते हैं और भीतरी भाग में मृत। मृत प्रवालों के घुलनशील होने से अनूप गहरे तथा बड़े होते हैं और वृत्ताकार प्रवाल भित्ति का आकार बढ़ता जाता है। मरे महोदय ने जल की सतह से ऊपर निकले चबूतरों के अपरदन तथा अधिक गहरे चबूतरों पर निक्षेप को भी मान्यता दी है।

मरे की यह उपपत्ति **पूर्ववर्ती वेदिका परिकल्पना** (antecedent platform theory) कहलाती है। रेन ने भी यही मत व्यक्त किया है, कि स्थिर स्थल के अन्तः समुद्री चबूतरों पर सर्वप्रथम अवसादी एवं समुद्री जीवों का निक्षेप होता है तत्पश्चात प्रवाल की उत्पत्ति होती है; किन्तु अनूप की रचना के सम्बन्ध में वे मौन हैं। अमरीकी विद्वान **ए० आगासीज** ने (सन् 1851) भी मरे के अनुरूप ही विचार व्यक्त किया है किन्तु उनका मत है कि अन्तःसागरीय चबूतरे समुद्री तरंगों के अपरदन से बने। ये चबूतरे 30 से 50 फैदम तक गहराई पर होते हैं। इन पर प्रवाल जीवों का निवास प्रारम्भ हुआ और प्रवाल भित्ति का निर्माण होता गया। कालान्तर में प्रवाल भित्ति जल-तल से ऊपर निकल आयी। इसका मध्य भाग समुद्री तरंगों के घर्षण से नीचा हो गया। इस प्रकार वलयाकार प्रवाल बनी। अमरीकी विद्वान **ह्वार्टन** तथा **गार्डिनर** (1903) के भी ये ही विचार हैं। गार्डिनर महोदय ने स्थिर-स्थल सिद्धान्त (stand-still or non-subsidence theory) में आस्था रखकर 140 फैदम से 180 फैदम के चबूतरों का उपयोग किया। उनके विचार में सागरीय जीवों के निक्षेप के पश्चात् चबूतरे आवश्यक गहराई पर आये और जब सागर की गहराई 30 फैदम रह गई तब प्रवाल भित्ति का निर्माण प्रारम्भ होता है। चबूतरों के मध्यवर्ती भाग में प्रवाल मृत हो गये और घुलने लगते हैं जिससे अनूप की रचना होती है।

मरे के सिद्धान्त के विपक्ष में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं :

(1) बाहर की ओर प्रवाल भित्ति के विकसित होने से केवल 30 फैदम तक तीव्र ढाल सम्भव है जैसा मरे की कल्पना है। किन्तु इससे अधिक गहराई पर प्रवाल भित्ति का आधार प्रवालपूर्ण तथा जैव सामग्री होती है। इन वस्तुओं का निक्षेप तीव्र ढाल पर नहीं होता है।

(2) यदि भूमि का अवतलन नहीं होता है तो अनूप की गहराई अधिक से अधिक 30 फैदम होगी, किन्तु कुछ अनूपों की गहराई 50 फैदम से भी अधिक मिलती है। फीजी द्वीप तथा सुलाबेसा के तट पर अधिक गहराई मिलती है।

(3) अपरदन एवं निक्षेप की सम्भावनाएँ साथ-साथ नहीं की जा सकती हैं। इस सिद्धान्त में कई शिखरों पर निक्षेप और कहीं अपरदन की कल्पना की गई है। 30 फैदम की गहराई पर समुद्र में अपरदन या निक्षेप का कार्य भौतिक परिस्थितियों के विपरीत है।

(4) मरे महोदय ने मृत प्रवालों के घुलने की सम्भावना बताई है किन्तु डेविस महोदय के मतानुसार सागर जल में घोलने की क्षमता इतनी नहीं है। साथ ही स्थल-जात अवसाद से भी अनूप क्रमश: भरते जाना चाहिए।

डैली की हिमानी नियन्त्रण परिकल्पना
(Daly's Glacial Control Theory)

अमरीकी विद्वान डैली ने सन् 1915 में बताया कि हिमयुग में जब समुद्र का जल हिमरूप में हिमक्षेत्रों में आबद्ध हो गया तो समुद्री जल-तल लगभग 60 मीटर नीचा हो गया। इस प्रकार अनेक जलमग्न थल भाग समुद्र-तल पर आ गये और जलमग्न मंचों का आविर्भाव हुआ। डैली के विचार से उस सतह पर इतनी ठण्डक थी कि मूँगे के कीड़े पैदा नहीं हो सकते थे। उनके मतानुसार इस सिद्धान्त का आधार हिमयुग तथा हिमयुग के उपरान्त जलतल में अन्तर है। तटीय स्थल स्थिर रहे और हिमनद नियन्त्रण द्वारा जलतल में परिवर्तन हुआ।

चित्र 356—डैली के अनुसार प्रवाल -शैलों की रचना

उष्णता बढ़ी और हिम पिघल गयी और समुद्र का तल ऊपर उठने लगा। इसी समय प्रवाल जीवों का भी जन्म हुआ और क्रमिक विकास होने लगा। जैसे-जैसे समुद्र तल ऊँचा उठता गया प्रवाली भी ऊँची उठती गयी। सँकरी वेदिकाओं पर तटीय प्रवाल भित्ति और चौड़ी वेदिकाओं पर प्रवाल रोधिकाओं की रचना होगी। कालान्तर में प्रवाली के बीच में अनूप का आविर्भाव हुआ जिसका तल चौरस था। फलत: वलयाकार प्रवाल भित्ति का निर्माण हुआ। इस प्रकार डैली के मतानुसार वर्तमान प्रवाल भित्तियों की रचना अत्यन्त नूतन युग के पहले की नहीं है। इस सिद्धान्त की निम्न त्रुटियाँ हैं :

(1) इस सिद्धान्त के अनुसार एक महासागर के विभिन्न अनूपों की गहराई एक समान होनी चाहिए किन्तु डेविस महोदय ने बताया है कि एक ही अनूप के विभिन्न भागों में गहराई में अन्तर मिलता है।

(2) वास्तव में अनूपों का चौरस तल अवसाद द्वारा निक्षेपित है। किन्तु इस

सिद्धान्त के अनुसार अनूपों का तल चौड़ी वेदिकाओं पर आधारित है जो अपरदन द्वारा निर्मित कल्पित की गई हैं।

(3) अपरदित भृगुओं एवं वेदिकाओं के निकट भी मिलते हैं जिनका अपरदन वेदिकाओं के पूर्व ही हो जाना चाहिए।

(4) तटवर्ती भागों में गहरी अन्त: समुद्री घाटियाँ एवं कन्दराएँ प्रमाणित करती हैं कि हिमयुग में चौरस वेदिकायें सब जगह नहीं बनीं।

(5) महासागर के तटवर्ती अस्थिर भागों में अनूपों की गहराई में कम अन्तर है और स्थिर भागों में अनूपों की गहराई में अधिक अन्तर मिलता है जो इस सिद्धान्त के विरुद्ध है।

डेविस ने 1928 में डार्विन एवं डैली की परिकल्पनाओं के समन्वय का सुझाव प्रस्तुत किया है और डार्विन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। किन्तु यह निष्कर्ष सर्वमान्य नहीं है।

हिमानी नियन्त्रण परिकल्पना के विरुद्ध डेविस की आपत्तियाँ हैं।

(1) डैली ने सभी अनूपों की गहराई की समता पर आपत्ति की है।

(2) डैली ने प्रवाल भित्ति के क्षेत्रों को स्थायी माना है किन्तु डेविस ने अस्थायी क्षेत्रों में भी प्रवाल भित्ति की उपस्थिति दिखायी है।

(3) डैली ने 90 मीटर अधिकतम निमज्जन आँकी है किन्तु डेविस के विचार में यह अधिक है।

(4) निमज्जन की क्रिया सदैव जारी रहे तथा प्रवाल भित्ति के बढ़ने की गति सदा समान रहे, आवश्यक तथ्य नहीं हैं।

प्रश्न

1. What are coral reefs and islands ? Under what geographical conditions are they formed ? Give their world distribution and account for their significance. (*Meerut 1968*; *Patna 1969*)
   प्रवाल द्वीप एवं प्रवाल भित्ति कैसे बनती हैं ? इनके निर्माण में कौनसी भौगोलिक परिस्थितियाँ सहायक होती हैं ? इनके विश्व-वितरण का वर्णन कीजिए और इनके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

2. What do you know of the theories of the origin of coral islands and reefs ? (*Agra 1970*; *Bhagalpur 1969*)
   प्रवाल द्वीप एवं प्रवाल भित्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

3. How do the coral reefs originate ? What are the important theories in support of their formation ? Give their different types of formation.
   (*Rajasthan 1968*; *Agra 1971*; *Jabalpur 1967*)
   प्रवाल भित्तियों की उत्पत्ति कैसे होती है ? इनकी रचना के समर्थन में कौन-कौनसी परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं ? उनके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

4. Describe the subsidence theory regarding the formation of coral reefs. (*Magadh 1968*; *Kanpur 1969*)
   प्रवाल भित्ति की रचना सम्बन्धी निमज्जन परिकल्पना की व्याख्या कीजिए

परिशिष्ट

सौरमण्डल के उपग्रह

ग्रह का नाम	उपग्रह का नाम	व्यास (किलोमीटर	खोज का वर्ष (ई० सन्)	ग्रह से दूरी (किलोमीटर में)	ग्रह की परिक्रमा का समय		
					दिन	घंटे	मिनट
पृथ्वी	1. चन्द्रमा	3,456	युगों पूर्व	3,82,240	27	7	43
मंगल	1. फाबोस	24	1877	9,280	0	7	39
	2. दिमोस	120	1877	23,360	1	6	18
वृहस्पति	1. पाँचवाँ चन्द्र	120	1892	1,80,160	0	11	57
	2. आइओ	3,680	1610	4,17,600	1	18	28
	3. यूरोपा	3,200	1610	6,66,560	3	13	14
	4. ग्यानीमेडे	5,120	1610	10,62,720	7	3	43
	5. कालिस्टो	5,120	1610	18,70,400	16	16	32
	6. छठा चन्द्र	160	1904	1,13,82,400	250	16	0
	7. सातवाँ चन्द्र	64	1905	1,16,67,200	259	16	0
	8. दसवाँ चन्द्र	24	1908	1,16,80,000	260	12	0
	9. बारहवाँ चन्द्र	24	1951	2,08,00,000	625	0	0
	10. ग्यारहवाँ चन्द्र	24	1938	2,24,00,000	692	0	0
	11. आठवाँ चन्द्र	64	1908	23,36,000	740	0	0
	12. नवाँ चन्द्र	32	1914	24,00,000	758	0	0
शनि	1. मिसोस	592	1789	1,84,000	0	22	37
	2. एन सिलाडस	736	1789	2,36,800	1	8	53
	3. टेथीस	1,200	1684	2,92,800	1	21	18
	4. डिओन	1,440	1684	3,74,400	2	17	41
	5. रूही	1,840	1672	5,23,200	4	12	25
	6. टाइटान	5,680	1655	12,14,400	15	22	41
	7. हाइपेरियन	800	1848	14,72,000	21	6	38
	8. इयापेटस	3,200	1671	35,36,000	79	7	56
	9. फोबे	320	1898	1,28,54,400	550	10	0
अरुण	1. मिरांडा	320	1948	1,21 600	1	9	50
	2. एरियल	960	1851	1,90,400	2	12	39
	3. एम्ब्रियल	640	1851	2,65,600	4	3	28
	4. टाइटानिया	1,600	1787	4,35,200	8	16	59
	5. आवेरोन	1,440	1787	5,82,400	13	11	7
वरुण	1. टिटान	5,280	1846	3,55,200	5	21	3
	2. निरीड	3,200	1949	55,36,000	359	0	0